रामायण कालीन युद्ध कला
डा. लल्लन जी सिंह
अभिनव प्रकाशन, आगरा – 2

जीवन प्रवेश : डॉ० लल्लन जी सिंह

जन्म : १ जनवरी १९५० ई० ; ग्राम सरयाँ डोभवा, डाकघर ठोहिलपाली तहसील बाँसडीह जिला बालिया (उ० प्र०) पिता—श्री शिवजी सिंह और माता श्रीमती एल० एम० सिंह।

शिक्षा :— डॉ० सिंह को स्नातक डिग्री सतीश चन्द्र कालेज, बलिया (१९६८ ई०) तथा स्नातकोत्तर उपाधि गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर से सन् १९७० ई० में मिली। तत्पश्चात् डॉ० सिंह अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद के साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय के सैन्य विज्ञान विभाग में अध्यापक के पद पर नियुक्त किये गये। लगभग सात वर्षों तक सफल अध्यापक के रूप में ख्याति अर्जित करने के साथ ही अनेक महाविद्यालय प्रशासनिक पदों पर कार्यरत रहे। डॉ० सिंह को सैन्य विज्ञान विषय में भारतवर्ष की पहली पी-एच० डी० की उपाधि रामायण कालीन युद्धकला नामक विषय पर अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद से १९७८ में प्रदान की गयी। सम्प्रति आप गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) के सैन्य अध्ययन विभाग में विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। डॉ० सिंह डी० लिट्० उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध जमा कर चुके हैं। सम्भवतः ये विश्व के पुनः प्रथम होंगे, जिन्हें सैन्य जगत में डी० लिट्० उपाधि जन १९८२ में प्राप्त होंगी।

प्रकाशित ग्रन्थ :— डॉ० सिंह की निम्न पुस्तकें स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं हेतु प्रकाशित हो चुकी हैं जो देश के अनेकानेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हैं—

(१) भारतीय सैन्य इतिहास
(२ युद्ध का अध्ययन
(३) अनियमित युद्ध के नियमित सिद्धान्त
(४ युद्ध की प्रकृति और उत्तरी अफ्रीका का संग्राम
(५) राष्ट्रीय निरशंकता (यंत्रस्थ)
(६) "विचारों के युद्ध में पुस्तकें ही अस्त्र हैं" (यंत्रस्थ)

रामायणकालीन युद्ध-कला

लेखक

डॉ० लल्लन जी सिंह

एम० ए०, पी-एच० डी० डी० लिट्

अध्यक्ष

सैन्य-अध्ययन-विभाग

गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

गढ़वाल (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक

अभिनव प्रकाशन, आगरा-282002

प्रकाशक :

सुरेश चन्द गुप्ता

अभिनव प्रकाशन

पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

१४/२५६ मण्डी सईद खाँ,

आगरा—२८२००२

प्रथम संस्करण : १९८२-८३

मूल्य : ८०.०० रुपये मात्र

मुद्रक :

विकास प्रिंटिंग प्रेस

नौबस्ता आगरा—२

[अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद द्वारा पी-एच० डी०
(सैन्य विज्ञान) उपाधि के लिये स्वीकृत भारतवर्ष
का पहला सर्वोत्कृष्ट शोध-प्रबन्ध]

प्रिय बहन

स्व० सुश्री शारदा सिंह की स्मृति में

श्रद्धेय

न्यायाधीश श्रीनाथ सहाय जी
राज्यपाल के विशेष सचिव
उत्तर प्रदेश (लखनऊ) को
सादर समर्पित

प्रस्ताविक

'रामायणकालीन युद्ध-कला' शीर्षक से अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करते समय मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है। यूँ तो मेरी चेतना आरम्भ से ही युद्ध के प्रति जिज्ञास्यमान रही रही है। इसीलिये प्रकृति के साम्राज्य में भी मेरी कल्पना युद्ध के दृश्यों की अवतारणा सहज ही सम्पन्न कर लेती है। कभी उड़ते बादलों की बेसवारी अंजनी रेख में कई योद्धाओं के लड़ने का दृश्य तो कभी क्षितिज की रेत पर बिखरती लालिमा रक्त के छींटे का रूप ग्रहण कर लेती है। अतएव, यदि किसी महाकाव्य में भी मेरे भीतर का अनुसन्धित्सु जाग कर समरतंत्र की प्रणालियों और कलाओं का अन्वेषण करने लगे, तो कथमपि आश्चर्यकर नहीं होगा। फिर रामायण और महाभारत तो ज्ञान के ऐसे कल्पवृक्ष हैं जिनसे किसी किसी भी रुचि का अध्येता, किंवा, अनुसन्धित्सु अपने लिए प्रचर ज्ञान सामग्री प्राप्त कर सकता है। इसीलिए प्रारम्भ में मात्र जिज्ञासावश पढ़ने के लिए उठाया गया रामायण ग्रन्थ क्रमशः मेरे शोध का विषय बनता गया जिसकी परिणति इस शोध-प्रबन्ध के रूप में सम्पन्न हुई है।

युद्ध एक अनिवार्य विकार है, या यों कहें शाश्वत सत्य है। कोई एकांगी वस्तु नहीं है। इसके आक्रमण और रक्षक में दो अंग होते हैं। अतः यदि आक्रमण वृति नहीं भी रही तो भी स्वरक्षा के लिए युद्ध में भाग लेना ही पड़ता है। अस्तित्व की समस्याएँ शक्ति-पूजन के साथ ही सुलझ सकती हैं। जो युद्ध राज्य लिप्सा से लड़े जाते हैं, वे अवश्य त्याज्य हैं, परन्तु अन्याय प्रति-शोध के लिए किया गया युद्ध धर्म-युद्ध है—

'जानता हूँ, किन्तु, जीने के लिए चाहिए अंगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर॥

(कुरुक्षेत्र पृ० १०)

जब अन्याय और अनीति से व्यग्र होकर वीरता अपनी समग्र शक्ति के साथ गर्जना करती हुई प्रतिशोध लेना आरम्भ करती है, तभी वह युद्ध धर्म-युद्ध का रूप धारण कर लेता है। रामायण का युद्ध यही धर्म युद्ध है। जब सीता को लौटाने के सारे प्रयत्न असफल हो गए, तब राम के धनुष की टंकार ने युद्ध का आवाहन किया। इसीलिए राम के युद्धशास्त्र में शूरता और नीति दोनों को प्राधान्य दिया गया है। कालिदास ने भी कहा है कि केवल नीति का पालन कायरता है और केवल वीरता पाशविकता है—"कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद चेष्टितम्।" रामायण के इसी धर्म युद्ध तथा रावण के कूटनीतिक युद्ध की विभिन्न प्रणालियों तथा कलाओं का अनुसंधान प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मेरा अभिप्रेत रहा है।

किन्तु, यह मेरा अभिप्रेत कदापि कृतकाम नहीं हो पाता, यदि अवध विश्वविद्यालय फैजा-बाद के कुलपति डा० सुरेन्द्र सिंह तथा तत्कालीन कुलसचिव श्री रामसूरत जी ने मुझे शोध कार्य करने की अनुमति देने की महती कृपा न की होती। सैन्य विज्ञान विषय में शोध कार्य करने के लिए पहली बार व्यवस्था अवध विश्वविद्यालय में की गई है। इस सुविधा के लिए मैं कुलपति

तथा कुलसचिव के प्रति अपना आभार व्यक्त न करूँ, तो वह सम्भवतः मेरा अक्षम्य अपराध ही होगा।

शोध-प्रबन्ध अध्ययन का प्रारम्भ आज से ठीक २½ वर्ष हुआ था जब मैं का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद के सैन्य विज्ञान विभाग में प्राध्यापक था। तब प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय अवध विश्वविद्यालय की शोध समिति द्वारा पी० एच० डॉ० की उपाधि के लिए गवेषणार्थ स्वीकृत हुआ था। लेकिन प्रबन्ध तन्त्र की कटुता के कारण वर्तमान प्रबन्ध सन् १९७८ से पहले प्रणीत नहीं हो सका।

अपने निर्देशक के रूप में पूज्य गुरुवर मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ, अध्यक्ष, सैन्य विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर का किस प्रकार श्रद्धावनत आभार व्यक्त करूँ जिनकी प्रेरणा एवं निर्देश ही प्रबन्ध प्रस्तुतीकरण के मार्ग में पाथेय बने हैं।

अपनी साधना के लघु द्वीप के प्रज्जवलित होने के इन हर्षविह्वल क्षणों में मैं अपने भू० पू० प्राचार्य डॉ० रमाशंकर तिवारी (साकेत महाविद्यालय) के प्रति अपना श्रद्धावनत आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जिनकी प्रेरणा ही मूल बीज थी जिसका वटवृक्षी विकास इस कृति में सम्पन्न हुआ है। साथ ही अपने पूज्य गुरुवर मेजर के०एस० नागर प्राध्यापक, सैन्य विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, मेजर श्याम लाल भू०पू० अध्यक्ष सैन्य विभाग, मेरठ कालेज मेरठ, प्रोफेसर वी०डब्लू० बाद्य, अध्यक्ष, सैन्य विज्ञान विभाग, राजकीय विज्ञान महाविद्यालय, ग्वालियर (जीवाजी वि० वि० ग्वालियर), ब्रिगेडियर यू०सी० पन्त महानगर, लखनऊ, डॉ० आर०वी०सिंह, भूतपूर्व रीडर, प्राचीन इतिहास, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, रामकथा अनुरागी बाबा कामिल बुल्के, डॉ० रामकुमार दास, मठाधीश, मणिपर्वत, अयोध्या के भी प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने शोध प्रणयन के समय अनेकानेक समस्याओं का समाधान किया।

साथ ही मैं अपने मित्र श्री रामकलप तिवारी, प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, डॉ० रामशकर त्रिपाठी, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, डॉ० चन्द्रशेखर सिंह एवं डॉ० राम लगन चौधरी, प्राध्यापक, प्रो० हरेन्द्र बहादुर सिंह अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रो० रणजीत सिंह, रीडर, मनोविज्ञान विभाग, साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद के प्रति भी आभारी हूँ जिनका अद्योपान्त आत्मीयवत् स्नेहभाव सतत् प्राप्त रहा है।

गत एक वर्ष तक शोध-प्रबन्ध प्रणयन की घड़ियों में मैं जिन मानसिक तनाव की स्थिति में जी रहा था उसमें इस प्रबन्ध का पूरा होना असम्भव ही होता, यदि श्री श्रीनाथ सहाय, राज्यपाल के विशेष सचिव, उत्तर प्रदेश, लखनऊ से हार्दिक सहयोग न मिला होता। अतः श्री सहाय जी के प्रति कृतिज्ञता स्थापित करना मेरा परम कर्तव्य है।

यह मेरी बहुत बड़ी भूल होगी यदि मैं अपने गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर के भू०पू० कुलपति श्री मती सुशीला डोभाल, जो आजकल महादेवी कन्या पाठशाला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून की प्राचार्या हैं तथा भू०पू० कुलसचिव श्री रामसूरत जी, जो आजकल काशी विद्यापीठ, वाराणसी के कुलसचिव हैं, के प्रति अपने हृदय की अनुभूतियों एवं भावनाओं को दबा पाना मेरे लिए दुष्कर है। सुतरां, अपनी श्रद्धा का निर्विघ्न सम्भार निवेशित कर प्रबन्ध की सफलता की कामना करता हूँ।

पाण्डुलिपि-संशोधन में अपनी तीनों अनुजाओं प्रो० मंजुल चंचला, प्राध्यापक, राजनीति-शास्त्र, लालबहादुर शास्त्री महाविद्यालय, गोंडा तथा श्री मती मुकुल, एम. ए. संस्कृत, रिसर्च स्कालर एवं कुमारी रेनू कुलश्रेष्ठ, एम. ए. मध्यकालीन इतिहास की तत्परता के लिये भला क्या धन्यवाद दूँ जो निरन्तर ही अपनी ममता से मेरे संघर्ष पूर्ण महाविद्यालयीय जीवन की कटुता को दूर कर हृदय में स्नेहिल मधुरिमा का संचार करती रहीं।

यह मेरा अन्याय होगा, यदि मैं अपने प्रिय शिष्यों श्री ओमप्रकाश सिंह, बी०ए० भाग दो, श्री अखिलश कुमार गोस्वामी, एम०ए० भाग एक मनोविज्ञान), श्री सुरेश सिंह, एम०ए० भाग दो (सैन्य वि०) तथा श्री अमर नाथ सिंह, एम०ए० भाग दो (सै०वि०) गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के उल्लेखनीय योगदान का उल्लेख न करूँ। जिस निविड़ श्रद्धा भावना एवं तत्परता के साथ श्री ओम प्रकाश सिंह ने इस शोध-प्रबन्ध के रेखाचित्रों का प्रणयन किया है और श्री गोस्वामी एवं सिंह है। ने मुझे दुर्लभ पुस्तकों को उपलब्ध कराया है, वह भावना गुरु शिष्य-सम्बन्धों के बदलते परिवेश में निश्चयमेव शलाध्य है। श्री राजनरायण सिंह, प्रवक्ता सै०वि० गो. वि. वि. के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध-टंकण के समय अथक परिश्रम करके मुझे अनुग्रहीत कर दिया।

इसके पहले कि मैं अपने प्रकाशक महोदय को धन्ययाद दूँ, इन महनीय व्यक्तियों का भी आभार मानना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनके लिए गोस्वामी जी ने लिखा है—"जे बिन काज दाहिनेहु धाएँ"। दूसरों को हानि पहुँचाने में सहस्रबाहु और दूसरों के दोष दर्शन में सहस्राक्ष, किन्तु स्व-दोष दर्शन में धृतराष्ट्र बने अपने पूज्यों का शताधिक बार नन्दन करता हूँ जिनकी कृपा से इस प्रबन्ध की मुद्रण व्यवस्था में विघ्न पड़ गई।

प्रबन्ध-निर्माण में जिन विद्वानों की पुस्तकों से सहायता ली गई है, उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अभिनव प्रकाशन, आगरा के प्रकाशक श्री सुरेश चन्द्र गुप्ता जी एवं उनके सहयोगियों के प्रति विशेष रूप कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनेकानेक कठिनाइयों के बावजूद भी बड़ी रुचि एवं तत्परता से शोध-प्रबन्ध को प्रकाशन की धरती पर उतारा है।

आज श्रावणी पूर्णिमा के पुनीत पर्व पर इस कृति की पूर्णता अपनी स्व० बहन सुश्री शारदा सिंह को अपना वत्सल आभार सौंपने की उत्तराधिकारिणी बन गई, जिन्होंने मृत्यु के पूर्व बार-बार पत्रों के द्वारा मुझे याद दिलाकर शोध कार्य करने के लिए बाध्य करती रहो, लेकिन दुर्भाग्य-वश मैं उसके सपनों को उस वक्त तक साकार नहीं कर सका।

सैन्य विज्ञान के अध्येताओं को वर्तमान ग्रन्थ से यदि तनिक भी परितोष हो सका, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

शोध-प्रबन्ध विद्वज्जनों का ध्यान आकर्षित करे।

यही कामना है।

लल्लन जी सिंह

श्रावणी पूर्णिमा
१८ अगस्त, १९७८
सरयाँ डोभवा
पकड़ीं
बलिया (उत्तर प्रदेश)

विषयनुक्रमणिका

*

अध्याय १

प्रस्तावना : (युद्ध सम्बन्धी पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मत)

(क) रामायण-काल में भू-राजनीतिक तत्व

(ख) रामायण में भौगोलिक परिवेश

१--प्रस्तावना (युद्ध सम्बन्धी पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मत)

युद्ध और युद्ध प्रणाली उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानव-जाति की कहानी। मानव जीवन की कहानी युद्धों से भरी पड़ी है, क्योंकि भौतिक संसार में युद्ध और संघर्ष मानव के सहचर हैं। यदि देखा जाय तो प्राचीन काल से लेकर आज तक युद्धों ने एक नया समाज, सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया है लेकिन, अन्त में वह नवीनतम सभ्यता भी अपनी सुलगाई हुई आग में भस्म हो गई। हाँ, यह बात सत्य है कि युद्धों के द्वारा ही समुद्र के स्थान पर पर्वतों का उद्भव और पर्वतों के स्थान पर समुद्र का उद्भव सम्भव हो सका। संघर्ष विश्व व्यापी है। व्यक्ति, समाज, देश या राष्ट्र हर किसी का अस्तित्व शक्ति पर कायम रहता है क्योंकि, अस्तित्व की सुरक्षा के लिए ही युद्ध अपरिहार्य हो जाता है। यदि मानव जाति के उद्भव और विकास के इतिहास पर नजर डाली जाय तो यही जान पड़ता है कि यह वसुन्धरा प्रारम्भ से ही वीरभोग्य है। यह वसुन्धरा कायरों और दुर्बलों के लिए कोई स्थान नहीं रखती। आत्मरक्षा और आत्मविश्वास ही मानव का सर्वोपरि लक्ष्य रहा है।

प्रकृति के नियम और विधान बहुत ही सशक्त और अविचल होते हैं। जन्म है तो मृत्यु, सर्जन है तो विनाश, विकास है तो विकार भी है—यही प्रकृति का अटल विधि का विधान है। युद्ध मानवीय भाव है और मानवीय भाव प्रकृति से प्रभावित होता है। इसीलिए युद्ध में निर्माण और विनाश दोनों निहित रहते हैं। जब तक प्रकृति है, मानव है तब तक युद्ध का अस्तित्व रहेगा। मानव का अन्त होने पर ही युद्ध का अन्त हो सकता है। वास्तव में युद्ध करना मानव का धर्म है। सम्भवतः इसीलिए तो मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु आदि स्मृतिकारों ने तथा महाभारत और कौटिल्य अर्थशास्त्र ने युद्ध को राजधर्म माना है। यहाँ तक कि युद्ध से पराङ्मुख होना, शत्रु के सामने घुटने टेक देना भारतीय नीति को कभी बर्दाश्त नहीं रहा।

(क) **अर्थ प्रवेश**—वास्तव में भिन्न-भिन्न लोग युद्ध का पृथक-पृथक अर्थ लगाते हैं, किन्तु 'युद्ध' शब्द इतना सामान्य और प्रचलित है तथा दैनिक जीवन में इसका अधिक उपयोग है कि सम्भवतः ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जिसे यह न मालूम हो कि युद्ध का अर्थ क्या है? यदि देखा जाय तो युद्ध का शाब्दिक अर्थ 'लड़ना' होता है लेकिन प्राविधिक विचार से युद्ध और लड़ाई में थोड़ा अन्तर दृष्टिगत होता है। लड़ाई मानव-मानव के मध्य सम्पन्न हो सकती है, लेकिन युद्ध मानव-मानव के बीच नहीं होता। वास्तव में यह दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य होता है। इसलिए केवल राज्यों के बीच होने वाली लड़ाई को ही 'युद्ध' की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। यदि देखा जाय तो 'युद्ध' शब्द लड़ाई की अपेक्षा अत्याधिक हिंसा और भयावह अर्थ का दायरा रखता है। युद्ध अधिक समय तक चलने वाली लड़ाई को कहते हैं। ज्ञातव्य है कि जब दो या दो से अधिक राज्यों के बीच युद्ध होता है, तो राज्यों के सम्पूर्ण नागरिक युद्ध की 'ज्वाला' में कूद कर 'स्वाहा' नहीं होते बल्कि युद्ध में संलग्न राज्यों की सेनाएँ ही लड़ाई में विधिवत् भाग लेती हैं। अतः इस नाते बहुत ही बारीकी ढंग से अध्ययन करके देखा जाय तो सामान्य रूप में यही कहा जा सकता है कि युद्ध दो या दो से अधिक राज्यों अथवा राष्ट्रों की सेनाओं के बीच होने वाली लड़ाई है।

(ख) युद्ध की परिभाषाएँ—युद्ध सामाजिक विघटन का सबसे बड़ा स्वरूप है जिसमें परस्पर विरोधी राष्ट्र या वृहत् सामाविक समूह हिंसात्मक साधनों द्वारा एक-दूसरे पर प्रतिघात करते हैं। वैसे समय-समय पर विभिन्न विद्वानों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, सेनापतियों तथा विधान शास्त्रियों ने युद्ध को भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है। ये परिभाषाएँ उनके काल और व्यवसाय की छाप को अपेक्षित न कर सकीं। वास्तव में युद्ध एक सदैव सामाजिक तथ्य रहा है। परिवर्तित समाज, धर्म, अर्थ के साथ उसकी परिभाषा बदलती गई। 'यद्यपि धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक पद्धतियाँ परिवर्तित ही नहीं होती, अपितु समय-समय पर वे पूर्णतया लोप हो जाया करती हैं, सैनिक पद्धतियाँ भी बदलती हैं, तथापि, युद्ध का कभी भी विनाश नहीं होता'।[1] शान्ति स्थापित करने की पवित्र प्रतिज्ञाएँ युद्ध निरोधक राष्ट्रीय चेष्टाएँ, निःशस्त्रीकरण के हेतु की गई सन्धियाँ सभी निरन्तर युद्ध की दावानल में स्वाहा होती रही हैं। 'जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ी, वैसे ही वैसे प्रत्येक शताब्दी ने महाविनाशक युद्ध देखे, जो कि पिछले युद्धों से कहीं अधिक विनाशकारी और निर्मम सिद्ध हुए। सम्राटों के युद्ध, राष्ट्र के युद्ध होने लगे। विश्व मंच युद्ध-नाट्य से कभी भी रिक्त नहीं रहा। यदा-कदा पटाक्षेप केवल उसको अधिक बर्बर और क्रूर बनाने के लिए केवल अवकाश मात्र थे।[2]

वास्तव में चर्चिल ने ठीक ही कहा था—"मानव जाति का इतिहास युद्ध ही है और इतिहास पूर्वकाल में तो हत्यापूर्ण संघर्ष कभी समाप्त ही नहीं हुए।"[3] इसी प्रकार अमेरिका के शहीद राष्ट्रपति केनेडी ने भी लिखा है कि "इतिहास के प्रारम्भ से ही युद्ध मानव जाति का अटूट सहचर रहा है। यह हमारे इतिहास में नियम रहा है न कि अपवाद।"

पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों ने युद्ध के बारे में अपनी अलग-अलग आस्था व्यक्त की है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि युद्ध एक के लिए धर्म है, तो किसी दूसरे के लिए महामारी जिसका उपचार आवश्यक है। किसी के लिए अपराध जो दण्डनीय है, कुछ के लिए त्रुटि (खराबी) जो न होनी चाहिए, तो कुछ के लिए प्राकृतिक नियम जो आवश्यक है और कुछ तो यह सोचते हैं कि युद्ध सर्वदा से होते आये हैं और होते रहेंगे।

सम्भवतः ऐसे मनुष्यों की भावनाएँ युद्ध को कभी रोक नहीं सकतीं। यहाँ तक कि कुछ लोग तो युद्ध को एक साहसिक कार्य मानते हैं जो रुचिकर हो सकता है, लाभकारी उपकरण हो सकता है, अथवा अस्तित्व की एक दशा है जिसके लिए मनुष्य को तैयार रहना चाहिए। कुछ विद्वानों के विचार से युद्ध एक समस्या है तो कुछ के मतानुसार समस्या नहीं। उनके अनुसार व्यवसायी, इतिहासकार, कूटनीतिज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीय वकील अथवा युद्ध विद्या-विशारद् द्वारा युद्ध के परिणामों को सरलता से समझा जा सकता है। अब हम पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विधिवत् अध्ययन अलग-अलग करेंगे।

(ग) युद्ध सम्बन्धी पौरस्त्य मत—प्राचीन भारत में युद्ध को राजनीतिक ही नहीं धार्मिक कर्तव्य भी माना जाता था। अपने कर्तव्य पालन के प्रति जागरूकता लौकिक लाभों के साथ-साथ परलौकिक लाभों (पुण्यों) का सृजन करती थी। युद्ध अनादि काल से होता आ रहा है। सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में दशराज्ञ युद्ध के अतिरिक्त आर्यों और अनार्यों के बीच का युद्ध विषयक वृत्तान्त भरा पड़ा है। रामायण, महाभारत और गीता के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में युद्ध को एक अनिवार्य विपत्ति नहीं, प्रत्युत धर्म का एक प्रधान अंग माना जाता था।

---

१ जे. एफ. सी. फुलर : अरमामेन्ट एण्ड हिस्ट्री।
२ मेजर आर. सी. कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृष्ठ ४१।
३ डब्ल्यू. एस. चर्चिल : थॉट्स एण्ड एडवेन्चर्स (Thoughts and Adventures)

धर्म युद्ध की बड़ी मर्यादा थी। भारतीय इतिहास के साथ-साथ युद्ध सम्बन्धी चिन्तन का विकास हुआ था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के समय तक यह चिन्तन काफी प्रौढ़ हो चुका था।

युद्ध को क्षत्रिय का कर्तव्य बताने का श्रेय विशालाक्ष को प्रदान किया जा सकता है, जिन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया था कि शक्ति-क्षमता पर विचार करने के उपरान्त युद्ध करे। पराक्रम ही आपत्ति को दूर करता है। युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है—युद्ध में जय मिले अथवा पराजय[1]।

यह भावना गीता में और अधिक प्रबल प्रतीत होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बान्धवों और सम्बन्धियों से युद्ध करने से विचलित और क्लान्त अर्जुन को क्षत्रिय का धर्म समझाते हुए कहा था कि 'धर्मयुद्ध क्षत्रियों का स्वधर्म है, जो त्याज्य नहीं है। यह धर्म युद्ध स्वर्ग का द्वार है। हे पार्थ ! युद्ध से अधिक क्षत्रिय के लिए श्रेयस्कर कुछ नहीं है। (गीता २।३१-३३)। पुनः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करते हुए कहा है—

हतो वा प्राप्स्यासि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ २।३७
सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यासि॥ २।३८

[अर्थात् हे अर्जुन ! तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा युद्ध में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। अतः युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जा क्योंकि इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।]

महाभारत का कहना है कि 'युद्ध धर्म है, किन्तु पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए युद्ध करना पाप है। जहाँ धर्म है वहीं विजय है— यतोधर्मस्ततो जयः'।

शुक्राचार्य का कहना है कि "दो ही तरह के आदमी सूर्यलोक को बेधकर स्वर्गलोक प्राप्त कर सकते हैं— एक योगी दूसरा सैनिक। युद्ध क्षेत्र में मित्रों को धोखा देकर जो भाग खड़े होते हैं वे घोर नरक के भागी होते हैं"।

वाल्मीकि ने उल्लेख किया है कि युवराज अङ्गद ने युद्ध की महत्ता स्पष्ट करते हुए अपने सैनिकों से कहा था कि शत्रु का संहार करने से हम लोगों का यश सम्पूर्ण संसार में फैल जायेगा और स्वयं मारे गये तो वीरों को प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगेंगे। (६।६६।२६)।

धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु का कहना है कि युद्ध से पराङ्मुख होना, प्रजा का पुत्रवत् पालन करना, ज्ञानियों की हर तरह से श्रद्धापूर्वक सेवा करना परमधर्म है। जो शासक अपराङ्मुख होकर अपनी सारी शक्ति लगाकर युद्ध करता है, वह स्वर्ग का अधिकारी होता है।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो मातृ-भूमि के लिए अपना बलिदान करते हैं, जहरीले अस्त्रों का प्रयोग नहीं करते, वे योगियों की भाँति स्वर्ग में स्थान पाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में युद्ध धर्म का एक आवश्यक अंग था। युद्ध में मृत्यु स्वर्ग प्रदान करती थी और विजय राज्य।

युद्ध को केवल कर्तव्य के रूप में ही न देखकर उसकी बहुलता को रोकने के लिए भारतीय चिन्तकों ने युद्ध-धर्म अर्थात युद्ध की वैधानिकता एवं वैधता की भावना विकसित की थी। (मनु० ७।९०-९३)। विजय की अनिश्चितता को ध्यान में रखते हुए कहा है कि साम, दाम, भेद तीनों उपायों के साधक न होने पर ही सैन्यादि शक्ति से संयुक्त होकर राजा को युद्ध करना चाहिए।

---

१ अर्थशास्त्र १२-१, पृष्ठ ३८२।

पहले युद्ध से शत्रु को जीतने की कदापि चेष्टा न करे क्योंकि युद्ध करते हुए दो पक्षों की विजय तथा पराजय युद्ध में अनिश्चितता रहती है।[1] शुक्रनीति के अनुसार भी अन्य उपायों के विफल होने पर ही युद्ध के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में युद्ध की परिभाषा की गयी है। इस परिभाषा के अनुसार राजन्य के बल-प्रदर्शन को युद्ध की संज्ञा प्रदान की गई है। (युद्ध वै राजन्यस्य वीर्यम्)[2] इसी प्रसंग में राजन्य शब्द की भी व्याख्या की गई है। इस व्याख्या के अनुसार क्षत्र ही राजन्य है (क्षत्रं वै राजन्यः)[3] अर्थात् क्षात्र बलधारी पुरुष राजन्य कहलाता था।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार शत्रु को हानि पहुँचाने वाले द्रोह या हिंसापूर्ण कार्य करना युद्ध है (अपकारो विग्रहः ७।१) शुक्राचार्य के मतानुसार शत्रु को पीड़ित और वशीभूत करने वाला कार्य युद्ध है[4]।

हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार—"युद्ध राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा संघर्ष है, जिसमें दोनों एक-दूसरे को बलपूर्वक जीत कर उससे अपनी बात मनवाना चाहते हैं।"[5]

श्रीमती उषा सक्सेना ने युद्ध की परिभाषा करते हुए कहा है कि "युद्ध दो या अधिक राष्ट्रों के बीच सशस्त्र प्रतियोगिता को कहते हैं"।[6] इस प्रकार की सशस्त्र प्रतियोगिता का उद्देश्य एक राज्य का दूसरे राज्य पर अपनी शर्तें थोपना है। इसका उद्देश्य शक्ति के प्रयोग द्वारा शत्रु को परास्त करना होता है। पर आदिकाल से ऐसा परम्परागत नियम चला आया है कि शक्ति का प्रयोग केवल कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार ही किया जाता है, मनमानी रीति से नहीं।

मेजर आर. सी. कुलश्रेष्ठ ने युद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है—"विस्तृत रूप में युद्ध एक ही जाति के पृथक् वर्ग के हिंसात्मक आक्रमण हैं"।[7] आगे कहा है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र अथवा वर्ग पर अपनी प्रेच्छाओं को आरोपित करना चाहता है। वे प्रेच्छाएं धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अथवा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र से उत्पन्न होती हैं। इन प्रेच्छाओं को दूसरे देशों पर आरोपित करने के लिए वह राष्ट्र सैन्य-शक्ति अथवा अन्य शक्तियों का सहारा ले सकता है।

जयदेव सिंह के अनुसार 'युद्ध सामूहिक रूप में समाजों के संघर्ष का प्रदर्शन है'।[8]

(च) युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्य मत—युद्ध समूह-संघर्ष का एक रूप है। समूह-संघर्ष कई विधियों से जारी रखे जा सकते हैं जिनमें से युद्ध केवल एक विधि है। परन्तु, आजकल युद्ध तथा समूह-संघर्ष की अन्य विधियों के बीच कोई 'लक्ष्मण रेखा' खींचना सम्भव नहीं है, क्योंकि, कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है कि युद्ध सनातन है, अर्थात् युद्ध सदैव से ही वर्तमान रहा है। दुनिया से इसका समापन अथवा लोप कभी सम्भव नहीं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी बौद्धिक रुचि के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों को अपनाकर इस गम्भीर समस्या को समझने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध समाज एवं युद्धशास्त्री ,क्विन्सी राइट ने विद्वानों द्वारा अपनाये गये

---

१ मनुस्मृति ७।१९८-१९९।
२ शतपथ ब्राह्मण १३।१।५।६
३ शतपथ ब्राह्मण १३।६।२।१०
४ विनय कुमार सरकार का अनुवाद ४-७, ४६८-२;
५ अन्तर्राष्ट्रीय कानून पृष्ठ ३१।
६ अन्तर्राष्ट्रीय विधि पृ० ४०६।
७ भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ० ४२।
८ सोशल साइकलोजी।

विभिन्न दृष्टिकोणों को इस प्रकार गिनाया है, "न्यायिक, सामाजिक, प्रावैधिक (टेक्नोलाजिकल), मनोवैज्ञानिक, जीववैज्ञानिक, सैद्धान्तिक तथा सांश्लेषिक दृष्टिकोण।"[१]

न्यायिक पहलू से युद्ध का अध्ययन सर्वप्रथम १७वीं शताब्दी में ग्रोटियस ने किया था। न्यायिक दृष्टि से दो विरोधी समूहों में चल रहे संघर्ष अथवा प्रतियोगिता को युद्ध की संज्ञा देने के लिए किन तत्वों का होना आवश्यक है, इसके लिए ग्रोटियस ने 'बल प्रयोग' की कसौटी का चयन किया। इस प्रकार जब दो परस्पर विरोधी समूह एक दूसरे के विरुद्ध बल का प्रयोग करने में रत हों तो इस अवस्था को युद्ध कहा जा सकता है। ग्रोटियस के शब्दों में—"युद्ध दो समुदायों की वह अवस्था है जबकि वे बलपूर्वक विवाद में लगे होते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्री ओपनहाइम (Oppinhiem) ने युद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"युद्ध को अथवा उससे अधिक राज्यों के बीच एक दूसरे को पराजित करने तथा विजेता राज्य की इच्छा के अनुसार शान्ति थोपने के लिए सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संचालित विवाद है"।[२]

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने युद्ध को कानूनी दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहा है—"युद्ध वह न्यायिक (कानूनी) स्थिति है जो दो या उससे भी अधिक विरोधी समुदायों को सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संघर्ष के संचालन हेतु समान रूप से अनुमति प्रदान करता है।"[३]

"युद्ध राष्ट्रों, राज्यों अथवा शासकों अथवा उसी राष्ट्र या राज्य के भीतर विभिन्न दलों के बीच सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से विरोधपूर्ण विवाद है, वह किसी विदेशी शक्ति के विरुद्ध अथवा राज्य के भीतर विरोधी दल के विरुद्ध सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग है"।[४]

मोल्टके (Moltke) के अनुसार—"युद्ध मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला एक बलपूर्वक कार्य है, जिसका प्रयोजन राज्य के उद्देश्य को प्राप्त करना या बनाये रखना होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक दृष्टि से युद्ध की मुख्य विशेषता सैन्य-बल का प्रयोग है। इस प्रकार युद्ध को अन्य संघर्षों और विवादों से अलग करने वाला मुख्य तत्व 'बल' प्रयोग ही है। अन्य दृष्टिकोण जैसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक आदि के रूप में युद्ध का अध्ययन करने वाले विद्वानों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

ई० ए० हॉबल (Haebel) के अनुसार, "युद्ध से तात्पर्य एक सामाजिक समूह के द्वारा दूसरे समूह पर जीवन और सामान के निश्चयपूर्वक संहार द्वारा दूसरे मूल्य पर एक के हितों के विस्तार हेतु किया गया संगठित आक्रमण है।"[५]

इलियट एव मेरिल (Elliot and Merril) के अनुसार "युद्ध उन सम्बन्धों का औपचारिक विच्छेद है जो शान्तिकाल में राष्ट्रों को परस्पर एक दूसरे से बाँधे रखते हैं।"[६]

किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में "युद्ध मानव संघर्ष का सबसे हिंसात्मक स्वरूप है। साथ ही मनुष्य की सबसे अधिक प्राचीन संस्थाओं में से एक है। उसकी जड़ें साधनों एवं शक्ति की प्राप्ति करने के लिए संघर्षमय समूहों के इतिहास में निहित हैं। आधुनिक युग में

---

१ क्विन्सी राइट : 'ए स्टडी ऑफ वार'।
२ एल. ओपनहाइम : इन्टरनेशनल लॉ (A treatize) पृ० २०३।
३ क्विन्सी राइट : ए स्टडी ऑफ वार।
४ पायर एण्ड परकिंस 'इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स'।
५ ई. ए. हाबल : मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड।
६ इलियट एण्ड मेरिल : सोशल डिसआर्गेनाइजेशन।

युद्ध राष्ट्रीयवाद (Nationalism) एवं प्रभुसत्तावाद (Soveriegnty) के सिद्धान्त एवं व्यवहार से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।"[१]

जर्मनी के सुप्रसिद्ध जनरल एवं दार्शनिक क्लाजविट्ज (Clausewitz) के शब्दों में, "युद्ध राष्ट्र की राज्यनीति को विभिन्न साधनों द्वारा पूर्ण करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह एक हिंसात्मक कार्य है जिसका प्रयोजन विपक्षी को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए बाध्य करना है।"[२]

सन्तजू (Suntzu) ने युद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"युद्ध राज्य का महान् कार्य है, जीवन और मृत्यु का प्रदेश है, सुरक्षा तथा विनाश का मार्ग है। इसका अध्ययन विशेष परिश्रम से करना चाहिए।"

सिसरो ने कहा है कि—"युद्ध......एक दशा है जब वर्ग शस्त्रों द्वारा विरोध करते हैं"।

लिडिल हार्ट के शब्दों में "यदि तुम शान्ति चाहते हो तो युद्ध को समझो।"[३]

रस्किन के अनुसार, "युद्ध के प्रारम्भ प्रकृति और अन्त को समझना, उसके दृष्टि विषय का गुण-ग्राहक होना, उसके साधनों का अध्ययन करना और उसके परिणामों पर विचार करना प्रत्येक नीति चतुर मस्तिष्क वाले मनुष्य का प्रयत्न होना चाहिए। सैनिक तथा राजनीतिज्ञ का वह एक कर्तव्य है।"

हॉफमैन निकरसन (Hoffman Nickerson) के अनुसार, "युद्ध दो परस्पर विरोधी नीतियों का अनुगमन करने वाले दो मानव समुदायों के बीच संगठित शक्ति का इस आशय के साथ प्रयोग का नाम है जिससे एक समुदाय दूसरे पर अपनी इच्छा थोप सके"।[४]

सुप्रसिद्ध मानव-विज्ञानी (Anthropologist) मैलिनाउस्की ने एक सांस्कृतिक तथ्य के रूप में युद्ध का विश्लेषण करते हुए उसे इस प्रकार परिभाषित किया है—"अपनी-अपनी नीतियों का अनुगमन करने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले वे विवद जो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों द्वारा संगठित सैनिक शक्ति के माध्यम से संचालित किये जाते हैं युद्ध कहलाते हैं।"[५]

मनोवैज्ञानिक विचारकों ने युद्ध के बाह्य रूप पर अधिक बल न देकर उसकी अन्तर्वस्तु (Substance) पर जोर दिया है जो उनके मतानुसार राष्ट्रों के बीच स्थित सम्बन्धों की कटुता में निहित होता है। मनोवैज्ञानिक विचारकों में थोमस हाब्स (Thomas Hobbes) ने युद्ध और शान्ति की 'मौसम' से तुलना करते हुए स्थिति को बड़े ही अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है—"खराब मौसम की प्रकृति वर्षा की एक दो फुहार में निहित न होकर अपितु, लगातार कई दिनों के उसी प्रकार के रुख में निहित होती है, इसी प्रकार युद्ध वास्तविक संघर्ष में निहित नहीं होता है, अपितु शान्ति का आश्वासन प्राप्त होने के समय से पहले चलते रहने वाले शत्रुतापूर्ण भावों में निहित होता है।"

अर्थात जिस प्रकार मौसम विभिन्न अंशों में अच्छा अथवा बुरा हो सकता है उसी प्रकार राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध विभिन्न, अंशों में अच्छे अथवा बुरे हो सकते हैं।

युद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य की समीक्षा करते हुए क्विन्सी राइट कहते हैं कि युद्ध की एक पूर्ण परिभाषा निर्धारित करने के लिए हमें केवल साहित्य पर निर्भर न होकर, अपितु, हमें उन घटनाओं का भी अध्ययन करना चाहिए जिन्हें इतिहास में युद्ध के नाम से पुकारा जाता है।

---

१ किम्बल यंग : हैण्ड बुक आफ सोशल साइक्लोजी।
२ क्लाजविट्ज : ऑन वार।
३ लिडिल हार्ट : थॉट्स आन वार।
४ हाफमैन निकरसन : इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका।
५ मैलिनाउस्की : ऐन एनथ्रोपोलॉजिकल एनलसिस ऑफ वार.

इन घटनाओं का विधिवत् विश्लेषण करने के उपरान्त क्विन्सी राइट युद्धरत समूह में चार मुख्य प्रवृतियाँ पाते हैं जैसे तीव्र सैनिक सक्रियता, आपसी तनाव हे तीव्रता, असाधारण न्यायिक स्थित और सामाजिक-राजनैतिक एकीकरण। इन सभी का विधिवत् अध्ययन कर क्विन्सी राइट ने युद्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है—

"युद्ध दो समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों की वह अवस्था है जिसकी मुख्य विशेषताएँ तीव्र सैनिक सक्रियता, अत्यधिक मनोवैज्ञानिक तनाव, असाधारण न्यायिक स्थिति तथा सामाजिक एकीकरण की प्रवृति है।"[1]

उपर्युक्त पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि जैसे-जैसे समाज के विभिन्न संगठनों और क्षेत्र में परिवर्तन हुआ है वैसे-वैसे युद्ध के अर्थ और स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया है। वास्तव में मनुष्य तो स्वभाव से ही संघर्षशील प्राणी होता है। दूसरों से उसका संघर्ष होना स्वाभाविक है। मनुष्य को संघर्ष की यह स्वाभाविक भावना ही युद्ध का कारण है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में युद्ध द्वारा पारस्परिक विवादों को निपटाने की अनुज्ञा नहीं थी और न ही राष्ट्र से यह आशा की जाती थी कि वे प्रत्येक साधारण से साधारण विवाद का निवारण युद्ध के माध्यम से करेंगे, फिर भी, इस विषय में कोई सामान्य नियम नहीं था कि किस विवाद को युद्ध द्वारा निपटाया जाय और किसको बातचीत द्वारा या पत्र-व्यवहार से।

प्राचीन काल में युद्ध स्वर्ग प्राप्ति का एकमात्र साधन माना जाता था। यह भावना आज दूर हो गयी है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में धार्मिक तर्कों से काम नहीं चल सकता। आज का मनुष्य केवल वैज्ञानिक तर्कों में ही विश्वास करता है। लोगों को धर्म पर चलने के लिए भी वैज्ञानिक तर्क अपरिहार्य है। लिडिल हार्ट महोदय का मत है कि संग्राम बीमार सभ्यता की दशा है और रोगी में ताप उसी के कारण है। बीमारी का उपचार करने से ताप स्वयं ही दूर हो जायेगा। तन्त्र-मन्त्रों से ताप नहीं हटेगा, झाड़ा-फूँकी से रोग का उपचार नहीं होगा बीमारी का विश्लेषण करना पड़ेगा और उसके आधार पर उपचार और वह उपचार और विश्लेषण निहित है तर्कपूर्ण शान्तिवाद में।

अन्त में हम कह सकते हैं कि युद्ध वर्ग प्रवृतियों की पराकाष्ठा के साथ विस्तृत रूप में हिंसात्मक आश्रय है जो कि अनेक असमान्य वैधानिक स्थितियों और संघर्ष की असंख्य कार्य-विधियों में से एक विधि है। यदि देखा जाय तो युद्ध केवल उसी अस्तित्व में आता है जब शत्रुता, एवं हिंसा एक साथ ही एक निश्चित सीमा का अतिक्रमण करके, उस नवीन स्थिति में पहुँच जाती है जिसे न्याय तथा जनमत युद्ध के रूप में स्वीकार करने को बाध्य हो जाते हैं।

संक्षेप में हम यह भी कह सकते हैं कि 'युद्ध का तात्पर्य दो या दो से अधिक परस्पर वैमनस्य रखने वाले वृहत समूहों या राष्ट्रों के बीच होने वाले भीषण संघर्ष से है, जिसमें एक समूह या राष्ट्र अपनी इच्छा को दूसरे समूह या राष्ट्र पर सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से थोपता है'।

---

१ क्विन्सी राइट : ए स्टडी ऑफ वार।

(क) रामायण-काल में भू-राजनीतिक तत्त्व

किसी भी काल के भू-राजनीतिक तत्त्व के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम उस देश की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान परम आवश्यक होता है। रिसर्ड हैक्लट का कथन है कि 'भूगोल तथा काल क्रम सूर्य तथा चन्द्र हैं, ये इतिहास के दाहिने तथा बायें नेत्र हैं।' भौगोलिक परिस्थितियों का युद्ध के ऊपर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन अपरिहार्य है। प्राचीन भारतीय भूगोल के प्रति महत्त्वपूर्ण ज्ञान-साधन संस्कृत-महाकाव्य "रामायण और महाभारत हैं। रामायण कौशल जनपद के सम्राट दाशरथि राम का जीवन वृत्त है। कोशल-सरयू अयोध्या के अतिरिक्त विदेह और मिथिला का, जो उनके प्रारम्भिक जीवन के घटनास्थल हैं, विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। ऋतुओं, पर्वतों, नदियों, देशों और द्वीपों आदि का वर्णन बहुलता से रामायण में प्राप्त होता है। हम तत्कालीन भू-राजनीतिक तत्त्वों का अध्ययन निम्न शीर्षकों में करेंगे—

(१) नाम एवं सीमा-विस्तार

उत्तर में उत्तुंग पर्वत-मालाओं और शेष अन्य तीन ओर से शक्तिमान् सागरों एवं महासागरों से परिवेष्टित भारत स्वयं एक स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई है। प्राणि एवं वनस्पति जगत्, वंशों एवं भाषाओं, धर्मों एवं संस्कृतियों की अपरिमित विविधता सहित उस देश की विशालता उसे उचित ही एक महान् उपमहाद्वीप कहलाने के योग्य बनाती है। इस महान् देश के दूरस्थ भागों ने प्राचीन युग के अन्वेषकों एवं पर्यवेक्षकों के सम्मुख अपने को क्रमशः शनैः शनैः व्यक्त किया है। इसी कारण प्राचीनतम ग्रन्थों में सम्पूर्ण देश को लक्षित करने के लिए कोई व्यापक शब्द हमें नहीं मिलता है।

रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि 'कर्म भूमि' (कर्म भूमिमियां प्राप्य कर्त्तव्यं कर्म यच्छुभम् २।१०९।२८) का प्रयोग भारत भूमि के लिए ही हुआ है जैसा कि पुराणों से भी ज्ञात होता है।[1] पर्वतों और वनों (उत्तरकाण्ड ९८।१०) सहित यही वसुधा देवी (७।९८।६) थी। यह वसुन्धरा ही भारत भूमि थी जिसमें द्राविड़, सिन्धु-सौवीर सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, अंग, वंग, मत्स्य, काशी, कोशल आदि देश सम्मिलित थे (अयो० १०।३६-३७)। रामायण में इसका सुन्दर काव्यमय चित्र उपस्थित किया गया है कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मानों समुद्र को माला की तरह धारण किए हुए है (बालकाण्ड।३९।१३)। यही वर्णन महाभारत, पुराणों और अभिलेखों में भी मिलता है। किष्किन्धा-नरेश बालि नित्य प्रति पश्चिम, पूरब, दक्षिण और उत्तर समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता था (४।११।४)। यहाँ 'भारत' का उल्लेख नहीं मिलता। जैसा कि चित्र १ से स्पष्ट है—

समस्त पृथ्वी को सात द्वीपों या भूखण्डों में विभक्त माना गया है। रामायण में पृथ्वी के सात महाद्वीपों में केवल 'जम्बूद्वीप' का उल्लेख मिलता है (बालकाण्ड।३९।२१)।

---

१ यही स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त कराने वाली कर्म भूमि है (विष्णु २।३।२)। जम्बु द्वीप में यह श्रेष्ठ भूमि (भारतं श्रेष्ठं) है जो कर्म भूमि कहलाती थी (विष्णु २।३।२२)। देवता लोग भी इसके प्रशंसा-गीत गाते थे (विष्णु २।३।२४-२६)।

रामायण कालीन भारत
कंबोज
गांधार
केकय
सिन्धु
वाह्लीक
ब्रह्मावर्त
हिमवंत पर्वत
मरुभूमि
सौवीर
शूर
पांचाल
अयोध्या
विदेह
कामरूप
प्राग्ज्योतिष
मालव
मगध
अवंती
किरात
आनर्त
सौराष्ट्र
नर्मदा नदी
विंध्य पर्वत
दक्षिण कोशल
उत्कल
महोदधि
रत्नाकर
संकेत
नगर
भरत का मार्ग
राम का मार्ग
ऋषियों के आश्रम
वानर प्रदेश
राक्षस प्रदेश
जहां समुद्र था
मील
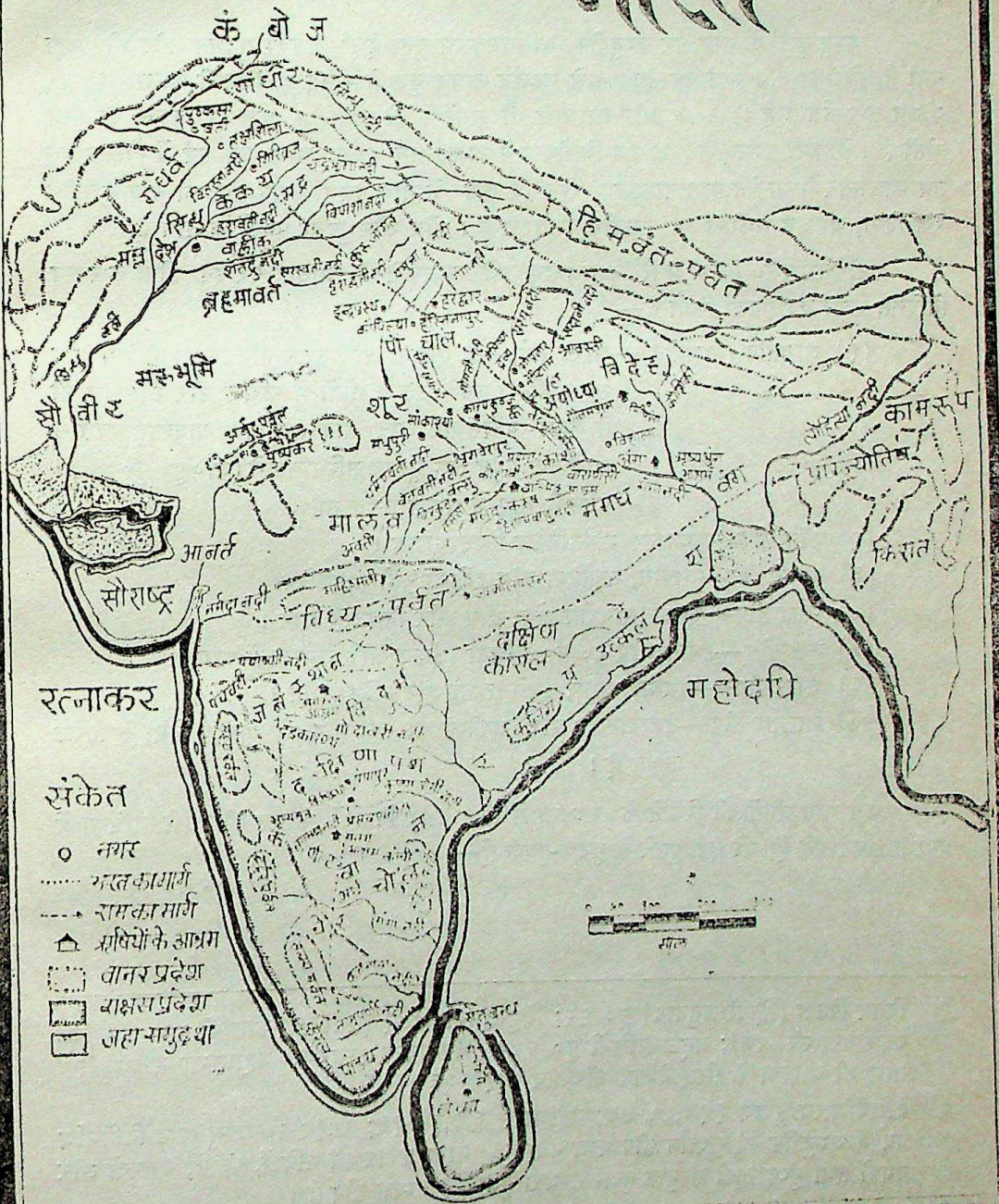
इसे सुदर्शन द्वीप (किष्किधा काण्ड ।४०।६१) भी कहा गया है । यह मेरु पर्वत पर स्थित था (कि०।४०।५७-६१) । महाभारत और पद्मपुराण भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं । पुराणों के अनुसार पृथ्वी सात द्वीपों---जम्बूद्वीप, प्लक्ष द्वीप, शाल्मल द्वीप, क्रौंच द्वीप, शाकद्वीप, पुष्कर और कुशद्वीप में विभक्त हैं । कुछ पुराणों (स्कन्द, वराह और मत्स्य) में प्लक्ष द्वीप के स्थान पर गोमेद द्वीप का नाम दिया गया है । ब्रह्मवैवर्त पुराण में (ब्रह्म० ७-७) शाल्मल के स्थान पर न्यग्रोध का नाम दिया गया है ।

'जम्बू वृक्ष' के नाम पर जम्बूद्वीप का नामकरण हुआ है ।[1] इसको सुदर्शन द्वीप भी कहा गया है, जिसका नाम यहाँ पर उगने वाले सुदर्शन नामक वृक्ष से गृहीत है, जिसकी शाखाएँ १००० योजन तक फैलती हैं ।[2] प्लक्ष और शाल्मली भी वृक्षों के ही नाम हैं । कुश एक प्रकार की घास होती है । लेकिन, सम्भव है कि जब विभीषण ने राक्षस-धर्म त्यागा और आर्य धर्म में दीक्षित हुए तब कालान्तर में उन्होंने कृतज्ञतास्वरूप राम-पुत्र कुश के नाम पर शिवदान द्वीप का नाम कुशद्वीप रख दिया, जो अब अफ्रीका का महाद्वीप कहलाता है । क्रौंच और पुष्कर पर्वतों के नाम हैं ।

प्रोफेसर एस० एम० अली[3] ने जलवायु और वनस्पति के आधार पर इन द्वीपों के स्थान निश्चित करने का प्रयत्न किया है---

(१) जम्बूद्वीप (मध्यद्वीप)---भारत वर्ष, मध्य एशिया और उत्तर पश्चिम साइबेरिया और उत्तर चीन । इसके उत्तरी भागों में यूराल और कैस्पियन सी से लेकर येनीसे तक और तुर्किस्तान तथा यानशान पर्वत से आर्कटिक समुद्र तक भूखण्ड सम्मिलित थे (जा० पु० पृ० ८७) । दक्षिणी भाग में भारत स्थित था ।

(२) क्रौंच द्वीप---कृष्ण सागर के निकट स्थित भूखण्ड ।

(३) पुष्कर द्वीप---जापान, मंचूरिया और दक्षिणी पूर्वी साइबेरिया ।

(४) प्लक्ष द्वीप---भूमध्य सागरीय क्षेत्र, ग्रीस और निकटस्थ भाग ।

(५) कुश द्वीप---ईरान और द० प० एशिया (ईराक और रेगिस्तानी भाग) ।

(६) शाक द्वीप---मलाया, श्याम, इण्डोचाइना और दक्षिण चीन ।

(७) शाल्मल द्वीप---मेडागास्कर और अफ्रीका का वह भाग जो भूमध्य रेखा के निकट स्थित है ।

इन सात द्वीपों की स्थिति के सम्बन्ध में तीन और विद्वानों के मत नीचे की तालिका में प्रदर्शित किये गये हैं, जो एक दूसरे से पृथक-पृथक हैं---

---

१ विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद) पृ० ९२; विसुद्धिमग्ग ७।४२ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण); अट्ठसालिनी पृ० २४१ 'देवनागरी संस्करण; महाभारत में जम्बूद्वीप' नाम की व्याख्या के लिए देखिये भीष्मपर्व ७।१९-२६ ।

२ देखिये मत्स्य पुराण ११४,७४-७५; महाभारत ६,५,१३-१५; ७,१९-२० जम्बू खण्ड विनिर्माण पर्व में जम्बूद्वीप को सुदर्शन द्वीप कहा गया है । नाना प्रकार की नदियों, पर्वतों, जनपदों और नगरों तथा पुष्प फलों से युक्त वृक्षों से भरा हुआ यह सम्पन्न द्वीप है ।

३ जाग्रफी आफ दि पुराणाज (नई दिल्ली १९६६) पृ० २६-४६ ।

द्वीप का नाम	कृष्णमाचालु	विल्फर्ड	गेरिना
जम्बू द्वीप	जम्बू, काश्मीर तथा पंजाब	भारत	भारत
प्लक्ष द्वीप	वर्तमान फारस देश	टर्की, आरमेनिया	अराकान, ब्रह्मा
शाल्मली द्वीप	सोमाली (उ० पू० अफ्रीका)	मध्य यूरोप	मलाया
कुश द्वीप	यूनान तथा चारों ओर के देश	फारस, अफगानिस्तान	सुन्द्रा द्वीप समूह
क्रौंच द्वीप	यूरोप	प० यूरोप	दक्षिणी चीन
शाक द्वीप	रूस तथा साइबेरिया	ब्रिटिश द्वीप समूह	श्याम (थाई) कम्बोडिया
पुष्कर द्वीप	बुखारा	आइसलैण्ड	उत्तरी चीन

यद्यपि ये खोजें बड़े परिश्रम के साथ की गई हैं, तथापि, इनमें निश्चितता नहीं है। इस सम्बन्ध में बहुत-से मौलिक प्रश्न संदिग्ध रह गये हैं। फिर भी मैं प्रो० एस० एम० अली साहब की खोज से काफी हद तक सहमत हूँ। जैसा कि चित्र २ से स्पष्ट है।

उपर्युक्त द्वीपों में से एक 'जम्बूद्वीप' है, जो सभी महाद्वीपों के मध्य स्थित है। महाभारत के अनुसार यह १८६०० योजन विस्तार वाला द्वीप जम्बू पर्वत से सुशोभित और लवण समुद्र से घिरा हुआ है। बुद्ध घोष के अनुसार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल १०,००० योजन था, जिसमें ४,००० योजन तक समुद्र था और ३,००० योजन तक हिमवन्त के जंगल और शेष ३,००० योजन में मनुष्य निवास करते थे।[१] मेरु पर्वत इसके बीचों-बीच में स्थित है। मेरु की पहचान पामीर से की गई है। इस लक्षण के आधार पर कि जम्बूद्वीप का मध्य भाग ऊँचा और उठा हुआ है तथा दक्षिण और उत्तर भाग नीचे हैं, जम्बूद्वीप की पहचान आधुनिक यूरेसिया से करना समीचीन है। सुमेरु से उत्तर नील (अल्ताइताल), श्वेत (ध्यानशान) तथा श्रृंगवान (सेयान) वर्ष पर्वत हैं और सुमेरु के दक्षिण में निषध (हिन्दुकुश), हेमकूट (क्यूनलुन) एवं हिमवान (हिमालय) वर्ष पर्वत हैं।

मेरु के चारों ओर मध्य का उठा भाग, इलावृत वर्ष कहलाता था। इसके उत्तर में क्रमशः रम्यक वर्ष (मध्य एशिया या द० प० सिक्यांग) हिरण्यक वर्ष (उत्तरी सिक्यांग) और उत्तर कुरु (रूस तथा साइबेरिया) स्थित थे। इलावृत के दक्षिण क्रमशः किम्पुरुष वर्ष (तिब्बत का पठार), हरिवर्ष (हिरात का प्रदेश) तथा भारतवर्ष हैं। इलावृत के पूर्व में भद्राश्व वर्ष और इलावृत के पश्चिम में केतुमाल वर्ष स्थित था। इस प्रकार जम्बूद्वीप नव वर्षों में विभक्त था इनकी सीमाएँ वर्ष पर्वत थे। कुछ वर्षों की पहचान निश्चित नहीं है।

जम्बूद्वीप के उपद्वीप—भागवत पुराण के अनुसार राजा सगर के पुत्रों ने यज्ञ के घोड़े (जो भूल गया था) को खोजते हुए पृथ्वी को चारों ओर से खोदा।[२] इससे जम्बूद्वीप में आठ उपद्वीप बन गये। जम्बूद्वीप (यूरेसिया) की बाहरी सीमाओं पर स्थित द्वीपों को पुराणों में उपद्वीप बतलाया गया है। ये आठ हैं—स्वर्ण प्रस्थ (सुमात्रा), चन्द्र शुक्ल (फिलीपाइन द्वीप), आवर्तन (ब्रिटिश द्वीप), रमणक (नार्वे तथा स्वीडन), मन्दर, हरिण (नोवाया जेमलया), पांचजन्य (जापान), सिंहल लंका)। इसकी पुष्टि देवी पुराण भी करता है। इनमें रमणक द्वीप नागों का घर था जहाँ कालिय नाग मथुरा छोड़कर चला गया था। अन्य द्वीपों में सिंहल-लंका अति-प्रसिद्ध था जिसे भारतवर्ष के

१ स्पेन्स हार्डी-मैनुअल बुद्धिज्म ज्याग्रफी आफ अर्ली बुद्धिज्म-ला पृ० १७
२ देखिये बालकाण्ड।४०।५-८।

नव भागों का एक-एक भाग (द्वीप) माना गया था। वायु पुराण (१।४८।१) में भारत के दक्षिण समुद्र के पार भारतवर्ष अनेक द्वीपों से अलंकृत था। इन्हें अन्तर द्वीप कहा गया है। इनमें बर्हिण पुंज (बर्मा) और अनेक क्षुद्रद्वीप (वायु पु० १।४८।१२) थे। जम्बूद्वीप में ही विविध रत्नों की खान वाले छः द्वीप—अंग द्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), मलयद्वीप (मलाया), शंखद्वीप (बोर्नियो), कुशद्वीप (अफ्रीका) और वराह द्वीप (मडागास्कर) थे। ये वास्तव में भारत के समस्त दक्षिणी द्वीप-समूह थे। रामायण में उल्लिखित चांदी मिलने वाला देश या रूप्यक द्वीप मलय द्वीप ही था। जेरिनी कुशद्वीप की पहचान सुमात्रा में सुन्द द्वीप समूह से करते हैं।[1]
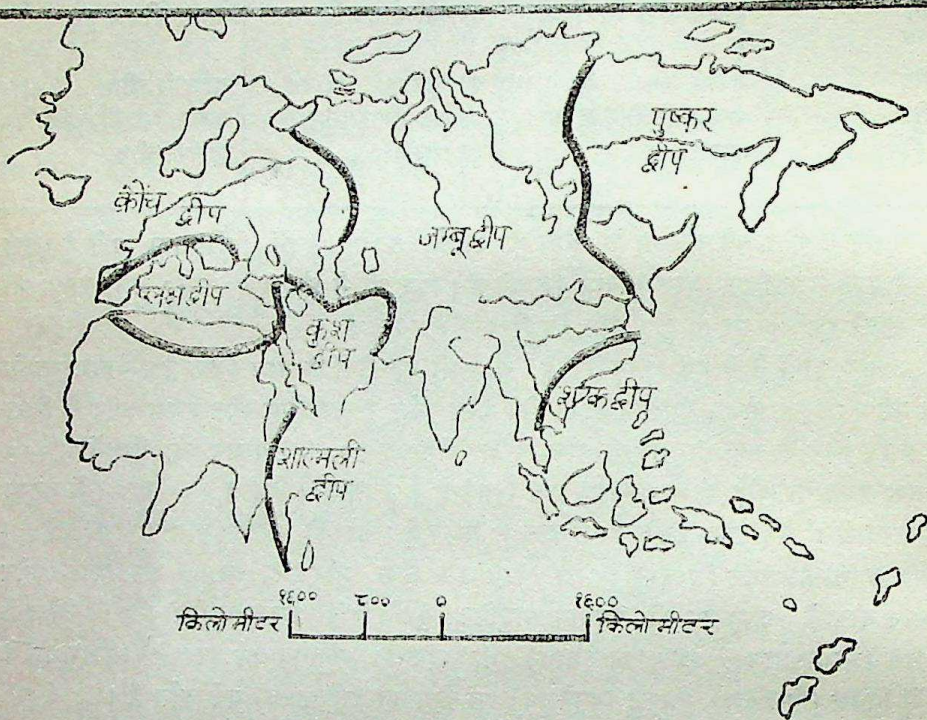
(२) **नामकरण**—पुराणों के अनुसार ऋषभ देव के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष (भरताद् भारतं वर्ष, अग्नि १०७-१२) पड़ा (वायु पु०, १।३३।५२; विष्णु २।१।३२)। महाराज भरत के पहले यह हैमवत और नाभि खण्ड (स्कन्द १-२-३७-५६) कहलाता था। मत्स्य पुराण (११३।५-६) के अनुसार प्रजा का भरण करने के कारण मनु ही भरत कहलाते थे और मनु-भरत के नाम से ही यह वर्ष भारत कहलाया। ब्रह्म पुराण (१३-५७) के अनुसार दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर ही यह भारत कहलाया। प्राचीन परम्परा के अनुसार इस वर्ष का नाम भारतवर्ष था, किन्तु लगभग प्रथम शती विक्रमी से भारत के निवासियों ने पूर्व और पश्चिम के दोनों महासागरों पर अपने प्रभविष्णु अधिकार द्वारा 'बृहत्तर भारत' का निर्माण किया।[2] शनैः शनैः जावा, सुमात्रा, मलय, चम्पा, श्याम, बोर्नियो आदि द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति, भाषा, धर्म और कला इस प्रकार छा गई कि द्वीपान्तरीय प्रदेश भारत के ही अंग समझे जाने लगे। अतएव भारत की भौगोलिक सत्ता का अर्थ विस्तृत हो गया। उसमें न केवल भारत की

१ डॉ० बुद्ध प्रकाशः 'इण्डिया ऐण्ड दि वर्ल्ड' पृ० ७०।
२ डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी : प्राचीन भारत का भूगोल, प्रथम संस्करण १९७२।

भूमि बल्कि समुद्र के उस पार के द्वीप भी गिने जाने लगे। इस स्थिति का उल्लेख पुराणकारों ने भी किया है। इस भारतवर्ष के नव भाग हैं, जिन्हें समुद्र एक दूसरे से अलग करता है। अतएव स्थल मार्ग से परस्पर अगम्य हैं। इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वरुण तथा नवम यही द्वीप है। नवम द्वीप का नाम राजशेखर कृत 'काव्य मीमांसा' (९२।७-९) (दसवीं शती० ई०) में कुमारी द्वीप बताया गया है। अन्य विद्वानों का भी अनुमान है कि यह नवम द्वीप (कुमारी द्वीप) ही वास्तविक भारत देश है और शेष आठ भाग 'वृहत्तर भारत' के हैं।[1] इन्द्रद्वीप की पहचान अंडमान से, कसेरुमान की मलाया से, ताम्रपर्ण की लंका से, गभस्तिमान् की थाईलैण्ड से, नागद्वीप की निकोबार से, सौम्य की सम्भवतः सुमात्रा से, गन्धर्व की यून्नान से तथा वारुण की पहचान बोर्नियो से की गई है। स्कन्द पुराण (१।२।३९।६८-६९) बताता है कि ऋषभ देव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष तथा भरत के पुत्र शतशृंग के आठ पुत्र और नवीं पुत्री उत्पन्न हुई जिनके नाम थे—इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान, नाग, सौम्य, गान्धर्व, वरुण और कुमारिका। महाराज शतशृंग ने इस भारतखण्ड को नौ भागों में बाँटकर आठों पुत्रों को आठ भाग और नवां भाग पुत्री कुमारिका को दे दिया।[2]

इण्डिया शब्द सिन्धु नदी या इन्दु नाम से ही व्युत्पन्न हुआ है। इसकी पुष्टि हमें कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ३२४ से भी होती है। ऋग्वेद (९।२४-२७) में इसको 'सप्त-सिन्धवः' या नदियों का देश कहा गया है। निस्संदेह यह संज्ञा अवेस्ता वेंडीडाड में प्राप्त शब्द हप्त-हिन्दु के समान हैं। हेरोडोटस ने इसे इण्डिया कहा है, जो पारसीक साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था। तथापि, यह विचारणीय है कि वैदिक 'सप्तसिन्धवः' और पारसीक 'हिन्दु' केवल पश्चिमोत्तर में स्थित भारत के एक विशेष भू-भाग को ही लक्षित करते थे। परन्तु; हेरोडोटस द्वारा प्रयुक्त शब्द 'इण्डिया' पहले से ही व्यापक अर्थ धारण करता जा रहा था, क्योंकि, इस यूनानी इतिहासकार ने उन भारतीयों का वर्णन किया है, जो दक्षिण में पारसीकों से बहुत दूर रहते थे और कभी धारय-द्रसु के अधीन नहीं रहे।[3]

(३) विस्तार—रामायण में भारत का भौगोलिक विस्तार उत्तर में पर्वतों को पारकर शिला नदी और चीन तक तथा दक्षिण में समुद्र पार के द्वीपों—जावा सुमात्रा (यवद्वीप) तक तथा विन्ध्य, नर्मदा, गोदावरी, मलय, ताम्रपर्णी (लंका) तक भौमिक विस्तार का उल्लेख है (कि० ४१ सर्ग) पश्चिम में सौराष्ट्र और पश्चिमी समुद्र (कि० ४२।६-१०) के बेला-तट पर खड़े नारिकेल वन (कि० ४२।११-१३) और सिन्धु सागर (कि० ४२।१५) तक का दर्शन होता है। उत्तर में हिमशैल, काम्बोज, कैलास तथा क्रौंच गिरि तक (कि० ४३।४-२५) और फिर पर्वत पार शैलोदा नदी, उत्तर कुरु तथा उत्तरी समुद्र तथा पूर्व में किरात भौमिक विस्तार था (कि० ४३।३७-५३)। इस प्रकार रामायणकालीन भारत का चतुर्दिक प्रसार हो चुका था। पुराणों के आधार पर ही गंगावतरण अध्याय में (बालकाण्ड अ० ४३) सात गंगा की धाराओं ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, सुचक्षु, सीता, सिन्धु और हेमवती गंगा का वर्णन मध्य एशिया और बर्मा तक भौमिक विस्तार का साक्षी है।

---

१ देखिये—कनिंघम कृत "एशियन्ट ज्योग्रफी ऑफ इण्डिया (सुरेन्द्रनाथ मजूमदार द्वारा सम्पादित) में प्रथम परिशिष्ट के रूप में संलग्न श्री मजूमदार द्वारा लिखित "पुराणिक नाइन डिविजनस ऑफ ग्रेटर इण्डिया" शीर्षक लेख, पृष्ठ ७४९-७५४। इस मत से डॉ० लाहा भी सहमत हैं। देखिये उनका 'इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्सटस ऑफ बुद्धिज्म एवं जैनिजम में," पृ० १५।

२ देखिये स्कन्द पुराण १-२-३९-११०।

३ हेमचन्द्र राय चौधरी : स्टडीज इन द इण्डियन ऐंटिक्विटीज, पृ० ८१।

पुराणों (वायु १।४५।८१) के अनुसार उत्तर में गंगा के उद्गम से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक एक सहस्र योजन विस्तार बताया गया है। तिर्छा नव सहस्र योजन है। स्कन्द पुराण के अनुसार भारत का विस्तार दक्षिणोत्तर नवसहस्र योजन और पूर्व पश्चिम अस्सी सहस्र योजन कहा गया है। आकार के बारे में कहा गया है कि जिसके तीन ओर सागर और उत्तर में धनुष की डोरी की तरह हिमालय स्थित है। अतः भारत का आकार धनुषाकार है (मार्कंडेय ३४-५६)। दीघ-निकाय के महागोविन्द-सुत्त में (महापण्वी) कहा गया है कि उत्तर की ओर चौड़ी या विस्तृत (आयत) और दक्षिण की ओर बैलगाड़ी (शकट) के अग्रभाग (मुख) की शक्ल का भारत का आकार है। मेगस्थनीज के अनुसार भारत की सबसे कम चौड़ाई १६००० और न्यूनतम लम्बाई २२३०० स्टेडिया (१ स्टेडिया=२०२ गज) है।

(४) **भौगोलिक विभाग**—किष्किंधा काण्ड के अध्यायों में जिन दिग्विभागों का उल्लेख किया गया है, वे भारत के ही चार देश भाग—पूर्व, दक्षिण, प्रतीच्य और उदीच्य थे। अतः अवश्य ही, इनकी स्थिति क्रमशः मध्य देश के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में होनी चाहिए। मनु के धर्मशास्त्र सूत्रों के आर्यावर्त को ही मध्य देश कहा गया है। मनु इसकी सीमा उत्तर में हिमालय से लेकर द० में विन्ध्य तक और प० में विंध्य से लेकर पूर्व में प्रयाग तक निर्धारित की है (मनु-स्मृति २।२१-२२)। इस प्रकार चार प्रादेशिक विभाग किये जा सकते हैं—(१) उदीच्य (उत्तरापथ) (२) दक्षिणात्य (दक्षिणापथ) (३) प्रतीच्य (४) अपरान्त और सामुद्र।

(५) **जाति और धर्म**—भू-राजनीतिक तत्त्वों में जाति और धर्म भी एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। रामायण कालीन वृहत्तर भारत में दो प्रकार की जातियाँ निवास करती थीं—एक आर्य और दूसरी अनार्य। इन दोनों जातियों की भी कुछ उपजातियाँ थीं, परन्तु, उनकी संख्या अधिक थी। राक्षस, दैत्य, दानव, नाग, मृग, कपि, ऋक्ष, कीकट, महिष, महावृष, निषाद, यक्ष, शबर आदि जैसी अन्य जातियाँ अनार्यों की श्रेणी में आती थीं।

आर्यों और अनार्यों की सामाजिक व्यवस्था में बहुत अन्तर था। जहाँ एक तरफ आर्यों का समाज वर्णाश्रम के साँचे में ढला हुआ था, तो वहीं दूसरी तरफ अनार्यों का समाज जाति-रहित था। विंध्य पर्वत-माला के दक्षिण में निवास करने वाली अनार्य जातियों में से कुछ ने आर्य संस्कृति सभ्यता का विरोध किया और कुछ ने उसे सहर्ष अपना लिया। आर्य सत्ता का विरोध करने में राक्षसों का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिनका निवास-क्षेत्र भारतीय प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग और लंकाद्वीप प्रमुख था। रामायण के अध्ययन से राक्षसों की तीन शाखाओं के अस्तित्व का पता चलता है, जिनमें—पहली शाखा विराध की थी, जो दण्डकारण्य के उत्तरी भाग में निवास करती थी। इसका मुखिया विराध नामक राक्षस था, जिसका राम-लक्ष्मण के हाथों वध हुआ (अरण्यकाण्ड ३।२; ४।२०)। दूसरी शाखा दनु की संतति होने के कारण दानवों के नाम से विश्रुत हुई, जिसका नेतृत्व कबंध राक्षस के हाथों में था। इसका भी वध राम-लक्ष्मण के हाथों से हुआ (अरण्यकाण्ड। ६९।२७-३३; ७२।२-४)। तीसरी शाखा जो राक्षस अथवा रक्ष के नाम से प्रसिद्ध थी, सबसे अधिक क्रूर और शक्तिशाली थी। उसके अन्तर्गत लंका के निवासी गिने जाते थे, जो पुलस्त्य और दिति के वंशज रावण के अधीन थे। खान-पान एवं यौन सम्बन्ध में राक्षसों का आचरण अमर्या-दित था।

राक्षसों के बाद रामायण में वानरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भी एक दक्षिणी भारत की अनार्य जाति थी, किन्तु, इसने आर्यों से सहयोग किया और उनकी संस्कृति आदि का अनुगमन किया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि नस्ल, भाषा, वर्ण और आकृति में आर्यों से भिन्न होते हुए भी वानरों ने आर्य संस्कृति को खुले हृदय से अंगीकार किया। राक्षसों के विरुद्ध राम के अभियान में उनके सक्रिय सहयोग से यह प्रकट है। बालि और सुग्रीव वानरों के नृपति थे। वास्तव

में वानर-जाति विंध्य-पर्वत के दक्षिण भाग में निवास करने वाली एक वनचर-जाति थी और उसे निरा बन्दर समझ लेना बहुत बड़ी भूल है । वानर कहलाने के दो कारण हो सकते हैं—रहन-सहन या आचार-विचार की दृष्टि से उनमें विचित्रता थी अथवा आर्य लोग वानरों से भली-भाँति परिचित ही नहीं थे । दूसरा यह हो सकता है कि पूँछ युक्त उछल-कूद मचाने वाली जाति को देखकर उसे वानर कहने लगे ।[१] रामायण के अध्ययन से वानरों को निरा बन्दर समझ लेना मिथ्या सिद्ध हो जाता है । यह प्रमाणित हो जाता है कि वानरों की जाति एक वास्तविक मनुष्य-जाति थी, जिसकी अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था थी । भले ही यह जाति मध्य देश के आर्यों और लंका के राक्षसों जैसी समुन्नत न रही हो, पर निश्छल, सरल और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से अलिप्त होने के कारण इसका भी अपना एक अनोखा गौरव और महत्त्व था ।

रामायण ही भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीन और सम्भवतः एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिससे हम वानर-जाति की सभ्यता की निकट से झांकी प्राप्त कर सकते हैं । माया जानने वाले, शूरवीर, वायु के समान वेगवान्, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में वानर कुशल थे । वानर सैनिक छापामार युद्ध करने में निपुण होते थे । वास्तव में राम की सम्पूर्ण सेना इन्हीं गुरिल्लों से निर्मित थी । वानरों के स्वभाव की एक और विशेषता थी, उनका तेज और गरम मिजाज । वानर-जाति शरारती भी थी । उनकी शरारतों से परेशान होकर मतंग ऋषि ने अपने मतंग वन से उन्हें बहिष्कृत सा कर रखा था । (४।११।५५-६) ।

वानरों का समाज 'हरिगण' के नाम मे ख्यात था 'हरि' शब्द वानर का ही पर्यायवाची है । हरिगण की तीन शाखाएँ थीं—ऋक्ष, गोलांगूल और वानर । सामान्य धारणा के विपरीत ऋक्ष लोग भालू नहीं थे, वरन् ऋक्ष पर्वत पर निवास करने वाले 'हरिगण' थे । गोलांगूलों के विषय में सारण का कथन है कि वे काले मुँह वाले, घोर और महाबली होते थे (६।२७।३२) । फिर भी वानरों की सभ्यता काफी समुन्नत थी ।

वानरों की जाति पर्याप्त सुसंस्कृत और सुशिक्षित थी । सुग्रीव के सचिव हनुमान् रामायण के प्रमुख वानर हैं, जिन्होंने अपनी संस्कृति और शिक्षा से राम को अतिशय प्रभावित किया था । व्याकरण, व्युत्पत्ति और अलंकारों में अर्थात् शब्दों के समुचित प्रयोग में पूर्णतया निपुण थे । उनकी प्रथम बातचीत से राम ने अनुमान लगाया था कि हनुमान ने निश्चय ही व्याकरण-शास्त्र का कई बार स्वाध्याय किया होगा (४।३।२८-६) ।

वानर-साम्राज्य की राजधानी किष्किंधा नगरी सुख और वैभव की क्रीड़ा-स्थली थी । लक्ष्मण के प्रवेश करते समय का उसका जो चित्रण महाकवि की लेखनी से प्रसूत हुआ है, वह वानर-राज्य की आर्थिक समृद्धि पर भरपूर प्रकाश डालता है । सात दयोढ़ियों के पार सुग्रीव का अन्तःपुर था, जहाँ सोने-चांदी के पलंग और अनेक उत्तम मंच पड़े थे । वानरराज सुग्रीव का शुभ्र प्रासाद इन्द्र-भवन की शोभा को मात कर रहा था ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वानर निरा बन्दर नहीं थे । श्री मन्मथनाथ राय ने वानरों को भारत के मूल निवासी व्रात्य माना है, जो बाद में आर्यों के आने पर दक्षिण पठार के उपजाऊ भू-भाग में जाकर बस गए ।[२] राम के सम्पर्क में आने से पहले ही वे आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुके थे । श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री[३] ने वानरों को एक आर्य-जाति माना है, जो दक्षिण भारत में बस जाने के कारण अपने उत्तर भारतवासी मूल बन्धुओं से दूर पड़ गयी । बाद में

---

१ जे० म्युअर : 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्ट्स', भाग २, पृ० १४६-६ ।
२ 'सरस्वती भवन स्टडीज', भाग ५, पृ० ७३ ।
३ 'इण्डियन कल्चर', भाग ५, पृ० १६५ ।

आर्य-संस्कृति से प्रभावित होने पर वह प्रगति करने लगी। वास्तव में राक्षस लोग वानरों को कपि या वानर अहंकारवश या उनके प्रति तुच्छता की भावना के कारण कहते थे, वैसे ही जैसे रूसी लोग किसी समय जापानियों को 'पीले बन्दर' (यलो मंकी) कह कर उनका उपहास किया करते थे।[१] अब यह प्रायः स्वीकार कर लिया गया है कि प्राचीन भारत में पशुओं के नाम से अभिहित कई जातियाँ निवास करती थीं, जैसे नाग, ऋक्ष (भालू) और वानर (बन्दर)। कालान्तर में लोक-मानस ने उन्हें आकृति और स्वभाव में उन-उन पशुओं का ही प्रतिरूप मान लिया, जिनका नाम वे धारण करती थीं या जिनके साथ उनका कुछ-कुछ रूप साम्य था। फिर कुछ भी हो उन्हें नील जैसे इन्जीनियर (अभियन्ता) को जन्म देने का गौरव प्राप्त था, जो भारत और लंका के मध्यवर्ती समुद्र पर सेतु बनाकर अपने अद्भुत वास्तुकला-कौशल का परिचय दे सकता था।

तत्कालीन भारत में रासक्षों और वानरों के अतिरिक्त निषाद जाति थी, जो कोसल-राज्य और गंगा के बीच के प्रदेश में निवास करती थी। गुह उसके नरेश थे और शृंगवेरपुर उनकी राजधानी थी। निषाद जाति तीरन्दाज में दक्ष थी। निषादराज गुह कोसल राजकुमार के प्रिय सखा (२।५०।३३) थे। कोसल राज्य के निकट होने के कारण निषाद जाति आर्य संस्कृति से विशेष प्रभावित हुई थी। रमेश चन्द्र मजूमदार का मत है कि इन निषादों की संस्कृति उत्तर पाषाण-युग की संस्कृति थी और किसी समय समस्त भारत की जनसंख्या में इन्हीं का बहुमत था, पर अन्य उन्नत जातियों की वेगवती लहरों ने इन्हें पीछे धकेल दिया। फलतः निषाद आर्यावर्त की सीमावर्तिनी जाति-मात्र बनकर रह गये, जबकि वे नई जातियाँ ही भारतीय समाज का मूलाधार बन गईं।[२] इस निषाद जाति ने आर्य नेता राम का खुले हृदय से सहयोग किया।

रामायणकालीन भारत में कुछ घुमंतू जातियाँ थीं, जो पर्यटनशील स्वभाव के कारण पक्षियों-गृध्रों या सुपर्णों के नाम से पुकारी जाती थीं।[३] यह गृध्र-जाति भारत के पश्चिमी समुद्र तट और उसके निकटवर्ती पर्वत मालाओं पर निवास करती थी। इस जाति के मुखिया 'सम्पाति' और जटायु नाम के दो भाई थे, जिनकी मृत्यु के बाद गृध्रों का राजनीतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इस जाति के बारे में केवल इतनी जानकारी मिलती है कि जटायु महाराज दशरथ के परम मित्र थे (३।४१।३) और पंचवटी में सीता की रखवाली का दायित्व ले रखा था। राम द्वारा जटायु के दाह-संस्कार से ध्वनित होता है कि वे वास्तव में दशरथ के सखा थे। सम्पाति ने भी हताश वानरों के दल को रावण के बारे में जानकारी देते हुए, अपना विधिवत् परिचय दिया था। अपने दिवंगत भाई के पितरों को सम्पाति ने जलांजलि भी अर्पित की थी (४।६०।१)। इससे यह स्पष्ट होता है कि गृध्र-जाति ने आर्यों की धार्मिक रीतियों को अपना लिया था।

यक्ष-जाति राक्षसों की ही समकालीन थी, पर संख्या और प्रभाव की दृष्टि से उसका महत्त्व नगण्य था। यक्ष अपने असाधारण सौन्दर्य और शारीरिक बल के लिए विश्रुत थे। यक्ष और राक्षस दोनों सजातीय थे। दोनों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों के उदाहरण मिलते हैं। यक्ष-नृपति कुबेर रावण के सौतले भाई थे। किन्तु, रावण ने साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर यक्षों के साथ शत्रुता ठान ली और अन्त में कुबेर की राजधानी लंका पर रावण ने अधिकार जमा लिया। द्वन्द्व युद्ध में परास्त होने के बाद कुबेर गन्धमादन पर्वत के पास 'अलकापुरी' बसा कर रहने लगे।

दानव-जाति दक्षिणी भारत के छोटे-छोटे द्वीप-समूहों में से एक सुम्ब्राद्वीप पर निवास करती

---

१ चि० वि० वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० ६६।
२ 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ५५७।
३ अविनाश चन्द्र दास : 'ऋग्वैदिक इण्डिया', पृ० १४८।

थी । यह द्वीप बालिद्वीप के दक्षिणांचल में थोड़ा पूर्व की ओर था । यह प्राकृतिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत था । इस द्वीप की परिधि एक योजन से भी कम थी । द्वीप के मध्य भाग में एक झील थी, उसी के चारों तरफ दानवों के पुर बने हुए थे । मय दानव ने अपनी पुत्री मन्दोदरी की शादी रावण से की थी । दानव-जाति के नरेश मकराक्ष थे । इस जाति ने रावण का साथ दिया ।

यक्षों की एक समकालीन जाति सर्प-चिन्ह वाले नागों की थी । यह भी दक्षिण भारत में पनपी थी । नागों ने लंका के कुछ भागों पर ही नहीं, वरन्, प्राचीन मालाबार प्रदेश पर भी अपना प्रभुत्व जमा रखा था । रामायण में सुरसा को नागों की माता और समुद्र को उनका अधिष्ठान बताया गया है (५।१।१३७ । महेन्द्र और मैनाक पर्वतों की गुफाओं में भी नाग जाति निवास करती थी । हनुमान द्वारा समुद्र लांघने की घटना को नागों ने प्रत्यक्ष देखा था (५।१।८४) । नागों की स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता के लिए ख्यात थीं (५।१२।२१) । रावण ने कई नाग कन्याओं का अपहरण किया था (५।१२।२२) । नागपति वज्रनाभ को रावण ने अपनी रक्ष संस्कृति के प्रसार के अभियान में ही मौत के घाट उतार 'बालिद्वीप' पर अपना अधिकार जमा लिया । इतना ही नहीं नागों की राजधानी 'भोगवती' नगरी पर हमला कर उसने वासुकि, तक्षक, शंख और जटी नामक प्रमुख नागों को परास्त किया था।[1] श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार का मत है कि कालान्तर में नाग-जाति चेर-जाति में विलीन हो गयी, जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ में प्रभुत्व सम्पन्न हुई थी ।[2]

शबर-जाति के लोग अधिकांशतः बहेलिया और शिकारी होते थे । आधुनिक समय में शबरों का प्रतिनिधित्व मध्य प्रदेश की पहाड़ियों में निवास करने वाली इसी नाम की जाति करती है । शबरी-कथा अनार्य-जाति की कथा है, जो आर्यों की संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हो चुकी थी । राम-लक्ष्मण सीता की खोज करते-करते शबरी तपस्विनी के आश्रम में जा पहुँचे थे, जो सम्भवतः पम्पा सरोवर के किनारे रहने वाली शबर-जाति की स्त्री थी । आर्यों के रीति-रिवाज को अंगीकार करने की पुष्टि शबरी द्वारा राम-लक्ष्मण के प्रति उसके अतिथि-सत्कार के वर्णनों से होती है ।

रामायण में असुर जाति को राक्षसों से पृथक माना गया है । असुरों की माता का नाम 'दिति' था जो देवों की माता 'अदिति' की सौत थी । असुर लोग ऋषि-मुनियों के शत्रु थे । वातापि और इल्वल उसके मुखिया थे, जो अगस्त्य ऋषि के हाथों मारे गये (३।११।५५-५६) । दण्डकारण्य में ऋषियों ने असुरों के वध-हेतु राम-लक्ष्मण से प्रार्थना की थी (३।१।४३-४) । दण्डकारण्य के दक्षिण भाग में वैजयन्तपुर था, जहाँ का स्वामी असुरों का एकाधिपति तिमिध्वज शम्बर था, जो सौ दुर्गों का स्वामी था । इसकी राजमहिषी दितिपुत्र मय दैत्य की पुत्री तथा रावण की महिषी मन्दोदरी की सगी बड़ी बहिन थी । आदि कवि ने असुरों को पाताल आजकल जिस स्थान को 'अबीसीनिया' कहते हैं, उन दिनों वही पाताल कहलाता था । और अधर्म के पोषक के रूप में चित्रित किया है । वास्तव में मूलतः असीरिया ही असुरों की भूमि थी । यह स्थान भूमध्य सागर के पूर्वी भाग में स्थित है । आजकल यह देश फारस और थोड़ा श्याम देश की सीमाओं के अन्तर्गत है । इसका यह नाम शेम के पुत्र असुर के नाम पर हुआ । इतिहासकार सैलिन का मत है कि असीरियन साम्राज्य की स्थापना ईसा से २½ हजार वर्ष पूर्व हुई है । यह असुर साम्राज्य संसार की ऐतिहासिक सीमा में आये हुए तीन प्राचीनतम साम्राज्यों में एक था । महाराज दशरथ ने एक बार दण्डकारण्य में जाकर असुरों पर धावा बोला था, जिसमें प्राण बचाने के लिए उन्होंने कैकेयी को दो वर दिये थे (२।९।११-७) ।

---

१ देखिये : ७।२३।५; ६।७।६; ३।३२।१४
२ 'साउथ इंडिया इन द रामायण' (सप्तम ओरिएण्टल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३ ।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त रामायण में देवों, गन्धर्वों, चारणों, सिद्धों, किन्नरों और अप्सराओं का भी उल्लेख किया गया है। देवों को तो एक तरफ स्वर्ग का देवता माना गया है, तो वहीं दूसरी तरफ वे पृथ्वी पर रहते हुए पार्थिव रमणियों के प्रति आकृष्ट होते हुए भी पाये जाते हैं। आर्यों के यज्ञों में देवों का एक भाग नियत रहता था। राक्षस उनके 'चिर' शत्रु थे। इसीलिये वे प्रायः राक्षसों के विनाश का उपाय ढूँढ़ने में ही व्यस्त दीख पड़ते हैं।

गंधर्व-जाति का प्रदेश आधुनिक पेशावर से लेकर डेरागाजी खाँ तक फैला हुआ था। यह प्रदेश सिन्धु नदी के दोनों तरफ होने से अति रमणीय था। यहाँ का गन्धर्वराज मित्रावसु था। गंधर्व राजा मित्रावसु की पुत्री चित्रांगदा से रावण ने प्रेम प्रस्ताव करके शादी कर ली थी। गंधर्व भी आर्यों के चिर शत्रु थे। गन्धर्वराज ने रावण से कहा था कि आर्यावर्त में महादुर्जय सूर्यवंशी दक्षिण कोसल-नरेश अनरण्य और महाविक्रम अयोध्यापति दशरथ हमारे जानी दुश्मन हैं।

किन्नर एक स्त्रैण जाति थी, जो सदा श्रृंगारिक गीतों और क्रीड़ाओं में मग्न रहती थी। सिद्ध और चारणों को वाल्मीकि ने अंतरिक्ष का निवासी बताया है, जो वीरतापूर्ण कृत्यों के सम्पादन पर प्रशंसा की बौछार किया करते थे।

रामायण में अप्सराओं का बार-बार उल्लेख हुआ है। सच पूछा जाय तो वे गणिकाओं या वारांगनाओं से पृथक नहीं थीं और ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके सौन्दर्य एवं विशिष्ट आकर्षणों के कारण समाज उन्हें स्वर्ग की सुन्दरियाँ समझने लगा। पौराणिक मत के अनुसार अप्सराओं की उत्पत्ति समुद्र-मंथन से हुई, पर यह उल्लेखनीय है कि इनको न तो देव और न दानव ही पत्नी रूप में अंगीकार करने को तैयार हुए, जिससे वे सबके लिए सुलभ स्त्रियाँ बन गईं (१।४५।३५)। रावण द्वारा अनेक अप्सराओं के उपभोग का वर्णन आता है। अप्सराओं की वेश्यावृति रंभा-रावण-प्रसंग से भी प्रमाणित होती है, जिसमें रावण कहता है कि अप्सराओं का कोई पति नहीं होता (७।२६।४०)। वैसे ऋषि-मुनियों के संयम एवं साधना को भंग करने के लिए एक कारगर साधन थी; मेनका अप्सरा ने अपने अद्वितीय सौन्दर्य से विश्वामित्र को अनवरत तपस्याजन्य वंचित कर दिया था।

धर्म—भू-राजनीतिक तत्त्व में धर्म को महत्त्वपूर्ण दर्जा प्रदान किया गया है क्योंकि तत्कालीन युद्ध के कारणों में धर्म भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। यद्यपि रामायण का युग भौतिक वैभव और समृद्धि, कला और विकास का समय था, तथापि उसमें पग-पग पर धर्म की सत्ता प्रकट होती है। आर्य वैदिक साहित्य में वर्णित कर्मकाण्ड के निष्ठावान अनुगामी थे। किसी क्रिया विशेष का वैदिक मंत्रों के अनुसार सम्पन्न होना ही उसके सुचारु-अनुष्ठान का मापदण्ड था।[1] धार्मिक क्रियाओं के 'यथाविधि' यथाशास्त्रम् या 'शास्त्र दृष्टेन विधिता' किये जाने का आदि कवि ने बार-बार वर्णन किया है। राम ने अपना बाण वेदोक्त विधि से अभिमंत्रित करके ही रावण को मारने के लिए धनुष पर रखा था—

अभिमन्त्रय ततो रामस्तं महेषुं महाबलः।
वेद प्रोक्तेन विधिता सन्दधे कार्मुके बली॥ ६।१११।१४

अर्थात् महाबली राम ने उस महाबाण को (अथर्वण) वेद की विधि से (ब्रह्मास्त्र के मंत्र से) अभिमंत्रित कर धनुष पर चढ़ाया।

रामायण काल यज्ञ-बहुल काल था। श्रेष्ठ यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा ही राजागण यश और गौरव प्राप्त करते थे। यज्ञ के अनुष्ठान काल में व्यवस्था एवं अनुशासन बनाये रखने के लिए

---

१ शान्ति कुमार नानू राम व्यास : 'रामायण कालीन संस्कृति', १९७१, पृष्ठ १२।

विशेष विधि-विधान थे (१।१२।१७-८)। यज्ञ का संचालन शास्त्रीय विधि के अनुकूल होना नितान्त आवश्यक था। यज्ञों में अश्वमेध-यज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके अनुष्ठान द्वारा राजागण अपनी सार्वभौम सत्ता उद्घोषित करते थे (७।९१-३; १।१३।४)। अश्वमेध-यज्ञ की समस्त क्रियाएँ यज्ञीय अश्व की बलि पर कन्द्रित होती थीं। वैदिक-विधि के अनुसार सम्पादित रावण की अंत्येष्टि क्रिया में पशु-बलि दी गई थी (६।११४।१०९)। प्रातःकाल का समय नित्य-नैमित्तिक कृत्यों के अनुष्ठान के लिए नियत रहता था। राम कभी इसे भूले नहीं। यहाँ तक कि लंका-प्रस्थान के अवसर पर समुद्रतट पर ही अपनी सायं-संध्या विधिवत् सम्पन्न की थी (६।५।२३)।

(९) यातायात के साधन

तत्कालीन समय में यातायात के साधन 'यान' कहलाते (२।९२।३५) थे वे मनुष्यों, जानवरों और धन-धान्य को ढोने के काम आते थे। स्थल पर पुरुषों के सबसे उपयोग आने वाला यान रथ था। नागरिक एवं सामरिक क्षेत्रों में उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। तत्कालिक अनुमान से उस समय के श्रेष्ठ घोड़े रथों में जोते जाने पर १२ योजन (१०० मील) दौड़ सकते थे। रथ कई प्रकार के होते थे—देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिक, पारियाणिक, पुराभियानिक तथा वैनयिक। सांग्रामिक रथ युद्धोपयोगी और पारियाणिक साधारण यात्रा के लिए होता था। पुराभियानिक से शत्रुओं के नगर पर आक्रमण किया जाता था।

'शिविका' या 'पालकी' पर्वतीय स्थानों की मुख्य सवारी थी। वानरों में इसका प्रचलन अधिक था। वानरराज सुग्रीव अनेक अनुचरों द्वारा ढोई जाने वाली पालकी में सवार होकर राम के दर्शनार्थ गये थे। राक्षसों में भद्र महिलाएँ पालकी में सवारी करती थीं। इसीलिए विभीषण सीता को पालकी में सवार कर राम के पास लाये (६।११७।१४) थे।

वैसे तो परवर्ती युग के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आर्येत्तर जातियों में किसी बलवान मनुष्य की पीठ पर या कन्धे पर बैठ कर इधर-उधर जाने का प्रचलन था। हनुमान् राम-लक्ष्मण को अपने कन्धे पर बैठाकर सुग्रीव के पास ले गये थे (कि० ४।३४)। लंका-अभियान के अवसर पर भी हनुमान् दोनों राजकुमारों को अपने ऊपर बैठाकर ले गये थे।

माल ढोने के लिए काम आने वाली गाड़ियाँ 'शकट' कहलाती थीं। बैलों से खींची जाने के कारण उन्हें 'गो-रथ' भी कहते थे। गाड़ियों में बैल या गाय दोनों जोतने का प्रचलन वैदिक काल से रहा है।

देश में आन्तरिक यातायात हेतु नावें भी काम में लाई जाती थीं। ये नावें पालों और पतवारों के सहारे संचालित होती थीं (६।४८।२६; ५०।१)। जहाँ स्थल मार्ग के बीच से कोई नदी बहती, वहाँ नाव द्वारा उसे पार कर यात्रा की अविच्छिन्नता स्थिर रखी जाती थी। वन-यात्रा के समय भी राम-लक्ष्मण और सीता जिस नौका में बैठकर गंगा पार हुए थे, वह सुदृढ़, सुन्दर तथा मल्लाहों (कर्णग्राह) और पतवारों से युक्त थी (२।५२।६)। रामायण युग में नाव-वाहन-संयुक्त, कर्ण-ग्राहवती, शुभ, सुप्रतार (शीघ्र तैरने वाली), दृढ़ और रुचिर होती थी। ऐसी नावें सागर-गामिनी होती थीं। नावों के ठहरने हेतु घाट बने हुए थे, जिन्हें 'तीर्थ' कहा जाता (२।५२।६-७) था। नावों को चलाने के लिए अनेक नाविक होते थे। कुछ नावें स्वस्तिक शैली पर बनाई गई थीं, कुछ महा घण्टाधरा थीं। उन पर पतकायें फहरा रही थीं। इन नावों पर रथ, घोड़े आदि सभी नदी पार कर सकते थे।

श्रृंगवेरपुर के निषाद राज और लंकेश रावण के पास ही युद्ध पोतों और नौकाओं के अस्तित्व का पता चलता है क्योंकि आर्य नरेश हिमालय और विंध्य के बीच उत्तरी भारत में राज्य करते थे, इसलिये उनके द्वारा इनके रखे जाने की कोई सूचना नहीं मिलती है।

आकाश-मार्ग से विमान द्वारा विचरण करने का सर्वप्रथम उल्लेख रामायण में ही मिलता है। रावण के प्रासाद में रथ और मानों के विमान भी थे। विमानों में सर्वश्रेष्ठ पुष्पक विमान ही था। इसकी चाल वायु के समान तीव्र थी। लंका-युद्ध में हवाई-यातायात के अनेक प्रसंग आये हैं।

वास्तव में राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि यातायात के शीघ्रगामी साधनों पर ही निर्भर करती थी। उन दिनों आवागमन के मार्गों में स्थल मार्ग ही अधिक प्रयुक्त होते थे। नगरों में चौड़े मार्ग बने हुए थे, जिनकी प्रतिदिन सफाई कराई जाती थी और धूल आदि को दबाने के लिए उन पर छिड़काव किया जाता था। इससे ध्वनित होता है कि सड़कें पक्की नहीं थीं। अयोध्या और लंका के राजमार्ग द्वीप-वृक्षों से प्रकाशित रहते थे। एक नगर से दूसरे नगरों और ग्रामों से जोड़ने वाले मार्ग बने हुए थे। ऐसा एक मार्ग केकयराज के गिरिव्रज नगर से अयोध्या तक बन हुआ था। इस मार्ग को भरत ने आठ दिन में तय किया था। वस्तुतः उन दिनों उत्तरी भारत के आबाद हिस्से सड़कों के जाल से परस्पर जुड़े हुए थे, जिन पर खूब यातायात और वाणिज्य व्यापार होता था।

(७) **वर्णाश्रम**

रामायण काल में आर्यों का समाज निश्चित रूप में जाति-पाँति में विभक्त हो चुका था। वाल्मीकि ने चारों वर्णों (चातुर्वर्ण्य स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन ४।४।६) का उल्लेख किया है। महाराज दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में सहस्रों की संख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आमन्त्रित किये गये थे (१।१३।२०)। अयोध्या में अपने-अपने कर्मों में संलग्न ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बसते थे—"ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः स्वकर्म निरतैः सदा" (२।१००।४१)।

तत्कालीन समय में ब्राह्मणों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजकीय जुलूसों में उन्हें आगे रखा जाता था। लंका विजय से लौटने पर जिस जुलूस में राम नंदिग्राम से अयोध्या गये उसमें वशिष्ठ और द्विज लोग आगे-आगे चल रहे थे। ब्राह्मण के प्रति प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित करना राजाओं का धर्म था। तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में ब्राह्मण पुरोहित को ऊँचा पद प्राप्त था। पौरोहित्य-पद परम्परागत होता था। इक्ष्वाकु-वंश के परम्परागत पुरोहित वशिष्ठ वंशी ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों का व्यक्तित्व गौओं और राजाओं की तरह पवित्र माना जाता था।[1] परशुराम को ब्राह्मण जानकर राम ने उन पर अपना अमोघ बाण नहीं चलाया (१।७६।६) था। जहाँ ब्राह्मणों का कार्य प्रजा के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में योगदान देना था, वहाँ क्षत्रियों का कर्तव्य देश को बाह्य और आन्तरिक संघर्षों से बचाना था। राम के अनुसार दान देना, यज्ञों में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में देह का त्याग करना क्षत्रियों के कर्तव्य कर्म हैं।[2] राम ने कहा था कि क्षत्रिय लोग धनुष इसलिए धारण करते हैं कि पृथ्वी पर आर्त-शब्द न हो (३।१०।३)। राजा बनने का अधिकार एक मात्र क्षत्रियों को प्राप्त था।

ब्राह्मण लोग वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष स्थान पर विराजमान थे और क्षत्रिय उनका अनुसरण करते थे—"क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत (१।६।१९)।" ये दोनों उस युग के विशिष्ठ वर्ग थे; सारे राजनीतिक और सामाजिक अधिकार इन्हीं के हाथों में केन्द्रित थे। यदि ब्राह्मण प्राचीन आर्य राष्ट्र के मस्तिष्क थे, तो राम जैसे क्षत्रिय अप्रतिम शासक और योद्धा थे। नैतिक और राजनीतिक उत्कर्ष में उनकी साझेदारी थी।

वैश्यों का मुख्य कार्य अर्थोपार्जन करना था। व्यापार, कृषि और गोपालन उनके मुख्य धन्धे थे। वे ही करों का भार वहन करते थे। उन्हें यज्ञों में उपस्थित होने और वेद पाठ करने का अधिकार था। क्षत्रियों की भाँति वैश्य भी पुरोहित बनने के अधिकार से वंचित थे। इनकी

---

१ देखिये : १।२६।५; १।२५।१५; ३।२४।२१; ४।१७।३६।
२ देखिये : अयोध्याकाण्ड।४०।७।

बस्तियाँ अन्य वर्णों से अलग बनी रहती थीं। अपनी संख्या और अपने धन के कारण वैश्य अयोध्या के सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। राज्य-सभा के कार्य-कलाप में भी उन्हें उच्च सम्मान प्राप्त था।

वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों को सबसे निम्न स्थान प्राप्त था। उनका कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। शूद्रों का यज्ञों में उपस्थित होना वर्जित नहीं था, लेकिन, उन्हें वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था।

प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था को राजकीय स्वीकृति प्राप्त थी। उसका पालन करना लोगों के लिए अनिवार्य था। चारो वर्णों के हित के लिए ही विश्वामित्र ने राम को ताड़का-वध का आदेश दिया था (१।२५।१७)।

रामायण-काल में आश्रमों की संख्या चार थी[1]—(१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वान प्रस्थाश्रम (४) संन्यासाश्रम। प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन को इस आश्रम व्यवस्था के अनुसार संचालित करे। प्रत्येक आश्रम जीवन का एक विभाग माना गया था, जिसमें एक निश्चित अवधि तक व्यक्ति अपने को प्रशिक्षित करता और आगामी आश्रम के लिए तैयार करता था। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही किया जाता था और उसका अतिक्रमण लोक-निंदित था। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा कि उनकी-सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्याग कर वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है (२।१०६।२२)।

वास्तव में वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, उसके कर्तव्यों और अधिकारों की—उसके स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियों और उसके मानसिक झुकाव को एक इकाई के रूप में देखती है और बताती है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, वह अपने जीवन को किस प्रकार अनुशासित, सुव्यवस्थित बनाये तथा लक्ष्य-प्राप्ति के लिए क्या साधन अपेक्षित है। इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर रामायणकालीन आर्य व्यक्ति और समाज की विरोधी माँगों में संघर्ष के स्थान पर सुन्दर समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुए थे।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त, भाषा, कृषि और व्यवसाय आदि का तत्कालीन युद्धों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि युद्धों के संचालन में भू-राजनीतिक तत्त्व भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे।

---

१ देखिये : अयोध्याकाण्ड। १००।६२।

(ख) रामायण में भौगोलिक परिवेश

वाल्मीकि-रामायण भारत का राष्ट्रीय आदि-काव्य है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भरपूर भण्डार होने के साथ-साथ वह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय भूगोल भी है, जो सहस्राब्दियों पूर्व की भौगोलिक बनावट, वातावरण एवं मानव-निवास का रोचक वृत्तान्त उपस्थित करता है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत से दी जा सकती है, जिसकी चोटी से हम प्राचीन आर्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं कला सम्बन्धी क्रिया-कलाप का सम्यक् दर्शन कर सकते हैं। प्रसिद्ध भूगर्भवैज्ञानिक एडवर्ड सुएस ने एक जगह कहा है कि—'हिन्दू धर्मशास्त्रों में संग्रहीत भौगोलिक शब्दावली हम लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक परिपूर्ण एवं विवेचनात्मक है जब कि आर्थिक दृष्टिकोण से उनका कोई उपयोग नहीं होता रहा'। वास्तव में हमारे आदिग्रन्थ अनन्त ज्ञान के उस असीम महासागर के रूप में हैं जिसमें ज्ञान-विज्ञान रूपी बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, मगर उन्हें पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभावों से धूमिल हमारे नेत्र देख नहीं पाते और हम दूसरों के अनुगामी बन जाते हैं। आज का बढ़ता हुआ विज्ञान केवल २०० वर्ष पुराना है, जब कि लाखों वर्ष पूर्व हमारे मनीषी इन तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक सम्यक रूप से विचार कर चुके थे। आदि ग्रन्थो में अध्यात्म के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर पूर्ण प्र काश डाला गया है।

मोटे तौर पर रामावतार हुए लगभग १० लाख वर्ष बीत चुके हैं। जिस समय आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की, वह ऐसा युग था, जब मानव संस्कृति आरण्यक और ग्राम्य संस्कृतियों के बीच पल रही थी। चारों ओर आदिम जातियों का साम्राज्य था। ऐसे युग में महर्षि वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को एक महाबली, बुद्धिमान, त्यागी एवं सहनशील प्रजापालक राजकुमार के रूप मे देखते हुए उनके जीवन की लीलाओं से सम्बन्धित जिस 'रामायण' की रचना की है, उसमें सदाचार और अध्यात्म ही नहीं अपितु, सम्पूर्ण एशिया का प्राकृतिक एवं मानव भूगोल संग्रहीत है, जो वैज्ञानिक कसौटी पर रखने पर अत्यधिक परिपूर्ण एवं सत्य परिलक्षित होता है। यदि भौगोलिक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण का महत्त्व आंका जाय तो निश्चय ही हमारा अध्ययन अत्यन्त रोचक, हृदयग्राही और ज्ञानवर्धक प्रमाणित होगा।

(१) प्राकृतिक भूगोल

महर्षि वाल्मीकि के युग में सम्पूर्ण उत्तरी भारत, आर्यावर्त एवं दक्षिण का पठार दक्षिणापथ के रूप में ख्यात थे। पूरब से पश्चिम दिशा में फैली हुई विन्ध्याचल-श्रृंखला आर्यावर्त को दक्षिणी भाग से विभक्त करती रही, जो आधार रूप में आज भी मान्य है। इस देश का सम्पूर्ण उत्तरी, उत्तरपूर्वी एवं उत्तर पश्चिमी भाग अभेद्य गगनचुम्बी पर्वत मालाओं से आवृत्त था। उत्तर में हिमवंत (हिमालय) स्वर्ग रूप में रामायण के अन्तर्गत प्रत्येक स्थान पर वर्णन का विषय रहा है। प्राचीन काल में हिमालय पर्वत, हिमवान्, हिमवंत, हिमाचल,[1] हिमवंतप्रदेश, हिमाद्रि हैमवत

---

१ पद्म पुराण, उत्तरखण्ड (श्लोक ३५-३८) इसमें भौगोलिक भागों की सूची दी गयी है। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी (IV ४, १, १२)

आदि नामों से विश्रुत था। वाल्मीकि-रामायण (किष्किधाकाण्ड ४३।४, ४५।४, ४७।२० आदि अनेक स्थलों) में हिमालय का उल्लेख है। इसे पर्वतराज[1] और नगाधिराज[2] की संज्ञा प्रदान की गई है। भारत के उत्तर में लगभग १५०० मील लम्बा तथा २०० मील चौड़ा पृथ्वी के मानदण्ड जैसा देवता नगराज हिमालय स्थित है (कुमार-सम्भव १।१)। नगाधिराज हिमालय अनेक नदियों का उद्गम स्रोत है (कु० स० ६।६६) जिनमें गंगा, सिन्धु, सरयू, ब्रह्मपुत्र आदि प्रमुख हैं। भारत के पश्चिम में पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) पूर्व में पूर्वी समुद्र (बंगाल की खाड़ी) और दक्षिण में दक्षिण समुद्र (हिन्द महासागर) का वर्णन रामायण में है। उत्तर कुरु तिब्बत के पठारी भाग के लिए प्रयुक्त रहा, जिसके दक्षिण पूर्वी भाग में किरातों के प्रदेश का वर्णन है। समस्त नदियों, पर्वतों एवं विभिन्न भूदृश्यों के अतिरिक्त रामायण में उपलब्ध वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन युग में गंगा नदी का मुहाना बिहार के पूर्वी भाग में था और सम्पूर्ण बंगाल छिछले समुद्र के रूप में लाखों वर्षों तक रहा। धीरे-धीरे गंगा नदी द्वारा लाये गये मलवों से यह भाग पटने लगा और समुद्र के पीछे की ओर खिसकने के कारण गंगा नदी भी दक्षिण की ओर बढ़ने लगी और आज गंगा डेल्टा बंगाल के दक्षिण भाग में अवस्थित है। प्रतिवर्ष लाखों टन मिट्टी जमा होने के कारण डेल्टा प्रदेश दक्षिण की ओर बढ़ता ही जा रहा है। भौगोलिक अनुसंधानों से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि बंगाल का अधिकांश भाग बहुत प्राचीन नहीं है, बल्कि नदियों द्वारा लाई गई मिट्टियों से पटकर बना हुआ है।

यही नहीं वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड के सत्ताइसवें सर्ग में हिम के गलने के बाद धरातल का बड़ा ही सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया गया है। 'हिमात्यये नगमिव चारु कन्दरम'। इस सर्ग में ७ से १६वें श्लोक तक ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि वाल्मीकि एक बहुत बड़े प्राकृतिक भूगोलवेत्ता थे, जिन्होंने विभिन्न अभेद्य प्रदेशों में जाकर उसका स्वतः अध्ययन किया था। अन्तः सागरीया गिरि श्रृंखलाओं का वर्णन भी सुन्दरकाण्ड में उपलब्ध है। जिस समय हनुमान लंका जा रहे थे, तब समुद्र के बीच मैनाक पर्वत और सुरसा राक्षसी का वर्णन आता है। सुरसा के विस्तृत फैले हुए मुख को किसी पर्वत की दरार माना जा सकता है, जिसे पार कर हनुमान आगे बढ़े (सु.का.१।१६३-१६४)। समुद्र के अन्दर पर्वतों का वर्णन चौथे काण्ड में भी आदिकवि ने किया है। नदियों का कटाव एवं प्रवाह का भी विभिन्न स्थानों पर बड़ा ही वैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। जहाँ तक नदियों का प्रश्न है, महर्षि वाल्मीकि ने गंगा की उत्पत्ति पर ही प्रकाश नहीं डाला, बल्कि मध्येशिया की हिमानियों से निकलने वाली ७ प्रमुख नदियों का वर्णन किया है जो आज भी अभेद्य पर्वतीय श्रृंखलाओं के मध्य निर्झरित हो रही हैं। इन नदियों का वर्णन रामायण में इस प्रकार है---

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गा शिवजलाः शुभाः।।
सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी।
तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीची तुदिशं शुभा।।
सप्तमी चान्वगात् तासां भगीरथरथं तदा।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः।।"

(बालकाण्ड ४३।१३-१५)

अर्थात ह्लादिनी, पावनी, नलिनी—ये तीन कल्याणमय जल से सुशोभित गंगा की तीन धाराएं पूर्व

---

१ अंगुत्तर १,१५२, तु कालिका पुराण अध्याय १४, ५१।
२ कुमार सम्भव १।१

दिशा की ओर चली गयी। सुचक्षु, सीता और महानदी सिन्धु —ये तीन पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित हुईं। सातवीं धारा अर्थात भागीरथी महाराज भगीरथ के पीछे-पीछे प्रवाहित हुई। यही भागीरथी, ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, सुचक्षु, सीता, सिन्धु आदि नदियों हिमवत (हिमालय) से निकलकर समुद्र में मिलती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी का वर्णन रामायण के अन्तर्गत नहीं मिलता है लेकिन हिमालय के उत्तर में स्थित कुबेर नगर से नलिनी के निकलने और पूर्व दिशा में बहने का प्रसंग उपलब्ध है। मेरी राय में नलिनी ही ब्रह्मपुत्र नदी हो सकती है, क्योंकि नलिनी नदी को बंगाल में पद्मा नदी और ब्रह्मपुत्र दोनों नामों से पुकारा जाता है।

गंगा-अवतरण के पश्चात राजा भगीरथ के रथ का अनुगमन करते हुए गंगा के प्रवाहित होने के पीछे वैज्ञानिक रहस्य है (१।४३।१६)। क्योंकि कोई भी नदी बाल्यावस्था में इतनी शक्तिशाली होती है कि कठोर से कठोर पहाड़ियों को तोड़ती हुई आगे मैदानी भागों में प्रवेश कर सकती है। जहां नदी की प्रौढ़ावस्था प्रारम्भ हो जाती है, उस स्थल पर नदी गम्भीर होकर पर्याप्त मात्रा में जल एवं मिट्टी के कणों को लेकर आगे बढ़ती है और कोई भी अवरोध आ जाने पर अपना रास्ता बदल कर दूसरी ओर से बहना आरम्भ करती है, क्योंकि धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होने लगता है। राजा भगीरथ के रथ का कल्पित मार्ग वही था जो गंगा के प्रवाह के लिए उपयुक्त रहा।

रामायण में यह भी वर्णन मिलता है कि मैदानी भाग को पार करती हुई गंगा जब जह्नु ऋषि के आश्रम के पास पहुँची तो उन्होंने ऋषि के सब समान सहित यज्ञशाला बहा दी। तब ऋषि ने अपने प्रभाव से गंगा को आगे बढ़ने से रोक दिया (१।४३।३५-३६)। किन्तु, नृपति की प्रार्थना पर गंगा को आगे बढ़ने का आदेश दिया। तब ऋषि के नाम पर गंगा का दूसरा नाम जाह्नवी पड़ा। जैसा कि नीचे लिखे श्लोक से प्रकट होता है—

"तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च" (१।४३।३९)।

जह्नु ऋषि का यह आश्रम सम्भवतः सुल्तानगंज में था जो वर्तमान भागलपुर नगर से १६ मील की दूरी पर 'जह्नुगृह' नाम से सुविख्यात था। इस समय उस स्थान का नाम जहाँगीर नगर रखा हुआ है। इस आश्रम स्थल पर स्थित गैबीनाथ महादेव का मन्दिर सुल्तानगंज के सामने गंगा के तट से निकलने वाली एक शिला पर स्थित है। इसकी पुष्टि कनिंघम ने भी की है[1]।

नदी के मध्य भाग में भी पहाड़ी के अवशेष मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि जह्नु ऋषि द्वारा अवरोध उस पहाड़ी का ही अवरोध था, जो कालान्तर में कट कर नष्ट प्राय हो चुकी है। सम्भवतः सगर का आश्रम मुर्शिदाबाद के पास ही था जो नदी के दक्षिण ओर बढ़ने के कारण इस समय सैकड़ों मील दक्षिण हो गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि रामायण में भौतिक भूगोल का बड़ा ही सुन्दर एवं मनोरम ढंग से आदि कवि ने वर्णन किया है।

(२) ऋतुओं तथा जलवायु का वर्णन

रामायण, महाभारत, ऋग्वेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण संहिता तथा अन्य पौराणिक ग्रन्थों में वायुमण्डल का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। भास्कराचार्य ने स्वरचित ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' में वायुमण्डल के स्तरों की नाप का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों के मंत्रों तथा सूत्रों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन काल में भारतीयों को सौर्यिकताप, तापमान, वाष्पीकरण,

---

१ कनिंघम, आर्क०, सं० रि० XV, २१
लाहा-होली प्लेसेज ऑफ इण्डिया, पृ० १४, ज० ए० सो० बं० X १९६४ XXXIII, पृ० ३६०।

आर्द्रता, संघनन व वर्षा आदि तथ्यों की पर्याप्त जानकारी थी। रामायण आदि ग्रन्थों में ६ ऋतुओं का उल्लेख किया है। ये छः ऋतुएँ बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर हैं। प्रत्येक ऋतु को वायुमण्डलीय दशाओं के तापमान, मेघ, बिजली, गर्जन-तर्जन वृष्टि, तुषारपात, हिमपात, स्वच्छाकाश, धूप आदि जलवायु सम्बन्धी विभिन्न दशाओं का विशद वर्णन रामायण, महाभारत कालिदास के 'मेघदूत' ग्रन्थ, बाण, भारवि आदि कवियों की रचनाओं में तथा ज्योतिष-ग्रन्थों और आयुर्वेदीय ग्रन्थों में किया गया है। ऋतुओं एवं जलवायु का प्रभाव कृषि की फसलों पर तथा मानव वर्गों के जीवन और क्रियाकलापों पर किस प्रकार होता है इसके विस्तृत प्रसंग रामायण, महाभारत, पुराणों तथा जातक ग्रन्थों में बहुत से स्थलों पर आये हैं।[1] वैदिक ग्रन्थों में तीन प्रकार की हवाओं का उल्लेख मिलता है—वायु, मारुद्गण (मानसून हवाएँ) तथा रुद्र झंझावात। जबकि बौद्ध ग्रन्थों में वाततया (लू), नियतोनिलः (मानसून), चोन्दानिलः (आंधी तथा उत्पातवात, झंझावात) एवं पाश्चात्यवातः (पछुवा) हवाओं का उल्लेख किया गया है। पौराणिक ग्रन्थों में चक्रवात हवाओं का भी वर्णन है। लंका की जलवायु समुद्री हवाओं स प्रभावित होने के कारण समशीतोष्ण थी।

(३) आर्थिक भूगोल (Economic Geography in the age of Ramayana)

(क) **कृषि भूगोल**—कृषि भारतीयों का सदैव से प्रमुख व्यवसाय रहा है क्योंकि वैदिक युग के भ्रमणशील आर्य रामायण-काल से बहुत पहले ही, एक नियमित समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित होकर अपनी जीवन-चर्या को स्थायी रूप दे चुके थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि उनका आर्थिक जीवन अधिक स्थिर उन्नत एवं व्यापक बन जाय। भारत का शाश्वत एवं चिर-अभ्यस्त उद्योग कृषि रामायण-युग में भी आजीविका का सर्वसामान्य साधन था। अयोध्या नरेश दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या में एकत्र होने वाले वैश्यों को कृषि गोरक्षजीनितः कहा गया है (२।६७।१६)। अर्थात् वे अपनी जीविका खेती और गो-पालन द्वारा चलाते थे। आदि कवि ने कोमल-राज्य की सम्पत्ति खेतों, लता-गुल्मों और गाँवों के रूप में (२।५०।८-१४), तथा अयोध्या के नागरिकों की समृद्धि उद्यानों, खेतों, भवनों और धन-धान्य के रूप में गिनाई है (२।३३।१७)।

कृषि-उद्योग को राज्य की ओर से पर्याप्त संरक्षण प्राप्त था। राजा से कृषि विषयक जानकारी की अपेक्षा की जाती थी। जिन आठ शासन-सम्बन्धी विषयों से राजा को परिचित रहना पड़ता था उन्हें 'अष्टवर्ग' कहते थे (२।१००।६८) और इसमें कृषि का भी समावेश था। राजा का परम दायित्व था कि वह कृषकों और गो-पालकों के कष्टों का निवारण करे तथा उनकी सुख-समृद्धि के साधन जुटाये (२।१००।४८)। तत्कालीन भारत कृषि की दृष्टि से समृद्ध और सुखी था। मागधी नदी हरी-भरी फसल वाले खेतों के बीच से बहती थी (सुक्षेत्रा सस्यमालिनी, १।३२।१०)। लंका की जलवायु समुद्री हवाओं से प्रभावित होने के कारण समशीतोष्ण थी और वहाँ की भूमि पर्याप्त वर्षा के कारण बड़ी उपजाऊ थी (५।३।३; २।१२४)। भारत का दक्षिण समुद्र-तट एक रमणीय वन-प्रदेश था, जहाँ तक्कोल और 'जाति' नामक सुगंधित फलों, तमाल के पुष्पों तथा 'मरीच' की झाड़ियों की बहुलता थी—

> "तक्कोलानां च जात्यानां फलानां च सुगन्धिनाम्।
> पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च॥" ३।३५।२२-३

---

१ (i) वाल्मीकि रामायण राम वन भ्रमण काल में राम-लक्ष्मण वार्ताएँ।
(ii) महाभारत में पाण्डवों के प्रवास कालों के वर्णन, वनपर्व, भीष्मपर्व, शान्तिपर्व।
(iii) चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ऋतुचर्या तथा आहार व्यवहार।
(iv) कालिदास के मेघदूत, रघुवंश आदि काव्य में मेघों तथा पवन के वर्णन से।
(v) स्कन्द पुराण।
(vi) बौद्ध जातर ग्रन्थ।

कृषि की समृद्धि बहुत हद तक जान-माल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। कोसल-राज्य के कृषकों की सुख-सम्पत्ति का कारण प्रजापालक इक्ष्वाकु नरेशों का उदार, न्यायपूर्ण एवं धर्म-परायण शासन था। राम-राज्य में न तो अयोध्या में कभी कोई दुर्भिक्ष पड़ा, न अनावृष्टि हुई और न चोरों से कोई भय उत्पन्न हुआ, इस सुरक्षा के वातावरण के कारण कृषकगण अपने-अपने जनपदों में स्थाई रूप से बसे हुए थे (२।१००।४३); और वे स्थान-परिवर्तन के अनिच्छुक रहे। इससे हम 'इमोबिलिटी आफ एग्रिकल्चरल लेबर' (कृषि-श्रमिकों की अगतिशीलता) कह सकते हैं।

कृषि में धान, गेहूँ, जौ, तिल, ज्वार, चना, मूँग, मसूर, तिलहन, गन्ना, कपास आदि की फसलें महत्त्वपूर्ण थीं। वाल्मीकि ने उल्लेख किया है कि उन दिनों वर्षा समय पर और अधिक मात्रा में होती थी। खेत अनाज से परिपूर्ण थे, नगर धन्य-धान-पूरित थे तथा पृथ्वी धान से युक्त और सभी प्रकार की ओषधियों से सम्पन्न थी।[1] शरद ऋतु के अन्त में पृथ्वी पके धान की मालाएँ पहने जान पड़ती थी और देश की खाद्य आवश्यकता परिपूर्ण हो जाती थीं। शिशिर ऋतु में कहीं ज्वारऔर गेहूँ के कुहरे से छाये हुए खेत, सूर्योदय के समय क्रौंच और सारस पक्षियों के चहचहाने से मनोहर प्रतीत होते थे। तो कहीं चावल के पौधे, जिनकी धान भरी सुनहरी बालें खजूर के फूलों की तरह जान पड़ती थीं, कुछ-कुछ झुके हुए बड़े रमणीक लगते थे (३।१६।१६-७ ।

सिंचाई दृष्टि से खेत दो भागों में विभाजित थे—जो खेत कृत्रिम साधनों से सींचे जाते थे, उन्हें 'अदेवमातृक' कहा जाता था। तथा वर्षा पर निर्भर रहने वाले खेत "देवमातृक" कहलाते थे। कोसल राज्य के खेतों को 'अदेवमातृक' कहा गया है।[2] इससे सूचित होता है कि किसानों का सिंचाई के कृत्रिम साधन भी उपलब्ध थे। सिंचाई के मुख्य साधन बड़े जलाशय, छोटे तालाब, नदियाँ और कुएँ थे। कोसल-राज्य में तालाबों की अधिकता थी (२।१००।४३)। नहरों, जलाशयों, कुँओं, पुलों, बाँधों आदि के निर्माता 'यंत्रक' कहलाते थे। (२।८०।१)। उनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। नहर या नाली को प्रणाली और बाँध को 'रोधस्' कहते थे। रामायणकालीन आर्य जल-संग्रह के कृत्रिम साधनों से पूर्णतया अवगत थे, जिनका उपयोग वे कृषि को समृद्ध बनाने में करते थे।

उपयोग की दृष्टि से सम्पूर्ण भूमि चार भागों में विभाजित थी—(१) निवास योग्य-भूमि, (२) कृषि-भूमि, (३) गोचर-भूमि (चारागाह), (४) वन-प्रदेश, जिसमें बंजर तथा ऊसर भूमि भी सम्मिलित थी। सारी भूमि का स्वामी राजा होता था। खेत को 'क्षेत्र' कहते थे। बुवाई के लिए मुट्ठी में बीज भर-भरकर खेत में फेंके जाते थे (बीजमुष्टिः प्रकीर्यते, २।६७।१०)। हल से जोती हुई खेत की पंक्ति (कूंड) को 'सीता' कहा जाता था। चावल के खेत का 'कलम-क्षेत्र' कहते थे (४।१४।१६)। चावल की दो फसलें होती थीं, एक तो शरद ऋतु की व्रीहि की फसल, जो कार्तिक मास में काटी जाती थी, और दूसरी हेमन्त-ऋतु की फसल, जो फाल्गुन मास में काटी जाती थी।

कृषि-यंत्रों में निम्नलिखित प्रमुख थे—

१. शूल (१।३६।१८)
२. हल (१।३६।१८)
३. पिटक (२।३१।२५ बाँस की टोकरी।
४. खनित्र (२।३१।२५) जमीन खोदने के लिए फावड़ा।
५. कुछाल (२।३२।३०) कुदाल।
६. फाल (२।३२।३०) हल के नीचे लगा हुआ छड़।

---

१ ३।१६।५; ७४।१।२०; ७।६६।१२; ७।७०।१०; ६।१२८।१-२।
२ अयोध्याकाण्ड। १००।४५।

७. लाङ्गली (२।३२।३०) एक प्रकार का हल ।
८. कठिन काज (२।५५।१८) काठ के बेट की कुदाली और मृगचर्म का थैला।
९. कलश (२।६३।३६) धातु का घड़ा।
१० कुंभ (२।६४।१५) मिट्टी की गागर।
११. कुठार (२।८०।७) कुल्हाड़ी।
१२. दात्र (२।८०।७) दरांती।
१३. परशु (२।३२।३१) फरसा।
१४. छुर (३।४७।४१) छुरा।

खेती के शत्रुओं का उल्लेख राम ने हिंसाओं के रूप में किया है (२।१००।४४)। रामायण के टीकाकारों ने इन हिंसाओं का अर्थ छः 'ईतियाँ' किया है, जिनके अन्तर्गत अनावृष्टि, बाढ़, चूहे, पक्षी, टिड्डियाँ तथा शत्रुओं के आक्रमण गिने जाते हैं। कृषि के सहकारी धन्धे के रूप में फलों के बगीचे लगाने का उद्योग भी बहुत प्रचलित था। लंका की अशोक वाटिका के उल्लेख स तत्कालीन उद्यान-विद्या का आभास मिलता है। वानरेन्द्र सुग्रीव का मधुवन एक समृद्ध फलोद्यान था, जिसकी निगरानी बहुत ही कड़े ढंग से होती थी (५।६१।२)। इसमें सभी प्रकार के फल-फूल से वृक्ष लदे रहते थे (६।२७।३६; ६।२७।३४; ६।१२८।१०२)।

रामायण काल में पशु-प्रधान गाँव को 'घोष' कहा जाता था। ग्राम-घोषों का रामायण में प्रायः संयुक्त उल्लेख हुआ है, जिससे इन दोनों प्रकार की बस्तियों की निकटता ता ध्वनित होती ही है, कृषि और पशु पालन की पारस्परिक निर्भरता का भी आभास मिलता है। पशु-पालन में अधिक महत्त्व, गो-पालन को था। गो-शालाओं को 'प्रत्यागार' तथा गो-समूह को 'गोकुल' अथवा 'गोव्रज' कहा जाता था। ग्वाले को 'गोपाल' और चारागाह को 'शाद्वल' कहते थे।[1] आर्थिक दृष्टि से गो-पालन का विशेष महत्त्व था। इनके अतिरिक्त घोड़ा, हाथी, खच्चर, ऊँट आदि जानवरों को पालने की प्रथा प्रचलित थी। पशुओं से प्राप्त होने वाल पदार्थों से अनेक कुटीर-उद्योग चलाये जाते थे।

(४) औद्योगिक भूगोल (Industrial Geography)

रामायण में प्राचीन भारत के औद्योगिक विकास का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। तत्कालीन भारतीय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हस्त-कौशल द्वारा कुटीर उद्योग-धन्धों का संचालन करके वस्तुओं का निर्माण करते थे। वस्त्र-निर्माण-उद्योग (सूती, रेशमी, ऊनी) खनन-उद्योग, विविध धातुओं द्वारा बर्तन, यंत्र, औजार, आभूषण आदि निर्माण उद्योग, काष्ठ-शिल्प, मृत्तिका-शिल्प, हाथी-दांत आदि उद्योगों के वर्णन रामायण में मिलते हैं। वस्त्र-निर्माण कुशल बुनकरों द्वारा होता था। य बुनकर 'सूत्र-कर्म-विशारद' कहलाते थे (२।८०।१)। कई प्रकार के तन्तुओं से वस्त्र तैयार किये जाते थे। सूती और रेशमी कपड़ों के अलावा ऊनी कपड़े भी अधिक मात्रा में निर्मित होते थे। मेढ़े के रोओं से 'और्ण' नामक वस्त्र का निर्माण किया जाता था। लंका-युद्ध में रात्रि में मशाल द्वारा सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों को जलाकर भस्म कर दिया था (६।७५।९-१०)। भरत के साथ अनेक कम्बल बनाने वाले भी राम को लिवा लाने के लिए चित्रकूट गय थे (कम्बल कारकाः २।८३।१४)।

कपड़ों की रंगाई-धुलाई भी की जाती थी। इस काम में लगे कारीगरों को 'रजक' की संज्ञा दी जाती थी। रंग-बिरंगे वस्त्रों के अनगिनत उल्लेख रामायण में आये हैं। कपड़े का रंग

---

१ देखिये—२।४०।४३; २।४६।१७; २।४९।१०; २।३२।३९; २।६७।२९; ३।१६।२०।

'वर्ण' कहलाता था। नील, पीत, रक्त, शुक्ल, शुकप्रभ तथा काषाय रंगों का अधिक प्रचलन था। रँगाई के लिए कृमि-राग या लाक्षाराग का व्यवहार किया जाता था।[१]

आदि कवि वाल्मीकि ने खनिज-पदार्थों का भी उल्लेख किया है। हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओं में अनेक प्रकार की धातुएँ पाये जाने का उल्लेख हुआ है। इसी तरह चित्रकूट, कैलाश, सह्य, मलय और उदय पर्वतों को भी धातु-मंडित (धातुशतैश्चितम् ४।३८।३) कहा गया है। राम ने कोसल राज्य को खानों से सुशोभित बताया है (खनिभिश्चोपशोभितः २।१००।४७)। कुछ विशेष प्रकार की धातु-प्रधान चट्टानों का उल्लेख मिलता है। कड़े या बलुए प्रस्तर-खण्डों को 'शिला' की संज्ञा दी जाती थी। पारदर्शक शिलाएँ 'स्फटिक' कहलाती थीं। खानों से मनः शिला, गेरु और काला गुरु आदि जैसे प्रसाधन पदार्थ भी प्राप्त किये जाते थे[२]।

नदी से भी कुछ धातुएँ निकाली जाती थीं, जिसमें प्रमुख सोना होता था, जिसे 'जाम्बूनद' कहा जाता था (१।१४।५१) खर ने सोने जैसे प्रतीत होने वाले ताँबे की ओर संकेत किया था, जो अग्नि में तपाये जाने पर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देता है।[३] सोने को भी अग्नि में तपा कर उसकी अशुद्धियाँ अलग कर दी जाती थीं।[४] आभूषणों की बनावट तथा शरीर के आदर्श वर्ण का उल्लेख करने में तपाये गये सोने का प्रायः वर्णन किया जाता है (१।३७।१८; ४।३।१८)। पीतल और कांसे के बर्तनों के उल्लख से टीन और जस्ता का प्रयोग ध्वनित होता है। इस्पात बनाने के लिए लोहा ढाला जाता था। 'सूची' या सूई के वर्णन से इस्पात और इस्पात के औजारों के निर्माण की सूचना मिलती है। तेज धार वाले क्षुरों (३।४७।४१) का उल्लेख पानी चढ़े हुए इस्पात का प्रयोग संकेत करता है। वाल्मीकि ने रामायण में यत्र-तत्र कुछ धातुओं का प्रयोग प्रसंग-वश किया है, जो निम्न हैं—

कर्ष्णायस (१।३७।१६) लोहा
ताम्र (१।३७।१६) ताँबा (४।२३।२०)
कांचन (१।३७।१६) सोना
सुवर्ण (२।३२।१४) कांचन
सीसा (१।३७।२०) सीसा
त्रपु (१।३७।२०) जस्ता या टीन
आयस (२।४०।२३) या कालायस या लोहा (५।४१।१२) फौलाद
हिरण्य (१।५३।२१) चांदी (४।४०।२३); ४।५०।३४।
जातरूप (१।३७।२२) जाम्बूनद (१।१४।५१)।
कांस्य (४।५०।३४) कांसा
हैम (४।५०।३४) सोना

धातुओं के व्यापक प्रयोग से खनिज उद्योगों का भरपूर प्रचलन ध्वनित होता है। सोना-चाँदी का, विविध प्रकार के पात्र और आभूषण बनाने में प्रयोग किया जाता था। कवचादि का निर्माण उन युद्ध बहुल दिनों में काफी होता था। कवच, गदा तथा अन्य शस्त्रों में कार्ष्णायस या लोहे की जगह फौलाद काम में लाया जाता था। राक्षसों के अधिकांश शस्त्र लोहे से निर्मित थे। तलवारों और बाणों का उपयोग उसका प्रस्तुत प्रमाण है। उनके निर्माण में कारीगर अपनी दक्षता

---

१ शान्ति कुमार नानूराम व्यास : रामायणकालीन समाज, पृष्ठ २३१
२ वही " "
३ सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना। ३।२६।२०
४ अग्नौ विवर्ण परितप्यमानं किट्टं यथा राघव जातरूपम्। ४।२४।१८

का स्पष्ट परिचय देते थे। धनुष-बाण और तलवार को स्वर्ण-भूषित करके वे अपनी कलाप्रियता प्रकट करते थे। इस्पात के भी अनेकों उपकरण बनते थे। यंत्रामुध, इषूपलयंत्र, पुलों को उतारने-उठाने के यंत्र आदि इसके प्रमाण हैं। दुर्गों में किलेबन्दी और संरक्षण के लिए धातु-निर्मित मशीनों और यांत्रिक औजारों का व्यापक व्यवहार यन्त्र-निर्माण-कला की समुन्नतावस्था को सूचित करता है।

तत्कालीन स्त्री और पुरुष यहाँ तक कि युद्धों में, सोने, चाँदी आदि के आभूषणों को धारण करके भाग लेते थे। इसके अनकों प्रमाण हमें राम-रावण युद्ध में मिलते हैं।[1] यह स्वाभाविक था कि मणिकार और स्वर्णकार के पेशे समृद्ध हों। सोने के विविध कलापूर्ण आभूषण तथा विभिन्न आकार-प्रकार के मणि-रत्न इस बात के प्रमाण हैं कि सोने और जवाहरात की कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। समुद्र तल से बहुमूल्य मूँगे-मोती प्राप्त किये जाते थे। लंका से मारीच-आश्रम की ओर जाते समय रावण ने मार्ग में समुद्रतट पर हजारों मूँगे सूखते हुए देखे थे।[2] मूर्तिकला भी समुन्नतावस्था में थी। हाथी-दाँत का उद्योग भी काफी प्रगतिशील अवस्था में था। इस काम में लगे कारीगरों को 'दंतकार' कहा जाता था। रथों, सिंहासनों, शयनासनों तथा राज महलों में हाथी दांत की पच्चीकारी की जाती थी। रानी कैकेयी का महल हाथी दांत की चौकियों तथा आसनों से सजा हुआ था (२।१०।१४-१५)। लंका के प्रासादों में हाथी-दांत के खम्भे और झरोखे थे, जिन पर सोने की जालियाँ लगी हुई थीं (३।५५।८-१०)। लंकेश रावण के रथ में हाथी-दांत की प्रतिमाएँ थीं (५।६।६)। उसके कमरे और सभा भवन में स्फटिक का फर्श था, जिसके जोड़ों में हाथी दांत जड़ा था (दन्तान्तरितरुपिकाम ५।९।२३)।

व्याघ्र-चर्म, सिंह-तनु और मृग-चर्म या अजिन ओढ़ने-बिछाने के काम अधिक आते थे, जिससे चमड़ा-उद्योग का प्रमाण ध्वनित होता है। मृग-चर्म में कभी-कभी सोने की कशीदाकारी की जाती थी (७।११।१४-५)। केकय देश मृग-चर्म उद्योग में उत्कृष्ट माना जाता था। कदली, प्रियकी, प्रवेणी और आविकी की किस्में अच्छी होती थीं।[3] आर्षभ-चर्म अर्थात बैलों की खाल का कई प्रकार से उपयोग किया जाता था। बैलों की खाल की ढालें राक्षस और विद्याधर जाति के व्यक्ति काम में लाते थे।[4]

मृग-चर्म के स्थान पर लंका के राक्षस-तपस्वी 'गोजिन' (बैल का चर्म) धारण करते थे (५।४।१५)। रावण के सैनिक चमड़े की ढालें उपयोग में लाते थे (असिचर्मधरा योधाः, ६।११।१५)।

दुग्ध-पदार्थ बनाने का कुटीर उद्योग देहातों में प्रचलित था। ग्वालों के घोष बड़े समृद्ध थे। हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हुए लक्ष्मण ने देहातों को दुग्ध और दुग्ध पदार्थों से भरपूर बताया था। शाकाहार के व्यापक प्रचलन के कारण दुग्ध-उद्योग अपनी उन्नतावस्था में रहा होगा।

जिन कारीगरों का काम कुछ विशेष कला लिये हुए होता था, उन्हें 'शिल्पी' कहा जाता था। अयोध्या नगरी में सब तरह के शिल्पी निवास करते थे (उषितां सर्वशिल्पिभिः, १।५।१०)। रामायण में विविध प्रकार के शिल्पियों और श्रमिकों का उल्लेख वाल्मीकि ने किया है जिनमें निम्न प्रमुख हैं— भूमि प्रदेशज्ञ (२।८०।१), चर्मकृत (२।८।३०), दुर्ग विचारक (२।७९।१३), दंतकार (२।८३।१३); गंधोपजीवी (२।८३।१३), खनक (२।८०।१), कुंभकार (२।८३।१२), द्रष्टार

---

१ देखिये क्रमशः ६।४०।४-६; ६।४३।२-३; ६।५०।२३; ६।६१।३; ६।६९।१५-८७; ६।७३।१५; ४।१६।१८; ४।२९।२-८; ५।१०।७-२६।
२ मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानितीरतः (३।३५।२३)।
३ देखिये : ३।४३।३५-६; शान्ति कु० ना० रा० व्यास : रामायणकालीन समाज, पृष्ठ २२६।
४ देखिये : ६।५४।३०; ५।१।२४।

(मार्ग दिखाने वाला) (२।८०।३), कंबलकारक (२।८३।१४), कर्षक (किसान) (२।११२।१२), लाक्षणिक ज्योतिषी), (६।४८।२), मार्ग शोधक (२।८२।२०) मार्गदक्षक (२।८२।२०), रोचक (कांच का बर्तन बनाने वाला) (२।८३।१५), सूत्रकर्मविशारद (जुलाहा) (२।८०।१) स्थपति, (२।८०।२) भवन-निर्माता शिल्पी (दस्तकार) १।१३।७) वेधक (मोती गूँथने वाला) (२।८३।१३), वंशकृत (बाँस का काम करने वाला) (२।८०।३, यंत्रक (२।८०।१) नहर बनाने वाला, वर्धकी (बढ़ई। २।८०।२१, सुधाकर (सफेदी करने वाला) (२।८०।३), इत्यादि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धातु शिल्प विज्ञान का योरोपीय देशों में भारत द्वारा ही गया था।

(५) वाणिज्य-भूगोल (Commercial Geography)

रामायण में पशु तथा वस्त्रों का व्यापार स्थल और समुद्री मार्गों द्वारा होने का विवरण मिलता है। वाणिज्य-व्यापार वैश्यों के हाथों में था, जो 'वणिक' कहलाते थे। मुख्य करदाता होने के कारण वे राजकीय संरक्षण के अधिकारी होते थे। तत्कालीन युग के प्रमुख नगर व्यापार के समृद्ध केन्द्र थे, जहाँ देश-देशान्तर के व्यवसायी और शिल्पी वास करते थे। अयोध्या वाणिज्य-उद्योग की दृष्टि से सर्वाधिक प्रमुख नगरी थी। राजकीय प्रासाद से शहर को जोड़ने वाले राजमार्ग पर विविध क्रय-वस्तुओं से भरी-पूरी दुकानें सजी थीं (२।१७।३-५) सेना के अनुगामी दलों में व्यापारी भी होते थे। भरत के साथ अयोध्या के सभी प्रकार के वाणिज्य-उद्योगों के प्रतिनिधि चित्रकूट राम को लिवा लाने के लिये गये थे (२।८३)।

सामुद्रिक मार्ग द्वारा व्यापार काष्ठ-निर्मित बड़ी-बड़ी नावों द्वारा होता था। आन्तरिक व्यापार में नदियाँ प्रमुख व्यापारिक मार्ग का काम करती थी। नदियों के अतिरिक्त थल मार्ग भी व्यापार के साधन थे। अयोध्या के अतिरिक्त काशी, भड़ौच, सौवीर (सूरत), बिदिशा, उज्जयिनी, तक्षशिला, गिरिव्रज (राजगृह) और श्रावस्ती आदि भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। भोज्य पदार्थ, रेशम, ऊन, कपास, चंदन, स्फटिक, सन, भांग, सूती एवं रेशमी वस्त्र, मृगचर्म, जूते, कृषि-यंत्र, मुक्ता, हथियार एवं औजार आदि व्यापार में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख वस्तुएँ थीं। देश में प्रचुर आन्तरिक व्यापार होता था। अयोध्या के समृद्धिशाली वणिक् बहुत-सा माल लेकर दूर-दूर की यात्रा करते थे—

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २।६७।२२

देश के आन्तरिक व्यापार-मार्गों को निरापद रखने का पूर्ण दायित्व राज्य पर होता था, जैसाकि दशरथ की मृत्यु के बाद इकट्ठे हुए 'राजकर्तारः' के कथन से ध्वनित होता है कि अराजक प्रदेश में वणिक् लोग दूर-दूर धन-धान्य लेकर यात्रा नहीं कर सकते (२।६७.२२)।[1] विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध होने के संकेत मिलते हैं, यद्यपि इस विषय में प्रमाणों का कुछ अभाव खटकता है। अयोध्या के वर्णन में आदि कवि ने उल्लेख किया है कि अयोध्या नाना देश निवासी व्यापारियों से सुशोभित थी (१।५।१४)। उत्तरकाण्ड में मधुपुरी, लवणासुर के अत्याचारों से मुक्त होने पर, नाना देशों के व्यापारियों से समृद्ध हो गयी थी (७।७१।१४)।

वस्तुओं का विनिमय-व्यापार 'निष्क्रय' कहलाता था। गौ को विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मानदण्ड माना जाता था। किसी वस्तु-विशेष का मूल्य गौओं की संख्या में तय किया

---

१ तुलना करें—नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ २।६७।१८

जाता था।[1] शुनः शेष के माता-पिता एक लाख गौएँ लेकर अपने पुत्र को बेचने के लिए तैयार हो गये थे (१।६१।१३)। कुछ व्यापार-क्रियाओं में मुद्राओं या सिक्कों का भी उपयोग किया जाता था। 'सिक्के' को 'निष्क' की संज्ञा दी जाती थी। केकयराज ने भरत को दो हजार 'निष्क' दिये थे (२।७०।२१)। वन-गमन के समय राम ने सुयज्ञ को एक हजार 'निष्क' दिये थे २।३२।१०)। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ये 'निष्क' अवश्य ही सिक्के रहे होंगे। तत्कालीन सिक्के बिना मुहर लगे होते थे। उत्तरकाण्ड में लव-कुश के अनुपम रामायण-गान से प्रसन्न होकर राम ने उन्हें अठारह हजार सोने के सिक्के देने चाहे थे (७।९४।१७-८)। सोने के सिक्के 'जांबूनद' और चाँदी के सिक्के 'रजत' कहलाते थे। महाराज दशरथ ने ब्राह्मणों को एक करोड़ 'जांबूनद' और चालीस करोड़ रजत बाँटे थे (१।१४ ५१-५४)।

नव पौराणिक ग्रन्थों में कई सामुद्रिक जल मार्गों का उल्लेख किया गया है—(१) सूरत से बैबीलोन, (२) चम्पा से ब्रह्मदेश होकर जावा, सुमात्रा व बाली आदि द्वीपों तक, (३) पाटिलि पुत्र से लंका तक।

अर्न्तप्रदेशीय व्यापारिक मार्गों में निम्नांकित प्रमुख थे—

१. श्रावस्ती से गोदावरी तट—इस मार्ग पर अयोध्या, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी आदि बड़े-बड़े नगर स्थित थे।
२. श्रावस्ती से राजगृह तक।
३. वंग से सिन्धु तक।
४. सिन्धु से सूरत तक।
५. विदेह से तक्षशिला होते हुए गान्धार तक।
६. इन्द्रप्रस्थ से ताम्रलिप्ती तक।

(६) मानवीय बस्ती भूगोल (Settlement Geography)

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार आर्यावर्त आर्यों का देश था, जहाँ सभ्यता और संस्कृति का विकास अन्य जातियों की तुलना में अधिक था। दक्षिणापथ एवं किष्किंधा-प्रदेश वानरों से आवृत्त थे। सम्पूर्ण विंध्य-प्रदेश ऋषियों एवं मुनियों के आश्रमों से सुसज्जित थे। पूर्वी भाग में किरात छाये हुए थे जो बड़े खूंखार और विभिन्न रंगों में होते थे। सम्भवतः उस समय मध्यशिया से आदि मानव दक्षिण की ओर आकर बस चुके रहे होंगे, जिनके अवशेष रूप में मंगोलियन और काली निग्रिटो जातियाँ आज भी नागालैण्ड, अंडमान, निकोबार में निवास कर रही हैं। उत्तर में शक, पश्चिम में यवन एवं गन्धर्व निवास कर रहे थे। इस विवरण से हमें मानव-भूगोल का तत्कालीन परिचय प्राप्त हो जाता है।

रामायण में प्राचीन भारत के अधिवासों एवं उनके विभिन्न प्रकारों का विवरण मिलता है। मनुष्य आदि काल में स्वतन्त्र रूप से विचरण करता था। निओलिथिक युग में मनुष्य ने झोपड़ियों में रहना प्रारम्भ किया। वैदिक काल में ग्राम मानव के प्रमुख अधिवास थे। यथा—गामका (छोटे गाँव), गामा (साधारण गाँव), निगमागमा (बड़ा गाँव), द्वारागमा (उपगाँव या गाँव का बाहरी भाग पुरवा इत्यादि) तथा पचन्तागमा (सीमावर्ती गाँव) इसके अतिरिक्त ग्रामों का उनके क्रियाकलापों तथा सेवा कार्यों के आकार के आधार पर भी वर्गीकरण किया गया है। ग्रामों की सड़कें १½ फीट से लेकर १२० फीट तक की चौड़ाई वाली होती थीं। ग्रामों का विकास योजना-बद्ध ढंग से किया जाता था।

'मानसरा' में ग्रामों का योजना के आधार पर ८ प्रकारों में विभाजित करने का उल्लेख

---

१ शान्ति कुमार नानूराम व्यासः रामायणकालीन समाज, पृष्ठ २३३।

है। यथा—दण्डक, सर्वतोभद्र, नद्यवर्त, पद्मक, प्रस्तर, कर्मुक एव चतुर्मुख आदि ग्रामों का सचित्र विवरण मिलता है। यद्यपि मानवीय अधिवासों का प्रधान रूप प्राचीन भारत में ग्राम ही होते थे, फिर भी वाणिज्य सेवा केन्द्र कस्बा (Town) होते थे, जो प्रशासनिक केन्द्र के अतिरिक्त औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र होते थे।

पतंजलि[1] ने आकार के अनुसार अधिवासों का निम्नांकित वर्गीकरण किया था—

(१) पल्लि या क्षुद्र ग्राम (Hamlet)
(२) घोष (Huts of Cawherds)
(३) ग्राम, उदीच्य ग्राम (Big Village)
(४) पुर या पुरी (Town)
(५) नगर (City)

रामायणकालीन मानवीय बस्तियों को उनके क्रियाकलापों, सेवा कार्यों तथा उनके आकार (size) के आधार पर निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) नगला या पल्ली (Hamlet)
(२) घोष (Huts of Cawherds)
(३) ग्राम (Village)
(४) पुर (Town)
(५) नगर (City)

मानवीय बस्तियों में मानव निवास के गृह, मकान, आश्रय, निवास तथा भवन आदि सभी सम्मिलित होते हैं। इनमें सभी प्रकार के घरों या आश्रयों को सम्मिलित किया जाता है; चाहे तो कोई झोंपड़ी या छप्पर हो या पत्तों और लकड़ियों की बनी कुटिया हो, अथवा मिट्टी या लकड़ी का घर हो या ईंटों और चूने का मकान हो अथवा पत्थर-लोहे आदि से बना कोई भव्य राजमहल या किला हो। निर्धन और धनी सभी के निवास इसमें शामिल किये जाते हैं। औद्योगिक व्यवसायों के कारखाने, सभाघर, शिक्षालय आदि भी इसमें सम्मिलित हैं।

आकार और स्थिति की दृष्टि से मानवीय बस्ती केवल एक व्यक्ति या एक परिवार का मकान अथवा दो-चार परिवारों या आठ-दस परिवारों के घर होते हैं। कृषकों के खेतों में अथवा मैदानी भागों में अलग-अलग बसे हुए बस्ती को नगला या पल्ली कहते हैं। पशुचारक या बनवासी लोगों के अस्थाई डेरे भी इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। दण्डकारण्य में अनेक ऋषि-मुनियों के आवास गृह बने हुए थे। प्रत्येक मुनि की कुटिया एक-दूसरे से अलग-अलग बसी हुई थीं। अधिकांश ऋषि मुनियों के डेरे अस्थाई थे। राम ने भी ऐसी ही कुटिया बना रखी थी। इनके गृहों का निर्माण जंगली पत्तों, घास और लकड़ी आदि से होता था। चित्रकूट, जनस्थान, पंचवटी आदि स्थानों पर बने ऋषियों के आश्रम नंगला या पल्ली के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

कृषि और पशुपालन दोनों परस्पर पूरक धन्धे थे। रामायणकाल में पशुप्रधान गाँव को 'घोष' कहा जाता था। ग्राम घोषों का रामायण में प्रायः संयुक्त उल्लेख हुआ है जिससे इन दोनों प्रकार की बस्तियों की निकटता तो सूचित होती ही है, कृषि और पशु पालन की पारस्परिक निर्भरता का भी संकेत मिलता है।

नंगला से बड़े आकार की बस्ती गाँव (village) होती है। कृषि प्रधान 'ग्राम' कहलाते थे। वन जाते समय राम ऐसे ग्रामों के पास से होकर निकले थे, जिनकी सीमा पर जुते हुए खेत थे (ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान्, २।४६।३)।

---

१ पतञ्जलि : महाभाष्य, ४-२-१०४ पृ० २९३। १-३-१० पृ० २६८। ११-४-१ पृ० २१३।

गाँव से बड़ी बस्ती पुर (Town) तथा नगर होते हैं। जहाँ ग्रामों की कृषि सम्पत्ति जाकर बिकती थी, नगर कहलाते थे। कृषि प्रधान ग्रामों एवं व्यापार प्रधान नगरों की प्रायः सन्निधि सूचित होती है; राम को वन में छोड़ देने के बाद सारथी सुमंत्र नगरों और ग्रामों को देखते हुए लौटे थे (पश्यन्यत्तौ ययौ शीघं ग्रामाणी नगराणी च २।५७।४)। ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या के नागरिकों के खेत नगर के बाहर या पास ही थे। नगरों की इस निकटता के फलस्वरूप ग्रामों में खेती को प्रोत्साहन मिलता होगा। कृषकों के लिए नगरों का सामापीप्य आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक था, क्योंकि, अपनी उपज की बिक्री के लिए उन्हें निकट ही सुलभ साधन मिल जाते थे। भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है, जिसमें शष्य कृषि (क्राप कल्टिवेशन) के साथ पशुपालन महत्त्वपूर्ण रहा है, इसलिए मानवीय बस्तियों का प्रधान रूप गाँव ही रहा है। परन्तु गाँवों की माँग-पूर्ति और वाणिज्य सेवा के केन्द्र वे कस्बे थे जो गाँव के बीच-बीच में थे, गाँवों से सम्बन्धित कृषि के औजार बनाने वाले बढ़ई वर्धकिन्), लोहार (कर्मार) और कुम्हार आदि लोग गाँव में ही रहते थे और वस्त्र बुनने वाले बुनकर और चर्मकार भी गाँवों में निवास करते थे। इनके अतिरिक्त नगर थे, जिनमें उद्योग और व्यापार के मुख्य धन्धे होते थे। प्रायः प्रशासनिक केन्द्र ही औद्योगिक केन्द्र और व्यापारिक केन्द्र होते थे। जैसे काशी, अयोध्या या गिरिव्रज आदि।

प्राचीनकाल के नगर मुख्यतः शत्रुओं के आक्रमण से प्रजा को बचाने के लिए सुरक्षित स्थलों के रूप में बसाये जाते थे और उनका नागरिक या व्यापारिक महत्त्व गौण और आनुषंगिक होता था। उस युग की सामरिक आवश्यकताएँ ही ऐसी थीं कि विशुद्ध व्यापारिक दृष्टि से किसी नगर की स्थापना सम्भव नहीं थी। व्यापारिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ तो जीवन और सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा की अनुगामिनी होती थीं[1]। सैनिक केन्द्र के रूप में निर्मित होने पर भी रामायण काल के नगर नागरिक आवश्यकताओं के लिए बड़ी सूक्ष्मता से निर्मित किये जाते थे और निर्माण एवं शिल्प सौंदर्य की दृष्टि से आदर्श बनाये जाते थे। परकोटे, खाई, जंगल या दुर्गम ऊँचाइयों के पीछे ऐसे रमणीय नगर बसाये जाते थे, जहाँ रूप और कला, विन्यास और व्यवस्था की छटा दर्शक को चकाचौंध कर देती थी। वाल्मीकि ने जिन अनेकानेक नगरों का वर्णन किया है, उनसे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि सैनिक दुर्गों के रूप में बनाये जाने पर भी वे कुशल स्थपतियों के हाथों परिष्कृत एवं परिवर्धित किये गये और समय पाकर रचना-वैशिष्ट्य वाले नगरों के रूप में पल्लवित हुए।

नगर के मध्य में राजकीय प्रासाद निर्मित होते थे। चारों प्रमुख राजमार्ग इसी केन्द्र बिन्दु से आरम्भ होते तथा तोरणों ओर अट्टालकों से युक्त चारों नगर द्वारों पर समाप्त होते थे। नगर का विकास सदा भीतर से होता था, लेकिन समय-समय पर बाहरी विस्तार की भी गुंजाइश रहती थी। राजप्रासाद नगर का बीज-स्थानीय होता था। धनी मानी लोगों के भवन नगर के मध्य, राजप्रासाद के चारों ओर, सुनियोजित सड़कों पर बने रहते थे। इन सड़कों और भवनों को बाग-बगीचे अलग करते थे। परकोटे के बाहर नगर समाप्त होकर जनपद या देहात शुरू होता था। प्राचीन नगरों की यही स्वाभाविक सीमा होती थी। यहीं भविष्य में उपनगरों का निर्माण होता था। नगर की चहारदीवारी के निकटवर्ती प्रदेश में जंगल, कृषि-भूमि, ऋषि-मुनियों और दार्शनिकों के लिए एकान्त स्थलियाँ, अथवा हाथी-घोड़ों के लिए प्रशिक्षण के स्थान बने होते थे। यहीं शहर की बस्तियों से दूर 'आराम' और 'गृहातिगृहक' बने रहते थे। इस प्रकार की नगरी को महापुरी की संज्ञा प्रदान की जाती थी। रामायण काल के तीन प्रसिद्ध नगरों (अयोध्या, किष्किंधा और लंका) का वाल्मीकि वर्णन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि

---

१ शान्ति कुमार नानूराम व्यास : रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २१६।

तत्कालीन नगरों का निर्माण अस्त-व्यस्त ढंग से न होकर नगर शिल्प की आदर्श पद्धति पर होता था। वाल्मीकि कृत इन प्राचीन नगरों के भव्य एवं अलंकृत वर्णन के समक्ष हमारे अपने युग के नगरों की आभा भी फीकी जान पड़ती है।

नगर निर्माण के लिए स्थल चुनने में समतल भूमि, स्वस्थ और स्वच्छ वातावरण तथा जल और खाद्य पदार्थों की सन्निकटता का ध्यान रखा जाता था। नदियों के तट नगरों के उद्भव और विकास के लिए सर्वोत्तम सुविधाएँ प्रदान करते थे, क्योंकि नदी देश के आन्तरिक भागों में यातायात का सुविधाजनक साधन और बाहरी जगत से सम्पर्क स्थापित करने का मार्ग होने के कारण वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहित करती थी। पुरातन काल में जब भ्रमणशील आर्य अपनी सभ्यता का प्रसार कर रहे थे और आधुनिक अर्थ में व्यापार व्यवसाय सम्भव नहीं था, भारत की महान नदियों ने उनके विस्तार और प्रसार के लिए प्रशस्त पथ खोल रखे थे। भारत के प्रारम्भिक नगरों की स्थापना शायद इसी कारण सिन्धु-गंगा की घाटियों में हुई। इसके अतिरिक्त शान्ति काल में नदी द्वारा सम्पर्क जितना सरल होता है, युद्ध काल में उसे पार कर आक्रमण करना उतना ही कठिन। इन्हीं सब कारणों से अनेक आर्य-बस्तियों की स्थापना नदी तटों पर की गई। प्राचीन शिल्प शास्त्रों में भी नदी के दाहिने किनारे पर नगर बसाने का विधान पाया जाता है[1]।

नागरिक बस्तियों के विकास की जानकारी हड़प्पा तथा मोहन जोदड़ो नगरों की खुदाई द्वारा बहुत कुछ प्राप्त हुई है। प्राचीन काल में नगरों के विकास के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण तथ्य थे—

(१) उत्तम जल पूर्ति।

(२) सुरक्षा।

(३) भोजन की उपलब्धि।

(४) परिवहन के साधन।

(५) नगरों की राजधानी के रूप में प्रशासनिक महत्ता।

(६) शैक्षिक केन्द्र।

(७) आर्थिक व्यवसायों के सम्पादन के लिए पशुशाला, कृषियन्त्र घर, सिंचाई का कुँआ आदि।

मानवीय बस्तियों की स्थिति व आकार-प्रकार पर निम्न कारकों का प्रभाव पड़ता है—

(१) प्राकृतिक कारक—भूमि की बनावट, ढ़ाल की समाकृति, जलवायु वर्षा की मात्रा, हिमपात, पवनों और आंधियों की दिशा, तापक्रम, सूर्य की धूप या छाया की दिशा, जल-पूर्ति, मिट्टियों की उर्वरता तथा वनस्पति।

(२) आर्थिक कारक—व्यवसायों के अनुसार मकानों या इमारतों की आवश्यकता!

(३) सामाजिक कारक—गाँव के सामूहिक जीवन की व्यवस्था का ढंग, सामाजिक रीति रिवाज, प्रथाएँ और परम्पराएँ।

(४) सांस्कृतिक कारक—धार्मिक विश्वास और शिक्षा।

(५) राजनीतिक कारक—शासन-व्यवस्था।

(६) निर्माण की सामग्री।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्रामों की तरह नगरों को भी उनके कार्यों के अनुसार ८ वर्गों में विभाजित किया गया है—राजधानी, नगर, पुर (Fort), नगरी Small Town), खेता पर्वत

---

१ बी. बी. दत्त—'टाउन प्लैनिंग इन एन्शेंट इण्डिया', पृ० २७-८।

(पर्वत के समीप के नगर) कुब्जक एवं पट्टन। रामायणकालीन नगरों को आकार-प्रकार की दृष्टि से वर्तुलाकार, कमलाकार आयत्सर (Rectangular), तयत्सर (Triangular), वृत्ताकार (Circular) एवं अर्द्धवृत्ताकार (Semicircular), धनुषाकार आदि समूहों में विभक्त किया जा सकता है। नगरों के विकास में सड़कों की योजना पर भी विचार किया जाता था। रामायण में अयोध्या, मधुपुरी (मथुरा), काशी, गिरिव्रज (राजगृह), मिथिला, अवन्ति, किष्किधा, पाण्ड्य, चोल, इत्यादि नगरों का विस्तृत रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रत्येक प्रकार के नगर की अपनी विशिष्ट शास्त्रीय संज्ञा होती थी और प्रत्येक में मार्गों की विशिष्ट योजना तथा सार्वजनिक स्थानों एवं भवनों का विशिष्ट ढंग का विभाजन होता था। नगरों में कलापूर्ण और नियमित बनावट वाले कई चतुष्पथ होते थे।

(७) राजनीतिक-भूगोल (Political Geography)

तत्कालीन भारत में 'जनपद' प्रमुख प्रशासनिक या राजनीतिक इकाई थी, जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में किया गया है। जनपद का अर्थ है—मानव-वर्गों या जातियों के निवास का कोई क्षेत्र (area या प्रदेश (region), जिसमें कोई एक जनतंत्र राज्य (democratic state) हो, अथवा किसी राजा की सत्ता (ruler's state) हो, अथवा किसी जाति-विशेष के संघ की बस्तियों का देश हो, जैसे शक प्रदेश में शाकों की बसायत, कीकी देश में कीकट जाति वर्ग की बसायत अथवा शकटों का राज्य इत्यादि। कहीं-कहीं पर किसी नगर राज (city) का जनपद था, अर्थात शासन-कार्यालय के नगर और उससे सम्बन्धित आस-पास के शासित क्षेत्र को मिलाकर एक जन-पद होता था जैसे काशी जनपद। कुरु वर्ग के लोगों की बसायत और राज्य के क्षेत्र का नाम 'कुरुदेश' था, गान्धार जाति वर्ग की बसायत और राज्य के क्षेत्र का नाम गान्धार देश था।

समस्त भारत उस समय छोटे-छोटे राज्यों या गणतन्त्रों में विभाजित था तथा इन गणतंत्रों का परस्पर सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध भी था। भारत के जनपद प्रदेशों के वैदिक साहित्य में प्राच्य पूर्वी), उदीच्य (उत्तरी) आदि नाम दिये गये हैं। उपनिषदों में भारत की विभिन्न १० राजनीतिक इकाइयों का वर्णन किया गया है, जबकि बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में इनकी संख्या १६ है। पातंजलि महाभाष्य तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी में वर्णित जनपदों की सर्वाधिक संख्या ३० है। कुछ प्रमुख रामायण कालीन जनपदों का उल्लेख अधोलिखित तालिका में किया गया है—

	जनपद	स्थिति	राजधानी
१	गान्धार	काबुल तथा सिन्धु नदी के बीच का क्षेत्र।	पुष्कलावती
२	कम्बोज	काश्मीर का उत्तरी भाग (अफगानिस्तान)	राजपुर
३	केकय	पंजाब में गान्धार के दक्षिण पूर्व में व्यास नदी तक।	गिरिव्रज (राजगृह)
४	मद्र	स्यालकोट से रावी नदी तट का क्षेत्र।	साकल
५	कुरु	दिल्ली के आस-पास का क्षेत्र।	इन्द्रप्रस्थ (हस्तिनापुर)
६	शूर	मथुरा के आस-पास का क्षेत्र।	मधुपुरी (मथुरा)
७	पांचाल	गंगा के पार वर्तमान रुहेलखंड।	कांपिल्या
८	वत्स	प्रयाग से पश्चिम का प्रदेश।	कौशांबी
९	अवन्ति	मालवा क्षेत्र।	उज्जयिनी

१०	मगध	बिहार में गंगा का दक्षिणी प्रदेश।	राजगृह (पुष्पपुर)
११	उत्तर-कोशल	अवध।	अयोध्या
१२	काशी	वर्तमान उत्तरप्रदेश का द० पूर्वी क्षेत्र अथवा वाराणसी के चारों ओर का प्रदेश।	वाराणसी
१३	विदेह	गंगा के उत्तर में मगध का उत्तरी भाग अथवा तिरहुत राज्य।	मिथिला
१४	अंग	गंगा के उत्तरी द० भागलपुर का इलाका जिसमें मुंगेर भी सम्मिलित है।	चम्पा
१५	वंग	पूर्वी बंगाल।	
१६	विदर्भ	बरार अथवा अमरावती के आस-पास का क्षेत्र।	कौन्दिन्यपुर (अमरावती)
१७	मालव	मालव-मेखल आदि विंध्य क्षेत्र।	विदिशा (भेलसा)
१८	किष्किंधा	बिलारी जिले में, हंपी से ४ मील दूर तुंगभद्रा नदी पर स्थित वर्तमान अनागोंदी।	किष्किंधा
१९	मत्स्य	जयपुर, भरतपुर, अलवर आदि राज्यों का क्षेत्र।	विराट
२०	वज्जि	उत्तरी बिहार।	वैशाली
२१	मल्ल	देवरिया, गोरखपुर क्षेत्र।	कुशीनगर
२२	द० कोशल	छत्तीसगढ़।	कुशावती (कुशस्थली)

उपर्युक्त जनपदों के अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे जनपद थे, जिनमें उत्तरी सिन्धु में सौवीर, कोशल और मल्ल के बीच शाक्य जनपद था। भारत के पश्चिमी जनपदों में सौराष्ट्र आदि, पूर्वी जनपदों में पुण्ड्र (उ० बंगाल), पाण्ड्य (मदुराई तथा तिनवेली), श्रृंगवेरपुर (सिंगरौर) आदि जनपदों का उल्लेख है।

(८) क्षेत्रीय भूगोल

परिभ्रमण ही प्रारम्भिक भौगोलिक ज्ञान की आधार-शिला है। पृथ्वी जैसी विशाल प्रयोगशाला में विभिन्न प्राकृतिक भू-दृश्यों का अवलोकन और उसका मनन ही वास्तविक भौगोलिक ज्ञान है। रामायण विभिन्न यात्राओं एवं भौगोलिक दृश्यों के विवेचन से परिपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि जैसा ग्रन्थ से स्पष्ट होता है, यात्री केवल उन्हें देखते ही नहीं थे, बल्कि उनकी उत्पत्ति, विकास इत्यादि पर गम्भीरता से विचार करते थे। यहाँ कुछ मुख्य यात्राओं का वर्णन किया जा रहा है, जिसमें क्षेत्रीय भूगोल प्रतिबिम्बित है—

(क) राम की यात्रा : अयोध्या से मिथिला तक

सुप्रभात, सुखस्पर्शी वात्, खगकुलों का चहकना, भ्रमरों का गुंजार, क्वचित शंखध्वनि, क्वचित वैदिक मंत्रोच्चार, क्वचित भैरवाग्नि-धूमवर्त्तिका, गायों का रंभाना, गोवत्स की किलोलें, सचमुच सब कुछ सुहावना ही तो था, सब कुछ लुभावना, जब चन्द्रवदन राम और धनुर्धर लक्ष्मण, महर्षि विश्वामित्र के साथ पूर्व दिशा की ओर गमनोन्मुख थे— ततो वायुः सुखस्पर्शी विरजस्को ववौ तदा (१।२२।४)। आगे-आगे विश्वामित्र, पीछे राम और उनके पीछे लक्ष्मण, तीनों धनुर्धर, तीनों परमयोद्धा, ऐसा लगता था मानो महाकाल शिव के पीछे कुमार स्कन्द और विशाख चल रहे हों। ये तीनों महारथी सरजू के दक्षिणी तट से यात्रा कर रहे थे। उन दिनों सरयू की धारा अयोध्या

से सीधे उत्तर की ओर जाकर पूरब की ओर मुड़ी थी, और यहाँ धारा आगे चल कर बस्ती जनपद के विक्रम जोत होते हुए आधुनिक छावनी थाई के निकट प्रवाहमान थी। बस्ती जिले के मखोड़ा स्थल से (जहाँ दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ सम्पन्न किया था सरयू तट पर) तथा अमोड़ा में खुदाई से प्राप्त नौकाओं के भग्नावशेष से यह बात प्रमाणित होती है। उन दिनों ये स्थल सघन वनों से अभिभूत थे। महर्षि विश्वामित्र तथा राम और लक्ष्मण अयोध्या से पूर्व दिशा में सरयू के दक्षिणी तटवर्ती मार्ग से, आधुनिक बस्ती जनपद के हरैया तहसील के दक्षिणी भाग से होकर पैदल ही यात्रा कर रहे थे। बारह मील चलने के पश्चात भगवान भास्कर अपनी दिव्य किरणों को समटने लगे। सांध्य वेला आ उपस्थित हुई। तीनों महापुरुषों ने सरयू के तट पर ही रात्रि विश्राम करने का निश्चय किया।

अध्यर्ध योजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे। १।२२।१०
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ १।२२।११

अयोध्या से यह डेढ़ योजन अर्थात १२ मोल लम्बा पथ यहीं समाप्त होता है, यहाँ आजकल अमीढ़ा है। आज भी इस स्थल पर 'रामरेखा' नामक लघु सरिता प्रवाहित है। यहाँ चैत्र के पूर्णमासी को प्रत्येक वर्ष बड़ा मेला लगता है। सहस्रों नर-नारी उस पावन भूमि की रज लेने आज भी आते हैं, जहाँ श्रीराम ने प्रथम रात्रि विश्राम किया था। इसी स्थल पर महर्षि ने रघुवीरों को 'बला' और अतिबला नामक विद्या का दान भी किया था—

बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाप्यतुलं त्वपि ॥ १।२३।१७

प्रभात वेला में उठकर पूजा-पाठ से निवृत होकर दोनों राजकुमार विश्वामित्र के साथ इस स्थल से ठीक पूर्व दिशा की ओर अग्रसर हुए। अब इनके जाने का मार्ग लगभग वही था, जहाँ आजकल 'राम-जानकी' मार्ग बन रहा है। राम और लक्ष्मण उत्तम चीनांशुक का उत्तरीय धारण किये हुए थे। उनके दिव्य ललाट पर केसर कुंकुम तथा चन्दन शोभायमान था। दाहिने स्कन्ध पर धनुष, वायें में तरकस, कमल में लटकता हुआ खड्ग, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने। दोनों ही राजकुमारों का रूप बड़ा ही मनोहर लग रहा था। वैसे ही थे तपः तेज से पूर्ण महर्षि विश्वामित्र। मार्ग में सहस्रों नर-नारियों ने राजकुमारों के रूप-मकरंद का पान किया। उनकी आरती उतारी। उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार ये तोनों महापुरुष आधुनिक बस्ती जनपद के कलवारी हैसर बाजार होते हुए गोरखपुर की दक्षिणी सीमा को पार करते हुए देवरिया के आधुनिक सलेमपुर से भ्रमण करते हुए बिहार के आधुनिक छपरा की दक्षिणी सीमा और बलिया (उत्तर प्रदेश) की उत्तरी सीमा पर उस स्थल पर पहुँच गये जहाँ सरयू (घाघरा) और गंगा का संगम स्थल है। इस स्थल का नाम आजकल 'रिवीलगंज घाट' रखा गया है।

तो प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम्।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ १।२३।५

भागीरथी और सरयू के इस प्राप्य स्थल पर तापसियों (ऋषियों) के आश्रम निर्मित थे। उस समय आधुनिक बिहार के छपरा तथा आरा जिले अंग देश के अन्तर्गत आते थे। पुराणों तथा रामायण के अनुसार भगवान शंकर ने इसी स्थल पर कामदेव को भस्म किया था। कामदेव के भागने पर उसके अंग जिस देश में गिरे थे, वह देश, अंगदेश के नाम से प्रख्यात हो गया। एक दूसरी अनुश्रुति के अनुसार इस देश का नामकरण बलि के पुत्र अंग के नाम पर हुआ था। जो भी हो उस समय इस देश के नरेश रोमपाद अत्यन्त प्रसिद्ध थे। वनवासियों के साथ, श्रीराम ने इस

संगम स्थल पर ही रात व्यतीत की। तदुपरान्त प्रातःकाल दोनों राजकुमारों ने महर्षि के साथ अग्रसर होकर समुद्र गामिनी गंगा नदी को पार किया—

ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरङ्गमाम् ॥ १।२४।४

गंगा नदी को पार करते ही परंतप श्रीराम आधुनिक आरा जिले में प्रविष्ट हुए। अब उनका मार्ग दक्षिण दिशा की ओर मुड़ गया। थोड़ी दूर चलने के उपरान्त ही इन्हें सघन वनस्थली सुरम्य छटा मिलने लगी। वनस्थली में शाल, हिन्ताल, ताल, तमाल, इत्यादि के वृक्ष खड़े थे। खग, फूलों के कलरव से तथा नाना कुसुमों की सुरभि से वनस्थली बहुत ही रमणीय लग रही थी। बीच-बीच में तापसियों के आश्रमों के भग्नावशेष भी दृष्टिगोचर हो जाते थे। यह ताड़का वन सम्भवतः वर्तमान शाहाबाद (आरा) जनपद का एक भाग है। इस प्रकार दक्षिण दिशा की ओर अग्रसर होते हुए, श्रीराम बिहार के आधुनिक बक्सर नामक स्थल पर पहुँच गये।

लंका में ताड़का नामक एक यक्षिणी रहती थी। यह यक्षिणी जम्भ के पुत्र सुन्द की स्त्री थी। इसका एक पुत्र मारीच नाम का था जो इन्द्र के समान पराक्रमी था। शत्रुता होने के कारण महर्षि अगस्त्य ने, सुन्द यक्ष को मार डाला था। तभी से ताड़का ऋषियों से घृणा करने लगी थी। उसने यक्षपति कुबेर से अपने पति का बदला लेने का भी निवेदन किया था, किन्तु कुबेर महर्षि अगस्त्य के मित्र थे। अस्तु यक्ष पत्नी की प्रार्थना पर उन्होंने कोई विचार ही नहीं किया। जब लंका राक्षसराज रावण के अधीन हो गयी, तो उसने अपने साम्राज्य और संस्कृति के प्रसार की योजना बनाई। उन दिनों ऋषियों में दक्षिण के अगस्त्य तथा उत्तर के विश्वामित्र अत्यन्त शक्तिशाली माने जाते थे। आधुनिक आरा (शाहाबाद) तथा बक्सर का क्षेत्र नैमिषारण्य के नाम से जाना जाता था। यह अरण्य आधुनिक सीतापुर जिले में स्थित नैमिषारण्य से भिन्न था। रावण ने अपना एक सैनिक सन्निवेश दक्षिण के दण्डकारण्य में (आधुनिक महाराष्ट्र के पूना और महाबालेश्वर के जनस्थान में) शूपर्णखा तथा खरदूषण के नेतृत्व में स्थापित कर रखा था। चूँकि, यक्षिणी ताड़का उत्तरी भारत से सुपरिचित थी, अतः रावण ने अपना दूसरा सैनिक सन्निवेश इसी के नेतृत्व में नैमिषारण्य में स्थापित कर रखा था। ताड़का के साथ उसका पुत्र मारीच, सुवाहु आदि यक्ष राक्षस भी थे। ताड़का बड़ी ही भयावनी नरभक्षिणी, आर्य संस्कृति की परम विरोधी यक्षिणी थी।

ताड़का वन में पहुँचकर महर्षि विश्वामित्र ने राम को आततायिनी, भयंकरी, ताड़का के अत्याचारों का उल्लेख कर वध हेतु प्रेरित करते हुए कहा—हे राम तीनों लोकों म तुमको छोड़कर ऐसा कोई नहीं है, जो इसे मार सके। ऐसी स्त्री का वध करने में तुम्हारे मन में घृणा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए क्योंकि चारों वर्णों का हितसाधन करना राजकुमार अर्थात् क्षत्रिय का कर्तव्य है। प्रजा की रक्षा के कार्यों के करने में भले ही दोष या पाप ही क्यों न लगे, किन्तु राज्य की रक्षा का बोझ उठाए हुए क्षत्रियों के लिए सब प्रकार से प्रजा की रक्षा करना ही, उनका सनातन धर्म है। ताड़का की शक्ति तथा उसके अत्याचारों को सुनकर धनुर्धर राम की बाहें फड़क उठीं और गरजते हुए ऋषिप्रवर विश्वामित्र से कहा—

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न सन्देहस्ताटका वधमुत्तमम ॥ १।२६।४

यह कह दृढ़व्रत धनुर्धर राम ने गगनभेदी धनुषटंकार की, जिसको सुनकर ताड़का भयंकर गर्जन करती हुई उनके पास पहुँचकर, उन पर धूल और शिला बरसाने लगी। उसके इस कार्य ने अग्नि की ज्वाला में 'घी' का कार्य सम्पन्न किया। पुनः राम ने क्रुद्ध होकर अपने वाणों द्वारा उसके दोनों हाथ काट डाले और उसके वृक्षस्थल पर वाण का तीव्र प्रहार किया कि वह यक्षिणी वहीं पर कटे वृक्ष की तरह धराशायी हो गयी।

ताड़का वन में ही विश्वामित्र के साथ दोनों राजकुमारों ने रात्रि विश्राम किया। ताड़का

वध से प्रसन्न होकर महर्षि विश्वामित्र ने धनुर्धर राम को—महादिव्य दण्डचक्र, धर्म चक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रास्त्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मशिर, ऐषीक, मोदकी, शिखरी, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, अशनी, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र शोषण, सन्तापन, मोहनास्त्र, पैशाचास्त्र, तामस आदि दिव्यास्त्रों एवं अस्त्रों का तथा संहार विधि—सत्यवन्त, सत्यकीर्ति, रभस, प्रतिहारतर, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाम, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्र दशशीर्ष, शतोदर, महाबाहु, सर्वनाम, वरुण इत्यादि को प्रदान किया। ये दिव्यास्त्र समर्थ और उत्तम पात्रों को ही प्रदान किये जाते थे, ताड़कावध से श्रीराम का सुयोग्य पात्र होना सिद्ध हो चुका था। यक्षिणी वध के उपरान्त राम ने लक्ष्मण के साथ किंचित दक्षिण दिशा में चलकर भयकर ताड़का वन पार किया। अब वे सिद्धाश्रम के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए। यह सिद्धाश्रम भी आधुनिक बक्सर क्षेत्र में ही स्थित था। यहीं विश्वामित्र का आश्रम था। वामनावतार भी, यहीं होना बताया जाता है—

तेनैष पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः।
मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योप भुज्यते॥ १।२९।२२।

इस सिद्धाश्रम में अनेक तपस्वीगण आश्रम बनाकर रहते थे, किन्तु उन सबों के दीक्षा गुरु महर्षि विश्वामित्र ही थे। विश्वामित्र के आश्रम में राम और लक्ष्मण ने छः दिनों तक निवास कर, उनके यज्ञानुष्ठानों को निर्विघ्न रूप से पूर्ण कराया और विश्वामित्र की प्रेरणा से मारीच, सुबाहु तथा उनके साथियों को मानवास्त्र, परमास्त्र और वायव्यास्त्र द्वारा मौत के घाट उतारा। इस प्रकार शस्त्राभ्यास और शास्त्राध्ययन तथा महर्षि की सेवा करते हुए, दोनों रघुवीर तापसियों के मध्य स्वयं तापसी बन गये।

उन्हीं दिनों मिथलाधीश विदेह श्रीध्वज जनक के यहाँ धनुष-यज्ञ सम्पन्न होने वाला था। अतः तपस्वियों ने दोनों राजकुमारों से वहाँ चलने का अनुरोध किया। वन देवताओं से आज्ञा लेकर विश्वामित्र ने सिद्धाश्रम से ठीक उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया—'उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे' ॥१।३१।१६। उत्तर और पश्चिम दिशा में चलते हुए राम 'शोणभद्र' (आधुनिक सोन नदी) नदी पार कर आधुनिक पटना जिले की सीमा में प्रविष्ट हो गये। पुनः अर्द्धदिवस चलने के उपरान्त दशरथनन्दन दृढ़व्रत राम हंस और सारस पक्षियों से सेवित वेगवती ऊर्मियों से संयुक्त गंगा नदी के तट पर पहुँच गये—'ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा'।

'जाह्नवी सरितां श्रेष्ठा ददृशुर्मुनिसेविताम्! यह स्थली आधुनिक पटना है। इसी को वसुमति के नाम से भी जाना जाता था। गंगा नदी को पार कर महर्षि विश्वामित्र के साथ राम ठीक उत्तर दिशा की ओर अग्रसर हुए। रास्ते में ही विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को कौशाम्बी, सोन आदि क्षेत्रों के बारे में भौगोलिक ज्ञान कराया। चलते-चलते अब वे विशाला (वैशाली) नामक नगरी में प्रविष्ट हुए। यह स्थान बिहार प्रान्त का आधुनिक मुजफ्फरपुर जनपद है।

वस्तुतः उस समय उत्तरी बिहार में विदेह, दक्षिणी बिहार में मगध, गगा के उत्तर में वैशाली तथा पूर्वी बिहार में अंग देश अत्यन्त समृद्ध और प्रभावशाली हो चुके थे। महर्षि विश्वामित्र का आगमन सुनकर, वैशाली नरेश सुमित स्वयं स्वागत करने दौड़ पड़े। इस प्रकार राम वैशाली में एक रात्रि व्यतीत कर जनकपुर जाने के लिए उत्तर दिशा की ओर पुनः अग्रसर हुए। वस्तुतः विदेह राज्य आधुनिक दरभंगा (उत्तर बिहार से लेकर हिमालयकी उपत्यका तक फैला हुआ था।

सम्प्रति मिथिला (जनकपुर) नेपाल राज्य का एक अंचल है। उत्तर दिशा में चलते हुए मिथिला के उपवन में ही उन्हें गौतम ऋषि का आश्रम दृष्टिगोचर हुआ। रमणीक आश्रम को देख राम ने विश्वामित्र से पूछा कि हे मुने! यह आश्रम तो परम शोभायमान है, परन्तु इसमें

रामायण कालीन भारत
कंबोज
गांधार
सिन्धु नदी
पुष्कलावती
तक्षशिला
गिरिव्रज
चन्द्रभागा नदी
गंधर्व
वितस्ता नदी
केकय
सिन्धु
इरावती नदी
विपाशा नदी
मल्ल देश
वाह्लीक
शतद्रु नदी
सरस्वती नदी
कुरु जांगल
यमुना नदी
गंगा नदी
ब्रह्मावर्त
हिमवंत पर्वत
इन्द्रप्रस्थ
हरद्वार
हस्तिनापुर
पांचाल
मरुभूमि
सौवीर
शूर
अयोध्या
विदेह
श्रावस्ती
कौशिकी
मिथिला
गौतमाश्रम
विशाला
अंग
काशी
वाराणसी
प्रयाग
शृंगवेरपुर
मधुपुरी
अर्बुद पर्वत
पुष्कर
मालव
अवंती
चर्मण्वती नदी
वेत्रवती नदी
मगध
हिरण्यवाह नदी
वंग
लौहित्य नदी
कामरूप
प्राग्ज्योतिष
किरात
आनर्त
सौराष्ट्र
नर्मदा नदी
माहिष्मती
विंध्य पर्वत
जाबालिपत्तन
दक्षिण कोसल
उत्कल
कलिंग
महोदधि
रत्नाकर
पयोष्णी नदी
पंचवटी
जनस्थान
अगस्त्य आश्रम
विदर्भ
दण्डकारण्य
गोदावरी नदी
दक्षिणापथ
पंपापुर
ऋष्यमूक
प्रस्रवणगिरि
मतंग आश्रम
कांची
चोल
ताम्रपर्णी नदी
पांड्य
सेतुबन्ध
लंका
संकेत
नगर
भरत का मार्ग
राम का मार्ग
ऋषियों के आश्रम
वानर प्रदेश
राक्षस प्रदेश
जहा समुद्र था
0 50 100 200 300
मील

कोई ऋषि रहता हुआ दिखाई नहीं देता, क्या बात है ? तब महर्षि ने आश्रम का समस्त वृत्तान्त बताया। तब राम ने अहिल्या का उद्धार किया। अहिल्या शिलाखण्ड अथवा निर्जीव वस्तु नहीं थी। इन्द्र के साथ रतिक्रीड़ा करने के कारण अहिल्या के प्रति महर्षि गौतम ने अपनी दुराचारिणी भार्या को शाप देकर त्याग दिया था। किन्तु अहिल्या भी मनः शक्तिसम्पन्न नारी थी। उन्होंने उसी स्थल पर निराहारा, रहकर प्रायश्चित स्वरूप कठोर व्रत का अनुष्ठान कर लिया।

वायुभक्षनिराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूता नामा श्रमेऽस्मिन्निवत्स्यसि ॥ १।४८।३१

बाद में राम और महर्षि विश्वामित्र के पुण्य दर्शन से अहिल्या पवित्र हो गई। महर्षि गौतम ने उन्हें फिर अपना लिया। इसके बाद महर्षि विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण सहित जनकपुर नगर में महाराज की यज्ञशाला में पहुँचे। जनकपुर नगर में राम ने शंकर चाप को विखण्डित किया। फलस्वरूप राम के साथ सरिध्वज जनक की कन्या सीता का तथा लक्ष्मण के साथ उर्मिला का और सरिध्वज जनक के अनुज कुशध्वज जनक की पुत्रियों—माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति का पाणिग्रहण-संस्कार क्रमशः भरत और शत्रुघ्न के साथ सम्पन्न हुआ। इक्ष्वाकुवंशी नरेशों में सोलह प्रतापवान् राजाओं में से राम सर्वाधिक लोकविश्रुत हुए क्योंकि उन्होंने अपने चरित्र, अपने कार्य तथा अपने पौरुष से ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो सर्वथा अनुकरणीय रहा है। चित्र ३ का अवलोकन करें।

(ख) भरत की यात्रा : गिरिव्रज से अयोध्या की यात्रा

राम वनवास के समय भरत अपने ननिहाल गिरिव्रज (केकय) में थे। रामायण के अनुसार केकय देश विपाशा या व्यास नदी के पार, गान्धार जनपद सीमा का स्पर्श करता था। महाभारत के अनुसार केकय देश को पंजाब के आधुनिक शाहपुर जिले से समीकृत किया गया है। कनिंघम ने केकय देश की राजधानी को गिरिव्रज या झेलम तट पर स्थित जलालपुर से समीकृत किया है[1]। डी. सी. सरकार (राय चौधरी के मत के आधार पर) व्यास और झेलम के क्षेत्र को प्राचीन केकय मानते हैं जिसकी राजधानी गिरिव्रज (जलालपुर) थी[2]। वाल्मीकि रामायण में भरत की केकय अयोध्या यात्रा के आधार पर झेलम चिनाब के मध्य के क्षेत्र (शाहपुर, झेलम, जलालपुर) को केकय मानना उचित है। इसके उत्तर में कम्बोज, उत्तर-पश्चिम में गान्धार, दक्षिण पश्चिम में सिन्धु राज्य की सीमाएँ थीं।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में केकय देश को भारत के उत्तराखण्ड में शकों, हूणों, कंबोजों आदि के साथ स्थित बताया है। स्ट्रैबो के अनुसार यह देश विस्तृत एवं उपजाऊ था तथा इसमें लगभग ३०० नगर थे (एच० तथा एफ० का अनुवाद III पृ० ६१)।

भरत को बुलाने के लिए अयोध्या से राजदूत भेजा गया। उत्तरी पंजाब में स्थित केकय आदिम जातियों के राजा अश्वपति (कैकेयी के पिता) गिरिव्रज में अपनी राजधानी बनाकर रहते थे। गिरिव्रज से भरत अपने मामा तथा नाना आदि से बिदा माँग कर अयोध्या के दूतों के साथ तथा मन्त्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजभवन से पूर्व दिशा की ओर अग्रसर हुए। कुछ दूर चलने के बाद वे सुदामा और ह्लादनी नदियों को पारकर शतद्रू (सतलज) के किनारे आये। फिर एलवाना के पास भरत अपार पर्वतीय क्षेत्र में आये और वहाँ से शिला अकुर्वती, आग्नेय आदि पार करते हुए चैत्ररथ के घनघोर वन में प्रविष्ट हुए। इसके बाद वे गंगा

---

१ ज० ए० सो० बं० १८६५, २५० और आगे ए० ज्यॉ० ३०, १९२४, १८८।
२ स्टडीज इन दि ज्यॉग्राफी ऑफ ऐन्सि० एण्ड मेडि० इण्डिया, पेज २५, दिल्ली।

और सरस्वती के संगम पर पहुँचे और वहाँ से भारुन्दा के जंगलों को पार करते हुए यमुना के किनारे पहुँचे। वहीं पर उनकी सेना ने विश्राम किया—

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनी पर्वतावृताम्।
यमुनां प्राप्य सन्तीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ २।७१।६

इसके बाद भरत महारण्य होते हुए अंशुधान नगर के पास पहुँचे किन्तु यहाँ गंगा को पार करना कठिन जानकर दूसरा रास्ता अपनाकर प्राग्वट घाट पर गंगा को पार कर आगे बढ़े। सर्वतीर्थ में कुछ समय बिताकर वे उत्तानिका नदी, हस्तिपृष्ठक नगर के पास कुटिका नदी और लोहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार करते हुए विनत नगर में प्रविष्ट हुए। यहाँ से आगे बढ़ने पर वे गोमती नदी को पार कर कालेङ्ग नगर के सालवन में पहुँचे। सालवन में उन्होंने रात्रि में विश्राम किया। वहाँ से सुबह अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। कुछ ही दूर चलने के बाद अयोध्या की सीमा में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार गिरिव्रज से अयोध्या तक आने में भरत को सात दिन का समय लगा—

अयोध्यां मुनिना राज्ञां निर्मितां सन्ददर्शह।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि।२।७१।१८

(ग) राम-वन गमन-मार्ग

लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या से चलने के बाद राम ने तमसा नदी (आधुनिक टोंस) के किनारे विश्राम किया—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत्॥ २।४६।१

वहाँ से आगे चलकर गोमती और स्यान्दिका (आधुनिक सई) नदियों को पार कर पावन गंगा तट पर पहुँचे। तट से समस्त अयोध्यावासी पीछे लौट गये और राम ने श्रृंगवेरपुर में विश्राम किया, जहाँ निषाद राज गुह से उनकी भेंट हुई क्योंकि निषादराज कोसल राजकुमार के 'आत्मसमः सखा' (अभिन्न मित्र २।५०।३३) थे। श्रृंगवेरपुर निषादराज गुह की राजधानी थी। निषाद जाति कोसल-राज्य और गंगा के बीच के प्रदेश में रहती थी, जिसके गुह नृपति (मुखिया) थे। राम का राजधानी में आना सुन, गुह ने सीता सहित राम और लक्ष्मण का हार्दिक स्वागत किया। राम ने भी लक्ष्मण के साथ आगे बढ़कर उनका प्रगाढ़ आलिंगन किया (सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः २।५०।३५)। तत्पश्चात् गुह ने राम को उत्तम खाद्य पदार्थ भेंट किये, किन्तु राम ने कुछ ग्रहण नहीं किया। इसलिए नहीं कि उन्हें एक निषाद का भोजन ग्रहण करने में आपत्ति थी, बल्कि इसलिए कि उन्होंने तपस्वी का व्रत ले रखा था। दान या उपहार लेना उनके लिए निषिद्ध था—नहि वर्ते प्रतिग्रहे (२।५०।४३)।

निषादराज गुह से प्रातःकाल विदा लेकर और अपने सारथि सुमंत्र को रथ सहित अयोध्या लौटा देने के बाद स्वयं लक्ष्मण एवं सीता सहित नाव द्वारा गंगा को पार करके प्रयाग में भरद्वाज ऋषि के आश्रम में प्रविष्ठ हुए। उस रात्रि को मुनि के आश्रम में विश्राम किया! मुनि से चित्रकूट पर निवास का उपदेश लेकर प्रातःकाल चित्रकूट के लिए अग्रसर हुए। मार्ग में यमुना नदी को पार कर वे चित्रकूट पहुँचे —

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ २।५६।१२

इस स्थान पर चित्रकूट की पहाड़ियों एवं नदियों का बड़ा ही सुन्दर एवं मनोरम वर्णन रामायण में किया गया है। चित्रकूट की रमणीयता को देखकर राम ने कुछ दिनों तक निवास करने का निश्चय किया। वहाँ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में राम लक्ष्मण और सीता सहित गये। महर्षि वाल्मीकि ने इन तीनों का विधिवत् स्वागत किया और चित्रकूट में ही पर्णकुटी बनाने को

निर्देश दिया। अयोध्या से राम ने ५वें दिन चित्रकूट पहुँच कर अपनी पर्णशाला में निवास किया क्योंकि मन्दाकिनी नदी और चित्रकूट पर्वत की रमणीयता से राम मोहित हो गये थे। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने यहाँ निवास करने का निश्चय किया। यहीं पर भरत ने राम को राज्यभार ग्रहण करने का आग्रह किया था।

अब इधर चित्रकूट में भरत के चले जाने पर राम ने वहाँ के तपस्वियों का उद्वेग और दूसरे स्थान में जाने के लिए उनकी उत्कण्ठा देख राम, लक्ष्मण और सीता सहित अत्रि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ अनसूया ने सीता को धर्मोपदेश प्रदान किया तथा दिव्य शृंगार आदि प्रदान किया। यहाँ से रात्रि-विश्राम के उपरान्त राम ने दण्डकारण्य के लिए प्रातःकाल प्रस्थान किया। विन्धा पहाड़ियों के दक्षिण इस घोर वन में विराध द्वारा इनका रास्ता रोका गया। विराध का वध कर राम सर्वंग ऋषि के आश्रम पर पहुँचे। इसके बाद मन्दाकिनी नदी को पारकर वे सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम पर आये। राम का १० वर्ष दण्डकारण्य (वर्तमान नागपुर के पास) में ही बीत गया। दण्डकारण्य से अगस्त्य ऋषि के आश्रम होते हुए राम पंचवटी की ओर चले। ऋषियों द्वारा वर्णित पंचवटी का भौगोलिक वर्णन रामायण में अपना एक अलग ही महत्त्व रखता है। आवासीय भूगोल (सेटलमेण्ट ज्योग्राफी) का सम्यक् विवेचन यहाँ मिलता है। मानव-आवास के लिए किन-किन प्राकृतिक उपादानों की आवश्यकता होती है, उसका चित्रण रामायण के इस भाग में किया गया है।

पंचवटी की दूरी अगस्त्य मुनि के आश्रम से लगभग १ योजन (चार कोस) थी—

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः।
देशो बहुमृगः श्रीमान्यञ्जवटयभिविश्रुत ॥३।१३।१३

पंचवटी के मार्ग में राम की भेंट जटायु से हुई। जटायु द्वारा राम को दिये गये परिचय से केवल हमें इतना ही ज्ञात होता है कि जटायु महाराज दशरथ के सखा (उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ३।१४।३) थे। और पंचवटी में जब कभी राम और लक्ष्मण शिकार करने चले जाते थे, तब सीता की रखवाली का भार उन्हीं पर आ पड़ता था। वहीं उन्होंने सूर्पणखा का विरुपीकरण किया, जिसके नाम पर नासिक नगर आज भी विद्यमान है। वहाँ राक्षसों की १४००० सेना का राम ने वध किया और सीताहरण के पश्चात् सीता की खोज में गोदावरी नदी के किनारे जन स्थान में जटायु को मृतप्राय पाया। वहाँ से पश्चिम की ओर घोर जंगल एवं पर्वतों को पार करते हुए वे कौंच वन में प्रविष्ट हुए जहाँ उस समय हाथियों का वर्णन मिलता है। वहाँ से रास्ते में कबन्ध राक्षस को मारते हुए राम पम्पा सरोवर के पास पहुँचे, जो ऋष्यमूक पर्वत (आधुनिक बिलारी जिले में हंपी के उत्तर में स्थित पर्वत) के पास एक मनोहर ताल है। पम्पा की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक सौन्दर्य बड़े ही अच्छे ढंग से रामायण में वर्णित है। वहीं राम की हनुमान, सुग्रीव आदि से मित्रता हुई।

यहीं से राम अपनी सेना लेकर समुद्र के किनारे पहुँचे, जहाँ सागर अपनी उत्तुंग लहरों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। रामेश्वरम् मण्डीयम, धनुषकाडी आदि स्थानों के नाम से तथा वहाँ की भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट होता है कि राम ने लंका में प्रवेश करने के लिए सेतु-निर्माण का कार्य यहीं किया। सेतु-निर्माण में भी उस युग के विकसित विज्ञान की झलक दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि नल को ऐसे प्रस्तर-खण्डों का ज्ञान था, जो पानी के ऊपर भी कम घनत्व के कारण तैर सकते हों। इस प्रकार हम नल को इंजीनियर की उपाधि दे सकते हैं।

लंका के अशोक वन में जहाँ सीता को रावण ने रखा था, आज भी सीता की मूर्ति वहाँ विद्यमान है और कोलम्बो ६ ४० मलि दूर निकुंमिला' स्थान जहां मेघनाथ ने यज्ञ किया था, आज भी अपना प्राचीन महत्त्व को सजोये हुए है। लंका में आज भो राम जीवन से सम्बद्ध अनेक स्थान अपनी ऐतिहासिकता बताते हैं। केलानिया में रावण बंधु, विभीषण की पूजा, सबर गमुआ में राम बधु लक्ष्मण की पूजा होती है। कुम्भकर्ण के पुत्र निकुम्ब से ही कोलम्बो उत्तर में निगोंबो नगर बसा हुआ है। हक्क गल्ल वन ही सीता के काल का अशोक वन है। रावण के किले आज लिटिल बासेस और ग्रेट बासेस के नाम से प्रसिद्ध हैं। लंका के पश्चिमी तट पर मन्नार की खाड़ी में थल्लादि नामक द्वीप है, जहाँ हनुमान युद्ध में मूर्च्छित हो गये थे, जब वे संजीवनी पर्वत लक्ष्मण के उपचारार्थ ला रहे थे (तामिल भाषा में थललादि का अर्थ मूर्च्छित होना है) जाफना के पास विकलूंडि नामक स्थान पर रामबाण के आघात से पानी का झरना बना था।

अध्याय २

रामायण-काल का उद्‌भव :

(क) रामकथा की उद्‌भावना और उसकी लोकप्रियता

(ख) रामायण का रचना-काल एवं काल-सीमा

रामायण काल का उद्भव

(क) रामकथा की उद्भावना और उसकी लोकप्रियता

रामकथा का अस्तित्व बहुत ही प्राचीन है। यहाँ तक कि ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति जितने भी भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, उन सबमें सर्वत्र रामकथा की व्यापकता एवं लोकप्रियता परिलक्षित होती है। रामकथा के मूल उद्गम के सम्बन्ध में प्रायः विद्वान् एकमत दृष्टिगत नहीं होते। वाल्मीकि के पूर्व रामकथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं, क्योंकि वाल्मीकि के ही उल्लेखों से लगता है कि उन्होंने राम का परिचय नारद के द्वारा प्राप्त किया। इतना ही नहीं इसका प्रमाण हमें बौद्ध त्रिपिटक में भी मिलता है। यदि एक तरफ रामकथा सम्बन्धी गाथाएँ रामायण पर निर्भर नहीं हो सकतीं, तो वही दूसरी ओर बौद्ध गाथाओं में जो रामकथा सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है; वह भी रामायण के आधार के लिए पर्याप्त नहीं समझी जा सकती है। अतः रामायण तथा रामकथा सम्बन्धी-विषयक बौद्ध गाथाएँ दोनों प्राचीन रामकथा सम्बन्धी आख्यान काव्य पर आधारित है।

भारतीय साहित्य में वैदिक युग से लेकर पौराणिक और काव्य-नाटक युग तक सर्वत्र रामकथा की लोकप्रियता को देखते हुए सहज ही विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के लिए जिस कथानक का चयन किया उसका अस्तित्व उनसे पहले भी था। ऋग्वेद में दशरथ, सीता एवं लक्ष्मण आदि शब्दों का उल्लेख तो हुआ है, किन्तु उनका सम्बन्ध अयोध्या वाले राम, सीता, लक्ष्मण तथा दशरथ आदि से तनिक भी नहीं जुड़ता। ऋग्वेद में इक्ष्वाकु का एक बार उल्लेख मिलता है (१०,६०,४); किन्तु उस सूक्त में इक्ष्वाकु का नाम मात्र दिया गया है। केवल इससे इतना ही प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकु कोई राजा थे।

अथर्ववेद में भी एक बार इक्ष्वाकु का नाम आया है। उस मंत्र में ज्वर से छुटकारा पाने के लिए कुष्ट पौधे से आग्रह किया गया है। इसके अन्तर्गत यह वाक्य पाया जाता है : "त्वा वेद पूर्वं इक्ष्वाकी यं" (१६, ३६, ६)[तु, जिसको इक्ष्वाकु पूर्वकाल में जानता था।] इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इस मंत्र के रचना काल में इक्ष्वाकु एक प्राचीन वीर माने जाते थे।

वैदिक साहित्य में दशरथ का एक बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद (१,१२६,४) की एक दानस्तुति में अन्य राजाओं के साथ दशरथ की भी प्रशंसा की गई है। "चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नियन्ति"—[अर्थात् दशरथ के चालीस भूरे रंग के घोड़े एक हजार घोड़ों के दल का नेतृत्व ग्रहण कर रहे हैं।] दूसरी बात यह है कि इक्ष्वाकु से सम्बन्ध रखने वाले स्थलों के समान उक्त उद्धरण से भी राजा दशरथ का कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

मध्य एशिया की एक आर्य जाति का नाम मितान्नि था। इनके एक राजा दशरथ का नाम आया है, जिसका राजतंत्रकाल १४०० ई० पूर्व के आस-पास माना जाता है। राम, दशरथ, परशुराम और बलराम इन तीनों का उल्लेख सर्वप्रथम रामायण और महाभारत में हुआ। फिर

भी वैदिक साहित्य से अनेक राम नामक व्यक्तियों का परिचय प्राप्त होता है। तैत्तिरीय आरण्यक (५, ८, १३) में 'राम' शब्द का प्रयोग 'पुत्र' के अर्थ में हुआ है।

ऋग्वेद में राम का एक बार उल्लेख हुआ है, लेकिन उसका नाम अन्य प्रतापी यजमानों के साथ प्रयुक्त होने के कारण प्रतीत होता है कि वह कोई राजा हुआ होगा।

प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ॥ (१०, ९३, १४)

[मैंने दुःशीम पृथवान, वैन और राम (असुर[1]) इन यजमानों के लिए यह (सूक्त) गाया है। इन्होंने पाँच सौ (घोड़े अथवा रथ) जुतवाए जिससे उनका मुझ पर अनुग्रह चारों ओर प्रसारित हो गया है।]

ऐतरेय ब्राह्मण (७, २७, ३४) में राम मार्गवेय और जनमेजय के विषय में एक कथा हमें प्राप्त होती है, जिससे यह मालूम होता है कि वे श्वापर्ण कुल के ब्राह्मण और जनमेजय समकालीन थे। उनका रामायण की कथा से कोई सम्बन्ध नितान्त असम्भव ही लगता है। सायण 'मार्गवेय' की व्युत्पत्ति 'मृगु' से मानते हैं। वेबर इसका सम्बन्ध मार्गव (मुनि की एक जाति १०, ९६) से जोड़ते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में 'अंसुग्रह' नामक यक्ष के तत्त्व पर विचार-विनिमय होने पर अन्य आचार्यों के मतों के साथ-साथ राम औपतस्विनि के मत का भी वर्णन होता है (४,६, १७)। इससे पता चलता है कि वह उपतस्विन् के पुत्र और याज्ञवल्क्य के समकालीन थे।

उपर्युक्त विभिन्न रामों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीनतम वैदिक काल से ही राजाओं और ब्राह्मणों दोनों में 'राम' का नाम प्रचलित एवं लोकप्रिय था।

शतपथ ब्राह्मण (१०,६,१,२) और छान्दोग्य उपनिषद् (५,११,४) में अश्वपति कैकेय का उल्लेख मिलता है। अश्वपति केकय देश के नृपति थे और इतने विद्वान् थे कि ब्राह्मणों के जाने पर उनको वैश्वानर के तत्त्व के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान करते थे। केवल इतना ही परिचय उपर्युक्त स्थानों से मिलता है। साथ ही उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में जनक वैदेह का भी उल्लेख हुआ है। इससे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे दोनों समकालीन विद्वान् नृपति थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् में दो स्थलों पर भी जनक का उल्लेख किया गया है। एक स्थल में जनक गायत्री के विषय में बुडिल आश्वतराश्वि से कुछ कहते हैं (५, १४, ८)। दूसरा स्थल अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसमें गार्ग्य बालाकि और अजातशत्रु का वार्तालाप प्रस्तुत किया जाता है।

उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण के अन्य पात्रों की अपेक्षा जनक वैदेह का वैदिक साहित्य में कहीं अधिक उल्लेख होता है। अर्वाचीन रामकथा साहित्य में वैदिक जनक तथा रामायण जनक अभिन्न माने जाते हैं। वास्तव में दोनों की अभिन्नता प्रमाणित करने के लिए सबूत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्वीकार करना पड़ता है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता कि सीता जनक की पुत्री हैं अथवा राम उनके जामाता हैं।[1]

वाल्मीकि-रामायण में दो भिन्न-भिन्न जनक नाम के राजाओं का उल्लेख है—एक मिथि का पुत्र तथा दूसरा ह्रस्वरोमा का पुत्र और सीता का पिता। जातकों में भी अनेक जनक नामक राजाओं का उल्लेख है। महाभारत में सीता जनक की पुत्री मानी जाती है। वैदिक साहित्य में सीता को कृषि की एक अधिष्ठात्री देवी के रूप में माना गया है जिसका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर होता रहा है। दूसरी सीता को सीता सावित्री के रूप

---

१ दे० दिनेशचन्द्र सेन : दि बंगाल रामायणस, पृ० ३९।
'असुर' यहाँ पर राम की उपाधि प्रतीत होता है। यह लुड्विग का मत है।
२ फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृष्ठ ६।

में कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में चित्रित किया गया है। इसमें सीता और श्रद्धा प्रजापति की पुत्री मानी जाती हैं। सायण के मतानुसार प्रजापति यहाँ पर सविता अर्थात् सूर्य का पर्याय-वाची शब्द माना जाना चाहिए। फादर कामिल बुल्के साहब का कहना है कि प्रस्तुत उपाख्यान में सीता सोम राजा के प्रेम को स्थागर नामक अँगराग के द्वारा प्राप्त करती है, यद्यपि सोम पहले सीता की बहन श्रद्धा से प्रेम करते थे इस कथा का मूलरूप ऋग्वेद में मौजूद है।[1]

सीता सावित्री की इस कथा का वाल्मीकि रामायण से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी अनसूया के अँगराग का वृतांत इस उपाख्यान से अवश्य ही प्रभावित हुआ है—

इदं दिव्य वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अङ्गरागं च वैदेहि महहि चानुलेपनम् ।।२।११८।१८
मया दत्तमिद सीते तव गात्राणि शोभयेत्।
अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ।।२।११८।१९
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे।
शोभयिष्यति भर्तारं यथा श्रीविष्णुमव्ययम् ।।२।११८।२०

यदि देखा जाय तो वाल्मीकि रामायण पर भी सीता, कृषि की अधिष्ठात्री देवी का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि इसका रामायण में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि अयोनिजा सीता के जन्म और तिरोधान के जो वृतान्त मिलते हैं, वे सम्भवतः इस वैदिकी सीता के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक रचनाओं में रामायण के कुछ पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं, लेकिन न तो इसके आपसी सम्बन्ध की कोई रूपरेखा प्रदर्शित की गई है और न इनके विषय में रामायण की कथावस्तु का थोड़ा भी निर्देश किया गया है। जनक और सीता का बार-बार वर्णन होने के बावजूद दोनों के पिता-पुत्री सम्बन्ध का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। अतः वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा रामकथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं, इसका निर्देश वैदिक साहित्य में कहीं भी नहीं पाया जाता, किन्तु इतना हम अवश्य मान सकते हैं कि रामायण के कुछ प्रमुख पात्रों के नाम प्राचीन काल में प्रचलित थे।

वाल्मीकिकृत रामायण के पहले रामकथा सम्बन्धी आख्यान प्रचलित थे। इसका प्रमाण हमें महाभारत के द्रोणपर्व और शान्तिपर्व के संक्षिप्त राम-चरित से तथा अन्य निर्देशों से भी मिलता है। महाभारत में रामकथा की उपस्थिति इस बात का प्रतीक है कि राम सम्बन्धी गाथा तथा आख्यान काव्य का प्रचार एवं प्रसार कोशल प्रदेश तक ही नहीं था। इस प्रकार वाल्मीकिकृत रामायण रामकथा की प्राचीनतम विस्तृत रचना प्रमाणित होती है।

रामकथा का अस्तित्व वाल्मीकि मुनि से पहले भी वर्तमान था और वह सूतों एवं कुशीलवों द्वारा गाथाओं या गीतों के रूप में समाज में प्रचलित हो चुकी थी। इसका सटीक प्रमाण 'हरिवंश पुराण' भी प्रस्तुत करता है। हरिवंश का कथन है कि रामायण की रचना से भी पूर्व रामकथा पुराणविदों द्वारा गाई जाती रही है। महाभारत में भी इस प्रकार की गाए जाने योग्य गाथाओं का वर्णन मिलता है। उसमें उल्लेख है कि इन्द्र ने जिन गाथाओं को गाया था, उनको उत्तरवर्ती ब्राह्मणों ने उसी अर्थ में गाया। इन्हीं गाथाओं का रूप ग्रहण कर अपने कुशल ढंग से बौद्ध त्रिपिटककारों ने संग्रहीत किया, जिसका प्रमाण 'दशरथ जातक' हमारे सामने मौजूद है।

---

१ फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृष्ठ ७।

उन्हीं गाथाओं का समुचित विकास वाल्मीकि मुनि ने किया। इन तथ्यों को देखते हुए यदि यह कहा जाए कि वाल्मीकि ने बौद्ध जातकों से रामकथा को कर्ज रूप में लिया, तो यह न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

प्राचीन बौद्ध साहित्य में रामकथा सम्बन्धी तीन जातक सुरक्षित हैं, जिनमें से दशरथ जातक सबसे महत्त्वपूर्ण है। दशरथ जातक में रामकथा का जो रूप मिलता है, उसे अधिकांश विद्वान् रामायण की कथा का मूलरूप मानते हैं। 'दशरथ जातक' में उल्लेख किया गया है कि बहुत दिन पहले दशरथ नाम के राजा कुमार्ग को छोड़कर वाराणसी में धर्मपूर्वक राज्य करते थे। उनकी १६०० रानियों में पटरानी ने दो पुत्र और एक कन्या को जन्म दिया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम राम-पण्डित था। छोटे का लक्ष्मण-कुमार और पुत्री का नाम सीता था। कुछ दिनों बाद पटरानी का देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु से राजा काफी दुःखित हुए, लेकिन मन्त्रियों के समझाने पर दूसरी रानी को अग्रमहिषी के उन्नत पद पर नियुक्त किया। यह राजा की हृदयहारिणी थी। इसने भी एक पुत्र पैदा किया जिसका नाम भरत था। राजा ने उसी अवसर पर कहा—हे भद्रे मैं वर देता हूँ इसे स्वीकार करो। जब भरत की अवस्था सात वर्ष की हुई, तब रानी ने अपने पुत्र के लिए राज्य माँगा। तब राजा ने राज्य देने से इनकार कर दिया। लेकिन बार-बार कहने पर तथा उसके षड्यन्त्रों के भय से राजा ने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर कहा—यदि तुम यहाँ रहोगे तो विघ्न की सम्भावना है। अतएव सामन्त राज्य या अरण्य में जाकर निवास करो और मेरी मृत्यु के बाद लौटकर राज्य भार ग्रहण करना। तब राजा ने ज्योतिषियों को बुलाकर अपनी मृत्यु के बारे में पूछा—ज्योतिषियों ने कहा कि आप १२ वर्ष जीयेंगे। यह सुनकर राजा ने कहा—

हे वत्स बारह वर्ष बीतने पर यहाँ आना और राज्य का भोग करना। पिता के कथन को स्वीकार कर वे दोनों लड़के रोते हुए राजमहल से नीचे उतरे उधर सीता देवी ने भी पिता से आज्ञा ली कि मैं भी भाइयों के साथ वन को जाऊँगी। ऐसा कहती हुई पिता को प्रणाम कर रोती हुई घर से निकली। इससे बाद वे तीनों घर से निकल पड़े, किन्तु साथ बहुत से लोग थे। परन्तु सभी को मार्ग से लौटा कर पूरब की ओर हिमालय पहुँच गये और आश्रम बना कर निवास करने लगे।

नौ वर्ष बाद दशरथ पुत्र शोक के कारण मर गये। उनके शरीर-कृत्य को समाप्त कर रानी अपने पुत्र भरत को सिंहासन पर बैठने में असफल होगी, क्योंकि मन्त्री और न्यायप्रिय भरत इसका विरोध करते हैं। तब भरत चतुरंगिणी सेना के साथ राम को पुनः लौटाने के उद्देश्य से आश्रम के पास अपनी सेना को रोक कर राम के पास अपने अमात्यों के साथ जाते हैं। उस समय राम अकेले हैं। भरत पिता की मृत्यु की सूचना देकर रोने लगते हैं। राम-पण्डित न शोक करते हैं और न रोते हैं (राम पंडितो नेव सोचि न रोदि)। जब सन्ध्या हुई तब लक्ष्मण और सीता फल लेकर जंगल से लौटते हैं और वे पिता का देहान्त सुनकर काफी शोक करते हैं। इस पर राम पण्डित उनको धैर्य एवं साहस प्रदान करने के लिए अनित्यता का धर्मोपदेश सुनाते हैं; उसे सुनकर उन दोनों के शोक का निवारण हो जाता है।

परन्तु बाद में भरत के बहुत प्रार्थना करने पर भी राम पण्डित वन में ही रहने का निश्चय करते हैं। राम ने कहा कि मेरे पिता ने हमें बारह वर्ष के बाद राज्य भार ग्रहण करने का आदेश दिया था। अभी तीन वर्ष बाकी हैं। ऐसी स्थिति में यदि इस समय लौटकर वाराणसी जाऊँ तो मैं पिता की आज्ञा का पालने वाला नहीं हो सकता। जब भरत भी राज्य भार ग्रहण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तब राम पण्डित अपनी पादुकाएँ देकर कहते हैं—मेरे आने तक ये शासन करेंगी।

पादुकाओं को लेकर भरत, लक्ष्मण, सीता तथा अन्य लोगों के साथ वाराणसी लौटते हैं

और पादुकाओं के द्वारा राज्य का शासन सम्पन्न करने लगे हैं। अमात्य राजसिंहासन पर पादुका रखकर निर्णय किया करते थे। यदि निर्णय ठीक नहीं होता था तब पादुका आपस में टकराने लगती थीं तब लोग फिर से निर्णय करते थे। यदि निर्णय उचित एवं न्यायपूर्ण होता था तब पादुकाएँ चुप रहती थीं। राम पण्डित तीन वर्ष के बाद वन छोड़कर वाराणसी आते हैं और अपनी बहन सीता से विवाह करते हैं। भरत द्वारा अभिषेक हो जाने पर राम अलंकृत रथ पर सवार होकर नगर की प्रदक्षिणा करते हुए सुचन्दक महल में प्रवेश करते हैं तथा सोलह सहस्र वर्ष तक धर्म पूर्वक राज्य करने के बाद स्वर्ग को चले जाते हैं।

तीसरी शताब्दी ई० में 'अनामकं जातक' का कांग-सेंग-हुई द्वारा चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। मूल भारतीय पाठ अप्राप्य है। चीनी अनुवाद लियेऊ तू त्सी किंग नामक पुस्तक में सुरक्षित है।[1] इस जातक मे किसी भी पात्र के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है लेकिन राम और सीता का वनवास, सीताहरण, जटायु का वृतान्त, वालि और सुग्रीव का युद्ध, सेतुबन्ध, सीता की अग्नि-परीक्षा, इन सबों के संकेत मिलते हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि राम को माता के कारण वनवास नहीं दिया जाता है। वे अपने मामा के आक्रमण की तैयारियाँ सुनकर स्वेच्छा से अपना राज्य छोड़ देते हैं।

बौद्धों की तरह जैनियों ने भी रामकथा को अपनाया। जैनियों ने रामकथा के पात्रों को अपने धर्म में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और साथ ही राम, लक्ष्मण और रावण न केवल जैन-धर्मावलम्बी माने जाने लगे, बल्कि तीनों को जैनियों के त्रिषष्टि महापुरुषों में भी रख गया। इन महापुरुषों का सविस्तार उल्लेख पहले-पहल त्रिषिष्टिलक्षण-महापुराण में मिलता है। उत्तरचरित (पर्व ७८-११८) में उल्लेख किया गया है कि राम और लक्ष्मण के साकेत लौटने के बाद भरत वैराग्य ले लेते हैं साथ ही इसमें लक्ष्मण के राज्याभिषेक तथा विद्याधर राजाओं पर विजय का उल्लेख किया गया है। लक्ष्मण की १६००० पत्नियाँ (जिनमें से विशल्या आदि ८ पटरानियाँ हैं) तथा राम की ८००० पत्नियाँ बताई गयी हैं जिनमें से सीता, प्रभावती आदि मुख्य हैं (पर्व ८५-६१)। सीता के पुत्रों के नाम लवण तथा अकुश माने गये हैं। वे नारद के इधर-उधर लगाने पर अयोध्या में राम और लक्ष्मण से युद्ध करने आते हैं। इस संग्राम के बाद सुग्रीव, हनुमान, विभीषण आदि के निवेदन पर राम सीता को बुला भेजते हैं, किन्तु वह सीता से सतीत्व का प्रमाण चाहते हैं। सीता अग्नि-परीक्षा में सफल होकर दीक्षा लेती है और स्वर्ग में इन्द्र बन जाती है।

जर्मनी के प्रसिद्ध डॉ० ए० वेबर का कहना है कि बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथ जातक' में वर्णित रामकथा की शिक्षा को अपनाकर आदि कवि ने अपने ढंग से उसको रामायण में सविस्तार वर्णन किया है। लेकिन वेबर साहब का इस सम्बन्ध में मन्तव्य है कि उक्त बौद्ध ग्रन्थ में अनुपलब्ध सीताहरण की गाथा को आदिकवि ने सम्भवतः होमर काव्य के 'पैरिस द्वारा हेलेन का अपहरण' प्रसंग से और लंका युद्ध को सम्भवतः यूनानी सेना द्वारा 'त्राप का अवरोध' प्रसंग से लिया है। इनकी उत्पत्ति भारतीयों के मस्तिष्क से नहीं हुई। इस मत के अनुसार रामकथा के दो प्रमुख स्रोत हो जाते हैं—दशरथ जातक और होमर का काव्य। दशरथ जातक रामकथा का मूलस्रोत है। इससे तो अधिकांशतः विद्वान् सहमत हैं लेकिन होमर के काव्य को रामायण अथवा रामकथा का एक आधार मानने के लिए डॉ० वेबर को छोड़कर अन्य कोई भी विद्वान तैयार नहीं है।[2]

---

१ चीनी तिपिटक का तैशो संस्करण, न० १५२

२ ई० के० टी तेलांग : रामायण कॉपीड फ्राम होमर, बम्बई-१८७३
एम मोनियर विलियम्स : इंडियन विजडम, पृष्ठ ३१६, दि० १
एच० याकोबी : वही, पृष्ठ ६४ आदि
ए० ए० मैकडॉनल : संस्कृत लिटेरचर, पृ० ३०८

चिन्तामणि वैद्य ने भी अपने रामायण रहस्य (Riddle of Ramayan) नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में इसका खण्डन किया है।

कामिल बुल्के साहब का मन्तव्य है कि होमर तथा वाल्मीकि की रचना में जो साम्य मिलता है (स्त्री का हरण तथा धनुषसंधान) वह इतना सामान्य और साधारण है कि जब तक अन्य विशेषताओं में कोई साम्य नही मिलता तब तक पारस्परिक प्रभाव मानने की आवश्यकता नहीं। डॉ० वेबर ने बौद्ध साहित्य में होमर के अन्य वृत्तान्त भी दिखलाए हैं, लेकिन ये उद्धरण पहले-पहल महावंश तथा बुद्धघोष की रचना में विद्यमान हैं। ये दोनों ग्रन्थ पाँचवीं श० ई० के हैं। अतः इनकी रचना वाल्मीकि से आठ शताब्दियों के बाद हुई थी। इनसे वाल्मीकि के मूलस्रोत के लिए कोई प्रमाण नहीं मिल सकता।[१]

श्री दिनेश चन्द्र सेन इस सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण सामने लाये हैं। इनका मन्तव्य यह है कि रामकथा का पहला भाग बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथ जातक' से पूर्णरूपेण प्रभावित है, जिसका व्यापक प्रसार एवं प्रचलन उत्तर भारत में था। और दूसरा भाग रावण सम्बन्धी आख्यानों से प्रभावित है, जिसका प्रचलन दक्षिण मे अधिक था।[२] किन्तु सेन साहब का यह मत अधिक लोकप्रिय, स्थायी एवं सर्वसम्मत होने में असमर्थ रहा।

डॉ० एच० याकोबी ने भी रामकथा के वर्ण्य-विषय को दो भागों में विभाजित किया है। उनका कहना है कि रामायण की रामकथा स्पष्टतया दो स्वतन्त्र भागों के संयोग से उत्पन्न हुई है। प्रथम तो अयोध्या की घटनाएँ, जिनका केन्द्र दशरथ हैं और द्वितीय दण्डकारण्य एवं रावणवध सम्बन्धी घटनाएँ हैं। अयोध्या की घटना को वे ऐतिहासिक मानते हैं जिनका आधार किसी निर्वासित इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमार से है और दण्डकारण्य एवं रावणवध सम्बन्धी घटनाओं का मूल उद्‌भव वेदों में वर्णित देवताओं की कथाओं से हुआ। याकोबी साहब के इस नवीन विचार को बहुत से विद्वानों ने पसन्द किया और जोरदार समर्थन किया।[३]

द्वितीय भाग का निर्धारण करने के लिए याकोबी साहब वैदिक साहित्य का सहारा तो लेते हैं, लेकिन वैदिक काल में न तो रामायण था और न रामकथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रचलित थीं। डॉ० याकोबी इस निर्णय से असहमत नहीं दिखते; किन्तु स्वीकार करते हुए भी कि सीता, कृषि की अधिष्ठात्री देवी, का वैदिक साहित्य में न तो कोई चरित्र-चित्रण मिलता है और न इनके विषय में कोई कथावस्तु ही मिलती है और न ही इनकी ऐतिहासिकता का कोई प्रमाण मिलता है, फिर भी वैदिकी सीता के व्यक्तित्व से रामायण की सीता विकसित हुई और वैदिक साहित्य में राम-कथा के द्वितीय भाग का सूत्रपात मिलता है, ऐसा उनका विश्वास है।

डॉ० याकोबी साहब का मन्तव्य यह है कि रामायण के प्रधान पात्रों का प्रतिबिम्ब वैदिक साहित्य के देवताओं में देखा जा सकता है। रामायण की सीता की अभिन्नता असदिग्ध है। इसके अतिरिक्त गृह्य सूत्रों में सीता 'पर्जन्यपत्नी' तथा इन्द्रपत्नी कही गई हैं। 'राम इन्द्र के एक अन्य रूप मात्र हैं। वैदिक काल के पशुपालन करने वाले आर्यो के देवता इन्द्र बाद के कृषकों के लिए परिवर्तित होकर राम बन गए हैं। पूर्व भारत में वह 'राम दाशरथि' के रूप में तथा पश्चिम में बलराम के रूप में स्वीकृत किये गये थे। बलराम और इन्द्र दोनों मद्यम हैं। यह विशेषता उनकी

१ फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १०३
२ दि बंगाली रामायन्स, पृष्ठ ७ आदि
३ चन्द्रभान : वैदिक साहित्य में रामकथा की खोज। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, पृष्ठ ३०१-३०५

मौलिक अभिन्नता की ओर निर्देश करती है। [डॉ० याकोबी राम दाशरथि और इन्द्र की अभिन्नता को प्रमाणित करने के लिए इन्द्र के दो महत्त्वपूर्ण कार्यों का अवलोकन रामायण में करते हैं।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रासुर का वध वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है।[१] सायण के मतानुसार वृत्र का अर्थ मेघ है जिसमें पानी वृत्र ही के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। अतः रावण और वृत्र का मूलरूप एक है। इसके अन्य लक्षण भी मिलते हैं—रावण के पुत्र मेघनाद की उपाधि इन्द्रजित है और उसका भाई कुम्भकर्ण एक गुफा में रहकर वृत्र का स्मरण दिलाता है। इन्द्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पणियों द्वारा चुराई गायों की पुनः प्राप्ति है (ऋग्वेद २, १२)। देवशुनी सरमा, रसा नदी को पार करके इन गायों का पता लगाती है (ऋग्वेद १०, १०८)। वैदिक काल के पशुपालन करने वाले आर्यों के लिए गायों का जो स्थान था, वही कृषकों के लिए खेतों की सीता का था। फलस्वरूप गायों का हरण 'सीताहरण' में बदल गया। जिस तरह से सरमा इन्द्र की सहायता करती है, उसी तरह हनुमान् राम के लिए सीता की खोज करते हैं।

डॉ० याकोबी का हनुमान् के सम्बन्ध में मंतव्य है कि हनुमान की व्यापक लोकप्रियता का एकमात्र कारण उनका रामायण में चरित्र-चित्रण नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि प्राचीन यक्ष-पूजा के साथ हनुमान् का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। याकोबी साहब का मत है कि हनुमान् कृषि सम्बन्धी कोई देवता थे, सम्भवतः वर्षाकाल के अधिष्ठाता देवता। लेकिन वर्षाकाल के किसी अधिष्ठाता देवता अथवा इन्द्र से हनुमान् की अभिन्नता का कहीं भी प्रमाण क्या संकेत मात्र भी नहीं मिलता।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि राम कथा की उत्पत्ति और इसके मूलरूप के सम्बन्ध में डॉ० याकोबी का मत अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता।

ई० हॉप्किंस के मतानुसार महाभारत के शान्ति पर्व में जो रामकथा मिलती है इससे डॉ० याकोबी के मत की पुष्टि हो जाती है। इस कथा में जो राम का चरित्र मिलता है वह किसी प्राचीन देवता सम्बन्धी आख्यान पर निर्भर होगा। बाद में इसमें सीता, कृषि की अधिष्ठात्री देवी की कथा जोड़ दी गई है और अन्त में वाल्मीकि ने रावण, हनुमान्, लंका आदि के वृतान्त लेकर उसे और विस्तृत किया।[२]

डॉ० वान नेगैलीन के मतानुसार भी रामकथा वैदिक-साहित्य की सामग्री से विकसित हुई है।[३]

रामकथा की उत्पत्ति इक्ष्वाकु वंश द्वारा हुई।[४] अतः इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों ने इनके विषय में गाथाएँ गीतों के रूप में प्रसारित किया। वाल्मीकि राम के समकालीन थे, यह केवल इस बात का सूचक है कि कवि प्रतिभा बीते हुए समय के प्रत्यवाय को स्वीकार नहीं करती। रामकथा इक्ष्वाकु-वंश के चारणों द्वारा निरन्तर पाली-पोसी जाती हो। गृहकलह से उत्पन्न राजनीति में राम लिप्त नहीं हुए, उन्होंने वनवास को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया। राज्य लिप्सा से मुक्त राम की असाधारण मनोवृत्ति ने बहुत से चारणों एवं ऋषियों को प्रभावित किया।

---

१ ऋग्वद १, ३, २,
२ ई० डब्लू हॉप्किंस : ज० अ० ऑ० सो०, भाग ५०, पृष्ठ ८५ आदि
३ दे० वान नेगैलाइन : वियेना ओरियेंटल जर्नल, भाग १६, पृष्ठ २२६
४ इक्ष्वाकूणामिदं तोषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्। (वा० रा० बालकाण्ड १।५।३)

महाभारत के द्रोणपर्व तथा शान्तिपर्व में जो रामकथा का उल्लेख किया गया है, वह इस प्राचीन आख्यान काव्य पर निर्भर प्रतीत होता है। केवल इन दोनों पर्वों की रामकथाओं का अन्तर इतना ही है कि शान्तिपर्व में रामकथाओं का वर्णन नहीं के बराबर है। केवल राम राज्य तथा राम की महिमा का उल्लेख किया गया है १४ वर्ष के वनवास का वर्णन किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि लेखक रामकथा से अपरिचित नहीं था। महाभारत के वनपर्व में रामोपाख्यान को एक अति प्राचीन ऐतिहासिक कथानक के रूप में स्मरण किया गया है, जिससे विदित होता है कि महाभारत-काल तक रामायणी कथा अपना ऐतिहासिक महत्त्व धारण कर चुकी थी। परन्तु जो कुछ भी हो महाभारत में रामकथा की उपस्थिति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि राम सम्बन्धी आख्यान-काव्य का प्रचार कोशल राज्य तक सीमित न होकर बल्कि पश्चिम की ओर भी हो चुका था। हरिवंश से ज्ञात होता है कि रामायण की कथा को लेकर प्राचीन काल से नाटकों का अभिनय भी हुआ करता था—

रामायणं महाकाव्य मुद्दिश्य नाटकं कृतम्।
जन्म विष्णोरमेयस्य राक्षसेंन्द्रवधेप्सया ।। ६ ।।

(विष्णुपर्व, अध्याय ९३)

महाभारत हमें यह भी हवाला देता है कि वाल्मीकि मुनि से पूर्व सूतों एवं कुशीलवों द्वारा प्रसारित रामकथा सम्बन्धी आख्यानों का संकलन कर किसी दूसरे ही मुनि-महर्षि ने रामायण काव्य की रचना की। उनका नाम सम्भवतः भार्गव च्यवन था; परन्तु वहीं महाभारत से यह भी पता चलता है कि भार्गव च्यवन महर्षि के पुत्र थे। बौद्ध महाकवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से हमें महाभारतकार के उपर्युक्त कथन की सत्यता इस रूप में प्रमाणित होती है कि च्यवन महर्षि जिस रामकथा की रचना को पूरा नहीं कर सके, उसे वाल्मीकि ने पूरा किया। सम्भवतः यही कारण है कि आगे चलकर च्यवन और वाल्मीकि को भ्रमवशात् एक नाम से सम्बोधित किया गया। इतिहासकारों ने वाल्मीकि मुनि का भृगुवंशीय और उनके पूर्ववंशज द्वारा रामायण की रचना का उल्लेख किया है। राम के समय में वाल्मीकि नाम के भृगुवंश के मुनि थे। उन्होंने या उनके किसी वंशज ने सबसे पहले राम के उपाख्यान को श्लोकबद्ध किया। वह रचना शायद एक सीधी-सादी ख्यात थी, जिसके आधार पर बाद में वाल्मीकि रामायण लिखी गयी।

हम तो यह कह सकते हैं—किसी कवि ने जिस दिन रामकथा से सम्बन्धित स्फुट आख्यान काव्य का संकलन कर उसे एक ही कथा सूत्र में ग्रथित करने का प्रयास किया था, उस दिन रामायण उत्पन्न हुआ। वह कवि कौन था? हमारी प्राचीनतम परम्परा वाल्मीकि को आदि कवि के रूप में स्वीकार करती है। युद्धकाण्ड की फलश्रुति में उल्लेख है :—

"आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।।" १०५।। (सर्ग १२८)

रघुवंश के अध्ययन से भी पता चलता है कि कालिदास ने भी वाल्मीकि को आदि कवि की उपाधि से विभूषित किया है।

इसलिए पर्याप्त अन्तरंग प्रमाणों के अभाव में भी यदि यह बात मान ली जाय कि वाल्मीकि मुनि से पहले भार्गव च्यवन ने रामकथा को काव्यरूप में निबद्ध किया और वाल्मीकि मुनि ने बाद में अपने ढंग से उसका विकास 'रामायण' की रचना कर किया, तो अनुचित न होगा। यदि च्यवन ऋषि ने सचमुच ही रामकथा को काव्यरूप दिया हो तो उस कथा को 'आदि रामायण' कहा जा सकता है। जिस प्रकार वाल्मीकि से पहले रामकथा मौखिक रूप में वर्तमान थी, उसी प्रकार दीर्घकाल तक वाल्मीकि रामायण भी मौखिक रूप में जीवित रही है। वाल्मीकि द्वारा रामायण काव्य की रचना हो जाने के बाद उसको सर्वप्रथम कुशलव ने गा-गाकर सुनाया। बालकाण्ड तथा

उत्तरकाण्ड में लिखा है कि वाल्मीकि ने अपने शिष्यों को रामायण सिखला कर उसे राजाओं, ऋषियों तथा जनसाधारण को सुनाने का आदेश दिया—

कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परमा मुदा ॥ ४ ॥
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणवसथेषु च ॥
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च ॥ ५ ॥ (उत्तरकाण्ड ९३)

[अर्थात् तुम दोनों भाई एकाग्रचित्त हो सब ओर घूम-फिर कर बड़े आनन्द के साथ सम्पूर्ण रामायण-काव्य का गान करो। ऋषियों और ब्राह्मणों के पवित्र स्थानों पर, गलियों में, राजमार्गों पर तथा राजाओं के वास स्थानों में भी इस काव्य का गान करना।]

इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि रामायण मौखिक रूप से प्रचलित था और कुशीलव सम्पूर्ण देश में इसे गाकर सुनाते थे और इस प्रकार अपनी जीविका चलाते थे और बाद में लोक-रुचि की तुष्टि के लिए कुशीलवों ने कंठस्थ कर वर्षों तक उसको मौखिक रूप में जीवित रखा। कुशीलव रामायण को मौखिक गाते समय अपने श्रोताओं की रुचि का भी ध्यान रखे होंगे। जिन गायकों में काव्य-कौशल था, वे लोकप्रिय अंशों को बढ़ाते थे और इसी तरह आदि रामायण का कलेवर बढ़ने लगा।[1]

वाल्मीकि-रामायण की कथा लम्बे समय तक मौखिक रूप में सुरक्षित रही, इसका प्रमाण हमें उसके संस्करणों को देखकर मिलता है। 'रामायण' के उपलब्ध संस्करणों का विश्लेषण करके विद्वानों ने उनमें पर्याप्त पाठभेद बताया है, जिसका कारण यह बताया जाता है कि वाल्मीकि-रामायण पहले-पहल मौखिक रूप में प्रचलित थी और विभिन्न परम्पराओं के अनुसार उसके संस्करण विभिन्नता से निर्मित हुए। रामकथा शुरू से ही भारत की संस्कृति में इतनी घुल-मिल गई कि राम ने उस समय के तीन प्रमुख धर्मों में एक अपना निश्चित स्थान प्राप्त कर लिया—ब्राह्मण धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्धधर्म में बोधिसत्व तथा जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में। आगे चलकर साहित्य की प्रत्येक शाखा में, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में तथा भारत के निकटवर्ती देशों में सर्वत्र रामकथा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

रामकथा के सम्बन्ध में उसके निर्माता को यह उक्त कि जब तक पर्वतों और नदियों का अस्तित्व इस पृथ्वी पर वर्तमान रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में बनी रहेगी, सर्वथा युक्त है। सहस्राब्दियों से आज तक वाल्मीकि की यह कृति भारतीय जन-मन के साथ एक प्राण होकर अपनी लोकप्रियता का एवं अपनी अतल भावनाओं का स्वयं द्योतन कर रही है।

रामकथा की लोकप्रियता

रामकथा जहाँ एक ओर भारत के सांस्कृतिक इतिहास का एक प्रमुख स्रोत बनी हुई है, वहीं दूसरी ओर उसमें मत वैभिन्न्य के कारण विचारमंथन की व्यापक संभावनाएँ भी हैं। न केवल विदेशों में रामकथा के विभिन्न रूप प्रचलित हैं बल्कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित सभी रामायणों की कथावस्तु में भी अन्तर देखने को मिलता है; किन्तु अन्तर्विरोधों के बावजूद रामकथा की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई है। भारत और भारत के बाहर वह जनजीवन को प्रभावित करती रही है। वाल्मीकि रामकथा के पुरोधा थे; परन्तु वाल्मीकि के ही उल्लेखों से लगता है कि उन्होंने राम का परिचय नारद से प्राप्त किया; यानि वाल्मीकि के पहले भी रामकथा की परम्परा चली आ रही थी।

उस युग में जब राज सत्ता पर अधिकार करना हर बलवान का कार्य होता था, राज-पाट

---

१ डॉ० एच याकोबी : उस रामायण, पृष्ठ ९२-३

के लिए आत्मीय जनों के खून की होली खेली जाती थी और सामन्ती वातावरण में छल-कपट, साम-दाम जैसे भी हो, सत्ता हथियाना शौर्य और चातुर्य का सूचक माना जाता था, तब एक ऐसा व्यक्ति भी निकला जिसने राजपाट से यों मुख मोड़ लिया, जैसे उसका कोई मूल्य ही न हो। यह कितनी अद्भुत बात थी। अद्भुत इसलिए थी कि पहली बार समाज ने देखा कि मनुष्य का अन्तस्तल कितना विशाल होता है, अपने भीतर के मानस में इतने बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं कि उनकी ओर दृष्टि जाते ही बाहरी रत्नों की चमक धूमिल लगने लगती है। मानसिक खान के सुवर्ण में जो आभा है, वह असली सोने की चमक पर भी बिजली की कौंध की तरह छा जाती है। राम के भीतर का मनुष्यत्व राजसत्ता की चमक-दमक से अप्रभावित रहने वाला ऐसा ही पारस मणि था, जिसके सम्पर्क में जो भी आया, अपने भीतर की चेतना के अनोखे प्रकाश को देखने में समर्थ हुआ!

रामकथा से सम्बन्धित काव्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण यह रहा कि उसमें बुराई पर अच्छाई की विजय दिखाई गई है। न केवल उसके नायक राम को लोग भगवान मान कर पूजा करते हैं बल्कि रामायण ग्रन्थ भी पूजा का पात्र बन गया है और धर्मप्राण लोग किसी भी रूप में रामायण की अवमानना से क्षुब्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं रामायण में उल्लिखित स्थान भी तीर्थ स्थल बन गये हैं। लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक परम्पराओं आदि के माध्यम से रामकथा लोक जीवन में इतनी दूर तक समा गई है कि उसे अब लोक जीवन से अलग करने की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

रामकथा शताब्दियों से भारत ही नहीं थाईलैण्ड, कम्बोडिया, बर्मा, मॉरीशस, फिजी, गुआना, ट्रिनिडाड आदि के भी जनजीवन की प्रेरणा स्रोत रही है। भित्ति चित्र, मूर्तियाँ, काष्ठतक्षण, रामलीला तथा राम सम्बन्धी नृत्य-नाटिकाएँ अथवा छाया नाटक रामकथा से अनुप्राणित हैं। देखने में यह आया है कि भारत के बाहर रामकथा की सर्वाधिक लोक-प्रियता दक्षिणी-पूर्वी एशिया के उपर्युक्त देशों में है। यहाँ तक कि स्थानों और वहाँ के व्यक्तियों के नामों पर भी भारतीय संस्कृति, सभ्यता और राम कथा का बहुत ही सुन्दर प्रभाव पड़ा है।

कम्बोडिया में सन् ७०० के आस-पास रामायण प्रसिद्ध थी। वहाँ के एक मन्दिर को भारत से रामायण एवं पुराण भेंट में मिलने के बारे में एक शिलालेख आज भी है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा प्रकाश धर्म के समय में एक बाल्मीकि-मन्दिर का निर्माण किया गया था। अंगकोरवाट के प्रसिद्ध मन्दिर में समग्र लोक-लीला का निरूपण करने वाले बहुसंख्यक शिल्प-चित्रों में रामायण के कथा-प्रसंगों के शिल्प चित्र हैं। कम्बोडिया के प्राचीन साहित्य की सर्वाधिक विख्यात रचना 'रामकेर्ति' है। इसका रचना काल और रचयिता दोनों ही अज्ञात हैं। इसकी प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ १७वीं शताब्दी की हैं, पर सभी अपूर्ण हैं। 'रामकेर्ति' के ८० सर्ग मिलते हैं और उसमें विश्वामित्र के यज्ञ से लेकर इन्द्रजित-वध तक की कथा है।

कम्बोज के निकटस्थ स्थान अनाम में १८वीं शताब्दी में एक संक्षिप्त राम-कथा का बाल्मीकि रामायण के साथ अत्यधिक साम्य था। विशेष अन्तर यह था कि रामकथा का भौगोलिक स्थान भारतीय नहीं, पर अनाम में स्थित स्थान है। कथा के अनुसार 'दशानन' का राज्य अनाम के उत्तरी भाग में और 'दशरथ' का दक्षिणी भाग में था, और रावण ने दशरथ के राज्य पर आक्रमण कर सीता का हरण किया था। स्वयं भारत में प्रचलित रामकथा की विविध परम्पराओं में कथान्तर, कथानकों के परिवर्तन, स्थानीय और प्रादेशिक अंशों के जुड़ाव और पाठांतर हैं।

(क) इण्डोनेशिया में रामकथा

रामकथा के प्रचार और लोकप्रियता के कारण इण्डोनेशिया में अनेक रामायणों की रचना की गई, जिनमें सबसे प्राचीन और समादृत योगेश्वर कृत रामायण 'काकविन'

है। उसके प्रति वहाँ के जनमानस को इतनी श्रद्धा है कि आज भी इण्डोनेशिया के शासक वर्ग के शपथ ग्रहण के समय 'रामायण काकविन' में उल्लिखित अष्टव्रतों की शपथ ली जाती है जो राम ने विभीषण के राज्याभिषेक के समय उपदेश रूप में कहे थे। इण्डोनेशिया के राम नाट्य की सभी शैलियों में 'रामायण काकविन' का पाठ अभिनय के साथ किया जाता है।

जावा में रामायण-कथा की दो परम्परायें हैं---प्राचीन परम्परा और उत्तरकालीन परम्परा। संस्कृत भाषा के गहरे प्रभाव से प्राचीन जावा-भाषा की एक साहित्यिक शैली बनी जिसे 'कवी' (कवि-भाषा) के रूप में जाना जाता है। इस 'कवी' में रचे काव्य को 'काकविन' कहते हैं। प्राचीन जावा भाषा में रचित राम कथा 'रामायण काकविन' नाम से जानी जाती है। 'काकविन' में भारतीय विषयों के अनेक ग्रन्थों का निर्माण एवं भाषान्तर कार्य हुआ है। 'रामायण काकविन' की रचना १०वीं शताब्दी के आस-पास मानी जाती है। आधुनिक अनुसंधान[1] द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि योगीश्वर इसके रचयिता नहीं हैं। 'काकविन' का लेखक अज्ञात ही है। वाल्मीकि रामायण इसका मुख्य आधार है, पर वस्तु संकलना के लिए कुल २६ सर्गों में से पहले के १५ सर्ग तक भट्टि के संस्कृत महाकाव्य 'रावण-वध' अथवा भट्टिकाव्य' पर आधारित हैं।[2] रामायण की कथा का वर्णन करने वाले 'भट्टिकाव्य' में एक व्याकरण-सूत्र का विनियोग संस्कृत में किस प्रकार होता है, इसके उदाहरण दिये गये है। इसकी रचना ई० ५०० एवं ६५० के बीच कभी गुजरात के ऐतिहासिक नगर वलभी में हुई थी।

'रामायण काकविन' के अध्ययन से पता चलता है कि उसके रचयिता के पास बहुत ही सुकोमल कवि-हृदय है और समुचित काव्य-क्षमता, जबकि 'भट्टिकाव्य' व्याकरण नियमों को समझाने की दृष्टि से लिखी गई एक शुष्क-सी रचना है। 'भट्टिकाव्य' के कथानक में वाल्मीकि-रामायण से कहीं-कहीं अन्तर दृष्टिगोचर होता है, उनमें से कुछ प्रसग 'रामायण काकविन' में भी मिलते हैं जैसे राम-रावण युद्ध के बीच में सीता को राम का मायामय कटा हुआ सिर दिखाया जाता है अथवा इन्द्रजित युद्ध स्थल के ऊपर राम को दिखाते हुए माया सीता को तलवार से काटता है। युद्ध के बीच इन्द्रजित के 'नागपाश' से राम-लक्ष्मण दोनों मूच्छित होते हैं। परन्तु इन परिवर्तनों के आधार पर काकविन को 'भट्टिकाव्य' का अनुवाद मानना बहुत बड़ी भूल है। सम्भव है वाल्मीकि-रामकथा में ये परिवर्तन लोककंठ में आकर और नाट्य-प्रदर्शन के दौरान घटित हुए हों। इसी से यह परिवर्तित रूप 'भट्टिकाव्य' और रामायण-काकविन दोनों में ही मिलता है।

कथानक के कुछ परिवर्तन ऐसे भी हैं जो 'रामायण काकविन' में तो है, परन्तु, प्रदर्शन में ग्राह्य न हो सके। सीता स्वर्ण मृग के पीछे गये राम की रक्षा के लिए जब लक्ष्मण को हठपूर्वक भेजती हैं, तो लक्ष्मण उन्हें शाप देते हैं कि तुम मुझ पर संदेह करती हो अतः कभी सुख से नहीं रह सकोगी अथवा सीता हरण के समय रावण भिक्षुक संन्यासी के रूप में आकर सीता से पहले प्रणय-याचना करता है और उसके अस्वीकार करने पर खींच ले जाता है। काकविन के ये दोनों ही प्रसंग अभिनय में प्रस्तुत नहीं होते, बल्कि इन प्रसंगों से सम्बन्धित कथा का सुपरिचित रूप ही प्रस्तुत होता है। ऐसा लगता है कि प्रस्तुतीकरण में परिचित कथानक में वही परिवर्तन स्वीकार किये गये, जो जनता के बीच ग्राह्य हो सकते थे।

---

१ डच ओरियेन्टल जर्नल, भाग ७३-६४
२ श्री मनमोहन घोष ने इस विशेषता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। देखिए : जर्नल ऑव ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, भाग ३, पृष्ठ ११३।

युद्ध के वर्णन में रामायण काकविन अधिक विस्तार में जाता है, जिससे भट्टिकाव्य के २२ सर्गों की सामग्री २६ सर्गों में दी गयी है। दोनों रचनाओं में युद्धकाण्ड की कथा तक उल्लेख किया गया है। कामिल बुल्के के मतानुसार काकविन की दो विशेषताएँ अन्यत्र नहीं मिलतीं। शबरी राम से अपनी कथा सुनाती हुई कहती है कि विष्णु बाराहावतार में मेरी माला खाई थी और मर गये थे, तब मैंने उनकी लाश खाई थी और इसके फलस्वरूप मेरा मुख काला बन गया है। अन्त में वह राम से अनुरोध करती है कि वह उसका मुख पोंछ कर उसे शुद्ध करें। इसके अतिरिक्त इन्द्रजित की सात पत्नियों का उल्लेख हैं, जो अपने पति की ओर से युद्ध करती हैं और रण भूमि में मारी जाती हैं। रामायण काकविन की अन्तिम विशेषता त्रिजटा का अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

काकविन का रचयिता पहले १५ सर्ग के पश्चात् की कथा संकलना में 'भट्टिकाव्य' का अनुसरण नहीं करता, इस बात पर आश्चर्य होता है। इसके कारण की खोज में कई अनुमान लगाये जाते हैं—रचयिता ने व्याकरण के अभ्यासी के रूप में 'भट्टिकाव्य' का सम्पूर्ण अध्ययन न किया होगा या फिर उसके पास 'भट्टिकाव्य' की हस्तलिखित प्रति अपूर्ण रही होगी अथवा प्रति के अन्त के कुछ पृष्ठ खो गये होंगे या संस्कृत के साथ में कोई व्याकरणगत सम्बन्ध न रखने वाली जावानीज भाषा में रामकथा लिखने के कार्य में व्याकरण-काव्य का आधार लेना बाद में उसे निरर्थक लगा होगा। २१वें सर्ग में इन्द्रजित के नागपाश में बँधे राम और लक्ष्मण विष्णु-प्राथना करते हैं। इस प्रसंग में गीता के दसवें अध्याय 'विभूतियोग' का गहन शाब्दिक प्रभाव प्रतीत होता है, ऐसा पिछले दिनों एक अमेरिकी विद्वान बेरेंड नूट ने 'जर्नल ऑव दि ओरियन्टल इंस्टीट्यूट' के मार्च १९७४ के अंक में प्रकाशित अपने लेख में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है। भारतीय साहित्य और विचार प्रणाली के विविध प्रवाह काकविन रचयिता ने आत्मसात् किये थे, ऐसा अनुमान लगाना उपर्युक्त कारणों से सही प्रतीत होता है।

सोहलवीं शताब्दी में जावा में हिन्दू राज्य का अन्त हुआ और इस्लाम का प्रसार होने के बाद जीवन और संस्कृति पर हिन्दू प्रभाव कम होने पर जो साहित्य रचा गया उसे नूतन जावानीज कहा जाता है। इसी बीच रामायण की उत्तरकालीन परम्परा का 'सेरतराम' रचा गया। यह भी रामायण काकविन की तरह वाल्मीकि कथा से बहुत कुछ मिलता है। प्रारम्भ में रावण-चरित का उल्लेख है जो रामायण में नहीं पाया जाता है। 'सेरत राम' पद्य में है और इसके कवि का नाम 'यस दि पुरा' है। यह प्राचीन जावानीज 'रामायण काकविन' के आधार पर लिखे जाने पर भी स्थानीय कथांश इसमें काफी परिमाण में आ गये हैं।

प्राचीन जावानीज में संस्कृत रामायण के उत्तरकाण्ड का एक गद्य सार रूप में मिलता है। उत्तरकाण्ड का इसकी अपेक्षा संक्षिप्त सार देने वाली एक रचना बाली के प्राचीन साहित्य में भी है। इसके अतिरिक्त एक 'रचित रामायण'[१] (अथवा कवि जानकी) भी पाया जाता है जिसके १०१ श्लोकों में रामायण के प्रथम छः कांडों की कथा के साथ व्याकरण के उदाहरण भी दिये गये हैं। श्री हिमांशु भूषण सरकार[२] जावा की प्राचीन भाषा (कवि) की तीन और रचनाओं का उल्लेख करते हैं—

(i) ११वीं शताब्दी का सुमनसांतक काकविन जिसका वर्ण्य विषय है इन्दुमती का जन्म, अज से उसका विवाह तथा दशरथ का जन्म।

१ संस्कृत टेक्स्ट्स फ्रॉम बाली, पृ० ८६; गायकवाड ओरियंटल सीरिज।
२ इण्डियन इन्फ्लुएन्सेस ऑन दि लिटरेचर ऑव जावा एण्ड बाली। कलकत्ता १९३४, पृष्ठ २२४-२३१।

(ii) प्राचीन उत्तरकाण्ड पर आधारित हरिश्रय काकविन जिसमें विष्णु द्वारा माली तथा माल्यवान का वध वर्णित है। (१३वीं श० के बाद)।

(iii) अर्जुन विजय (१४वीं श०), जिसकी अधिकारिक कथावस्तु अर्जुन सहस्रबाहु द्वारा रावण की पराजय है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जावा हिन्दू राजवंश मजापहित का अन्त हुआ। १६वीं शताब्दी में जावा के भिन्न-भिन्न प्रदेश मुसलमानों द्वारा जीते जाने के बाद वहाँ का अन्तिम हिन्दू शासक पास के बाली द्वीप में चला गया। जावा में ही नहीं, वरन् बोर्नियो (वरुण द्वीप) सेलिबिस (शूलवेशी), सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) आदि में भी अनेक शताब्दियों से प्रचलित ब्राह्मण धम और बौद्ध धम धीरे-धीरे विलुप्त हो गये, पर ये अब भी बाली में और लोंबोक टापू के पाश्चमी भाग में जीवन्त स्वरूप म विद्यमान हैं। बाली में आज भी पूजा विधि में संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। बाली और जावा में एक समय संस्कृत में विपुल साहित्य रचा गया था, जिसमें कुछ तो अभी तक सुरक्षित हैं। इन कृतियों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से मिश्र स्वरूप की है। रामायण से सम्बद्ध साहित्य भी इसमें मौजूद है। 'चरित्र-रामायण' अथवा 'जानकि काव्य' में मातृका के अक्षरों (संस्कृत-वर्णमाला) का परिचय देने की दृष्टि से ५० श्लोकों में संक्षिप्त रामायण-कथा दी है।

अधिकांश नृत्य-नाट्यों (वजंग वोग) तथा छाया नाट्यों (वजंग-कुलित) की विषय वस्तु रामायण पर आधारित है। बाली में भी रामायण लोकप्रिय है। वहाँ के एक नृत्य कोट्नक में भी राम की कथा का प्रदर्शन किया जाता है। इस नृत्य में सभी नर्तक एक घेरे में बैठ जाते हैं और रामायण की कथा का अभिनय करते हैं। यह कथा 'सीता हरण' से आरम्भ होती है।

इण्डोनेशिया के मुस्लिम प्रान्तों में जावा का प्रमुख नगर 'जोगजकार्ता' रामायण का केन्द्र है। डॉ० इदुजा अवस्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के अनुसार रामायण अभिनय की परम्परा जोगजकार्ता में शताब्दियों से चली आ रही है—चर्म पुतलियों अथवा कठपुतलियों के माध्यम से अथवा मानव अभिनेताओं द्वारा रामायण के विभिन्न कथा प्रसंग दर्शकों का मन लुभाते रहते हैं। जनता के बीच चर्म पुतलियाँ-वायाग कुलित के प्रदर्शन-सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। रामायण के व्यापक प्रभाव का ही यह परिणाम है कि इण्डोनेशिया के आधुनिक नृत्य-नाट्य रूपों में रामायण नृत्य-नाट्य का प्रमुख स्थान है—

जोगजकार्ता से कुछ दूर स्थित प्रम्बनान के प्रसिद्ध शिव मन्दिर की प्राचीरों पर प्रत्येक पूर्णिमा पर चार दिन के लिए रामायण नाट्य प्रस्तुत होता है। रामकथा का लोकप्रियता और महत्त्व इस बात से भी प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ से ही इसमें जोगजा के सुल्तान परिवार क लोग अभिनय करते हैं। इस नृत्य नाट्य में सीता हरण से लेकर अग्नि परीक्षा तक के प्रसंग चार दिनों में प्रस्तुत किये जाते हैं। पहले दिन सीता हरण, दूसरे दिन लंका दहन, तीसरे दिन कुम्भकर्ण युद्ध और चौथे दिन राम-रावण युद्ध, रावण-वध और सीता की अग्नि परीक्षा प्रस्तुत की जाती है। कथा प्रसगों में हमारे यहाँ से अन्तर अधिक नहीं है, केवल कुछ नामों में अन्तर है जैसे सीता को शिता, बालि को सुबालि, लका को अलंका कहा जाता है। डॉ० इन्दुजा अवस्थी का कहना है राम-सीता के प्रति देवत्व की भावना तो नहीं पाई जाती परन्तु दर्शकों की ललक और अभिनताओं के गर्व को देखकर लगता है कि रामायण कथा के प्रस्तुतीकरण के प्रति सामान्य जनता मे बड़ा आदर भाव है।

प्रम्बनाम के इसी शिव मन्दिर की भीतरी भित्तियों पर समूची रामकथा चित्रित है। अब जावा में सभी लोग इस्लाम को अपना चुके हैं और इन मन्दिरों में पूजा नहीं होती पर भव्य विशाल शिव प्रतिमा और इसके निकट प्रस्तर खडों में अंकित रामकथा ऐसा प्रतीत होता है जैसे

शैव और वैष्णव परम्पराएँ एक होकर मूकभाव से रामायण संस्कृति का अनिवार्य प्रभाव व्यक्त कर रही हों। यहाँ तक कि सभी प्रमुख मन्दिरों अथवा दर्शनीय स्थलों पर रामायण-कथा के अंकित पट बिकते हैं। इन पर बड़ी कलात्मकता से राम-रावण युद्ध अथवा सीता की अग्नि परीक्षा आदि प्रसंग अंकित रहते हैं। इसके अतिरिक्त हड्डियों पर खुदाई करके राम सीता प्रतिमाओं का अंकन वाली भी प्रमुख कलाएँ हैं।

नयी दिल्ली स्थित इण्डिया इण्टरनेशनल सन्टर में आयोजित द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन (८-१२ दिसम्बर, १९७५) में इण्डोनेशियाई प्रतिनिधि सोवितो संतोषो न बताया कि काकविन रामायण के रचना काल को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है और कुछ विद्वान् उसकी रचना का समय बालितुन शासनकाल (८९८-९३० ईसवीं) मानते हैं। ऐसा भी माना जाता है कि काकविन रामायण के मूल रूप मे समय-समय पर सुधार होता रहा है जसा कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में लिखी गई वाल्मीकि रामायण में हुआ। इसी आधार पर श्री सन्तोषा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रामकथा बालितुन के शासन काल में मध्य और पूर्वी जावा में बहुत लोकप्रिय थी, भले ही उसका रूप वह न रहा हो जा काकविन रामायण में मिलना है। कुछ भी हो श्री संतोषो के शब्दों में, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि जावा की पुरानी रामायण प्राचीन इण्डोनेशिया की अन्य साहित्यिक रचनाओं से कहीं अधिक लोकप्रिय सुविदित और अध्ययन का विषय रही है। वह मतारम के 'महाराजा राका इ वातुकुरा द्याह बालितुन श्री धर्मोदय महासंबु के शासन काल से लेकर एक हजार वर्ष तक इण्डोनेशियाई लोगों के दिमाग पर छायी रही। हम पूर्वी जावा के प्रबनन शिव मन्दिर पेनातरन मन्दिर की तथा देवताओं के द्वीप (बाली) के कुछेक मन्दिरों की दीवारों को रामकथा से चित्रित देख सकते हैं। नायक राम के नाम का उल्लेख सभी कालों की साहित्यिक रचनाओं में हुआ है।

श्री संतोषो ने यह भी बताया कि वाल्मीकि रामायण और काकविन रामायण में समानता पायी जाती है। इस संदर्भ में राम-रावण युद्ध में इन्द्र द्वारा राम के लिए आयुधों से युक्त रथ भेजने और रावण वध के बाद अग्नि परीक्षा से पूर्व राम को सीता को न देखने के प्रसंग उल्लेखनीय हैं,

(ख) थाईलैण्ड में रामकथा

थाई साहित्य में रामायण को एक महत्त्वपूर्ण कथा का स्थान प्राप्त है। थाईदेश में रामकथा की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वहाँ विद्यालयों में बच्चों को रामायण पढ़ायी जाती है। थाई रंगमच में रामायण की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रही है। थाईलैण्ड में रामकथा को 'रामकिन' अथवा रामकीर्ति के नाम से जाना जाता है। इसकी रचना १८वीं शताब्दी में हुई थी, परन्तु रामायण लिखे जाने के पहले से जनता के बीच रामकथा प्रचलित हो चुकी थी। प्राचीन काल में थाईलैण्ड में सभी नाटक मुख्यतया रामकथा पर आधारित होते थे। 'रामकिन' की १७वीं शताब्दी के आस-पास की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं। अनेक ऐसी छोटी-छोटी कृतियाँ तब रची गईं जिनका विषय रामकथा की घटनाएं हैं। थाइलैण्ड (स्याम) मे रामायण का प्रभाव विविध रूपों में स्पष्ट है।

यहाँ के एक प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर 'वाट फाकेओ' 'एनिरान्ड बुद्ध' (बैंकाक) की दीवारों पर रामायण के थाई परम्परा से सम्बद्ध सैकड़ों रंगीन भित्तिचित्र अंकित हैं। 'नाग' अथवा 'नाङ् ाई' एक प्रकार का थाई छाया नाटक है। इसमें चमड़े की कठपुतलियों के सहारे राम की चिर-परिचित कथा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ का 'खोन' प्राचीन शास्त्रीय नृत्य है। इसके द्वारा भी रामलीला प्रदर्शित की जाती है। इस नृत्य में एक ओर नर्तक मुखौटे लगाकर नृत्य करते हैं तो दूसरी ओर गायक सामूहिक रूप से कथावस्तु का गायन करते जाते हैं। कथकली नृत्य की तरह यह नृत्य भी घटनाओं म बँटा होता है।

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बौद्ध मन्दिर में रामायण के इतने अधिक चित्र क्यों ? थाईलैण्ड में बौद्धधर्म फैला, उससे पूर्व वहाँ हिन्दू धर्म के साथ राम-कथा भी आयी थी और कालान्तर में स्थानीय संस्कृति का ही एक अंग बन गई थी। थाईलैण्ड के ऐतिहासिक शासकों का नाम देखें तो 'राम' नाम के शासक सम्भवतः सर्वाधिक हैं। अयुध्या अथवा अयुधिया काल (१४०९-१७६७ ई०) में रामकथा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यही कारण रहा कि अयुध्या के प्रथम राजा का नाम 'राम' था और उसकी राजधानी अयुध्या (अयोध्या) थी।

थाईदेश के रामायण के प्रसंग वाल्मीकि रामायण से काफी भिन्न हैं। डॉ० इन्दुजा अवस्थी का कहना है कि वे हमारे जैन रामायणों और कुछ पारंपरिक नाट्य रूपों में प्रस्तुत कथा प्रसंगों से मिलते हैं। जैन रामायणों के प्रभाव स्वरूप उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश की रामायणों और पारम्परिक रंगमंच में अन्तर आये हों और भारत के पश्चिमी तटों से व्यापार के कारण सम्पर्क और परिचय के कारण वहाँ के नाट्य रूपों के ये प्रसंगांतर थाइलैण्ड के रामायण प्रस्तुतीकरणों में समाविष्ट हुए होंगे। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। थाई रामायण में लक्ष्मण द्वारा सूर्पणखा के पुत्र के वध का उल्लेख है और यह कहा गया है कि शूर्पणखा अपने पुत्र की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए ही राम और लक्ष्मण के पास प्रेम याचना के बहाने आती है। यही कथा जैन रामायण 'पउमचरिअ' और तेलुगु तथा उडिया रामायणों में भी मिलती है तथा उन प्रदेशों के छाया नाटकों में अभिनीत होती है।

थाई देश की रामायण में सात काण्ड (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, आरण्यककाण्ड, किष्किधाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड) हैं। थाई रामायण के उत्तरकाण्ड में वर्णित सीता की परित्याग की कथा में सीता द्वारा रावण के चित्र बनाने का उल्लेख है, शूर्पणखा की बेटी दासी बनकर सीता के पास रहती है और उनसे रावण का चित्र बनवाती है, इसी बीच राम आ जाते हैं और देख लेते हैं। इसी से राम को सीता के पतिव्रता होने में संदेह होता है और वे सीता का परित्याग करते हैं। रावण का चित्र बनाने के कारण सीता के परित्याग की इससे मिलती-जुलती कथा जैन कहावली में और कर्नाटक के पारम्परिक नाट्य रूप यक्षगान में मिलती है। हनुमान् की कल्पना थाई रामायण में एक प्रेमी नायक के रूप में की गई है, उनका दमकता हुआ श्वेत वर्ण है (इण्डोनेशिया में भी हनुमान् को श्वेत ही दिखाया जाता है) और अपने सौंदर्य के कारण कई स्थानों पर कई स्त्रियों से उनका प्रेम सम्बन्ध होता है। सेतुबन्ध के अवसर पर मछलियों पर विजय प्राप्त करने के लिए हनुमान् सागर के भीतर प्रवेश करते हैं और मत्स्यसुन्दरी स्वर्णमत्स्या से विवाह करते हैं। अन्य अवसरों पर रावण की विधवा पुत्रवधू इन्द्र-जित की पत्नी से और विभीषण की पुत्री से भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। भारत में अधिकतर स्थानों पर हनुमान् की सकल्पना शुद्ध ब्रह्मचारी के रूप में की गई है, उनके प्रेम प्रसंगों का उल्लेख नहीं है। परन्तु, जैन रामायणों में हनुमान् के रसिक रूप की कल्पना मिलती है। राम सेना के लंका अवतरण के बाद विभीषण की पुत्री का सीता के शव के रूप में सागर में उतारने का प्रसंग भी परिचित रामकथा से भिन्न है।

इन भिन्नताओं के कारण यह स्पष्ट है कि थाईलैण्ड में रामकथा का स्रोत केवल वाल्मीकि रामायण ही नहीं, अन्य परम्पराएँ भी रही हैं जो एक ओर हमारे देश में जैन रामायणों और लोक-नाट्यों में प्रस्तुत हुई और दूसरी ओर देश की सीमा के पार आकर थाईलैण्ड के पारम्परिक रंग-मंच पर। थाईलैण्ड के विद्वान् श्री फराया अनुमानसतोन् के अनुसार रामकथा भारत से सीधे थाई देश नहीं आई, वह कोई ९०० वर्ष पूर्व इण्डोनेशिया से वहाँ पहुँची। उस काल के ध्वंसावशेषों में अनेक स्थलों पर रामकथा चित्रित पाई गयी है।

रामकथा का प्रभाव थाईलैण्ड की हस्तकलाओं पर भी दिखाई पड़ता है। वाटफो मन्दिर के भित्ति अलंकरणों की रविंग (अलंकरणों पर एक विशेष प्रकार के कागज को रख कर ऊपर से स्याही फेरते हैं, जिससे अलकृत चित्रों का अक्स कागज पर उतर आता है) तथा रामायण-दृश्यांकित लाख के पट बड़े कलात्मक होते हैं।

(ग) लाओस में रामकथा

लाओस का पूर्व नाम मुओङ्जीङ् था, जिसको संस्कृत में सुवर्ण भूमि प्रदेश कहते हैं। इस सुवर्ण भूमि में जो 'लव रामायण' प्रचलित है उसके मूल्यों, रीति-रिवाजों और चरित्रों में लाओस का जनजीवन प्रतिबिंबित हुआ है। उसमें नैतिक आचार संहिता का कट्टरता से पालन नहीं किया गया है जिसका उल्लेख वाल्मीकि ने अपनी रामायण में किया। 'लव रामायण' के राम और हनुमान् का एक से अधिक पत्नियाँ और उन पत्नियों से पुत्र हैं। लव रामायण के राम ने समुद्र पर सेतु नहीं बनाया बल्कि उन्हें समुद्र पार करने के लिए रावण ने नौका प्रदान की। रावण का यह आचरण इस बात का प्रतीक है कि शत्रुता क्षणिक होती है जबकि मित्रता स्थायी।

लाओस में रामायण के दो रूप प्रचलित हैं—एक शाही राजधानी में उपलब्ध लुआङ् प्रबङ् और दूसरा 'बीएनतियाने प्रदेश में प्रचलित वीएनतियाने रूप। लुआङ् प्रबङ् रूप वटपा के मन्दिर की भित्तियों पर चित्रित है जबकि वीएनतियाने रूप पाण्डु लिपि और भित्ति चित्र दोनों ही रूपों में उपलब्ध है। लुआङ् प्रबङ् रूप रामायण के भारतीय और थाई रूपों से मिलता-जुलता है। वीएनतियाने रूप 'पालाक पालाम' (प्रिय लक्ष्मण प्रिय राम) भी यद्यपि भारतीय रामकथा पर आधारित है, परन्तु, वह भारत की किसी रामायण का अनुवाद नहीं है। इसकी रचना १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने का अनुमान है। इसमें राम को वीएनतियाने के शक्तिशाली सम्राट के रूप में चित्रित किया गया है और यह तत्कालीन लाओस के इतिहास से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

फ्रेंच विद्वान एच० देदीये ने लाओस की रामकथा विषयक तीन प्राचीन रचनाओं की खोज की है—'तुआलाफी' (सं०-दुंदुभि), 'लंकानोय और पोम्मचका (सं०-ब्रह्मचक्र)। 'लंकानीय' में सीता को रावण की पुत्री माना गया है।

(घ) मलयेशिया में रामकथा

मलयेशिया में भी रामायण पर आधारित एक लम्बी कविता पायी जाती है जिसे 'स्पाइर-ओंग' कहा जाता है। इस कविता के राजा ओंग और उसके दो चचेरे भाई बहन हलम व चहाया हैं जो क्रमशः राम, लक्ष्मण और सीता के प्रतिरूप हैं। उसमें राजा ओंग की प्रेमिका और चचेरी बहन का अपहरण किया जाता है और जब वह उसे ढूंढ़ने निकलता है तो उसकी भेंट एक दानव कन्या से होती है जो उससे प्रेम करने लगती है। (यह दानव कन्या रामायण की शूर्पणखा भी हो सकती है) ओंग उसका प्रेम प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता और दानव कन्या उसे यातना देती है। बाद में ओंग का सर्वशक्तिमान बाबा गंगा शक्ति उसे छुड़ाता है। अन्ततः ओंग अपने चचेरे भाई हलम के साथ अपनी प्रेमिका को खोज निकालता है और एक राज्य की स्थापना करता है जिसका प्रधानमन्त्री हलम बनता है। यद्यपि, मलयेशिया का इस्लामीकरण हो गया है, तथापि, रामायण की परम्परा धर्म निरपेक्ष रूप में आज भी प्रचलित है। 'व्याग सियाम' नामक रामायण पर आधारित छाया नाट्य यहाँ आज भी बहुत लोकप्रिय है; किन्तु इस नाटक में राम के वनवास का कोई उल्लेख नहीं है। मलय रामायण का यह रूप वाल्मीकि रामायण से कई प्रसंगों में भिन्न है। मलयेशियाई विद्वान् डॉ० इस्माइल हुसैन का कहना है कि 'इस छाया नाटक मे राम को साधनहीन दुर्बल व्यक्ति के रूप में और लक्ष्मण को शक्तिशाली योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है।' शूर्पणखा राम को पथभ्रष्ट करने में सफल हो जाती है और राम उसके साथ गृहस्थी बसाते

हैं, सीता का अस्थायी निर्वासन, राम की माता मंदूदरी द्वारा सीता की हत्या, राम द्वारा आत्महत्या और फिर दोनों को एक देवता द्वारा पुनर्जीवित करना आदि अन्य प्रसंग भी वाल्मीकि रामायण से मेल नहीं खाते। ब्यांग सियाम रामायण पर स्थानीय प्रभाव भी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। 'फालक का लाम' नाम से प्रचलित प्रभाव स्पष्ट है। इस रामायण में लाओस निवासियों के जीवन-मूल्य, गीत-संगीत तथा चित्र एवं मूर्तिकला में भी राम कथा का प्रभाव पाया जाता है। यह बात दूसरी है कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ढलते-ढलते वाल्मीकि रामायण में अत्यधिक परिवर्तन हो गया है।

(ङ) जापान में रामकथा

जापान के रामायण-मनीषी 'मिनोरू हारा' के मतानुसार जापान में १२वीं शताब्दी में तायरानो यासुयोरी ने लोकप्रिय कथाओं को लेकर 'होबुत्सुसू रामायण' की रचना की जिसमें राम-कथा का विवरण है। जापान में रामायण के दो रूप प्रचलित हैं और दोनों का ही आधार बाल्मकि रामायण जान पड़ती है। जापान में रामायण चीन होकर पहुँची अतः उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक था। होबुत्सुसू के अनुसार तथागत शाक्यमुनि एक सम्पन्न साम्राज्य के शासक थे; किन्तु, जब दुर्भिक्षग्रस्त पड़ोसी राज्य ने अन्न प्राप्त करने के लिए उनके राज्य पर आक्रमण किया तो उन्होंने रक्तपात से बचने के लिए युद्ध न करने का निर्णय किया; किन्तु उनका मन्त्रिमण्डल इसके लिए तैयार नहीं हुआ। तब वह महारानी के साथ बौद्धधर्म की आराधना हेतु पर्वत पर चले गये। उनके अकस्मात् चले जाने पर उनकी सेना ने भी शत्रु के आगे हथियार डाल दिये। जब शाक्य मुनि पर्वत पर निवास कर रहे थे, तो उनके पास एक ब्राह्मण आया और शाक्यमुनि के आचरण के लिए उनकी प्रशंसा की। बाद में वह भी शाक्यमुनि के साथ रहने लगा। एक दिन शाक्यमुनि जब बाहर से घर लौटे तो उन्होंने पाया कि वह ब्राह्मण उनकी पत्नी को लेकर चंपत हो गया है। वह अपनी पत्नी की तलाश में निकल पड़े। रास्ते में उन्हें विशाल पंखों वाला एक पक्षी मिला जो मरणासन्न था। पक्षी ने उन्हें बताया कि उनके साथ रहने वाला ब्राह्मण ही उनकी पत्नी को अपहृत कर ले गया है। (यह प्रसंग रामायण के जटायु प्रसंग से बहुत हद तक मेल खाता है) बाद में शाक्यमुनि को एक वानर दल मिला (जिसके राज्य पर किसी और राजा ने अधिकार कर लिया था। शाक्यमुनि ने उन्हें उनका राज्य वापस कराने में सहयोग दिया और फिर दोनों मिलकर महारानी की खोज में निकल पड़े। समुद्र पार करके उन्होंने दैत्य सम्राट (सम्भवतः यह रावण था) पर आक्रमण किया और अन्ततः उसे मारकर महारानी को मुक्त किया।

जापान की यह कथा स्पष्टतः भारत में प्रचलित रामकथा का रूपान्तर है, किन्तु बौद्ध प्रभाव के कारण उसके नायक राम न होकर शाक्यमुनि हैं।

(च) फिलीपाइन में रामकथा

फिलीपीन में एक लम्बे अरसे तक रामकथा मौखिक परम्परा के रूप में जीवित रही। १९६९ में रामायण के फिलीपीन रूप 'महारदिया लवना' का प्रकाशन हुआ। इस ग्रंथ से फिलीपीन-संस्कृति पर भारतीय प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। प्रकाशन से पूर्व रामकथा दक्षिणी फिलीपीन के एक कबीले में, जिसने इस्लाम धर्म अपना लिया, मौखिक साहित्य के रूप में प्रचलित थी। कबीले के इस्लाम का अनुयायी होने के कारण रामकथा के तत्त्वों को उसी रूप में व्याख्यापित किया गया है।

(छ) चीन में रामकथा

चीन में हमें रामायण का एक बहुत ही प्रारम्भिक रूपान्तरण 'कांग-सेंग हुई' के नाम से मिलता है, जो मूलतः रामायण के जातक का रूपान्तरण है। यह रूपान्तरण सन् २५१ में किया

गया था। दूसरा चीनी अनुवाद दशरथ का 'निदान' है। यह कोक्रय द्वारा सन् ४७२ में किया गया रामायण की लोकप्रियता ६वीं शताब्दी में मध्य-एशिया के खोतान तक पहुँच गयी थी। बारहवीं शताब्दी में तैरानोयासुयोरी ने प्रसिद्ध होवुत्सुशु में जापान में रामायण की उपस्थिति का उल्लेख किया है।

(ज) तिब्बत में रामकथा

तिब्बती तथा खोतान रामायण में बौद्ध रामकथा के निरूपण में अनामकं जातकम् और दशरथकथानम् का उल्लेख किया गया है जिनका क्रमशः तीसरी और पाँचवीं शताब्दी ई० में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इस प्रकार रामकथा प्राचीनकाल से उत्तर की ओर प्रसारित होने लगी थी। तिब्बती भाषा में भी अनेक हस्तलिपियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें रावण-चरित्र लेकर सीता-त्याग और राम-सीता-मिलन तक की पूरी कथा मिलती हैं, जो सम्भवतः आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की है।[1]

प्रारम्भ में रावण-चरित्र का उल्लेख किया गया है, अनन्तर विष्णु दशरथ के पुत्र के रूप में अवतार लेने की प्रतिज्ञा करते हैं। दशरथ की दो पत्नियाँ हैं। विष्णु कनिष्ठा के गर्भ से जन्म लेते हैं और रामन कहलाते हैं और तीन दिन बाद विष्णु के पुत्र ज्येष्ठा से जन्म लेते हैं और उनका नाम लक्ष्मण रखा जाता है। गुणभद्र के उत्तरपुराण की भाँति इनमें भी सीता रावण की पुत्री मानी जाती है। दशग्रीव को पटरानी के एक कन्या जन्म लेती है जिसकी कुण्डली में लिखा है कि वह अपने पिता का विनाश करेगी। इस कारण वह समुद्र में फेंक दी जाती है और बचने पर भारत के कृषकों द्वारा पाली जाती है; जिसका नाम लीलावती (सीता) है।

दो पुत्रों में से किसे राज्य दिया जाय, अपने पिता की इस प्रकार की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता देखकर रामन अपनी इच्छा से तपस्या करने के लिए किसी आश्रम में चले जाते हैं और लक्ष्मण को राज्य दिलवाते हैं। कृषकों के अनुरोध से रामन तपस्या छोड़कर लीलावती (सीता) से विवाह करते हैं और इसके बाद राज्य सत्ता अपने हाथों में लेते हैं। गुणभद्र में सीता का अपहरण राजधानी के पास के अशोक वन से होता है, तिब्बतीय रामायण में भी ऐसा ही प्रतीत होता है क्योंकि इसका वर्णन बनवास के बाद मिलता है लेकिन इसमें विशेषता यह है कि रावण सीता का स्पर्श नहीं करता तथा जटायु को रक्त से लथपथ पत्थर खिलाकर मार डालता है। सीता की खोज, वानरों से मैत्री, हनुमान का प्रेषण, रावण-वध आदि का भी उल्लेख किया गया है। लेकिन, अन्तर केवल इतना है कि बालि-सुग्रीव युद्ध में माला के स्थान पर सुग्रीव की पूँछ में दर्पण बाँधा जाता है। हनुमान आदि एक-दूसरे की पूँछ पकड़कर स्वयंप्रभा की गुफा में प्रवेश करते हैं। रावण का मर्मस्थान उसका अँगूठा बताया गया है। उत्तरकाण्ड से सम्बन्धित सामग्री (धोबी के कारण सीता त्याग, कुश की वाल्मीकि द्वारा सृष्टि आदि) कथा-सरित्सागर के अनुसार यह है कि लव तथा कुश का जन्म सीता-त्याग के पूर्व होता है।[2]

(झ) बर्मा में रामकथा

बर्मा में रामकथा का प्रचार थाईलैण्ड द्वारा हुआ लेकिन बर्मा का रामकथा-साहित्य बहुत ही अर्वाचीन है।[3] बर्मा के एक शासक ने ईसवी सन् १७६७ में थाईलैण्ड की तत्कालीन राजधानी

---

१ एफ० डब्लू० थॉमस : रामायण स्टोरी इन तिब्बतन, इण्डियन स्टडिस, पृष्ठ १६३, एम० लालू : जर्नल अशियाटिक १६३६, पृष्ठ ५६०।

२ फादिर कामिल बुल्के : रामकथा, पृष्ठ २५७।

३ जी०पी० कानोर : दि रामायण इन बर्मा, जर्नल बर्मा, रिसर्च सोसाइटी, भाग १५, पृ० ८०।

आयुधिया (आयुध्या) पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की और वहाँ के अनेक लोगों को बन्दी बनाकर अपने साथ बर्मा ले आया। उन बन्दियों में से कुछ ने थाई रामकथा का नाटक के रूप में प्रयोग आरम्भ किया और यूतो कवि ने 'रामकेतन' के आधार से 'रामयागन' काव्य की रचना की जो शिष्ट बर्मी साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। 'आजकल राम-नाटक, जिसे वहाँ की भाषा में यामप्वे कहा जाता है, बहुत ही लोकप्रिय है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभिनेता बहुमूल्य चेहरे पहनते हैं और अभिनय के दिन इन चेहरों की पूजा करते हैं। सीता-हरण वहाँ के अभिनय का एक बहुत ही लोकप्रिय एवं आकर्षक विषय है। इसमें शूर्पणखा (जिनका नाम गाम्बी है) मृग का रूप धारण कर राम को लुभाकर दूर ले जाती है और राम से आहत किये जाने पर अपने राक्षसी रूप से प्रकट होती है। राम की सहायता करने जाने से पहले लक्ष्मण द्वारा कुटी के चारों ओर तीन रेखाएँ खींचने का भी उल्लेख है जो भारत तथा हिंदेशिया आदि में भी मिलता है।

(ज) श्रीलंका में रामकथा

लंका की लोककथाओं और साहित्यिक कृतियों में रामकथा का रूप सर्वथा वही नहीं है जैसा कि उत्तर भारत में प्रचलित है। रामकथा से सम्बन्धित एक लोककथा का सम्बन्ध सिंहल द्वीप के द्वितीय सम्राट् पांडुवसदेव के शासनकाल (५वीं शताब्दी ई० पू०) में प्रथम बार हुई 'कोहोंबा याकमा' पूजा से मिलता है। इस लोककथा के अनुसार शनि से ग्रस्त विष्णु (राम) अपनी महारानी को छोड़कर सात वर्ष के लिए वन में चले गये। उनकी अनुपस्थिति में रावण अपने विमान में बिठा कर सीता को अपनी राजधानी ले गया और उनका सतीत्व भंग करना चाहा। सीता ने रावण से कहा कि उन्होंने तीन महीने के लिए पतिव्रत धारण किया है। यह अवधि समाप्त होने पर ही वह उसकी इच्छा पूरी कर सकेंगी। सात वर्ष के वनवास से लौटने के बाद जब राम को सीताहरण का पता चला तो वह उन्हें ढूँढ़ने के लिए फिर वन में चले गये, जहाँ उनकी भेंट बालि से हुई, जो पत्नी वियोग में इधर-उधर भटक रहा था! बालि ने राम के सामने यह शर्त रखी कि यदि वह वानरों के राजा का वध करके उसे उसकी पत्नी वापस दिलायेंगे तो वह रावण से युद्ध में उनका साथ देगा। राम ने ऐसा ही किया। इस लोककथा के अनुसार बालि ही लंका गया और लंका दहन करके सीता को राम के पास ले आया।

कथा का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि जब राम सीता को लेकर अपनी राजधानी लौट आये तो एक दिन उमा ने सीता से रावण के बारे में पूछा। सीता ने भोजपत्र पर रावण की आकृति उरेही। उसी समय राम आ गये और सीता ने बिस्तर के नीचे उस भोजपत्र को छिपा दिया। राम जब बिस्तर पर बैठे तो रावण की प्रभुता से वह हिलने लगा। राम ने जब बिस्तर के नीचे देखा तो उन्हें वह भोजपत्र दिखाई दिया, जिस पर रावण की आकृति उरेही गयी थी। भोजपत्र पर रावण की आकृति को देखकर राम को लगा कि सीता रावण से प्रेम करती है और उन्होंने इस पर कुपित होकर अपने भाई सुमन (लक्ष्मण नहीं) को सीता को वन में ले जाकर उनकी हत्या करने का आदेश दिया। सुमन सीता को लेकर हिमालय गये और उन्हें वाल्मीकि के आश्रम के निकट छोड़ आये। गर्भवती सीता को ऋषि वाल्मीकि ने आश्रम दिया। वाल्मीकि आश्रम में ही सीता ने एक पुत्र को जन्म दिया। बाद में ऋषि ने अपने प्रताप से उनके लिए दो और पुत्रों का सृजन किया।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में प्रचलित एक लोकगीत में भी सीता द्वारा रावण की आकृति उरेहने का वर्णन है, किन्तु इस लोकगीत में आकृति उरेहने का आग्रह सीता की ननद ने किया और उसकी सूचना भी उसी ने अपने भाई राम को दी। शेष कथा में और कोई मूल अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है।

श्री लंका में रामकथा का एक रूप बौद्ध जातक, दशरथ जातक, में भी मिलता है, जिसके अनुसार दशरथ की राजधानी अयोध्या न होकर बनारस थी और राम ने वनवास के दिन दंडकारण्य में न बिताकर हिमालय में बिताया। दशरथ जातक के अनुसार राम और लखन की माँ पटरानी थीं और उनका देहान्त हो जाने पर भरत की माता को पटरानी बनाया गया। जातक में सीता को राम-लखन की बहन बताया गया और वह राम का राजतिलक हो जाने पर दोनों भाइयों की पटरानी बनी। जातक के अनुसार वनवास की अवधि भी १२ वर्ष ही थी और राम के वन जाने के नौ वर्ष बाद दशरथ की मृत्यु हुई।

श्रीलंका में रामकथा के पात्रों—सीता, रावण, विभीषण आदि से सम्बन्धित स्थल है, परन्तु साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि लंका में रामकथा को लगभग १३वीं शताब्दी में मान्यता मिली। बाद में सिंहल (लंका) वासियों ने रावण को अपने अन्तिम सम्राट के रूप में अवश्य स्वीकार कर लिया। श्रीलंका विश्वविद्यालय में संस्कृति के आचार्य ज. तिलकसीही के अनुसार 'श्रीलंका में राम और सीता की कहानी ज्ञात काल से साहित्यिकों और आम व्यक्तियों के बीच लोकप्रिय रही, किन्तु, यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि कथासार और नायकों के चरित्र-चित्रण में विविध प्रकार के दृष्टिकोण सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं और इसका प्रतिबिम्ब सिंहली साहित्य और इस द्वीप के धार्मिक रीतिरिवाजों तथा लोकगीतों और कहावतों में परिलक्षित होता है।

(ट) नेपाल में रामकथा

नेपाली जनमानस को राम के आदर्श पुरुष रूप ने उतना प्रभावित नहीं किया जितना कि उनके भगवान रूप ने। इसीलिए नेपाल में अध्यात्म रामायण अधिक लोकप्रिय हुई है। नेपाल में पहले-पहल रामायण गद्य में लिखी गयी, फिर छंद में। नेपाल के रामायण लिखने वालों का यह प्रयास रहा है कि उनकी कृति में कोई न कोई मौलिकता अवश्य हो। उन्होंने रामायण को नेपाली पृष्ठभूमि में लिखने का प्रयत्न भी किया। इस दृष्टि से भानुभक्त की रामायण नेपाली साहित्य का गौरव है जो बुद्धिजीवियों और सामान्यजन को समान रूप से प्रभावित करती है। उसमें नेपाल की मिट्टी की महक है जिससे नेपाल के लोगों और उनकी संस्कृति के प्रति भानुभक्त के असीम प्रेम की पुष्टि होती है। नेपाल में रामायण-परंपरा अब भी जीवित है। समय-समय पर वहाँ रामायण के नये अनुवाद तथा संशोधित संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं। नेपाली जनमानस में रामायण की पैठ गहरी है।

अन्त में रामकथा की व्यापक लोकप्रियता को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रामायण इन दोनों (देश-विदेश) की एक सामान्य रूप से सांस्कृतिक धरोहर है, जो स्थानीय परिस्थितियों, जनता के दुःख और सुख उनके जीवन-मूल्यों के मानदण्डों तथा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती है। डॉ० वी० राघवन के कथनानुसार "राम सत्य, गुण और पराक्रम के प्रतिरूप हैं। रामायण के इस मूलभूत मूल्यादर्श को रामायण के अनगिनत रूपान्तरणों में किसी भी रूपान्तरण में नकारा नहीं गया है। यह सत्य है कि रामायण के विभिन्न रूपान्तरणों में विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में पाये जाने वाले रूपान्तरणों में, विभिन्न कथाएँ एवं नयी घटनाएँ जोड़ दी गयी हैं तथा कुछ रूपान्तरणों की कथावस्तुओं में तो वाल्मीकि रामायण की कथा वस्तु में बिल्कुल पृथक् रूप पाये जाते हैं फिर भी इन सभी में राम ही सदैव मुख्य पात्र रहे हैं और सभी अन्य पात्र उनके आस-पास उनसे सम्बद्ध रहते हैं। इन सभी रूपान्तरणों में आसुरी शक्तियों पर विजय का संदेश निहित है।"

इतना ही महाभारत की सामग्री से भी स्पष्ट है कि रामकथा न केवल कोशल प्रदेश में

प्रचलित थी, वरन्, इसका प्रचार एवं प्रसार पश्चिम की ओर भी हो चुका था। रामकथा की व्यापक लोकप्रियता का एक और महत्त्वपूर्ण प्रमाण बौद्ध तथा जैन साहित्य से मिलता है। बौद्धों ने ईस्वी सन् के कई शताब्दियों पहले राम को बोधिसत्त्व मानकर रामकथा की लोकप्रियता और आकर्षकता का साक्ष्य दिया है। यहाँ तक कि जैनियों ने भी वाल्मीकि की रचना को मिथ्या कहकर रामकथा के नये रूप में राम को अपनाने का प्रयत्न किया है। इसी तरह रामकथा प्रारम्भ से ही भारत की संस्कृति में इतनी फैल गयी कि राम ने उस समय के तीन प्रचलित धर्मों—ब्राह्मण धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्धधर्म मे बोधिसत्व तथा जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया। इतना ही नहीं यही आगे चलकर साहित्य की प्रत्येक शाखा में, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में और भारत के निकटवर्ती देशों में सर्वत्र रामकथा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार रामकथा अनेक रूप धारण करते हुए शनैः-शनैः सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति और दक्षिण पूर्वी एशिया में व्याप्त हो गई है। इसका कारण यह है कि मानव हृदय को आकर्षित करने की जो शक्ति रामकथा में मौजूद है वह अन्यत्र नहीं। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में कला तथा आदर्श का जो समन्वय संजोकर रख दिया गया है उससे आदर्शप्रिय भारतीय और दक्षिण पूर्वी एशिया की जनता प्रभावित हुए बिना न रह सकी।

स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा था कि—"रामायण का सामान्य पाठक कथा की मनोहरता और विषय की उदात्तता से मुग्ध और प्रभावित हो उठता है। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि प्रत्येक पृष्ठ पर तत्कालीन युग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी पड़ी है। यह सामग्री अधिकांश संकेतों के रूप में मिलती है, जिन्हें पूरी तरह से समझने के लिये उनके व्यवस्थित और सुसंबद्ध संकलन तथा सप्रमाण विवेचन की आवश्यकता है। जब कोई सत्यान्वेषी और विवेकपूर्ण अनुसंधानकर्त्ता इन संकेतों को एकत्र कर हमारे प्राचीन समाज का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देता है, तब हमारी प्रसन्नता बहुत कुछ वैसे ही होती है जैसे कोई नई खोज या आविष्कार कर डालने पर।"[१]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत से हजारों मील दूर रामायण के रूप में रामकथा जहाँ-जहाँ गयी है, वहाँ-वहाँ उसने स्थानीय प्रभावों को समेट कर राष्ट्रीय महाकाव्य का स्थान प्राप्त किया है। इतना ही नहीं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में रामायण का योगदान अद्वितीय है। यहाँ तक कि सोवियत रूस तक राम-नाम की धुन गूँज उठी है। विगत दशक में रूस में रामकथा की लोकप्रियता बहुत बढ़ी है। प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् प्रोफेसर वारान्निकोव ने सन् १९४८ में तुलसीदास के 'मानस' का रूसी भाषा में अनुवाद किया था। उनके पश्चात रूसी विदुषी श्रीमती गुसेवा ने रामायण के आधार पर एक नाटक लिखा, जिसका प्रतिवर्ष मास्को के प्रसिद्ध सेण्ट्रल चिल्ड्रेन थियेटर में अभिनय भी किया जाता है। इधर यूनेस्को के तत्वावधान में सारे विश्व में मानस चतुश्शती मनायी जा रही है। रूस में इन्स्टीट्यूट आफ ओरियण्टल स्टडीज के निदेशक प्रोफेसर वी० गुफरीब के नेतृत्व में गठित समिति तुलसीदास को रचनाओं के आधार पर संगीत एवं नाटक के आयोजन कर रही है। इस अवसर पर रूसी भाषा में तुलसीदास की रचनाओं के अनुवाद का कार्य जी० योरोसलावत्सव और एस० शेसेरत्सेव सदृश प्रसिद्ध कवियों ने प्रारम्भ कर दिया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में रामकथा का शीर्ष स्थान रहा है। साइबेरिया से लेकर हिन्देशिया तक प्रचलित रामकथा के विविध रूप भारतीय संस्कृति की अमर पताकाएँ हैं। वाल्मीकि इन पताकाओं के दण्ड हैं। वस्तुतः वाल्मीकि और

---

१ पी. सी. धर्मा-कृत 'द रामायण पॉलिटी' का उपोद्घात।

तुलसी भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। वस्तुतः वाल्मीकि और उनका काव्य तथा तुलसी और उनका मानस ऐस केन्द्र बिन्दु हैं, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं भावात्मक ऐक्य का कार्य किया जा सकता है। वास्तव में बाल्मीकि के बाद रामकथा के प्रचार में तुलसी के मानस का सर्वाधिक योग रहा है। मानस का अनुवाद न केवल भारत की प्रमुख भाषाओं—संस्कृत, उर्दू, बंगला, मराठी, पंजाबी, उड़िया, तेलगु तथा तमिल आदि में हुआ, अपितु विश्व की प्रमुख भाषाओं अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी आदि में भी उसके अनुदित संस्करण समय-समय पर निकले हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् ग्रियर्सन ने 'मानस' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर लिखा था कि 'सम्पूर्ण गंगा की घाटी में तुलसीदास की महान कृति इंगलैण्ड में बाइबिल से भी अधिक जनप्रिय है'। इसी प्रकार रूसी अनुवादक प्रोफेसर वरान्निकोव ने मानस की रूसी भूमिका में मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा कि 'भारत में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त करते हुए तुलसीदास ने 'रामायण' मनोरंजन या पठन मात्र के लिए नहीं लिखा। उनके देशवासी विजेताओं द्वारा धूलि-धूसरित थे। उन्होंने अपने काव्य द्वारा अपने देश की रक्षा के लिए अपूर्व (मौलिक) मार्ग-प्रदर्शन की चेष्टा की।'

रामायण (रामकथा) की लोकप्रियता तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उसकी सार्थकता का मुख्य कारण है—वैदिक परम्पराओं की स्वीकृति के साथ सामान्य जन में उच्छवसित भावनाओं का प्रकाशन। इसी व्यापक दृष्टि के कारण उनका काव्य काल और स्थिति की सतत् परिवर्तन-शीलता में भी शिक्षित और अशिक्षित, ग्रामीण और नागर, बुध और अबुध जनों में समान रूप से समाहृत है।

(ख) रामायण का रचना-काल एवं काल सीमा

रामायण एक दिन अपने अकेले निर्माता की कृति मात्र रही होगी ; किन्तु आज वह कोटि-कोटि नर-नारियों के घर-घर की वस्तु है। रामायण निःसंदेह एक महान् कवि की महान् कृति है। उसमें एक ओर तो अपने महान् निर्माता की अनुपम पांडित्य-प्रतिभा का समावेश है और दूसरी ओर जिस देश एवं जिस धरती में उसका निर्माण हुआ, वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शमय जीवन की समग्रताओं का एक साथ समावेश है। 'रामायण' अपने मूलरूप में न केवल संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य और कतिपय परिवर्ती महाकाव्यों, काव्यों का प्रेरणा स्रोत है, वरन् वह भारतीय परिवारों की धर्मपोथी, भारतीय आचार-विचार, संस्कार-सम्बन्धों का आदर्श ग्रन्थ और भारत की चिरंतन भक्ति-भावना, ज्ञान-भावना तथा मैत्री-भावना की प्रतिनिधि पुस्तक है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भण्डार होने के साथ-साथ वह एक महत्त्वपूर्ण युद्ध-शास्त्र भी है, जो सहस्त्रों शताब्दियों पूर्व के भारतीयों के युद्ध-कला, जीवन-यापन आदि का रोचक वृत्तांत उपस्थित करता है। एक पुरातन युग की जीवित परम्पराओं, धारणाओं, चिंताओं, आकांक्षाओं और भावनाओं का चित्रण करने के कारण वह प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक बहुमूल्य निधि है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत से दी जा सकती है जिसकी चोटी से हम प्राचीन आर्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, कला तथा युद्ध सम्बन्धी क्रिया-कलाप का सम्यक दर्शन कर सकते हैं। रवीन्द्र बाबू ने रामायण की इस सर्वांगीणता को लक्ष्य करके एक बार कहा था—

'रामायण' का प्रधान बिशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में जो धर्म-बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, उसको रामायण ने इतना महान् बना दिया है कि वह सहज में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। हिमालय जितने ऊँचे एवं व्यापक आदर्शों और सागर जैसे गम्भीर विचारों का एक साथ किसी एक ग्रन्थ में समावेश हो पाया है तो वह रामायण ही है। अपनी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण देश-काल की सीमाओं को तोड़कर 'रामायण' आज विश्व साहित्य की महान् कृति है ओर महामुनि विश्वकवि के रूप में पूजित हो रहे हैं।

रामायण भारतीय साहित्य का पहला महाकाव्य और विश्व-साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में भाषा, भाव व छन्द, रचना-विधान एवं रस-व्यंजना, सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ठ कृति प्रमाणित हो चुकी है। महामुनि वाल्मीकि के जीवन का एकमात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन करना ही था। जनकलरव से दूर एकान्त अरण्य में जीवन-यापन करने पर भी पारिवारिक आहार-व्यवहार एवं सामाजिक क्रिया कलापों के प्रति भी उनका ज्ञान अपरिमित था। उन्होंने पारिवारिक सम्बन्धों का और सामाजिक जीवन की बातों का इतनी बारीकी से विश्लेषण किया है कि वैसा कदाचित ही किसी दूसरे ग्रंथकार ने किया हो। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि-विधाता हैं, धर्म और सत्य-रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज उन्होंने बोये, वे आज भी फल-फूल रहे हैं। वे आदिकवि, महाकवि, धर्माचार्य और सामाजिक जीवन की बारीकियों के ज्ञाता, सभी कुछ एक साथ थे। सम्भवतः इसीलिए तो महाकवि कालिदास और प्रतिभावान्

काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि को न केवल आदि कवि मात्र कहकर छोड़ दिया वरन्, उन्हें एक महान् कवि होने के अतिरिक्त श्लोक और शोक का समीकरण करने वाला एक अद्भुत आलोचक भी बताया है। आदि कवि के इस असामान्य व्यक्तित्व का परिचय है 'रामायण' जिसकी प्रत्येक बात अपने चरमोत्कर्ष को छूती है। उसकी सर्वांगीण भावना का परिचय उसके कलेवर में ही परोक्ष रूप से मिलता है।

हम लोग रामायण की कथा से इतने परिचित हैं कि उसका नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन अनुसंधान करने की ओर ध्यान ही नहीं जाता। राम और सीता के अप्रतिम आदर्शों का पठन-पाठन, श्रवण, कीर्तन और मनन ही हमारे लिए पर्याप्त है वे या उनके समय के लोग कैसे रहते थे, कैसे अपनी आजीविका चलाते थे, कैसे राज-काज करते थे, आदि प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढ़ने के लिए हम प्रेरित ही नहीं होते। रामायण के कथानक का चिरंतन आकर्षण उसकी सांस्कृतिक सूचनाओं को पाठक की दृष्टि से ओझल कर देता है। स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में कह सकते हैं कि—

"रामायण का सामान्य पाठक कथा की मनोहरता और विषय की उदात्तता से मुग्ध और प्रभावित हो उठता है। उसमें राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी पड़ी है। यह सामग्री अधिकांश संकेतों के रूप में मिलती है जिन्हें पूरी तरह से समझने के लिए उनके व्यवस्थित और सुसंबद्ध संकलन तथा सप्रमाण विवेचन की आवश्यकता है। जब कोई सत्यान्वेषी और विवेकपूर्ण अनुसंधान कर्त्ता इन संकेतों को एकत्र कर हमारे प्राचीन समाज का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देता है, तब हमारी प्रसन्नता बहुत कुछ वैसी ही होती है, जैसी कोई नई खोज या अधिकार कर डालने पर।"[1]

रामायण के निर्माता वाल्मीकि एक प्रतिष्ठित ऋषि एवं राम के एक समकालीन के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। बालकाण्ड में उल्लेख है कि वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर एक आश्रम में निवास करते थे। उनके मन में किसी आदर्श मानव का चरित्र लिपिबद्ध करने की इच्छा उठी। नारद के परामर्श से उन्होंने अयोध्या के तत्कालीन शासक महाराज राम को अपना चरित्रनायक बनाने का संकल्प किया, किन्तु, भारतीय पंडितों की सनातन समझ तो यह है कि क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पर बहेलिये (व्याध) को वाण छोड़ते देख आदि कवि के मुँह से "उमड़ चली कविता सरिता सी।" उस क्रौंच पक्षी की दिशा देखकर धर्मात्मा ऋषि के मन में दया की भावना उपजी। इस हिंसा रूप अधर्म को और क्रौंची को रोती देखकर ऋषि की हृदयगत करुणा सहसा एक श्लोक के रूप में प्रस्फुटित हो गई—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुना देक मवधीः काममोहितम्॥" बालकाण्ड। २।१५

अर्थात् हे बहेलिए! तूने जो इस कामोन्मत्त नर पक्षी को मारा है, इसलिए तू अनेक वर्षों तक इस बन में मत आना। अथवा तुझे सुख शान्ति न मिले।

यह एक देवी घटना कही जा सकती है। कवि के मानस में वे भाव पहले से ही अन्तर्निहित थे। इस बहेलिये की करतूत ने कवि के हृदय पर नश्तर का काम कर दिया, जिससे भाव-सरिता प्रकट रूप में प्रभावित हो गयी। ब्रह्मा के आदेशानुसार उन्होंने इसी नवीन छन्द अनुष्टुम में राम

---

१ पी० सी० धर्मा-कृत 'द रामायण पॉलटी' का उपोद्घात।
२ तमसा नाम की दो नदियां रामायण से सूचित होती हैं। एक अयोध्या से दक्षिण सरजू और गोमती के बीच में बहती है, जिसका नाम वेदश्रुति भी है तथा दूसरी गंगा के दक्षिण भाग में टोंस जिसके तट पर वाल्मीकि आश्रम स्थित था।

चरित को काव्यबद्ध करने का श्रीगणेश किया।[1] अपनी यह रचना उन्होंने कुश और लव को सिखाई और ये दोनों भाई सर्वत्र गा-गाकर इसका प्रचार एवं प्रसार करने लगे। इन्होंने अयोध्या के दरबार में राम और उनके भाइयों को भी यह कथा सुनाकर भाव-विभोर कर दिया था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि रामायण की रचना राम के राज्यारूढ़ होने के कुछ ही वर्षों बाद की गई थी—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्॥" १।४।१

अर्थात् जब राम अयोध्या के राज-सिंहासन पर आसीन हो चुके थे, तब महर्षि वाल्मीकि ने विचित्र पदों से युक्त इस सम्पूर्ण काव्य की रचना की।

अयोध्याकाण्ड के अनुसार राम, लक्ष्मण और सीता की भेंट चित्रकूट के निकट वाल्मीकि से हुई थी। उत्तरकाण्ड के अनुसार वाल्मीकि दशरथ के 'परम सखा' थे—

"राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगवः।
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः"॥ ७।४७।१६

अर्थात् यहाँ मेरे पिता दशरथ के घनिष्ठ मित्र महायशस्वी महर्षि मुनिवर वाल्मीकि रहते हैं।

वाल्मीकि ने ही परित्यक्ता सीता को अपने आश्रम में शरण दी थी। यहीं पर 'कुश' और 'लव' का जन्म हुआ। ये दोनों वाल्मीकि से रामायण सीख कर राम के अश्वमेध समारोह में सुनाये। इसे सुनकर राम ने सीता को बुला भेजा। उनके साथ वाल्मीकि ने भी आकर भरी सभा में सीता के सतीत्व की साक्षी दी थी। आधुनिक अन्वेषक वाल्मीकि को राम का समकालीन नहीं मानते हैं और राम जन्म से सहस्रों वर्ष पहले उनका रामायण की रचना कर लेना तो बिल्कुल ही अमान्य एवं काल्पनिक लगता है, फिर भी इतना तो सर्वमान्य है ही कि वाल्मीकि-रामायण, रचना काल की दृष्टि से राम के सर्वाधिक निकट है।

भारतीय साहित्य में वैदिक युग से लेकर पौराणिक और काव्य नाटक युग तक सर्वत्र राम-कथा की व्यापकता को देखते हुए सहज में ही विश्वास करना पड़ता है कि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के लिए जिस कथानक को चुना, उसका अस्तित्व उनसे पूर्व भी था और उनके बाद में भी मौजूद रहा। अष्टादश महापुराणों में रामकथा की सबल चर्चाएँ और उन चर्चाओं के अति प्राचीन होने का इतिहास मिलता है। इन चर्चाओं में वाल्मीकि-रामायण के पूर्वापर अनेक रामायण-ग्रन्थों की रचना का निर्देश भी साथ पाया जाता है। एक पौराणिक अनुश्रुति तो इस प्रकार है कि वाल्मीकि रामायण से पूर्व स्वायंभव मन्वन्तर से भी पहले सतयुग में भगवान शंकर ने सर्वप्रथम महासती माता पार्वती को एक रामायण सुनाई थी, जिसका नाम 'महारामायण' या "आध्यात्मिक रामायण' था और जिसका कलेवर तीन लाख पचास हजार श्लोकों का था।

ऐसी भी परम्परागत श्रुतियाँ हैं कि वेदों की रचना के बाद 'रामायण' की रचना हुई और उसकी कलेवर वृद्धि के लिए लगभग ५०० ई० पूर्व तक उसमें प्रक्षेप जुडते गये। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल जिसमें राम का वर्णन किया गया है, उसका नायक कोई दूसरा नहीं बल्कि दाशरथी राम ही थे। इस दशम मण्डल की रचना के बारे में विद्वानों -

---

१ कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकवद्धां मनोरमाम्।
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले॥ १।२।३६
अर्थात् तुम राम की मनोहर और पवित्र कथा श्लोकवद्ध (पद्यों में) बनाओ। जब तक इस धराधाम पर पहाड़ और नदियाँ रहेंगी, तब तक इस लोक में राम की कथा का प्रचार रहेगा।

के मतों में एकता नहीं है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् उसको १५०० ई० पूर्व का रचा हुआ मानते हैं। लोकमान्य तिलक का एतद्विषयक सिद्धान्त वैदिक साहित्य का वर्णन करते समय पहले लिखा जा चुका है। उनके मतानुसार ऋग्वेद का दशम मण्डल ४०० ई० पू० से पहले रचा गया। इस दृष्टि से रामकथा का अस्तित्व ४००० ई० पूर्व से भी पहले का लगता है।

महामुनि वाल्मीकि को हम लौकिक संस्कृति का पहला महाकवि मानते हैं। लौकिक संस्कृत का निर्माण न तो एक व्यक्ति द्वारा और न ही एक दिन में हुआ। सम्भवतः उसका साँचा हमारी स्थापना के बहुत पहले वैदिक युग में ही ढल चुका था। ऋचाओं के रूप में कविता करने वाले ऋषि यद्यपि बहुत पहले से होते आ रहे थे, किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक उपाख्यान-मयी कविता का प्रारम्भ सर्वप्रथम वाल्मीकि ने ही किया।

रामायण के रचना काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी विलक्षण कल्पनाएँ की हैं। उनके मत विभिन्न होते हुए भी इस विषय में वे सभी प्रायः एकमत नजर आते हैं कि वाल्मीकि रामायण का रचना काल ईसवी सन् के पूर्व लगभग छठी शताब्दी से अधिक पहले का नहीं है। किन्तु, पाश्चात्य विद्वान् लेखकों ने रामायण के बाह्य और अन्तः प्रमाणों के आधारों पर कल्पना का भवन निर्माण किया है, वह दृढमूल नहीं—पूर्वापर विवेचनाओं की कसौटी पर कसने पर वे कल्पनाएँ सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाती हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अलावा कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी इस विषय पर मत प्रकट किये हैं, परन्तु खेद है कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण उनके विचारों में भी पाश्चात्य दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। रामायण के रचना काल को बताने के लिए ऐसे प्रमाणिक तथ्यों का अभाव है जो सर्व सम्मत हो। महाकाव्य के साथ-साथ रामायण एक ऐतिहासिक काव्य भी है, किन्तु, जिन ऐतिहासिक आधारों का उसमें उल्लेख है, वे इतने अस्पष्ट और दूर के हैं कि उनको आधार बनाकर 'रामायण' की रचना की खोज में हमें सहस्रों वर्ष पीछे जाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। कुछ विद्वानों ने रामायण के रचना काल के सम्बन्ध में अपना मत निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

प्रोफेसर बेबर का मत है कि ग्रीस देश के कवि होमर के इलियड के कथानक के आधार पर रामायण की रचना की गई है और रामायण में वर्णित पात्र -राम, सीता आदि काल्पनिक हैं, अतएव रामायण का रचना काल महाभारत के बाद का है।[1]

प्रोफेसर बेबर के इस मत का खण्डन श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भली प्रकार कर दिया है[2] तथा श्री काशी नाथ त्र्यबक तैलिंगने अपने 'राम ऐंड होमर' नाम के ग्रन्थ में 'वाज द रामायण कापीड फ्रॉम होमर ?' शीर्षक लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत रामायण के आधार पर होमर ने ही इलियड की रचना की है।

डॉ० भण्डारकर व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि के बाद रामायण का रचना काल मानते हैं।[3] डॉ० भण्डारकर के मत का भी श्री सी. वी. वैद्य ने खण्डन कर दिया।[4] डॉ० भंडारकर के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि श्री पाणिनि ने 'कौसल्या और केकई' इन दोनों के विषय में अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में स्पष्टता की है। इसके अतिरिक्त 'राम का पृथु और वेन आदि प्रसिद्ध राजाओं के साथ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। 'प्रतदद्दुःशीमे पृथ्वीने वेने प्ररामे बोचमसुरं माधवासु (ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ९३)। अतएव डॉ० भंडारकर का मत भी बिलकुल ही निराधार है।

---

१ प्रोफेसर बेबर : हिस्ट्री इण्डियन लिटरेचर।
२ सी. वी. वैद्य : संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास", पृष्ठ १०३-१०४।
३ देखिए : 'राम ऐंड होमर'।
४ सी. वी. वैद्य : "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास, पृष्ठ १०६।

रामायण के रचना काल के सम्बन्ध में ए० श्लेगेल का मत है कि रामायण की रचना ११०० ई० पूर्व में हुई तथा जी० गोरेसियो के अनुसार लगभग १२०० ई० पूर्व में हुई[1]। जब कि इस मत के प्रतिक्रियास्वरूप जी० टी० ह्वीलर तथा डॉ० बेबर ने रामायण पर यूनानी तथा बौद्ध प्रभाव मानकर उसकी रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन समझी है।[2] इसके बावजूद कुछ विद्वानों का मत है कि प्रचलित रामायण से मूल रामायण भिन्न थी और उसका निर्माण कम से कम ३०० ई० पूर्व में हो चुका था।

डॉ० याकोबी प्रचलित रामायण के वर्तमान स्वरूप को पहली या दूसरी शताब्दी ई० का मानते हैं तथा मूल रामायण की रचना ५००-८०० ई० पूर्व के बीच स्वीकार करते हैं।[3] ए० ए० मैकडोनेल ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास (लंदन १९०५ पृष्ठ ३०९) में डॉ० एच याकोबी के मत को स्वीकार करते हुए रामायण को बुद्ध के पूर्व का माना था। किन्तु बाद में उन्होंने छन्द-शास्त्र की दृष्टि से पाली गाथाओं तथा रामायण के श्लोकों की तुलना के आधार पर माना है कि वाल्मीकि रामायण की रचना चौथी शताब्दी ई० पू० के मध्य में हुई थी। उनके अनुसार रामायण दूसरी श० ई० के अन्त तक अपना वर्तमान स्वरूप धारण कर लिया था।[4]

ए० बी० कीथ ने डॉ० याकोबी के ग्रन्थ के बीस वर्ष बाद उनके तर्कों का विश्लेषण तथा खण्डन करके आदि रामायण की रचना चौथी शताब्दी ई० पूर्व में मानी है।[5] एम० विन्टरनित्स साहब ने भी प्रायः कीथ के ही मतों का अनुगमन किया है, लेकिन, वे वाल्मीकि को तीसरी शताब्दी ई० पू० का ही मानते हैं।[6] अतः अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि वाल्मीकि ने लगभग ३०० ई० पू० अपनी अमर रचना की सृष्टि की है। इस निर्णय की पुष्टि इससे भी होती है कि पाणिनि में रामायण, वाल्मीकि अथवा रामायण के प्रमुख पात्रों—दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सुग्रीव और विभीषण आदि का उल्लेख नहीं होता, लेकिन उनके समय में रामकथा प्रचलित हुई होगी, क्योंकि सूत्रों में कैकेयी (७, ३, २) कौशिल्या (५, १, १५५) तथा शूर्पणखा (६, २, १२२) की ओर संकेत प्रायः मिलते हैं। गणपाठ में परिवर्द्धन होता रहा अतः गणपाठ के उल्लेखों पर तर्क आधारित नहीं किया जा सकता है, इसमें रामकथा के मुख्य पात्रों के नाम (राम, लक्ष्मण, भरत, रावण आदि) आये हैं।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यद्यपि पाश्चात्य लेखकों का प्रायः अंधानुसरण नहीं किया है, फिर भी वे कुछ लेखकों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। श्री वैद्य महाभारत की ही भाँति रामायण को दो रूप मानते हैं। उनके मतानुसार 'रामायण' के प्राचीनतम रूप की रचना १२०० ई० पूर्व 'भारत' और 'महाभारत' की रचना के बीच और दूसरे रूप की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई। जिस 'भारत' ग्रन्थ को वे श्री वेदव्यास कृत प्राचीन बताते हैं, उसके बाद और सौति द्वारा परिवर्धित 'महाभारत' ग्रन्थ के पूर्व। पहले हम इसी वाल्मीकि रामायण पर विचार करते हैं जिसे वे प्राचीन मानते हैं।

---

१ ए० डब्लू० श्लेगेल : जर्मन ओरियन्टल जर्नल, भाग ३, पृष्ठ ३७९।
२ जी. टी. ह्वीलर : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग २ (लन्दन, १८६९)।
ए० बेबर : 'आन दि रामायण' (बम्बई १८७३)।
३ डॉ० एच० याकोबी : उस रामायण, पृष्ठ १००।
४ इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स भाग १०, पृ० ५७५।
५ ज० रा० ए० सो० (१९१५), पृष्ठ ३१८-२८।
'दि एज ऑफ दि रामायण'।
६ एम. विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ ५१६।

इस विषय में एक ऐसा अकाट्य आन्तर्य प्रमाण उपलब्ध है, जिसके विरुद्ध कुछ कहने का सम्भवतः कोई भी विद्वान् दुःसाहस नहीं कर सकता। वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड के ८१वें सर्ग का २९वां श्लोक[1] है—

'न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥'

अर्थात् तू जो यह कहता है कि स्त्रीवध नहीं करना चाहिए। सो यहीं क्यों, जिस किसी काम के करने से शत्रु को पीड़ा पहुँचे, वहां काम अवश्य करना चाहिए।

उपर्युक्त श्लोक 'महाभारत' ग्रन्थ के दोणपर्व में अध्याय १४३ की ६७।६८ संख्या में इस प्रकार मिलता है—

'अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि,
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
सर्वकालं मनुष्येणा व्यवसायवता सदा,
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्त्तव्यमेवतत्॥

इसमें रेखांकित शब्द प्रायः अविकल रूप से वाल्मीकि रामायण के ही हैं। इसके द्वारा स्पष्ट है कि 'भरत' या महाभारत का समय वाल्मीकि रामायण के पूर्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

रामायण का निर्माण न सही, उसके समापन काल का भी हमें सही-सही परिचय मिल सके, तब भी इतने में उस महाग्रन्थ के अस्तित्व पर कोई धब्बा नहीं लगता। रामायण के समापन-काल का पता लगाने के लिए देशों और विदेशी विद्वानों ने बड़ा ही कठिन श्रम किया है। ये विद्वान् वर्षों के अनुसंधान पर जो निष्कर्ष निकाल पाये हैं वे इतने विरोधी एवं बेमेल हैं कि उनमें पाठक को संतोष मिलने की जगह भारी उलझन महसूस होने लगती है।

मैकडोनेल साहब ने रामायण के पहले और सातवें काण्ड को आधार मानकर 'रामायण एक हाथ की रचना नहीं है' यह मत व्यक्त करते हुए रामायण का समापन काल ५०० ई० पूर्व और उसमें जोड़े गये प्रक्षेपों का समय २०० ई० पूर्व प्रमाणित किया है। किन्तु श्री जयचन्द्र विद्यालंकार उनकी बात से सहमत दृष्टिगत नहीं होते, लेकिन बाकी रामायण के संस्करण के लिए विद्यालंकार जी की मैकडोनेल से मिलती-जुलती विचारधाराएँ हैं। श्री विद्यालंकार की एक प्रमुख बात यह है कि २०० ई० पू० में रामायण का जो अन्तिम संस्करण हुआ उसकी प्रमुख घटनाएँ ५००० ई० पूर्व के समापन रूप जैसी ही थी और साथ ही इन्होंने भी वाल्मीकि रामायण का आधार प्राचीन आख्यानों को माना है। जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है कि—

वाल्मीकि मुनि की रची हुई राम की प्राचीन ख्याति के आधार पर 'रामायण' का काव्य-रूप में पहले-पहल संस्करण भी छठी शताब्दी ई० पूर्व में ही हुआ ऐसा माना जाता है। किन्तु बाद में दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में उसका पुनः संस्करण हुआ जो अन्तिम संस्करण अब हमें प्राप्त होता है। लेकिन उस पिछले संस्करण से उसके रूप में विशेष भेद नहीं हुआ। उसका मुख्य अंश अब भी ५वीं ई० पूर्व वाले काव्य को बहुत कुछ ज्यों का त्यों, उपस्थित करता है। उसकी ख्याति अर्थात् उसकी घटनाओं का वृत्तांत विषयक अनुश्रुति पुरानी है। उसमें जिन विभिन्न देशों

---

१ देखिये : वाल्मीकि रामायण हिन्दी भाषा सहित, तृतीय संस्करण, सन् १९५० मुद्रित राम प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद।

देखिये : गोविंद राजीय 'भूषण रामायण तिलक' और 'रामायण शिरोमणि' तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रिंटिंग प्रेस (बम्बई) में मुद्रित संस्करण।

और द्वीपों आदि के भौगोलिक नाम और निर्देश हैं, वे दूसरी श० ई० पूर्व तक के हैं। कुछ धार्मिक अंश भी उसमें उसी पिछले युग के हैं—जैसे राम के अवतार होने का विचार, जो कि 'रामायण' के प्रधान अंशों में नहीं हैं, किन्तु, रामायण का बड़ा अंश विशेषकर उसका समाज चित्रण ५वीं श० ई० पूर्व का है। उसमें हमें ५वीं श० ई० पूर्व के भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का अच्छा चित्र मिलता है।

रामायण के रचना काल के सम्बन्ध में स्व. श्री काशी प्रसाद जायसवाल का भी यह कहना है कि मूल ग्रन्थ की रचना ई० पू० ५०० के लगभग हुई थी और ई० पू० २०० के लगभग यह ग्रन्थ फिर से दोहराया गया था।

हरिदत्त वेदालकार का मत है कि रामायण का रचना काल ५०० ई० ० से पहले का है।[1] रामायण की घटना निःसदेह बहुत पुरानी है, किन्तु उसके वर्तमान स्वरूप का अधिकांश भाग छटी शती ई० पू० में लिखा गया प्रतीत होता है, क्योंकि इस शती में भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय हम पहली बार श्रावस्ती पाटलिपुत्र और उत्तरी बिहार में वैशाली राज्य का उल्लेख पाते हैं। बुद्ध के समय रामायण की अयोध्या का स्थान श्रावस्ती ले चुकी थी और जनकपुरी मिथिला के महत्त्व का भी अन्त हो चुका था। श्री वेदालंकार जी का कहना है कि इसी प्रकार रामायण पर बौद्ध धर्म का भी कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। किन्तु बौद्ध जातकों में रामायण की कथा है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि उसकी रचना बौद्ध साहित्य से पहले हुई है, लेकिन इसमें पीछे तक काफी प्रक्षेप जुड़ते गये और ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शती तक इसका वर्तमान रूप पूर्ण हो चुका था।

श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय के मतानुसार रामायण के रचना काल के सम्बन्ध में निम्नांकित तर्क प्रस्तुत हैं :—

(i) रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के निर्माण और अयोध्याकाण्ड से युद्ध काण्ड तक की रचना में समय का पर्याप्त अन्तर है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं, जिनमें वाल्मीकि एक पौराणिक व्यक्ति के रूप में माने जाने लगे थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि कृत रामायण में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड नहीं थे।

(ii) 'महाभारत' का अन्तिम संस्करण ४०० ई० में और रामायण का इससे पूर्व २०० ई० पू० में पूरा हो चुका था।

(iii) महाभारत की कथा वेदों से लेकर बौद्ध साहित्य तक है, राम-चरित्र की नहीं। महाभारत की मूलकथा की अपेक्षा रामायण की मूलकथा पीछे की है।

(iv) रामायण बौद्ध धर्म एवं ग्रीक प्रभावों से सर्वथा अछूता है।

(v) रामायण की मूलकथा बौद्धधर्म के आविर्भाव से पूर्व की है और उसकी रचना लगभग ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी।

(vi) बौद्ध त्रिपिटकों में रामचरित सम्बन्धी वह प्राचीनतम रूप विद्यमान है, जिसको चारणों ने सर्वप्रथम गाकर प्रचारित किया था।

श्री वाचस्पति गैरोला साहब का भी मत है कि रामायण का समापन काल महाभारत के पूर्व ही है, साथ ही ५०० ई० पूर्व से भी पहले है।

जैनों और बौद्धों के साहित्य मे राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में अपनाया गया है; साथ ही राम-कथा का बड़े ही आदर भाव से उल्लेख किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलाल

---

१ हरिदत्त वेदालंकार : भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

(१०० ई०) की 'कल्पना मण्डनिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि 'विमलसूरि' ने प्राकृत में 'पउम-चरिअ' लिखकर पहले-पहल लोकप्रिय रामकथा को जैनधर्म के साँचे में ढालने का यत्न किया। इसकी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों ने उसकी रचना तीसरी-चौथी शताब्दी निर्धारित की है जो कि निश्चित ही इससे पहले की रचना है।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने 'बुद्धचरित्र' में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में राम-कथा का स्पष्ट निर्देश है। 'बुद्धचरित' के बाद तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे विरचित अभिधर्म महाविभाषा ग्रन्थ में रामायण का स्पष्ट उल्लेख है। यह विभाषाग्रन्थ संप्रति चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित है।

रामायण पर बौद्ध प्रभाव के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि राम का शोक पर विजय प्राप्त करने का प्रसंग बौद्ध आदर्शों से प्रभावित है। 'दशरथ जातक' में उल्लिखित बौद्ध तपस्या और भिक्षुमय जीवन का क्षय लेकर आदि कवि ने हिन्दू गृहस्थ के आदर्शों का निर्माण किया है। सम्पूर्ण रामकथा में ब्राह्मणों एवं बौद्धों का संघर्ष प्रतीकात्मक ढंग से वर्णित है। बौद्धों को राक्षसों का प्रतीक बनाकर लंकाकाण्ड के प्रसंग में सिंहलद्वीप के बौद्धों के प्रति वाल्मीकि ने परोक्ष रूप से अपना विद्वेष एवं विरोध प्रकट किया है। उक्त प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

इन सभी विद्वानों की उक्त बातों का सम्यक् विश्लेषण बाबा कामिल बुल्के ने किया है। उनका कहना है कि सम्भव है बौद्ध धर्म की पर्याप्त ख्याति के कारण वाल्मीकि मुनि बौद्ध आदर्शों से प्रभावित हुए हों; किन्तु राम के चरित में जो सौम्यता, शान्ति एव कोमलता आदि सद्गुण दिखाई देते हैं, उनसे यह समझना चाहिए कि वाल्मीकि ने राम के इन गुणों को बौद्ध आदर्शों से उधार न लेकर राम के स्वभाव की मौलिक उपज के रूप में ग्रहण किया है क्योंकि राम, मुनि पहले थे और क्षत्रिय बाद में। बाबा कामिल बुल्के ने रामायण की रचना को ३०० ई० पूर्व स्वीकार किया है।[1]

उपर्युक्त विद्वानों के मतों एवं ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट है कि जहाँ अन्य रामायणों में राम को विष्णु के अवतार के रूप में अधिक चित्रित किया गया है, वहाँ वाल्मीकि रामायण में देव-चरित्र का वर्णन न होकर नर-चरित्र का ही उल्लख है क्योंकि जब महामुनि वाल्मीकि ने आदर्श गुणों से युक्त किसी विभूति का परिचय पूछा, तब नारद ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बताया—तैर्युक्तः श्रूयतां नरः (१।१।७)। यदि देखा जाय तो वास्तव में वाल्मीकि के समय की अनुश्रुतियों में राम का विष्णुत्व प्रकट होने लगा था, जिनके प्रभाव से प्रभावित न होना असम्भव ही था। फिर वाल्मीकि उन महान् ऋषियों मे से एक थे जिनका दृष्टिकोण पूर्णतः मानवीय था। राम उनके लिए एक महापुरुष थे, जिन्होने विकट परिस्थितियों के बीच रहकर भी अपने शील की रक्षा की तथा अपने युग की हीनताओं और मानव-मात्र की दुर्बलताओं से ऊपर उठकर मनुष्य को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुँचा दिया। इस स्वस्थ दृष्टिकोण ने उनकी रामायण को एक सहज आकर्षण से परिप्लावित करके ही छोड़ा।

महाभारत में रामायण तथा वाल्मीकि का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण रामायण की स्थिति निश्चित ही महाभारत से पहले की है। रामायण का समापन काल ५०० ई० पूर्व है।

---

१ बाबा कामिल बुल्के : रामकथा, पृष्ठ ३०।

चाहे जो कुछ हो भी हो हमें इतना तो अवश्य स्वीकार्य है कि रामायण के पुनः संस्करण २०० ई० पूर्व अर्थात् सातवाहन-युग तक होते गए, लेकिन, उसका समापन ५०० ई० पूर्व से भी पहले हो चुका था। यह भी स्पष्ट है कि रामायण में जिन स्थानों का उल्लेख जिन नामों से हुआ है, बौद्ध-युगीन प्राचीनतम ग्रन्थों में उन नामों का उल्लेख ठाक रामायणकालीन नामों से न होकर किसी दूसरे ही नामों से हुआ है। रामायण काल का विख्यात अयोध्या नाम बुद्ध के समय में आकर श्रावस्ती के नाम में बदल गया और इसी प्रकार जनकपुरी मिथिला का महत्त्व भी प्रायः क्षीण हो गया था। यह नाम-परिवर्तन एक बीती हुई लम्बी अवधि का सूचक है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण रामायण का विधिवत् अवलोकन किया जाय तो कहीं भी बौद्ध धर्म का उस पर प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता; बल्कि बौद्ध जातक, जिनको बौद्ध साहित्य में प्राचीनतम स्थान प्राप्त है की रामकथा की रूपरेखा रामायण से ही उद्धृत है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण जैन और बौद्ध साहित्य भगवान् राम के आदर्श चरित्र से प्रभावित दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में श्री दिनकर जी का तो यहाँ तक कहना है कि—

महाभारत के वनपर्व में जो रामोपाख्यान है, वह वाल्मीकि रामायण का ही संक्षिप्त रूप है। महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि उसकी रचना के समय राम ईश्वरत्व प्राप्त कर चुके थे और उनसे सम्बद्ध स्थान तीर्थ माने जाते थे। शृंगवेरपुर और गोप्रतार का वर्णन इसी रूप में मिलता है।

रामायण के रचना-काल की समीक्षा उसके अन्तःसाक्ष्यों को आधार बनाकर की जाय तो अधिक न्यायसंगत होगा। इस सम्बन्ध में मेरा निम्नलिखित मंतव्य है—

(१) 'महाभारत' रामायण से पूरे तौर से प्रभावित दृष्टिगत होता है। महाभारत में वाल्मीकि का उल्लेख एक पौराणिक मुनि के रूप में पाया जाता है, अतः रामायण की रचना उससे पहले हो चुकी थी क्योंकि महाभारत के कई आख्यान रामायण के आधार पर निर्मित हैं, साथ ही महाभारत रामकथा से परिचित ही नहीं, अपितु, वह वाल्मीकि-रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु, वन पर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३-९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। राम से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थ रूप में माने गये हैं। शृंगवेरपुर (सिंगरौर, जि० प्रयाग, वन पर्व ८५।६५) तथा गोप्रतार (फैजाबाद में गुप्तारघाट, वनपर्व ८४।७०) वन पर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था।

(२) प्रोफेसर वेबर इत्यादि विद्वानों का मत है कि रामायण की रचना महाभारत के बाद की है क्योंकि रामायण की काव्य शैली परिष्कृत और अपने समय की साहित्यिक प्रगति के अनुरूप पर्याप्त पुष्ट एवं अलंकृत है तथा महाभारत की भाषा और शैली में प्राचीनता और अस्त-व्यस्तता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वे भूल जाते हैं कि महाभारत कई प्रतिभाओं की रचना-संहिता है, इस लिए उसमें भाषा की विभिन्नता और काव्य शैली का अपरिष्कार दिखाई पड़ना स्वाभाविक है। रामायण तो एक हाथ की रचना अधिक है। प्रक्षेप इसमें जुड़े हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका मुख्य अंश एक ही कार्य की कुशल लेखनी का चमत्कार है। जिन परम्पराओं और अनुश्रुतियों के आधार पर रामायण की रचना हुई थी, वे महाभारत काल में आकर समाज की सामान्य धरोहर बन गई थीं।

प्रो० वेबर का यह कहना कि रामायण के पात्र काल्पनिक हैं और होमर के इलियड के कथानक के आधार पर रामायण की रचना की गई है, यह न्यायसंगत नहीं। रामायण के प्रमुख

पात्र आर्यों के अतिरिक्त वानर, ऋक्ष और राक्षस जैसे आदिवासी हैं, जबकि 'होमर के इलियड' और महाभारत के पात्र सुसस्कृत मानव ही हैं

इतना ही नहीं 'महाभारत' के वीरों में नैतिक आचरण कुछ-कुछ बौद्धिक है, समय-समय पर उसका अन्यथाचरण हो सकता है; पर रामायण के वीरों का नैतिक आचरण सहज है उसका अन्यथा भाव सम्भव नहीं। महाभारत के वीर अधिकतर सजातीय समाज के रंगमंच पर चमके हैं। महाभारत के क्षत्रिय वीर अनेक प्रकार के कालोपयोगी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं, तत्कालीन प्रचलित नवीनतम युद्ध-कौशलों और रूढ़ियों के अभ्यस्त हैं, पर रामायण के वीर—हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान् न तो इन कौशलों के जानकार और न रूढ़ियों के कायल।[1]

दोनों ग्रन्थों के अवलोकन से पाठक पर यही प्रभाव पड़ता है कि जहां महाभारत कालीन भारत में सामान्यतः अधिक राज्य, अधिक राजा, अधिक नगर, अधिक तीर्थ स्थान और अधिक नागरिक हलचल है, वहाँ रामायणकालीन भारत में अधिक जंगल, अधिक अनजाने रास्ते और प्रकृति से अधिक सम्पर्क है। यहां कि रामायण काल का आर्थिक जीवन भी महाभारत के आर्थिक जीवन से पिछड़ा हुआ है।[2]

रामायण का समाज, अपने सीमित भौगोलिक दायरे में अधिक सुगठित, व्यवस्थित और संघर्ष-रहित है, जबकि महाभारत के समाज की भौगोलिक सीमाएँ अधिक विस्तृत और संघर्ष-संकुल है। रामायणकालीन भारत के राजनीतिक मानचित्र में छोटे-छोटे राज्यों का बाहुल्य तथा किसी सार्वभौम सत्ता का अभाव पाया जाता है, तो महाभारत चौथी शताब्दी की ओर इंगित करता है, जब पूर्वी भारत में जरासंघ का शक्तिशाली साम्राज्य मगध के अतिरिक्त अन्य राज्यों को अपने भीतर समेटे हुए था। यदि रामायणकालीन संस्कृति महाभारतकालीन संस्कृति की अपेक्षा अर्वाचीन है, तो रामायण में महाभारत के सुप्रसिद्ध राज्यों का उल्लेख कैसे नहीं हुआ? रामायण क्योंकि इक्ष्वाकु राजाओं के गौरवशाली युग से सम्बन्धित है और महाभारत के स य कोसल राज्य को मगध साम्राज्य ने उदरस्थ कर लिया था, इसलिए रामायण काल अवश्य ही महाभारतकाल का पूर्ववर्ती है।

महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में रामायण का स्पष्ट उल्लेख है, जिसकी पुनरावृत्ति 'हरिवंश' में भी हुई है। इसी प्रकार एक तपस्वी एवं ऋषि के रूप में वाल्मीकि का उल्लेख महाभारत के द्रोणपर्व में किया गया है तथा इस श्लोक का उत्तरार्द्ध वाल्मीकि रामायण से अविकल रूप में उद्धृत है। भार्गव नामक ऋषि का एक श्लोक महाभारत में उद्धृत है जो कि उसी रूप में रामायण में मिलता है। महाभारत के आरण्यक पर्व में भीम स्वयं हनुमान् के विषय में कहते हैं कि वह रामायण में प्रसिद्ध हैं—

> भ्राता मम गुणश्लाध्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।
> रामायणेऽति विख्यातः शूरो वानरपुंगवः॥ ११॥ (अध्याय १४७)

उपर्युक्त तथ्यों के अवलोकन से निश्चित है कि रामायण की रचना 'महाभारत' से पहले और सम्भवतः 'भारत' से बाद में हुई।

(३) बौद्ध-साहित्य में जिसको एक 'पाटलिग्राम' का नाम दिया गया है, उस 'पाटलिपुत्र' को नगर के रूप में मगध-नरेश अजातशत्रु ने ५०० ई० पूर्व में बसाया था। अजातशत्रु ने शत्रु के

---

१ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा' (आलोचना, अक्टूबर १९५१, पृष्ठ १४)

२ जे० एन० समद्दर : एकॉनामिक कंडिशंस इन एन्श्यंट इंण्डिया, पृष्ठ ६८

आक्रमणों से रक्षा के लिए इस नगर में गंगा-सोन के संगम पर एक परकोटा भी बनवाया था।[1] इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहां नहीं मिलता।[2] जिससे प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र नामकरण (५०० ई० पूर्व) से पहले रामायण की रचना हो चुकी थी।

(४) कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बताई गई है।[3] परन्तु जैन बौद्धों के साहित्य में अयोध्या के स्थान पर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में बसाई थी।[4] इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गयी थी। बुद्ध के समकालीन कोशल-नरेश प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। इससे विदित होता है कि रामायण निश्चित रूप से श्रावस्ती राजधानी की स्थापना से पहले ही रची जा चुकी थी।

(५) राम गंगा पार करके 'विशाला' में पहुँचे। इनके राजा का नाम 'सुमति' था। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाला' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसीलिये यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[5] और मिथिला[6] दो स्वतन्त्र राजतन्त्रात्मक राज्य थे, परन्तु बुद्ध के काल में ये दोनों राज्य पृथक और स्वतन्त्र न होकर 'वैशाली' राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और शासन पद्धति भी गणतन्त्रात्मक राज्य के समान थी। इसी प्रकार 'मिथिला' में उस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज जनक राज्य करते थे। इससे प्रमाणित होता है कि रामायण की रचना बुद्ध से पहले हो चुकी थी।

(६) उत्तरी भारत आर्य क्षेत्र अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से प्रमाणित होता है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में यह विभाजित था। इस प्रकार की राजनीतिक स्थिति बुद्ध-पूर्व भारत में ही दिखाई पड़ती है।

(७) भारत का दक्षिण अंश एक विराट अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है जिसमें बन्दर, भालू, ऋक्ष आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। इन देशों में आर्य सभ्यता के प्रसार होने से पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत के आर्य बनने से पूर्व रामायण का निर्माण हुआ। सम्पूर्ण रामायण में यवन आदि का उल्लेख केवल दो बार हुआ है (१।५४।२१-२३) और उनका देश के राजनीतिक जीवन में नगण्य स्थान है।[7] सम्भवतः इसी आधार पर जर्मन विद्वान् डॉ० वेबर ने रामायण पर यूनानी सभ्यता के प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया था।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल रामायण की रचना ५०० ई० पूर्व से पहले की है। इन सभी प्रकरणों से रामायण की रचना का पूरा स्पष्टीकरण हो जाता है, और अयोध्या को रामायण के काल-निर्णय-सम्बन्धी अभीष्ट तक पहुँचने के लिए सहायता मिल जाती है। लेकिन, रामायण में समय-समय पर प्रक्षेपों के रूप में अतिरिक्त सामग्री जुड़ती रही। ये परिवर्धन कुछ तो प्रतिभाशाली कवियों ने और कुछ संस्कृत के विद्वानों ने किये। जहाँ तक मेरा अनुमान है कि परिवर्धन की प्रक्रिया में तीन कारण मुख्य रूप से सहायक हुए होंगे—

---

१ डॉ० हेमराय चन्द्र चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १४१।
२ बालकाण्ड सर्ग, ३१।
३ अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता। बालकाण्ड। ५।६।
४ श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता चलवस्य च ॥ उत्तर १०८।५।
५ देखिये : बालकाण्ड। ४७।११-२०।
६ देखिये : बालकाण्ड, सर्ग ५०।
७ नगेन्द्रनाथ घोष—'द रामायण एण्ड महाभारत, ए सोशियोलॉजिकल स्टडी', 'सर आशुतोष मुखर्जी सिलवर जुबिली वाल्यूम, ओरिएन्टेलिया, भाग २, पृष्ठ ३६१)

एक तो प्रारम्भ में यह काव्य मौखिक रूप से प्रचलित रहा, दूसरे बाद में इसकी कुछ ही हस्त-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध रहीं; और तीसरे इनकी प्रामाणिकता की पुष्टि के सहज साधन भी उपलब्ध नहीं थे। रामायण को लिपिबद्ध करते वक्त उसके विभिन्न पाठ, प्रक्षेप तथा श्लोकों के क्रम उसी रूप में लिखे गये, जिस रूप में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के सूत और गायक उन्हें गाकर सुनाया करते थे। यही कारण है कि भारत के विभिन्न भागों में रामायण के पृथक-पृथक पाठ प्रचलित हो गए।

महामुनि वाल्मीकिकृत रामायण का मूल स्वरूप क्या था और उसमें कितने श्लोक थे, इस सम्बन्ध में श्री नागेश भट्ट का मत है कि वाल्मीकि ने सौ करोड़ श्लोकों की रामकथा को लिपिबद्ध किया था, किन्तु, वह कथा सारी की सारी ब्रह्मलोक में चली गयी; केवल लव-कुश द्वारा अर्थात २४००० श्लोक ही उसमें से बच सके जिनको आज वाल्मीकि रामायण के रूप में जाना जाता है। पाठ भेदों के आधार पर पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में रामायण के अनेक संस्करण छपे। आज रामायण के चार प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध एवं प्रचलित हैं—

(i) औदीच्य पाठ—गुजरात प्रिंटिंग प्रेस बम्बई और निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है। यह पाठ अधिक प्रचलित एवं प्रामाणिक है।

(ii) गौडीय पाठ—सम्पूर्ण रामायण का सर्वप्रथम मुद्रित संस्करण राजा चार्ल्स अलबर्ट के व्यय से इटली के विद्वान् डॉ० गोरेसियो ने १८४३ से १८६७ के बीच कलकत्ता संस्कृत सीरीज से प्रकाशित किया। यह संस्करण बंगाल में प्रचलित पाठ पर आधारित था।

(iii) पश्चिमोत्तरीय पाठ—इसको काश्मीरी संस्करण कहा जाता है, जिसका प्रकाशन १९२३ ई० में डी० ए० वी० कालेज लाहौर से हुआ। इसका प्रचलन उत्तर-पश्चिम में है।

(iv) दाक्षिणात्य पाठ—चौथा दाक्षिणात्य संस्करण माध्वविलास बुक डिपो कुम्भकोणम्, मद्रास से १९२९-३० के बीच दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। बम्बई के संस्करण से यह अभिन्न है।

उक्त चारों संस्करणों के सम्बन्ध में विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। इन संस्करणों का पाठानुसंधान करने से ज्ञात होता है कि उनमें काफी भिन्नता है। इनमें कौन संस्करण अधिक प्रमाणिक है, कहा नहीं जा सकता है, किन्तु, कुछ विद्वानों की राय है कि बम्बई संस्करण और उसके बाद कलकत्ता-संस्करण प्रमाणिक है। दाक्षिणात्य, औदीच्य एवं गौडीय ये तीनों संस्करण प्रधानतया गिने जाते हैं। बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक के सर्गों की संख्या विभिन्न पाठों में निम्न प्रकार है—दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार ६४३ सर्ग, औदीच्य पाठ के अनुसार ६६४ सर्ग और गौडीय पाठ के अनुसार ६६६ सर्ग उपलब्ध हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि औदीच्य पाठ, दाक्षिणात्य पाठ से पहली शताब्दी ई० से पृथक होने लगा था और गौडीय तथा पश्चिमोत्तरी पाठों की स्वतन्त्र स्थिति ५०० ई० से निर्मित होने लग गई थी। उक्त तीनों संस्करणों के पाठों का वर्णन बाबा कामिल बुल्के ने बहुत अच्छी रीति से अपनी पुस्तक 'रामकथा' में किया है।

अध्याय ३

रामायण-कालीन प्रशासनिक व्यवस्था

रामायणकालीन प्रशासनिक व्यवस्था

रामायणकालीन भारत में एकच्छत्र साम्राज्य का अभाव था। सम्पूर्ण उत्तरी भारत आर्यावर्त एवं दक्षिण का पठार दक्षिण पथ के रूप में ख्यात थे। पूर्व से पश्चिम दिशा में फैली हुई विन्ध्य श्रृंखला आर्यावर्त को दक्षिणी भाग में विभक्त कर रही थी, जो आधार रूप में आज मान्य है। हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओं का मध्यवर्ती आर्यावर्त देश—काशी, कोसल, केकय, मिथिला; मत्स्य, मगध, वंग, विशाला, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, सांकाश्या आदि स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था। इसकी पुष्टि वाल्मीकि-रामायण बालकाण्ड के दसवें सर्ग के अध्ययन से भी होती है। महाराज दशरथ ने कैकेयी के समक्ष अपने को सम्पूर्ण वसुन्धरा का स्वामी बताया था (२।१०।३६-८)। किष्किंधाकाण्ड के अठारहवें सर्ग में भी उल्लेख है कि राम ने बालि के कठोर वचनों का उत्तर देते समय, समस्त भारत पर इक्ष्वाकुवंशी अयोध्या-नृपति भरत की राज्य-सत्ता का दावा किया था।[1] किन्तु जो कुछ भी हो, कोसल-नरेश का प्रभाव आस-पास के कुछ सामन्त राजाओं तक ही सीमित था। रोमन साम्राज्य की तरह अयोध्या का साम्राज्य केन्द्र संचालित नहीं था। दशरथ की प्रभुसत्ता, की तुलना परवर्ती मुगल-सम्राटों की सत्ता से की जा सकती है। परन्तु यह सत्य है कि राम के राजत्व काल में कोसल राज्य में अतिशय वृद्धि हुई। यदि देखा जाय तो कोसल राज्य का क्षेत्रफल बहुत बड़ा नहीं था। सदातीरा अथवा गंडक नदी कोसल और विदेह जनपदों की सीमा निर्धारित करती थी। रामायण के अनुसार[2] गोमती नदी इस जनपद के पश्चिमी तथा स्यंदिका (सई) नदी का तटवर्ती प्रदेश कोसल की दक्षिणी सीमा थी। वन जाते समय राम ने अयोध्या से रथ द्वारा एक दिन में यह सीमा पार कर ली थी। इसी के साथ कुछ छोटे राज्य थे और फिर निषाद राज गुह के राज्य की सीमा प्रारम्भ होती थी।

(१) राजतन्त्रों में लोकतन्त्र की झलक

रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि रामायण में कहीं गणतन्त्र का उल्लेख नहीं है। रामायणकालीन शासन का ढाँचा मर्यादित राजतन्त्र था। जनपद की राज-व्यवस्था का विकास पूर्व वैदिक जन-व्यवस्था से हुआ था। जनपद-युग में राजतन्त्र तथा उसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित दार्शनिक कल्पनाओं का उद्भव हुआ राजतन्त्र की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धान्त का संकेत शतपथ ब्राह्मण[3] में भी मिलता है, जहाँ प्राकृतिक अवस्था से उद्भूत नियमविहीन समाज तथा उसमें शक्तिहीन के ऊपर शक्तिशाली के अत्याचार का उल्लेख किया गया है। रामायण[4] में अराजक जनपद तथा उसके दुर्गुणों का विशद विवेचन करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि अराजक समाज में शक्तिशाली दुर्बलों को आत्मसात कर जाते हैं। इसी प्रसंग में राजा की आव-

---

१ इक्ष्वाकूणामियं भूमि : सशैलवनकानना ४।१८।६॥
२ रामायण, २, ४९, ११-१२; २, ५०, १; ७, १०४, १५
३ शतपथ ब्राह्मण; ११, १, ६, २४
४ वाल्मीकि रामायण। अयोध्याकाण्ड। ६७, ३१।

श्यकता पर भी बल दिया गया है। महाभारत[1] में राजतन्त्र की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए पार्थिव राजा के प्रति अभिवादन को इन्द्र के प्रति अभिवादन के समान बतलाया गया है और आगे चलकर राजा को महान् देवता का अवतार भी बतलाया गया है। रामायण[2] में भी राजाओं को पृथ्वी पर मानवी रूप में देवता कहा गया है।

प्रारम्भिक जनपदीय राजाओं की सतर्कता तथा राजकीय उत्तरदायित्वों के उचित निर्वहन के कारण राजतन्त्र की संस्था को जनमानस में ऊँचा स्थान प्राप्त हो गया। जनक महान् की भाँति विदेह राजा, केकय के राजा अश्वपति, काशी के ब्रह्मदत्त वंशीय राजा, रामायण में वर्णित अयोध्या-नृपति तथा कुछ अन्य राजाओं के नाम जनपद काल के आदर्श राजतन्त्र के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस काल के राजतन्त्र ने स्वतः को सुस्थापित कर लिया था। जनता अपनी सुरक्षा और भलाई के लिए राजा की ओर देखती थी और राज्य की प्रत्येक आपदा का सम्बन्ध राजा की किसी भूल से जोड़ देती थी। इस काल की जनता में धीरे-धीरे राजनीतिक चेतना का लोप हो गया और वह राजाओं के शासन के प्रति सहिष्णु हो गई, चाहे वे सार्वजनिक इच्छा के विपरीत ही आचरण क्यों न करें। रानी कैकेयी के आग्रह पर राजा दशरथ द्वारा राम का वनवास इस काल के राजतन्त्र तथा उसके कार्यों के प्रति जनता की शान्त और असहाय मनोदशा का ज्वलंत उदाहरण है। दूसरी ओर कुलीनतन्त्रीय तत्त्व भी राजनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा के छिन जाने के कारण राजनीतिक मामलों में समान रूप से असहाय हो चुके थे। कुलीन जनों की इच्छाओं पर ध्यान दिये बिना दशरथ के द्वारा राम को युवराज पद तथा वनवास दिया जाना असंदिग्ध रूप से प्रभुता सम्पन्न राजतन्त्र के सम्मुख कुलीनतन्त्री तत्त्वों की महत्त्वहीनता को सिद्ध करते हैं। पुनश्च आदर्श राजतन्त्र में अयोध्या के राम तथा केकय के अश्वपति के उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें अपने पद तथा कर्तव्यों के प्रति महान् नैतिक उत्तरदायित्व विद्यमान है। राम अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए निर्दोष पत्नी सीता को वनवासित कर देते हैं और अश्वपति हर प्रकार के दूषण का उन्मूलन कर प्रजाजनों के ऊपर स्वर्ग बरसाने के अभिलाषी दीख पड़ते हैं। वस्तुतः प्रभुतासम्पन्न राजा नैतिक के अतिरिक्त हर प्रकार के निरोधों से स्वतन्त्र होने के कारण धीरे-धीरे विशाल शक्तियों का अधिकारी[3] हो गया और मानवीय दुर्बलता के कारण संस्था निरकुश तन्त्र में परिवर्तित हो गयी। कुलीन तत्त्वों तथा जनता के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व के कारण राजा को कोई भय नहीं रहा।[4]

तत्कालीन समय में राजा का पद कुल-परम्परागत था। रामायण के सैंतालीसवें सर्ग में इक्ष्वाकुवंश का वर्णन किया है, इससे ध्वनित होता है कि राम से कई पीढ़ियों पहले और बाद भी राजपद आनुवंशिक ही था। नये नृपति के चयन के लिए सभा (आधुनिक लोक सभा) की स्वीकृति प्राप्त कर लेना अपरिहार्य था। भावी राजा पहले वर्तमान नृपति तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित किया जाता था और तत्पश्चात् सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता था। साथ ही सामन्त राजाओं की सहमति भी ली जाती थी। राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव को महाराज दशरथ ने अपनी लोक सभा बुलाकर, सर्वसम्मत से पारित करा लिया था। बालि की अनुपस्थिति में मंत्रियों ने मिलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था (४।६।२१)। उत्तरकाण्ड के अध्ययन से पता चलता है

---

१ न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमियः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ महाभारत, शान्तिपर्व; ६८,४०

२ तान्न हिंसान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ रामायण, किष्किधा; १८,४३

३ यावदावर्त्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा। वा० रा०। अयोध्या। १०, ३६,

४ लंका का राजा रावण।

कि राजा नृग ने प्रजाजनों, नैगमों, मंत्रियों तथा पुरोहित को बुलाकर उनके समक्ष अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया था।[१] चित्रकूट पर भरत ने राम से आग्रह किया था कि आप यहीं प्रजाजनों, ऋत्विजों तथा पुरोहित के हाथों अपना राज्याभिषेक करा लीजिये।[२] इन उपर्युक्त उदाहरणों से रामायणकालीन राजतन्त्र में लोकतन्त्र का भी पुट स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(२) युवराज पद पर नियुक्ति का विधान

तत्कालीन समय में प्रायः योग्य ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज पद का अधिकारी होता था। यदि ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य होता था, तो उसे अपने अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था। इतिहास साक्षी है कि जनता के हार्दिक अनुरोध पर राजा सगर ने अपने अयोग्य, दुष्ट एवं अत्याचारी ज्येष्ठ पुत्र असमंज को राज्याधिकार से वंचित कर उसे राज्य से निष्कासित कर दिया था। पुत्र के अभाव में राजा का भाई युवराज का अधिकारी होता था। राम के राज्याभिषेक के समय भरत को युवराज पद पर आसीन किया गया क्योंकि उस समय तक राम की कोई सन्तान नहीं थी। साथ ही राजा के देहान्त के बाद युवराज पद पर अभिषिक्त किया गया राजकुमार राज्यारूढ़ होता था। लेकिन शासक की मृत्यु होने पर युवराज को राज्यारूढ़ कराने हेतु लोक-सभा की पुनः अनुमति नहीं लेनी पड़ती थी। यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी कारणवश अयोग्य न प्रमाणित होने के बावजूद राज्याधिकार से वंचित किया जा रहा हो, तो वह प्रमुख उपायों का सहारा ले सकता था—

(i) राजा को मार कर या कैद कर राज्य पर बलपूर्वक अधिकार किया जा सकता था जैसा कि लक्ष्मण ने वनवास के समय राम को राय दी थी।[३] राम की माता कौशल्या ने इस प्रस्ताव का विरोध नहीं किया और इसके प्रति राम का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु राम ने इसका विरोध कर धर्म का अनुगमन करने तथा पिता की ही आज्ञा शिरोधार्य करने का दृढ़ संकल्प किया (२।२१।४४)। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि राम ने लक्ष्मण की राय को क्षत्रिय-परम्परा के विरुद्ध नहीं बताया।

(ii) द्वितीय उपाय स्वयं दशरथ ने ही सुझाते हुए कहा था कि हे राम। कैकेयी ने वर माँग कर धोखा दिया है। इस नाते तुम मुझे कैद कर बलपूर्वक अयोध्या के राजा बन जाओ।[४]

(iii) तृतीय उपाय पूर्णतः प्रजा के सहयोग पर अवलम्बित था। राजकुमार की लोकप्रियता के कारण प्रजा, सेना तथा मन्त्रीगण, राजधानी छोड़कर उसके साथ कहीं दूर जा सकते थे और नया राज्य बसाकर रह सकते थे।[५]

उपर्युक्त प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सभी उपायों को किसी न किसी रूप में अवश्य अपनाया जाता रहा होगा। यदि राजा का देहान्त युवराज नियुक्त करने के पहले ही हो जाता था तो ऐसी स्थिति में नये राजा के निर्वाचन की व्यवस्था 'राजकर्तारः'[६] करते थे। मन्त्रि परिषद के जो सदस्य नवीन राजा का निर्वाचन करने का प्रस्ताव रखते थे, वे इसी नाम से सम्बोधित किये जाते थे। राम, लक्ष्मण और सीता के वन चले जाने पर जब राजा दशरथ की मृत्यु हुई, तब भरत और शत्रुघ्न दोनों अपने ननिहाल केकय देश में थे। ऐसी स्थिति में राजकर्त्ताओं (जिसमें विशेषकर मन्त्रिगण, राजपुरोहित उल्लेखनीय हैं) ने मिल कर विचार-विमर्श किया और निर्णय लिया कि

१ देखिये ७।५४।५-६-८
२ देखिये २।१०६।२६
३ देखिये २।२१।१२-३
४ अहंराघव केकेया वरदानेन मोहितः। अयोध्यास्त्यमेवाध भव राजा निगृह्य माम् ॥२।३४।२६
५ देखिये २।३३।२२; २।३७।२५-२६
६ देखिये २।११५।२२

इक्ष्वाकुवंश के किसी पुरुष को राज्यासन पर आरूढ़ करना चाहिए, नहीं तो राजा के बिना हमारा राष्ट्र नष्ट हो जायेगा। अतः भरत को तुरन्त बुलाया जाय। यदि किसी कारणवश नये राजा की नियुक्ति में विलम्ब होने की सम्भावना होती, तो राज्य का प्रशासन एक 'व्यवस्थापक' के हाथों में सौंप दिया जाता था। उसी व्यवस्था के अनुसार भरत ने चौदह वर्ष तक अयोध्या के राज्य को ट्रस्ट मानकर उसका शासन 'नन्दिग्राम' में रहकर किया था। वनवास की अवधि समाप्त होने के बाद जब राम अपनी नगरी अयोध्या को लौटे, तब भरत ने उन्हें राज्य का शासन प्रबन्ध समर्पित करते हुए कहा था कि 'आप खजाना, सेना आदि का निरीक्षण कर लें।"[1]

(३) राजपद की विशेषताएँ

शत्रु पर विजय प्राप्त करना, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना करना और उसे स्थायी बनाना, राज्य के निवासियों को भयमुक्त रखना, राष्ट्र के सर्वांग विकास एवं समृद्धि के साधन जुटाये रखना आदि कुछ ऐसे महान् कार्य थे जिनका विधिवत् सम्पादन राजा के सहयोग के बिना असम्भव समझा गया था। इसलिए वेदों में राजा राज्य का जन्मस्थान और उसका केन्द्र बतलाया गया है। विश्व के इतिहास में रामायणकालीन राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिए विख्यात है। उसका निजी अस्तित्व है तथा उसकी अपनी विलक्षणता है। राज-पद पर किस श्रेणी के लोगों को स्थान दिया जाना चाहिए, इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण[2] में कुछ प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार आर्यों का वह वर्ग राजन्य है जिसमें क्षात्र बल का प्राधान्य हो और जो युद्ध में शौर्य प्रदर्शन करने की सामर्थ्य रखता हो। इस सिद्धान्त के अनुसार राजन्य मात्र राजपद प्राप्ति का अधिकारी था। राजन्य क्षात्र बलधारी पुरुष था। इस दृष्टि से तत्कालीन आर्यों में केवल क्षत्रिय राज्याधिकारी था। ब्राह्मण; वैश्य और शूद्र राजपद के अधिकारी न थे। किन्तु समय के प्रवाह के साथ-साथ इस विचारधारा में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गई। इसका कारण यह था कि कुछ समय बाद क्षत्रिय से इतर कतिपय प्रतापी एवं विक्रम सम्पन्न पुरुष भी राजा होने लगे थे परन्तु, वैदिक मन्त्रों एवं वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष का राज्याभिषेक नहीं किया जा सकता था। यदि क्षत्रिय से इतर किसी पुरुष का राज्याभिषेक किया भी जाता तो वह विधिसम्मत नहीं माना जाता और लोक दृष्टि में इस प्रकार किया गया राज्याभिषेक अमान्य होता। इसलिए राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति के स्थान में एक नवीन पद्धति के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई; जिसके द्वारा क्षत्रिय से इतर पुरुषों का भी राज्याभिषेक नियमानुसार किया जा सकता था और इस विधि से किया गया राज्याभिषेक लोक की दृष्टि में मान्य एवं विधिसम्मत था।

राजा का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था। लंकानृपति रावण ने मारीच को समझाते हुए कहा था कि—"तेजस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, यम और वरुण इन पाँच देवताओं का स्वरूप धारण करता है। इसी से उनमें इन पाँचों के गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दण्ड और प्रसन्नता पाये जाते हैं। अतः सब अवसरों में राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिए।" (३।४०।१२ से १४)। राम ने बालि से कहा था कि राजा लोग दुलभ, धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदय के दाता होते हैं, अतः उनकी शिकायत हिंसा तथा उनके प्रति आक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि देखा जाय तो वे वास्तव में वे देवता हैं, जो मनुष्य रूप से इस वसुन्धरा पर विचरते हैं। जो मनुष्य पाप करके राजा के दिये हुए दण्ड को भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर

---

१ देखिय ६।१२७।५४-५६

२ शतपथ ब्राह्मण १०।२।६।१३; ६।५।१।१३

पुण्यात्मा पुरुषों की भाँति स्वर्गलोक में जाते हैं।[१] जो चोर अथवा पापी स्वयं जाकर राजा से अपना पापकर्म कह देता है और दण्ड चाहता है, उसे राजा चाहे तो दण्ड दे अथवा क्षमा कर दे। दोनों दशाओं में वह पापी तो पाप से मुक्त हो जाता है, किन्तु राज पापी को पाप का दण्ड न देने से स्वयं पाप का भागी हो जाता है (४।१८।३३)।

महर्षि वाल्मीकि के मतानुसार योग्य एवं कुशल राजा का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। वह पराक्रमी धर्मज्ञ, गुणवान्, दूसरों की भलाई देखने वाला, सत्यवादी, दृढ़ प्रतिज्ञ, सदाचारी, लोकाचार में तत्पर, विद्वान्, सामर्थ्यवान्, क्रोध को जीतने वाला कान्तिमान्, और संग्राम में अजेय लड़ाकू वीर होता है।[२]

नारद के अनुसार—"आदर्श राजा मन को जीतने वाले, महावीर्य, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, नीतियुक्त और शत्रुनाशक होते हैं। उनकी भुजाएँ महान् और कन्धे विशाल, उनकी गरदन पर शंख के समान तीन रेखाएँ, ठुड्डी बहुत बड़ी, छाती चौड़ी, उनकी गरदन के पास की हंसुली माँस में छुपी हुई, भुजाएं घुटनों तक लम्बी, सिर और मस्तक बहुत सुन्दर होता है। चाल हाथी और शेर की तरह, शरीर मध्यम और शरीर का रंग स्निग्ध, वक्षस्थल उभरा हुआ और आँखें बड़ी होती हैं। लक्ष्मी से पूर्ण तथा धर्म को अच्छी तरह जानने वाला तथा ज्ञानी, यशस्वी, पवित्र और नम्र होता है। चित्त में आये हुए विकार को रोक लेता है। ब्रह्मा के समान वह प्रजा का पालन करता है। वह स्वधर्म, स्वजन और जीवों की रक्षा करता है। वेद वेदाङ्ग, धनुर्वेद और सब शास्त्रों का ज्ञाता होता है तथा उत्तम विचार और उदार हृदय वाला होता है (१।१।८ से १४)।

अयोध्या की जनता के अनुसार—"आदर्श राजा वीर्यवान्, सत्य में तत्पर, धर्म और लक्ष्मी की प्रतिष्ठा देने वाले, प्रजा को सुख देने में चन्द्र, क्षमा में पृथ्वी, बुद्धि में वृहस्पति, पराक्रम में इन्द्र, धर्मज्ञ सत्यसन्ध, शीलवान, ईर्ष्यारहित, क्षमायुक्त, सरल, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्थिरचित्त, सदासुन्दर अनिन्दक, प्राणियों से प्रिय और बहुश्रुत तथा ब्राह्मणों के उपासक होते हैं। इन गुणों के द्वारा उनकी अतुल कीर्ति, यश और तेज बढ़ता जाता है। देवता, असुर और मनुष्यों की सम्पूर्ण अस्त्र-विधाओं में निपुण, कल्याणों की जन्म-भूमि दीनतारहित, वाद्य और चित्रकारी का विशेषज्ञ, शत्रु पर आक्रमण और प्रहार करने में कुशल, सेना-संचालन में निपुण, दोष-दृष्टि से रहित, अमित तेजस्वी, असाधारण वक्ता, तरुण और देश काल के तत्त्व को समझने वाला होता है (२।२।२९, ३०, ३५, ४७)।"

सुग्रीव-सचिव हनुमान के मतानुसार—"आदर्श राजा पूर्ण चन्द्र के समान मनोहर मुख वाला, पद्मपत्र के समान विशाल नेत्रों से युक्त, तेज, क्षमा, रूप और औदर्य से सम्पन्न, बुद्धि और यश से युक्त, सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्य का रक्षक परम प्रकाश स्वरूप, राजनीति में पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणों का उपासक, शीलवान् ज्ञानी, विनम्र, वेद-वेदाङ्ग का परिनिष्ठित विद्वान और सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार अंगप्रत्यंगों से युक्त होता है (५।३५।८-१३)।"

वानरेन्द्र बालि ने आदर्श राजा के गुणों की व्याख्या करते हुए राम से कहा था कि—'साम, दाम, क्षमा, धैर्य, धर्म, सत्य और पराक्रम करना तथा अपकारियों को दण्ड देना—ये राजा के गुण हैं। हे राजन! हम तो वनचारी मृग हैं, फल, मूल हमारा आहार है क्योंकि यही हमारा स्वभाव है। नीति, नम्रता, निग्रह और अनुग्रह ये राजधर्म समयानुसार अर्थात् उचितानुचित स्थान देखकर प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि राजा लोग यथेष्टचारी नहीं होते--अपने मन के अनुसार व्यवहार नहीं

---

१ देखिये ४।१८।४२-४३

२ देखिये बालकाण्ड।१।२-४

करते ।[१] जैसा कि लक्ष्मण ने राम से निवेदन किया था कि बडी सेना के चरण चिन्ह भी यहाँ पर नहीं देख पड़ते । इसलिए एक के अपराध के लिए समस्त लोकों का नाश करना उचित प्रतीत नहीं होता ।[२] धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और काम के सेवन में ही रत रहना राजा के पथभ्रष्ट होने का चिन्ह है । उसे सदैव न्याय परायण और लोकप्रिय बनने की कोशिश करनी चाहिए । राज-काज में राजा को महत्त्वपूर्ण योगदान देना चाहिए । जब सुग्रीव राज्य का कार्य मंत्रियों को सौप कर, भोग विलास में रत हो गये, तब हनुमान् ने उलाहना देकर उन्हें कर्तव्य के प्रति सचेष्ट किया था—

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्य पार्थिवो हितम् ।
अतएव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं वचः ॥५।३२।१८

आचार्य कौटिल्य[३] का मत है कि—'आदर्श राजा के सोलह आभिगामिक गुण होते हैं—जैसे राजाओं को उच्च कुल में जायमान, दैवसम्पन्न, बुद्धि सम्पन्न, सत्त्व सम्पन्न (सम्पत्ति तथा विपत्ति में धैर्यशाली), विद्यावृद्धजनों का सेवक, धर्मात्मा, सत्यवादी अविसंवादक (सत्यप्रतिज्ञ एवं कम और वचन की एकरूपता युक्त), कृतज्ञ, महानदाता (स्थूल लक्ष्य महोत्साह, द्रुतगति से काम करने वाला आसानी से सामन्तों को वश में करने वाला, दृढ़बुद्धि, अक्षुद्रयरिषत्मक और विनयी होना चाहिए ।

कौटिल्य ने राजा के आठ प्रज्ञागुणों को भी गिनाया है जैसे—शुश्रूषा (शास्त्र-श्रवण की अभिलाषा), श्रवण (किसी की बात को ध्यान से सुनना), ग्रहण (बात का मतलब समझ कर उसे हृदयंगम करना), धारण (सुनी हुई बात को याद रखना), विज्ञान (किसी विषय का विशेष ज्ञान), ऊह (किसी विषय को समझने के लिए किया हुआ तर्क), अपोह (दूषित पक्ष का परित्याग) और तत्त्वाभिनिवेश (गुण पूर्ण पक्ष में मन को लगाना) ये ही राजा के प्रज्ञागुण हैं ।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के चार प्रमुख उत्साह गुणों का भी उल्लेख किया है जैसे शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता और दाक्ष्य ।

अथर्ववेद के अनुसार राजा के अनिवार्य गुण व्यापक सत्य, दृढ़ संकल्प, दीक्षा, तप, विद्या, ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति हैं ।

महाभारत (शान्ति पर्व) में उल्लेख किया गया है कि राजा का वैयक्तिक जीवन हर प्रकार की बुराइयों से मुक्त होना चाहिए और उसमें पूर्ण आत्म नियन्त्रण[४] होना चाहिये, क्योंकि आत्म-जित् हुए बिना वह दूसरों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता । इसके अतिरिक्त[५] उसे गुणवान्, दयालु, बुद्धिमान, पुण्यात्मा, प्रियदर्शन तथा सत्य-संकल्प होना चाहिए । महाभारत में महान् और आदर्श राजा की विशेषताओं का विवेचन किया गया है जहाँ उससे धैर्यवान, उत्तम, विवेक युक्त, कालज्ञ-सतर्क, अनुरक्त मित्र-सम्पन्न इत्यादि होने की अपेक्षा की गई है ।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि तत्कालीन आदर्श राजा के लिए वांछनीय गुण प्रशासनिक दक्षता एवं योग्यता, बल-पौरुष, अदम्य साहस आदि तथा उसके व्यवहार

---

१ देखिये किष्किंधाकाण्ड । १७।२७।३०
२ देखिये ३।६५।६
३ कौटिल्यं अर्थशास्त्रम्—पृष्ठ अधिकरण, पृष्ठ ४५०-५१
४ आत्माजेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयते कथं रिपून ॥—महाभारत, शान्तिपर्व, ६९-४
५ गुणवान् शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः ।
सुदर्शः स्थूललक्ष्य न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥—महाभारत, शान्तिपर्व, ५६-१६

एवं आचरण में सत्यता, दृढ़ता एवं स्थायी सत्य संकल्प, दीक्षा, तप, विद्या एवं ज्ञान (ब्रह्म) और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति हैं। राजा इन्हीं सब गुणों को धारण करने पर राज्य के सम्यक् संचालन में सफल हो सकता था।

(४) राजा के दैनिक क्रिया-कलाप—

राजा के दैनिक जीवन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजा का दैनिक कार्यक्रम क्या होता था अथवा होना चाहिए इसका उदाहरण वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाण्ड में वर्णित राम की दिनचर्या से प्राप्त होता है। प्रत्येक दिन सूर्योदय से पहले बंदीगण आकर स्तुति और मधुर संगीत द्वारा राम को जगाते थे (७।३७।३-८)। उठने के बाद राम स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुल देवता, पितरों और विप्रों की पूजा करते थे (७।३७।१३-१४)। इसके बाद राम बाह्य कक्षा में जाकर सार्वजनिक कार्यों का समाधान करते थे। यहाँ अमात्यों, पुरोहितों, सैन्य अधिकारियों, जानपदों, सामन्त राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गों के साथ सभा का संचालन किया करते थे। पौरकार्य में व्यस्त न होने पर वह ऋषि-मुनियों के धर्म प्रवचन को ध्यान से सुना करते थे। दिन के शेष समय में वह मध्य कमरे में गुप्तचरों आदि के साथ महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा किया करते थे।

आचार्य कौटिल्य का मत है कि यदि राजा क्रियाशील होगा तो उसके अधिकारी भी क्रियाशील होंगे। यदि वह प्रमादी होगा तो उसके अधिकारी भी प्रमादी होंगे। वे राजा को भी प्रजा में सर्वथा अप्रिय बना देंगे। ऐसा राजा शीघ्र ही शत्रुओं के वश में हो जाता । अतः राजा सतर्क और सावधान होकर प्रजा के कल्याण साधन में सदा जुटा रहे। राजा के क्या दैनिक कार्य होने चाहिए इसके बारे में भी कौटिल्य ने कहा है कि राजा दिन और रात को आठ-आठ भागों में में (प्रतिभाग=डेढ़ घण्टा) विभाजित कर ले और उसके अनुसार राज्य-कार्यों का सम्पादन करे। दिन के प्रथम भाग में राजा प्रजा की रक्षा के विधानों (पुलिस-विभाग और राज्य की आय-व्यय का श्रवण करे। दूसरे भाग में नगर और ग्रामवासियों के कार्यों को देखे अर्थात् उनके अभियोग और व्यवहार (मुकदमों) को विधिवत् सुने। दिन के तीसरे भाग में वह स्नान, भोजन का सेवन और स्वाध्याय करे। चतुर्थ भाग में सुवर्ण-ग्रहण अर्थात् कर विभाग (माल महकमा) का निरीक्षण और शासकों की नियुक्ति परिवर्तन आदि पर विचार करे। दिन के पाँचवें भाग में महत्त्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रि-परिषद का परामर्श ग्रहण करे। इसी समय में राजा गुप्तचरों से गुप्त बातों की जानकारी प्राप्त करे। छठवें भाग में राजा की जैसा इच्छा हो करे अथवा अधिकारियों से मंत्रणा करे। दिन के सातवें भाग में हाथी, अश्व, रथ और शस्त्रों की देख रेख करे। आठवें भाग में सेनापति को बुलाकर उसके साथ युद्ध आदि सैनिक विषयों पर बातचीत करे। इस प्रकार जब सायंकाल हो जाये तो राजा उठकर सन्ध्या-उपासना करे।

इसी तरह राजा रात्रि के प्रथम भाग में महत्त्वपूर्ण एवं गूढ़ पुरुषों से मंत्रणा करे। रात्रि के दूसरे भाग में स्नान-भोजन और स्वाध्याय करे। तीसरे भाग में तूर्य-ध्वनि से रनिवास में प्रवेश करे और चौथे तथा पाँचवें भाग में अर्थात् एक पहर तक शयन करे। छठे भाग में वह पुनः तूर्य-ध्वनि के साथ निद्रा का परित्याग करके उठ बैठे और उसी समय नीतिशास्त्र एवं दिन के आवश्यक कर्त्तव्यों का विचार कर ले और उन्हें अपने-अपने कामों पर भेज दे। फिर रात्रि के आठवें भाग में ऋत्विक, आचार्य और पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन एवं शान्ति पाठ का प्रवचन करे और इसके अनन्तर रात के इसी अन्तिम भाग में वैद्य, रसोई के कार्यकर्त्ता तथा ज्योतिषी से बातचीत करके राजा अपने शरीर आदि के सम्बन्ध में विचार कर ले। प्रातःकाल होने पर बछड़े सहित धेनु की परिक्रमा करके राजा दैनिक कार्य के लिए पुनः अपने दरबार में पहुँचे और पूर्ववत् दिनचर्या प्रारम्भ

करे। जब राजा दरबार में उपस्थित हो तो जिनके जो काम हों, उनको बिना रोक-टोक के मिलने दिया जाय क्योंकि—

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ (कोटि० अर्थ० १।१९)

राजा बालक, वृद्ध, रोगी, अनाथ एवं स्त्रियों के हित की स्वयं देखभाल करे, केवल अधिकारियों पर उसे न छोड़ दे। वह प्रजा की रक्षा और शत्रु के आक्रमण से बचाव रखने के लिए देवालय, मुनियों के आश्रम, पाखण्डियों के मठ, वेदशाला, पशुशाला तथा धर्मशाला आदि का स्वयं समय-समय पर निरीक्षण करें और यथोचित कार्य को सम्पन्न करे। अपनी उन्नति यज्ञ, प्रजा के करने योग्य कार्यों का अनुशासन, दान देना, प्रजा पर समान दृष्टि रखना ये सब कर्त्तव्य दीक्षित राजा के व्रत माने जाते हैं।

राजा नित्य उद्योग में तत्पर रहे और नीति के अनुसार ही प्रजा का अनुशासन करे। जो राजा नीति के अनुसार चलता है, उसका सदा उत्कर्ष एवं अभ्युदय होता है और संकट उससे कोसों दूर भागता है। यदि राजा अपनी उन्नति के उपायों में तत्पर नहीं होगा तो वह पाई हुई और आगे प्राप्त होने वाली सारी सम्पत्ति को खो बैठेगा। यदि वह नीति के अनुसार बढ़ने की चेष्टा करेगा तो उसे ऐश्वर्य एवं समृद्धि का मीठा फल प्राप्त होगा।

आदर्श राजा के शासन-प्रबन्ध के अन्तर्गत देश की समृद्धि होनी स्वाभाविक थी। राजा दशरथ के राजत्व काल में अयोध्यावासी बहुत प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्य से पूर्ण थे। वे नाना प्रकार के वस्त्रा-भूषणों से सुसज्जित रहते थे। अयोध्या में कामी, कृपण और हिंसक कोई नहीं था। वहाँ न कोई मूर्ख था और न कोई नास्तिक। वहाँ के सभी लोग बहुमूल्य खाद्य पदार्थों का सेवन करते थे। वहाँ सभी सदाचारी थे। उस राजधानी में कोई दीन और पीड़ित नहीं था। वैश्य क्षत्रियों के अनुगामी और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा किया करते थे। वह नगरी अग्नि तुल्य तेजस्वी योद्धाओं से भरी रहती थी, जो धर्म युद्ध किया करते थे (१।१६)।

राम-राज्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय विधवाओं का विलाप कहीं सुनाई नहीं पड़ता था। जनता को किसी प्रकार की शारीरिक व्यथा नहीं रहती थी और न मानसिक चिंता तथा न दुर्भिक्ष ही का भय रह गया था। किसी पुरुष को पुत्रशोक नहीं होता था। उस समय लोग दीर्घजीवी और पुत्र-पौत्र सम्पन्न थे। सभी स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं। किसी के घर में न आग लगती और न कोई जल में डूब कर मरता ही था। इस प्रकार न तो कभी आंधी तूफान से हानि होती और न ज्वर आदि महामारी का भय उत्पन्न होता था (१।१।९०-९२)। राजधानी और राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण थे। सब लोग उसी प्रकार आनन्द सहित दिन बिताते थे जैसे सत्ययुग में लोग बिताते थे (१।१।९३)।

(५) राजा के व्यक्तित्व की पवित्रता—

राजा का व्यक्तित्व बहुत महान् होता था। महाभारत में महर्षि नारद ने युधिष्ठिर से कुशल क्षेम पूछने के बहाने जनपदीय राजा के व्यक्तित्व पर बहुमूल्य प्रकाश डाला है। रामायण में राजा दशरथ के लिए 'पौरजनपदप्रियः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। रामायणकाल में शिक्षा-दीक्षा, मन्त्रियों, पुरोहितों तथा गुरुजनों का नियंत्रण, धर्मनिष्ठा, परलोक में सजा पाने का भय, परम्पराओं और संस्कारों का समादर तथा लोकापवाद का डर राजाओं को मर्यादा में रहने को प्रेरित करता था। राजा का व्यक्तित्व महान् और उच्च होते हुए भी इतना पवित्र नहीं था कि 'अनाचार' करने पर वह लोक निंदा से बचा रहे। राम के साथ वन जाने से

पहले जब सीता को भी बल्कल वेश धारण करना पड़ा, तब अयोध्या की सम्पूर्ण जनता राजा दशरथ को धिक्कारने लगी थी।[1]

इस महाकोलाहल को सुन महाराज दुःखी हुए और अपने जीवन में, धर्म में, और यश में जो पहले आदर था, उसे उन्होंने त्याग दिया। यहाँ तक कि इस निन्दा से बचने के लिए राजा दशरथ ने अयोध्या छोड़कर अन्यत्र जाने का भी निश्चय प्रकट किया था। नगर-त्याग प्रजा की तरफ से राजा को दिया जाने वाला कठोरतम् दण्ड होता था। सम्भवतः रावण भी लोक निंदा से बचा रहना चाहता था। जब उसने हनुमान को जान से मारने का आदेश दिया तब बड़े ही विनम्र भाव से विभीषण ने उसे याद दिलाया कि दूत का वध करना लोक दृष्टि में एक बहुत निंदित कार्य है—

राजधर्मविरुद्धं च लोकवृतेश्च गर्हितम्।
तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम्॥ ५।५२।६

रामायणकाल में राजा शासन-संचालन की समुचित व्यवस्था किये बिना राज्य छोड़कर नहीं जा सकता था। गंगावतरण के आख्यान में कहा गया है कि तपस्या हेतु वन-प्रस्थान करने से पूर्व राजा भागीरथ ने अपने राज्य का प्रबन्ध मन्त्रियों को सौंप दिया था।[2] गंगावतरण होने पर जब वह अपने पितरों का श्राद्ध कर्म कर चुके, तब उन्होंने लौटकर राज्य की शासन-सत्ता अपने हाथ में ग्रहण की थी।[3] ऐसा होने से सब लोगों का दुःख दूर हो गया तथा सबकी चिन्ताएँ समाप्त हो गईं और सब धन-धान्य से भरे पूरे हो गये। इसी प्रकार शंबूक की खोज (उत्तरकाण्ड) में जाने से पूर्व पुरुषोत्तम राम ने लक्ष्मण और भरत को अयोध्या का राज्यभार दे दिया था।

रामायण में रावण को पौरुष-सम्पन्न तथा राजोचित बहुसंख्यक गुणों से युक्त दिखाया गया है, किन्तु वारीकी से उसके कुछ अवगुणों जैसे पर-पत्नी आसक्ति, निरंकुश वृत्ति तथा सत्य-निष्ठ स्वजनों में नितांत अविश्वास का भी प्रकाशन किया गया है। सूर्पणखा[4] अपने भाई रावण की अपने कर्तव्यों की अवहेलना तथा पर स्त्री में आसक्ति के लिए भर्त्सना करती है तथा सीता[5] भी कामान्धता के लिए उसे खरी-खोटी सुनाती हैं। विभीषण के द्वारा दी गई सात्विक राय की अवहेलना तथा अपने पक्ष के समर्थन में रावण द्वारा हस्तिगीता का उद्धरण सत्परामर्श पर ध्यान देने की असफलता[6] का मर्मस्पर्शी उदाहरण है।

तत्कालीन समय में राजा की अनुमति के बिना युवराज को नगर छोड़कर कहीं जाने का अधिकार नहीं था। जब भरत राम को मनाने के लिए चित्रकूट गये, तब राम ने (इस समय तक पिता की मृत्यु की जानकारी राम को नहीं थी।) भरत से पूछा था—हे तात् तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आये हो? क्योंकि उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे (२।१००।४)।

(६) राजपद के लिए अपेक्षित आचार-विचार—

रामायणकाल में राजाओं से कैसे आचार-विचार तथा व्यवहार की उम्मीद की जाती

---

१ तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वोधिक्त्वां दशरथं त्विति ॥२।३८।१
२ देखिये १।४२।१२
३ देखिये १।४४।१८
४ वा० रामायण ।३।३३, २-२३
५ वा० रा० सुन्दर ।२१।८-११
६ युद्धकाण्ड ।१६।२-९

थी, यह अयोध्याकाण्ड के सौवें सर्ग से स्पष्ट हो जाता है। राम ने भरत से चित्रकूट पर जो राजनीतिक प्रश्न किया था और उनका समाधान चाहा था, उससे आचार-विचार आदि का विधिवत् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। राम ने पूछा था कि हे तात ! तुम पिता, माता, देव, पितर, भृत्य, पितृ-तुल्य गुरु, वृद्ध, वैद्य और ब्राह्मणों का आदर करते हो न ! तुमने ऐसे लोगों को अपना मन्त्री बनाया है न, जो तुम्हारे ही तुल्य शूर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन और चेष्टा को पहचानते हैं। शास्त्र निपुण मन्त्री-श्रेष्ठों से गुप्त सलाह लेना ही राजाओं के लिए विजय का मूल स्रोत है। तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते ? समय पर जागते हो न ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय को सोचते हो अथवा नहीं ? अकेले ही या बहुत लोगों के साथ तो कोई बात नहीं विचारते। तुम्हारा विचार (मंत्रणा) राज्य भर में तो नहीं फैल जाता। थोड़े प्रयत्न से साध्य और महाफल देने वाले अर्थ का निश्चय कर शीघ्र ही काम का आरम्भ कर देते हो न ? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते (२।१००।१३ से २०)। तुम्हारे निश्चित किये हुए सब कार्य भली-भाँति पूर्ण हो जाने पर अथवा पूर्ण होने पर तो छोटे राजा जान पाते हैं या कार्य पूर्ण होने के पूर्व तो नहीं जान लेते ? मन्त्रियों के साथ की हुई तुम्हारी अप्रकाशित सलाह को, दूसरे लोग तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं ताड़ लेते। तुम उन मन्त्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो कुल परंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और अच्छे स्वभाव के हैं, उन्हें श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा तुम्हारा या तुम्हारे मन्त्रियों का अपमान तो नहीं करती (२।१००।२०-२७)।

हे भरत ! तुमने किसी ऐसे पुरुष को जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वास-पात्र, स्वामीभक्त, कुलीन आदि गुणों से युक्त को अपना सेनापति बनाया है अथवा नहीं (२।१००।३०)। तुम सैनिकों को भत्ता (नित्य भोजन) और यथोचित महीने का वेतन (जो समय पर दिया जाना चाहिए) देने में विलम्ब तो नहीं करते क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से सैनिक एवं कर्मचारी कुपित हो जाते हैं और मालिक की निन्दा करते हैं ? प्रधान कुल पुत्र सब तुम्हारे ऊपर अनुराग रखते हैं और सावधानी से तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार रहते हैं न (२।१००।३२-३४)। हे भरत ! तुम्हारा देश विद्वान, चतुर और प्रत्युत्पन्न मतिवान्, अर्थात् कार्यों में शीघ्र प्रवेश करने वाली बुद्धिवाला है न ? तुमने पण्डित और यथोक्तवादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुष को अपना दूत बनाया है न ? जो परस्पर एक दूसरे को न जानते हों ऐसे तीन-तीन दूतों को एक-एक व्यक्ति पर तैनात करके तुम शत्रु पक्ष की अठारह और अपने दल की पन्द्रह[1] राज्य-रक्षा-साधन वस्तुओं को अच्छी तरह से जानते हो न ?

जिन शत्रुओं को तुमने निकाल दिया था यदि वे फिर अपनी दुर्बलता दिखा कर तुम्हारे शरणागत हुए हों, तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनसे अचेत तो नहीं रहते ! तुम सब प्रकार से

---

१ अन्य राजाओं के पदाधिकारी—मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तः-पुराधिकारी, बन्धनगृहाधिकारी (जेलर), धनाध्यक्ष, राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला प्राड्विवाक (न्यायाधीश), धर्माध्यक्ष, सेना को वेतन बाँटने वाला ठेकेदार, नगराध्यक्ष (कोतवाल) राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर) दुष्टों को दण्ड देने वाला (मजिस्ट्रेट) जल, पर्वत, वन रक्षक और दुर्गों का रक्षक—इन अठारहों को और इनमें से तीन अर्थात् मंत्री, पुरोहित और युवराज इनको छोड़कर शेष पन्द्रह को अपने राज्य में जानते हो न (२।१००।३५-३६)।

विभूषित होकर और दो पहर के भीतर सभा में तथा राजमार्ग में जाकर नित्य मनुष्यों को दर्शन देते हो कि नहीं ? तुम्हारे पास जितने काम करने वाले हैं वे शंका रहित हो तुम्हारे पास चले आते हैं अथवा दूर ही दूर रहते हैं क्योंकि ये दोनों बातें ठीक नहीं। इनके बीच का व्यवहार करना चाहिए। तुम्हारे सब किले धन, धान्य, शास्त्र, जलयन्त्र, शिल्पी और धनुर्धरों से परिपूर्ण हैं कि नहीं ? तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और खर्च कम है न ? तुम्हारे कोश का धन कहीं नाचने वालों पर तो नहीं लुटाया जाता (२।१००।३७-५४)। हे भरत ! देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा व मित्रगण इन सबके लिए तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि नहीं ? वास्तविकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घ सूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना, राज्य-कार्यों के बारे में स्वयं विचार करना विपरीत बुद्धि वाले मूर्खों से मंत्रणा लेना, निश्चित किये हुए कामों को शीघ्र न करना, गुप्त मंत्रणा को प्रकट कर देना, मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना, सब शत्रुओं पर एक साथ चढ़ाई कर देना, ये राजाओं के चौदह दोष हैं। तुम इन दोषों से दूर रहते हो न ? (२।१००।५६-६७)। हे भरत ! शिकार, जुआ, दिन का सोना, निन्दा करना, स्त्री, मद, नृत्य, गीत, वाद्य में अत्यधिक आसक्ति और वृथा इधर-उधर घूमना—ये दस कामज दोष हैं, इन दोषों को, जल सम्बन्धी, पर्वत सम्बन्धी, वृक्ष सम्बन्धी, ऊसर सम्बन्धी और निर्जल देश सम्बन्धी इन पाँच प्रकार के दुर्गों को और साम, दाम, दण्ड तथा भेद इन चार नीतियों को तथा स्वामी, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना, मित्र राज्य इन सात अंगों को तुम भलीभाँति जानते हो और इन पर विचार किया करते हो कि नहीं (२।१००।६८)।

चुगलपन, दुःसाहस, द्रोह, डाह, गुण में दोष देखना, अर्थ में दोष लगाना, कठोर वचन, तीक्ष्ण दण्ड देना ये क्रोध के आठ दोष हैं—इन दोषों को, धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को, तीन प्रकार की विद्याओं को (तीनों वेदों का पढ़ना), सन्धि, विग्रह, चढ़ाई, समय की प्रतीक्षा करते रहना, शत्रुओं में फूट डालना, किसी बली को अपना सहायक बनाना इन छः को; अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी इन पाँच तरह की दैनिक विपत्तियों को तुम भलीभाँति जानते हो न ? अधिकारियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के लालच से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भलीभाँति जानते और उन पर ध्यान देते हो न ? बालक, वृद्ध, दीर्घ रोगी, जाति बहिष्कृत, डरपोक, दूसरों को डरवाने वाला, लोभी, लोभी का सम्बन्धी, प्रजा जिससे विरक्त हो, इन्द्रियासक्त, बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला, बहुत शत्रुओं वाला, यथा समय काम न करने वाला, सत्यधर्म में जो तत्पर नहीं और सेना का सताया हुआ—इन बीसों को; राज्य, स्त्री, स्थान, देश, जाति और धन जिनके छीन लिये गये हों इनको; शत्रु, मित्र, शत्रु का मित्र, परम-मित्र ये राजमण्डल हैं—इनको तुम मित्र जानते ओर इन पर ध्यान देते हो न (२।१००।६८-६९। हे महाप्राज्ञ ! यात्रा-विधान, दण्ड विधान, सन्धि, विग्रह करने, न करने वालों को परख लेना—इन बातों को तुम अच्छी तरह जानते हो कि नहीं।

हे भरत ! तुम नीतिशास्त्रानुसार तीन या चार मंत्रियों को एकत्र कर एक साथ अथवा उनसे अलग-अलग गुप्त परामर्श करते हो न ? स्त्रियाँ और शास्त्र तुम्हें समय पर यथोचित फल-दायक होते हैं ? तुम इसी प्रकार की बुद्धि रखते हो न जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ। इनका अनुगमन करने से आयु बढ़ती और यश का लाभ होता है (२।१००।७०-७३)। हे तात् ! जिस वृत्ति से हमारे पिता-पितामह इत्यादि चलते थे, जो साधुमार्गानुसारिणी और मङ्गलदायिनी है तुम भी उसी मार्ग से चलते हो न ? तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले ही तो नहीं कर लेते ! जो उसकी चाह रखते हैं, उन मित्रों को भी देते हो या नहीं ? हे भरत ! देखो विद्वान् राजा दण्ड धारण-पूर्वक धर्म

से प्रजा का पालन करता है, तो वह सम्पूर्ण पृथ्वी का यथोचित स्वामित्व पाकर अन्तकाल में स्वर्ग को जाता है।

(७) राज्याभिषेक की प्रक्रिया—

तत्कालीन आर्य राज्यों में राजपद-प्राप्ति हेतु महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध था। वह प्रतिबन्ध प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के रूप में था। इसके अनुसार राजपद-प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक होना अनिवार्य कृत्य था। वैदिक आर्यों की भाँति तत्कालीन लोक दृष्टि में अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एवं अवैध होता था।[1] अनभिषिक्त राजा आर्य राज्यों में राजपद धारण करने का अधिकारी न था। इसलिए राजपद पर आसीन होने के पूर्व राजपद के लिए वरण किये गये क्षत्रिय को अपना राज्याभिषेक विधिवत् एवं नियमानुसार करा लेना अनिवार्य था। राज्याभिषेक हो जाने पर साधारण क्षत्रिय भी श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वेदमत है। इसका उदाहरण हम इन्द्र के राज्याभिषेक से भी दे सकते हैं। इन्द्र देवों में छोटा और सामान्य देव था। परन्तु राज्याभिषेक हो जाने पर वही देवों में श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ बन गया और उनका राजा (देवराज) बनकर सभी देवों पर शासन करने लगा। शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का आधार है। उसमें स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का कारण होता है।[2] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित इस व्यवस्था का तात्पर्य यह कि सभी क्षत्रिय राजन्य) सामान्यतः समान होते हैं। परन्तु राजपद के लिए जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो जाता है, वही राजा बन जाता है और लोक पर शासन करने का वैध अधिकारी हो जाता है।

रामायण में राम, सुग्रीव और विभीषण तथा राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के पुत्रों के राज्याभिषेक का उल्लेख किया गया है। किन्तु, विस्तृत रूप में राम और सुग्रीव के राज्याभिषेक का वर्णन सविस्तार मिलता है। राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी के विवरण, राम के वन-प्रस्थान से अनभिज्ञ सीता के उद्‌गार तथा युद्धकाण्ड में राम के राज्याभिषेक के वर्णनों का यदि विधिवत अध्ययन करके एक सूत्र में गूथ दिया जाय तो रामायण कालीन राज्याभिषेक-प्रणाली का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[3] राज्याभिषेक का समस्त उत्तरदायित्व राजपुरोहितों पर होता था।[4] हवन, अभिषेक आदि के लिए आवश्यक सामग्रियों को पहले से इकट्ठा कर लिया जाता था, क्योंकि राम के राज्याभिषेक हेतु जब दशरथ ने वसिष्ठ को आज्ञा दी, तब वशिष्ठ ने अपने मंत्रियों को आदेश दिया कि 'समुद्र-जल, नदियों का पवित्र जल, सुवर्ण, रत्न, पूजा-सामग्री, सब औषधियाँ, श्वेतमाला, लावा मधु, घृत, नवीन वस्त्र, रथ, सम्पूर्ण शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, अच्छे लक्षणों वाले

---

१ तैत्तिरीय ब्राह्मण १, २।१०।२।२

२ तथैनमभ्यर्षिचंस्ततो वै स देवानां श्रेष्ठो उभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एवमभिषिच्यते।

३ आदि देशाग्रतो राज्ञः स्थितान्युक्तान्कृताञ्जलीन्।
सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन्सर्वौषधीरपि ॥ २।३।८
देखिये (२।३।९-१०-११-१२-१३); २।३।१४ से १८; ४।२६।६-४१
महाराजाङ्गणं सर्वे प्रविशन्तु महोदयम्।
एवं व्यादिश्च विप्रौ तो क्रियास्तत्र सुनिष्ठितौ ॥ २।३।२०
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्य नृपतेर्मामिह्यगतम्।
इमे गङ्गोपकघटाः सागरेभ्यश्च कांचनाः ॥ २।१४।३४
देखिये २।१४।४१-४२; २।१५।१-१२; २।२६।६-१८; ६।१२८।६८

४ वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्। अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥
तदद्य भगवान्सर्वमाज्ञापयितु मर्हति। तच्छ्रुत्वा भूमि पालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥ २।३।६-७

हाथी, दो चँवर, ध्वजा, श्वेत छत्र, सुवर्ण के सौ कलश, सुवर्ण से मढ़े हुए सींगों वाले बैल, अखण्डित व्याघ्रचर्म और इसके सिवा जो कुछ चाहिए, सो सब इकट्ठा कर प्रातः काल राजा की अग्नि-में लाकर रखो (२।३।६-१२)। इस अवसर पर अन्तःपुर और सम्पूर्ण नगर के द्वारों को चन्दन माला और मनोहर धूपों से पूजित किया गया था। स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों के लिए आसन दक्षिणा आदि का प्रबन्ध रहता था (२।३।१६)। राज्याभिषेक के अवसर पर तालजीवी लोग एवं रूपा जीवाएँ अच्छे वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत होकर राजगृहों की ड्योढ़ी पर खड़ी रहती थी।[१]

राज्याभिषेक से एक दिन पूर्व राजकुमार पत्नी सहित उपवास व्रत रहता था,[२] तथा अभिषेक के प्रातःकाल ब्राह्मणों को मन्दिरों तथा सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण जगहों पर दही-घी और दूध-युक्त भोजन कराया जाता था। भोजन के अतिरिक्त उन्हें दक्षिणा भी दी जाती थी। राजमार्गों आदि को पताका आदि से सजा दिया जाता था (२।३।१४-१५)। साथ ही जल का छिड़काव भी मार्गों पर किया जाता था। राज्याभिषेक होने स पूर्व सभा के सभी सदस्य, प्रमुख व्यापारी एवं नागरिक, श्रमिक संघों के मुखिया, सामन्त राजा, मंत्रीजन, सैन्य अधिकारी, तथा राज्य कर्मचारी ये सभी राजप्रासाद में आकर अपना-अपना उचित स्थान ग्रहण कर लेते थे। राज्याभिषेक-संस्कार राज-प्रासाद की अग्निशाला में सम्पन्न होता था। सर्वप्रथम द्विजगण स्वस्तिवाचंनपूर्वक सपत्नीक राज कुमार को आशीर्वाद देते थे, फिर वे दोनों दर्भयुक्तवेदी पर स्थापित अग्नि में हवन करते थे। इसके बाद उन्हें भद्रासन पर बैठाया जाता था सर्वप्रथम ब्राह्मण और ऋत्विज उनका मंत्रोच्चारण पूर्वक पवित्र जल से अभिषेक करते, फिर कन्याएँ, मंत्री, सैन्य पदाधिकारी और व्यापारी उनका अभि-षेचन करते थे।

तत्पश्चात् राजकुमार नया कौशेय वस्त्र धारण करते थे और माथे एवं शरीर चन्दन लगाने के उपरान्त पत्नी सहित रत्नों से सुशोभित होकर सभा-भवन (लोक सभा) में उपस्थित होते थे। यहाँ उन्हें समारोह के साथ राजपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। पुरोहित द्वारा उनके सिर पर रत्नमय किरीट रखा जाता, उन पर श्वेत छत्र ताना जाता और चंवर डुलाये जाते थे। सामन्त-जन उन्हें विविध उपहार लाकर भेंट करते और राजा भी उपस्थित लोगों को पुरस्कार आदि देकर सन्तुष्ट करते थे।

तत्पश्चात् नवाभिषिक्त राजा को पुष्परथ पर बैठा कर पूरे नगर में समारोह के साथ घुमाया जाता था। राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहने वाले सभी लोग जुलूस में राजा के साथ होते थे। रथ में सोने की साज-सज्जा से युक्त चार सफेद अश्व जुड़े रहते थे और राजा के बैठने के स्थान पर व्याघ्र-चर्म बिछा रहता था। अयोध्या-नरेशों के रथ का कोविदार-ध्वज दूर से ही लक्षित हो जाता था। सौ शलाकाओं वाले श्वेत राजकीय छत्र से उन पर छाया की जाती और दोनों ओर चंवर डुलाये जाते थे। चंवर के डंडे सोने के बने तथा मणि-जड़ित रहते थे।

इस प्रकार राज्य-प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा द्वारा तत्सम्बन्धी यज्ञ का सफल अनुष्ठान और तदुपरान्त उसका राज्याभिषेक हो जाना अनिवार्य था। इसलिए यह प्रमाणित हो जाता है कि तत्कालीन आर्य राज्यों में राजपद की प्राप्ति हेतु राज्याभिषेक की अनिवार्यता के सिद्धान्त का पालन कठोरता से किया जाता था।

---

१ सर्वे च तालावचरा गणिकाश्च स्वलंकृता (२।३।१७)।

२ गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन। श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वासह मतव्रतम ॥ (२।५।२)।

(८) राजकीय शपथ

राज्याभिषेक-सम्बन्धी कृत्यों में नवाभिषिक्त राजा द्वारा शपथ-ग्रहण करने का कृत्य भी अपने में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। इस कृत्य के सम्पन्न हुए बिना राज्याभिषेक अपूर्ण माना गया है। उत्तर वैदिक युग में ही इस शपथ की शब्दावली निश्चित हो चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में राजकीय शपथ की जो शब्दावली दी हुई है, हिन्दी भाषा में उसका भावानुवाद इस प्रकार है—"यदि मैं तेरे (जनता के प्रतिनिधि के रूप में ब्राह्मण पुरोहित के) प्रति द्रोह करूँ, तो जन्म-काल से मृत्यु-काल तक की अवधि में जो भी पुण्य कार्य मेरे द्वारा हुए हों, वे पुण्य कार्य, मेरा स्वर्ण, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जायें।"

ब्राह्मण-साहित्य में राजकीय शपथ की जो उपर्युक्त शब्दावली दी हुई है, उसका स्वरूप जनतान्त्रिक है। इस शपथ के ग्रहण कर लेने के उपरान्त राजा प्रजाद्रोह के अधिकार से सर्वथा वंचित हो जाता था। उसे प्रजाभक्त रहते हुए राज्य का सम्यक् संचालन करना अनिवार्य था। प्रजाद्रोह करके वह शासन करने का लेश मात्र भी अधिकारी न रहता था।[१] महाभारत में भी राजकीय शपथ का, जो कि प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जो ग्रहण करता था, उल्लेख हुआ है। राजा पृथु ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ ग्रहण की थी, उसकी शब्दावली महाभारत के शान्तिपर्व[२] के इस प्रसंग में दी हुई है, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—मैं (पृथु) प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस भूमि (राज्य) को ब्रह्म समझ कर इसकी सदैव मन, वचन और कर्म से रक्षा करूँगा। दण्डनीति के अनुसार जो नित्य धर्म बतलाये गये हैं निर्भय होकर उनका पालन करूँगा; और कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं होऊँगा।"

इस प्रकार वैदिक युग में प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ उसे ग्रहण करनी पड़ती थी, उसमें उसकी आत्मा के जीवित रखने का निरन्तर प्रयास हुआ है। हालाँकि रामायण में राम, सुग्रीव और विभीषण के राज्याभिषेक के समय राजकीय शपथ की कोई शब्दावली नहीं मिल पा रही है तब भी इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि रामायण काल में राजकीय शपथ की परम्परा थी ही नहीं। राजकीय शपथ-ग्रहण करने की वैदिक पद्धति का पालन कम से कम महाभारत के शान्तिपर्व के रचना काल तक अवश्य ही प्रचलित रहा।

(९) राज्य के उच्च पदाधिकारी

राज्य-संचालन एक महान् कार्य है। उसके सम्यक् संचालन हेतु अकेला राजा पर्याप्त नहीं होता। इसलिए इस कार्य के विधिवत् सम्पादन हेतु विविध ज्ञान-सम्पन्न अनेक पुरुषों के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता होती है। ये पुरुष अपनी विशेष योग्यता, विशेष गुणों, अनुभव एवं कार्य-कौशल के अनुसार राज्य संचालन में राजा का सहयोग देते हैं। राज्य-संचालन हेतु राज्य में उच्च कार्यकर्त्ताओं की कितनी महान् आवश्यकता है, इस विषय में वैदिक युग में बहुत पश्चात् राजशास्त्र के विचारकों ने मत व्यक्त किये हैं। अथर्ववेद[३] में इस महत्त्वपूर्ण विषय पर मनु ने कहा है—"जब कि सरल से सरल कार्य भी अकेला मनुष्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता, तो विशेष फल देने वाले राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला मनुष्य सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकता है?"

तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्रमुख राजशास्त्र-प्रणेता महात्मा भीष्म ने भी इस विषय पर अपनी आस्था व्यक्त की है—'सम्पूर्ण सद्गुणों से युक्त एक ही व्यक्ति हो, ऐसा सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में राज्य के सम्यक् संचालन हेतु राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह

१ ऐतरेय ब्राह्मण १५।४।८

२ महाभारत, शान्तिपर्व १०६-७।५६

३ ६-७।५।३

वह विविध विषयों के ज्ञाता एवं अनुभवी अनेक गुणी पुरुषों का सहयोग ले एवं परामर्श करे।'[१] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी इन्हीं मतों की सम्पुष्टि की है—'कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो, परन्तु, एक मनुष्य के द्वारा उसका विधिवत् सिद्ध होना असम्भव है। जब छोटे से छोटा कार्य अकेला मनुष्य करने में समर्थ नहीं होता, तो फिर असहाय मनुष्य से राज्य संचालन जैसा विशाल कार्य किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा।' शतपथ ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख है।[२]

मौर्य युग के प्रमुख राजशास्त्र-प्रणेता आचार्य कौटिल्य ने राज्य की समता दो पहियों वाली गाड़ी से की है। इस गाड़ी में राजा केवल एक पहिया है। गाड़ी का दूसरा पहिया राजा के सहयोगी कार्यकर्त्ता होते हैं। जिस प्रकार गाड़ी का एक पहिया मार्ग पर नहीं चल सकता, उसी प्रकार राज्य संचालन-कार्य एकमात्र राजा द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके सम्यक् संचालन हेतु राजा के सहयोगी कार्यकर्ताओं की नितान्त आवश्यकता होती है।[३] इस प्रकार तत्कालीन समय में राज्य के उच्च पदाधिकारी निम्नलिखित होते थे—

(क) पुरोहित

राजा के धार्मिक कृत्य कराने वाला ब्राह्मण पुरोहित कहलाता था। वह राजगुरु होता था। पुरोहित राजा का अपरिहार्य सहयोगी तथा आध्यात्मिक और लौकिक कार्यों में परामर्श-दाता होता था। पुरोहित राजा के साथ युद्ध के समय भी रहता था और उसकी विजय हेतु प्रार्थना करता था। राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता व्यक्त करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में बतलाया गया है— जिस राजा का ऐसा ब्राह्मण राष्ट्र का रक्षक पुरोहित होता है, दूसरे राजागण उस राजा के मित्र बन जाते हैं और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है, वह क्षत्र से क्षत्र को और बल को बल से जीत लेता है। जिस राजा का ऐसा राष्ट्र रक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजा (विशः) उसकी निरन्तर एवं एकमत होकर नमन करती है।[४] महाभारत में पुरोहित की योग्यताओं का सारांश दिया हुआ है, "जिसके अनुसार उसे वेद तथा वेदाङ्ग में निष्णात, पवित्र, सत्यवादी, धर्मात्मा तथा उच्चाशय होना तथा उसे राजा की लोक में विजय तथा स्वर्ग प्राप्ति के प्रयत्न में सक्षम होना चाहिए।"[५] पुरोहित का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण माना जाता था और पुरोहित पर ही राजा का कल्याण निर्भर रहता था, यद्यपि राज्य का कल्याण राजा पर निर्भर करता था। राज्य के पदाधिकारियों में अपने वर्ण तथा कर्तव्यों के कारण उसका स्थान सर्वोच्च होता था। पुरोहित की नियुक्ति करते समय राजा को यह निश्चित कर लेना होता था कि उस व्यक्ति में राजा की रक्षा करने उसे असत्य से दूर रखने और हर दिशा में सफलता की ओर ले जाने आदि की योग्यता है या नहीं। डॉ० सुदामा मिश्र का कहना है कि—पुरोहित के कर्त्तव्यों के विषय में बहुत ऊँची अपेक्षाओं के बावजूद वह अपने को राजा की आध्यात्मिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता था और उन कार्यों के लिए ऊँची दक्षिणा प्राप्त करता

---

१ ३।७।१

२ १।१।३।५

३ मैत्रायणी संहिता में ऐसा लिखा गया है।

४ ऐतरेय ब्राह्मण २७।५।८

५ वेदे षडंगे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्तिमाणां पुरोहिताः॥
जयश्च नियतो रासः स्वर्गश्च तदनन्तरम्।
यस्य स्याद्धर्मविद्ववाग्मी पुरोधाः शीलवाञ्शुचिः॥

—महाभारत, आदि पर्व, १७२, ७६-७७

था। दशरथ के राजपुरोहित वशिष्ठ के उदाहरण से हमें तत्कालीन जनपदीय राज-व्यवस्था में पुरोहित के वास्तविक स्थान का पता चल जाता है।

(ख) युवराज

युवराज जनपद राज्य का एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी होता था। रामायण में राम के गुणों का वर्णन करते हुए युवराज के योग्यताओं की विशद सूची दी गई है। प्रारम्भ में ही उल्लेख कर दिया गया है कि राम राजोचित सभी गुणों के सम्बन्ध में अपने पिता दशरथ की तरह हैं। इस पद पर योग्यतम पुत्र अथवा सन्तानविहीन राजा के मामले में योग्यतम स्वजन नियुक्त होता था, यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र ही इस पर आसीन किया जाता था, यदि वह राजा का कोप-भाजन न हो चुका हो। महाराज दशरथ ने युवराज पद पर राम को इसीलिए नियुक्त किया कि वे उन्हीं की तरह थे और उन्होंने पिता की कृपा प्राप्त कर ली थी।[१] वानरों में भी ज्येष्ठ पुत्र को ही युवराज पद पर नियुक्त करने का विधान परिलक्षित होता है। किष्किधा में वानरराजा सुग्रीव के निःसन्तान होने के कारण बालि के पुत्र अङ्गद को युवराज पद पर नियुक्त किया गया था। अङ्गद युवराज के प्रत्येक गुण से सम्पन्न थे। युवराज अङ्गद ने तो एक बार सुग्रीव से स्वतन्त्र रहकर एक नया वानर-राज्य स्थापित करने की ठान ली थी (४।५४।१)। युवराज के वास्तविक कृत्यों का ठीक पता नहीं है। पर ऐसा ज्ञात होता है कि युवराजत्व प्रशिक्षण का काल होता था, जिसमें राज्य और प्रशासन के विविध मामलों में दक्षता प्राप्त करने का सुअवसर युवराज को प्राप्त होता था।

(ग) मन्त्रिन् तथा अमात्य (सचिव)

मन्त्रिगण राज्य का प्रशासन चलाने और तत्सम्बन्धी कार्यों में राजा को परामर्श देते थे। सम्भवतः मन्त्रियों की संख्या राज्य की आवश्यकतानुसार निश्चित होती थी। मनुस्मृति (७, ५४) में मंत्रि-परिषद की सदस्य-संख्या सात या आठ बताई गई है। महाभारत[२] में यह संख्या स्पष्ट रूप से आठ दी हुई है। रामायण[३] में भी मंत्रियों तथा अमात्यों की संख्या आठ ही है। यद्यपि इन सभी ग्रन्थों में प्रशासन का कार्य करने वालों की संख्या[४] इससे बहुत अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि रामायणकाल में राजा के अन्तरङ्ग सलाहकारों की संख्या बहुत कम और वास्तविक प्रशासनाधिकारियों की संख्या बहुत अधिक होती थी। यह अन्तर आधुनिक मन्त्रिपरिषद् तथा मन्त्रालय की तरह था। रामायण में मन्त्री तथा अमात्य की योग्यताओं का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार उसे विद्या-विनीत नम्र, कुशल, जितेन्द्रिय, वीर, वचन-निष्ठ, दूसरों के भेद जानने में सक्षम, धन तथा शक्ति के संचय में दत्तचित्त, प्रशासन-कला में प्रवीण, मित्तभाषी, मन्त्र को गुप्त रखने में कुशल देशवासियों की रक्षा में रत तथा अन्यान्य गुणों से युक्त होना चाहिए।[५] एक अन्य स्थान पर रामायण में बहुत संक्षेप में मन्त्री की परिभाषा दी गई है, जिसके अनुसार मन्त्री वह है जो अपने स्वामी तथा उसके अमित्र के बल का ठीक-ठीक आंकलन करके तथा स्थान और अपने पक्ष की वृद्धि तथा हानि का विचार करके अपने स्वामी का हित करने में सक्षम हो।[६] वैसे

---

१ बा. रा. अयोध्याकाण्ड; १, ९-३३
२ महाभारत, शान्ति पर्व; ८४, ११
३ रामायण, बालकाण्ड; ७।३-४-५
४ रायायण बा०; ७, ३-५; मनुस्मृति; ७, ६०; महाभारत शान्तिपर्वं; ८४, ७-११
५ वा. रा. १।७।५-८
६ बा० रा० ध १४।२२

अमात्यों में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इसका पता हमें राम के उस उपदेश से चलता है, जो उन्होंने भरत को चित्रकूट पर दिया था। उन्होंने कहा—"क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन और बाहरी चेष्टाओं से मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही अमात्य बनाया है (२।१००।१५-६, २४-६) ,"

मंत्रियों को प्रशासन में सहायता पहुँचाने के लिए सचिवों (अमात्य) की नियुक्ति की जाती थी और इनकी योग्यता प्रायः मंत्रियों के समान ही होती थी मनुस्मृति में मन्त्री और सचिव में भेद नहीं किया गया है, किन्तु सचिवों के दो प्रकार स्पष्ट वर्णित हैं।[1]

(घ) सेनापति (सेनानी)

राज्य को स्थाई बनाने एवं उसे बाह्य तथा आन्तरिक भयों से सुरक्षित रखने के लिए सेना नितान्त आवश्यक है। राज्य के विरुद्ध बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से राजा और प्रजा की रक्षा करने के लिए सेना का संगठन किया जाता है, यह सेना एक विशेष पदाधिकारी के अधीन रहती है। रामायणकाल में भी सेना का गठन किया गया था। उसे एक सर्वोच्च पदाधिकारी की देख-रेख में रखा जाता था। सेना का यह सर्वोच्च अधिकारी सेनापति (सेनानी) कहलाता था। रामायणकालीन राजा के रत्नों में सेनापति सर्वोच्च रत्न था। भावी राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ के अवसर पर राजा सेनापति के निमित्त सर्वप्रथम आहुति देता था। सेनानी के गुणों या योग्यताओं के बारे में हमें पता राम द्वारा चित्रकूट पर पूछे गये भरत से राजनीतिक प्रश्नों से चलता है। राम ने कहा हे भरतः तुमने किसी ऐसे पुरुष को जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) दक्ष, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, स्वामीभक्त, कुलीन आदि गुणों से युक्त को, अपना सेनापति (सेनानी) बनाया है न ?—

काञ्चिद्धष्टश्चय शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥२।१००।३०

महाभारत में सेनापति अमात्य के समक्ष माना जाता था और सेनापति के लिए सैन्य विज्ञानविद् होने की योग्यता भी जुड़ी हुई थी। भीष्म को कोरव पक्ष का नायक नियुक्त करते समय उनकी अवस्था, शक्ति-सम्पन्नता, ज्ञान तथा मुहरत लोगों की उनके लिए सामान्य स्वीकृति का ध्यान रखा गया था[2] यद्यपि इस पद की अवधि युद्ध-काल तक ही थी। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति का स्थान राज्य के अठारह तीर्थों में तीसरा होता था।[3] इस प्रकार तत्कालीन राज्य-व्यस्था में सेनापति सम्भवतः सैन्य मन्त्री होता था, जिसका स्थान मन्त्री से निम्न माना जाता था। वह युद्ध क्षेत्र में सेनानायक होता था और सम्भवतः मन्त्री-परिषद का सदस्य भी होता था जैसा कि रामायण में संकेत किया गया है।[4] किन्तु महाभारत में सेनापति की योग्यताओं का सम्बन्ध मुख्यतया युद्ध और सैन्य कार्यों से है और उसे मंत्र-परिषद् में स्थान नहीं दिया जाता था।

रावण की सेना का प्रधान अधिकारी सेनापति प्रहस्त था।[5] आचार्य कौटिल्य के समय तक सेना का प्रधान अधिकारी सेनापति ही रहा। उसने 'सेनापति' शब्द का दो रूप में प्रयोग

---

१ मनुस्मृति; ७,५४;७,६०

२ भीष्मः सेनाप्रणेताऽसीद्वयसा विक्रमेण च।
श्रेतेव चोयपन्नः सर्वयोधिगणैस्तथा ॥ महाभारत, द्रोणा; ५;५

३ अर्थशास्त्र; १,१२,८;५,२,६१

४ बा० रा० अयोध्याकाण्ड; १००।३०-३१

५ युद्धकाण्ड ।१२।१-२

किया है। एक स्थान पर कमाण्डर-इन-चीफ के रूप में[1] और दूसरे स्थान पर केवल एक सैन्य दल के अधिकारी के रूप में जो पादिक से ऊपर और नायक से नीचे का पदाधिकारी बताया गया है।[2] इससे यह माना जा सकता है कि मौर्य-काल तक कमाण्डर-इन-चीफ को सेनापति कहा जाता था।

(१०) शासन तंत्र के तीन प्रमुख अंग:

रामायण कालीन शासनतंत्र के तीन प्रमुख अंग-सभा, मन्त्रि-परिषद तथा शासनधिकारी (तीर्थ) थे। इन तीनों की सहायता से राजा शासन का विधिवत् संचालन करता था राम और महाराज दशरथ के काल की राज्य सभा, या धारा-सभा 'परिषद्' समिति या केवल 'सभा' कहलाती थी।[3] सभा के सदस्य 'प्रकृति' सभासद् कहलाते थे। उन्हें 'आर्य' अर्थात् माननीय कहकर सम्बोधित किया जाता था। सामूहिक रूप से उन्हें 'आर्यगण' कहते थे। सभा के सदस्य सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही होते थे। सरकारी सदस्यों की श्रेणी में अमात्य-जन मन्त्रिजन सेनापति तथा गैर सरकारी सदस्यों में राजागण (सामन्त) और नगर-ग्राम के प्रतिनिधि होते थे। राजधानी के प्रतिनिधि 'पौर' और शेष राष्ट्र के प्रतिनिधि 'जानपद' कहलाते थे। सभा का यह 'पौर-जानपद' अंग ही सबसे अधिक शक्तिशाली था, क्योंकि देश के बहुमत का यही प्रतिनिधित्व करता था। पौर-जानपदों में राजधानी के नैगम और गणवल्लभ तथा देहात के ग्रामघोषमहत्तर (किसानों) और ग्वालों के विशेष प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। ये वैश्य वर्ण और व्यापारी वर्गों के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार सभा में वर्णों, हितों और प्रदेशों को विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त था। ये समस्त प्रतिनिधि सम्भवतः सरकार द्वारा नियुक्त अथवा जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, इसके बारे में स्पष्ट तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी 'नैगमाः; 'ग्रामघोषमहत्तराः; 'श्रेणीमुख्याः; 'गणवल्लभाः; 'जनमुख्याः' आदि नामों से किसी न किसी प्रकार का चुनाव अवश्य ध्वनित होता है।

जब सभा का अधिवेशन प्रारम्भ होता था तब उसमें भाग लेने के लिए बाहर से विशिष्ट (प्रतिष्ठित) व्यक्तियों को बुलाने की प्रथा भी स्पष्ट झलकती है। जब राजपुरोहित वशिष्ठ ने दशरथ का उत्तराधिकारी चुनने के लिए अयोध्या की सभा का विशेष आपत्तिकालीन अधिवेशन बुलाया, तब उसमें भरत के मामा युधाजित् को भी आमंत्रित किया था।[4] साधारणतया शासन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर सभा का परामर्श लिया जाना भी आवश्यक था। राजा या युवराज के निर्वाचन, युद्ध की घोषणा,, राजा के राज-त्याग या अवसर-ग्रहण जैसे विषयों में सभा की स्वीकृति आवश्यक होती थी। जब महाराज दशरथ ने वृद्धावस्था के कारण राम को शासन-सत्ता देनी चाही,[5] तब उन्होंने अपनी सभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाकर इस प्रस्ताव को पारित कराया था।[6] इसी प्रकार दशरथ की मृत्यु के उपरान्त नया राजा चुनने के लिए अयोध्या की सभा बुलाई गई थी।

---

१ अर्थशास्त्र- १।१२।८;५।३।४

२ अर्थशास्त्र १०।६।४६-४८

३ साधारण जन समूह के लिए सभा और परिषद् शब्द आये हैं
समेत्य संघशः सर्वे चत्वरेषु सभासुच।
जहाँ पर सभा का अधिवेशन होता था, उस राज्य भवन को भी 'सभा' कहा गया है।

४ स राजभृत्यं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमन्यं च ये च तत्र हिता जनाः॥ २।८१।१३

५ यौवराज्ये नियोक्तस्मि प्रीतः पुरुष पुङ्गवम्।
अनुरूयः स वै नाथो लक्ष्मीवाल्लंक्ष्मणाग्रजः॥ २।२।१२

६ स रामं युवराजानमभिषिश्चस्व पार्थिवम्।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्॥ २।२।२१

भरत के हाथों दशरथ की अन्त्येष्टि हो चुकने के बाद राजपुरोहित वशिष्ठ ने सभा का पुनः एक अधिवेशन बुलाया, जिसमें सभा तथा प्रजा की ओर से उन्होंने, कैकेयी-दशरथ की इच्छानुसार भरत को अयोध्या की राजगद्दी स्वीकार करने को कहा था—

"हे भरत ! अब आप हमारे राजा हों क्योंकि यह राज्य बिना राजा का है और जब पिता आपको यह राज्य दे गये हैं, तब आपको इसे ग्रहण करना न तो असंङ्गत है और न ही आपको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है।" पुनः वशिष्ठ ने विनम्रता पूर्वक कहा, "हे रघुवंशसम्भूत राजकुमार ! यह प्रस्ताव केवल हम राजकर्मचारियों का ही नहीं है, बल्कि आपके मन्त्रिगण और पुरवासी लोग अभिषेक की सामग्री लिये आपकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं (२।७९।३-४)।" किन्तु भरत ने उसे अस्वीकार कर दिया।[1]

सभा की गतिविधियाँ

यदि हम रामायण कालीन सभा की गति-विधियों का विधिवत् अध्ययन करें तो एक ओर दशरथ जैसे महान् शासक की सभा के शान्तिकालीन अधिवेशन का वर्णन है, तो वहीं दूसरी ओर रावण जैसे एकच्छत्र और निरंकुश नृपति की परिषद् के युद्धकालीन अधिवेशन का भी बहुत सुन्दर एवं मनोरंजक विवरण प्राप्त होता है। यदि इन अधिवेशनों की तुलना आधुनिक विधान सभा की कार्यवाही से की जाय, तो दोनों में बहुत हद तक समानता दृष्टिगोचर होती है। सभासदों को उपस्थित होने की सूचना दूतों या सन्देशवाहकों द्वारा दी जाती थी। राजा की अनुपस्थिति में अमात्यजन अथवा राजपुरोहित को सभा का अधिवेशन बुलाने का अधिकार होता था। ऐसा प्राविधान तत्कालीन समय में था।[2] बाहर के जो सभासद सभा में भाग लेने के लिए आते थे, उनके ठहरने आदि की उचित व्यवस्था राजधानी में होती थी,[3] क्योंकि जनपद से आने वाले सदस्यों को 'पुरालय' में निवास करने वाला कहा गया है (२।१।५१)। अयोध्या का सभा-भवन राज प्रासाद का ही एक अंग था, क्योंकि महाराज दशरथ अपने राजमहल से निकल कर संसद-भवन में पहुँच गये थे और अधिवेशन समाप्त होने के बाद संसद भवन से निकलकर राजमहल चले गये थे।[4] युद्ध काण्ड से ज्ञात होता है कि लंका में रावण का सभा-भवन राजप्रासाद से दूर स्थित था, क्योंकि रावण अपने राजमहल से रथ पर सवार होकर एक राजकीय जुलूस के साथ पहुँचा था।[5] सभा-भवन के गलियारे अर्थात् दर्शन कक्ष जनता के लिए खुले रहते होंगे जैसा कि आधुनिक विधान सभा में जनता के लिए दर्शन कक्ष (खुले गलियारे) बनाये गये हैं। यहीं से राम के मित्रों ने सभा की कार्यवाही का अवलोकन किया होगा और राम के यौवराज्याभिषेक का निश्चय होते ही वे कौशल्या को यह शुभ संवाद सुनाने दौड़े गये थे (२।३।४६-७)।

सभा का अध्यक्ष राजा होता था, किन्तु राजा की अनुपस्थिति में राजपुरोहित सभा के अध्यक्ष का पद-ग्रहण कर सकता था। सर्वप्रथम सुसज्जित वेश-भूषा में राजा प्रवेश कर आसन ग्रहण करता था। अयोध्या की सभा के सदस्य सुन्दर वस्त्रों तथा चन्दन का लेप किये

---

१ भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः। ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्यः॥
नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः। रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः॥
२।७९।७-८

२ वा. रा. २।८१।११-२; २।१।४६; २।६७।२; ६।११।१७।

३ वा. रा. २।१।४७

४ देखिये बा. रा. २।४।१; ३; १०।९-१०

५ तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम्।
प्रययौ रक्षसां श्रेष्ठो दशग्रीवः सभां प्रति॥ ६।११।४

हुए थे।[१] जबकि रावण के सभासद् सुवर्ण, मुक्ता तथा उत्तम वस्त्रों और पुष्पमालाओं से सुसज्जित थे।[२]

सभा भवन में अधिवेशन प्रारम्भ होने पर सभी सभासद् शिष्टाचार एवं नियम का विधिवत् पालन करते थे। अध्यक्ष के अपने स्थान पर बैठ जाने के बाद अन्य सदस्य अपना-अपना स्थान ग्रहण करते थे। राजा का स्थान सभा-भवन के एक ओर बीच में होता था और उन्हीं के पास युवराज के बैठने का स्थान भी नियत होता था (२।३।३४-५)। अयोध्या-नरेश दशरथ की सभा में सम्पूर्ण सदस्य राजा की ओर मुँह करके बैठते थे।[३] सामन्त राजाओं, क्षत्रिय तथा वैश्य प्रतिनिधियों और ब्राह्मणों हेतु विशेष स्थान नियत थे। सभा में बोलने के लिए सभासद् को अध्यक्ष की अनुमति लेनी आवश्यक होती थी।[४] सभा के प्रत्येक सदस्य का यह परम कर्त्तव्य था कि वह लोभ, भय अथवा किसी प्रकार का पक्षपात किये बिना निःस्वार्थ भाव में सभा की कार्यवाही में अपनी योग्यता के अनुसार पूर्ण सहयोग प्रदान करे।

तत्कालीन सभा की कार्यवाही का विस्तृत वृत्तान्त हमें अयोध्या-नरेश दशरथ की सभा के वर्णन से मिलता है। राम के यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी अधिवेशन में सभापति होने के नाते दशरथ ने सभासदों के सम्मुख खड़े होकर उन्हें गम्भीर-उच्च स्वर से सम्बोधित किया और अधिवेशन बुलाने का कारण बताया। उन्होंने कहा—"रघु से लेकर हमारे सभी पूर्वजों ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया है, उन्होंने सदैव प्रजा के हित का ध्यान रखा। मैंने भी यथासामर्थ्य प्रजा को सब प्रकार की सुविधाएँ दीं। उनके दुख को अपना दुख और उनके सुख को अपना सुख समझा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि भविष्य में प्रजा इससे भी अधिक सुखी और समृद्ध हो। किन्तु अब मैं वृद्ध हो चला हूँ। मेरे शरीर के अवयव शिथिल हो गये हैं, मुझे अब शान्ति चाहिए। अब मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को अपने स्थान पर नियुक्त कर विश्राम चाहता हूँ। राम हमारी तरह सभी राजोचित गुणों से परिपूर्ण है। वह धीर, वीर, उदार और धर्मात्मा है। वह पराक्रमी, साहसी, बलवान्, तेजस्वी और प्रभावशाली है। अब यदि आप ठीक समझें तो मैं कल प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र के शुभ योग में आपकी साक्षी में राम को यौवराज्य दूँ। हे आर्यगण! आप मेरे इस प्रस्ताव पर भली-भाँति विचार कर लें तथा अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करें। यद्यपि यह प्रस्ताव मेरे व्यक्तिगत सन्तोष के लिए है तो भी आप अन्य विकल्प पर भी विचार कर सकते हैं जो जनता के हित में हो क्योंकि तटस्थ एवं निष्पक्ष व्यक्तियों की राय राजा की राय से श्रेष्ठ होती है, जिसका निजी हित प्रस्ताव में सन्निहित रहता है (२।२।१६-२०)।

दशरथ के उपर्युक्त प्रस्ताव से स्पष्ट पता चलता है कि राजा (अध्यक्ष) को मात्र प्रस्ताव रखने का केवल अधिकार था। अन्तिम निर्णय का पूर्ण अधिकार सभासदों को प्राप्त था। एक तरह से यह सभासदों का सभा में मत-प्रकाशन का विशेषाधिकार के अनुसार सभा के प्रत्येक सदस्य को सभा में अपना मत एवं अपने विचार-प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। आधुनिक युग में जनतान्त्रिक सभाओं में इनके सदस्यों को यह विशेषाधिकार समान रूप से प्राप्त है यदि महाराज दशरथ स्वयं राम का निर्वाचन कर लेते तो सम्भवतः लोक दृष्टि में पक्षपाती कहलाने के ही पात्र होते।' कोई प्रश्न विधान सभा अथवा सभा में रखने से

१ वस्त्रांगरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा। २।७।२।

२ सुवर्णनानामणि भूषणानां सुवाससां संसदि राक्षसानाम्।
तेषां परार्ध्यागुरु चन्दनानां स्राजां च गन्धाः प्रववुः समन्तात्॥ ६।११।२६

३ राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः; २।१।५०

४ ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्॥ २।२।२०
अथ रामेण संस्पृष्टाः सर्व एव सभासदः। ७।५९।२०।३१

पूर्व जनता तथा मन्त्रि-परिषद से परामर्श लेना राजा का परम कर्त्तव्य होता था। दशरथ ने भी अपने प्रस्ताव को मन्त्रि-परिषद् से पारित करा लिया था।[1]

हमें यह देखने को मिलता है कि दशरथ ने अपना प्रस्ताव कैसी युक्ति और गम्भीरता से उपस्थित किया था। राम के श्रेष्ठ गुणों का बखान करने के साथ ही उनके ज्येष्ठ होने की ओर भी संकेत किया था। फिर भी इस सम्बन्ध में वशिष्ठ, वामदेव और विश्वामित्र जैसों की स्वीकृति थी। इस कारण दशरथ द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव को संसद के समस्त सदस्यों ने जय-जयकार ध्वनि के साथ पारित किया। निस्सन्देह राम के विरोध का कोई कारण भी न था। दशरथ की प्रतिज्ञा तो सब पर विदित न थी। परन्तु राजनीतिविलक्षण दशरथ ने सबका समर्थन पाकर फिर इच्छा व्यक्त की कि वे प्रस्ताव पर एक बार पुनः विचार कर लें। अतः उन्होंने फिर कहा—आपने जैसे ही मेरा भाषण सुना है, वैसे ही तुरन्त राम के प्रति शुभकामना व्यक्त की है। इससे मेरे मन में सन्देह उत्पन्न होता है, क्या आप लोगों ने सच्चाई के साथ अपने मन की बात कही है अथवा केवल मेरी प्रसन्नता के निमित्त ही यह प्रस्ताव स्वीकार करते हैं या कि आपने भी राम के उदार गुणों पर विचार किया है ? क्योंकि जब तक मैं ईमानदारी के साथ इस भूमि पर शासन कर रहा हूँ, तब फिर क्यों आप यह चाहते हैं कि मेरा लड़का युवराज बनाया जाय ? क्या मैं राज्य-शासन ठीक ढंग से संचालित नहीं कर पा रहा था (२।१।४२)।

तब सभा के सदस्यों ने सर्वसम्मति से कहा—"राम वास्तव में सत्यवादी, एक सफल व्यक्तित्व के सब गुणों से परिपूर्ण, धर्मात्मा, धीर, वीर, पराक्रमी, तेजस्वी, साहसी, शक्तिमान, उत्साही, उदार, मृदुभाषी, बुद्धिमान्, सच्चरित्र प्रजापालक और जनरक्षक हैं। वे सर्वगुण सम्पन्न हैं। वे संसार के सभी जीवों को प्रिय हैं। शत्रु का मानमर्दन करने तथा उसे विजय करने का उनमें अदम्य सामर्थ्य है। वे अद्भुत पराक्रमी हैं। उनके समान देव, गन्धर्व, किन्नर, दैत्य, दानव, आर्य आदि वंशों में कोई नहीं हैं। हम सभी हृदय से यही चाहते हैं कि राम का शीघ्रातिशीघ्र यौवराज्य अभिषेक कर दिया जाय। हमारे कल्याण के निमित्त आप राम को यौवराज्य पद शीघ्र दे दें (२।३।५३-५४)।"

सभासदों के वचन सुनकर दशरथ ने सम्पूर्ण सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त[2] करते हुए कहा—"आप धन्य हैं! आपके विचार स्तुत्य हैं। मैं आपसे सहमत हूँ। आजकल चैत्र मास है, वसन्त का आगमन हो चुका है। चारों ओर वन-उपवन-वाटिका पूर्ण पल्लवित और पुष्पित हैं। वृक्ष-पादप-लताएँ सभी हरी-भरी फल-फूलों से लदी हुई हैं। खेत हरे-भरे और धान्यों से परिपूर्ण हैं। कल पुष्य नक्षत्र है। आपकी अनुमति ही से राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत की जाय।[3]"

इसका सभी ने अनुमोदन किया। तब दशरथ ने अपने गुरु और मंत्री वशिष्ठ से करबद्ध होकर कहा—"आप सचिवों को आदेश दें कि सभा के निर्णय को शीघ्र कार्यान्वित करें, अर्थात् अब आप सब सामग्री प्रस्तुत कर यह अनुष्ठान कल ही पूरा कर दीजिए।" इसके बाद दशरथ ने सब मंत्रियों को, नगर-निवासियों तथा समागत जनों का भव्य स्वागत और आतिथ्य करने का आदेश दिया। सुमन्त्र दशरथ के मित्र, मंत्री और राज्य के परम हितैषी थे। अब तक सभी

१ तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराज्य यमन्यत्॥ २।१।४२

२ अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ॥२।३।२

३ चैत्रः श्रीमानयं मासः पुराय पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥२।३।४

राजकुमारों की देख-रेख, शिक्षा-दीक्षा उन्हीं के अधीन थी। अब सुमन्त्र के द्वारा राम को बुला कर महाराज दशरथ ने कहा—राम ! "तुम मेरे तथा अपनी माता के प्रिय हो, समस्त प्रजा के प्राणधार हो। कल पुष्प नक्षत्र में मैं तुम्हें यौवराज्य-विभूषित करना चाहता हूँ। सभी राजा-राजवर्गी इसमें सहमत हैं मैं तुम्हें तुम्हारे हित की सीख देता हूँ, तुम सदैव जितेन्द्रिय रहना, बुरे व्यसनों से दूर रहना, समुचित रीति से प्रजा का न्याय करना, सेना को सन्तुष्ट रखना, कोष में सदैव स्वर्ण-रत्न भरपूर रखना, अपने कर्मचारियों, भृत्यों, दासों, सेवकों और दासियों को सुखी रखना २।४।१-४-२५।"

इतना कह कर राजा प्रेमाश्रु बहाने लगे। फिर पुत्र को छाती से लगा कर बोले—"पुत्र, मैंने इस दीर्घायु से बहुत अनुभव पाया है। संसार का मुझे यथावत् ज्ञान है। प्रत्येक बात का मुझे पूरा अनुभव है। मैं अब एक क्षण का भी विलम्ब इस कार्य में नहीं करूँगा। कल ही मैं यह शुभ कार्य पूरा करूँगा। मनुष्य के विचार सदैव एक से नहीं रहते, उनमें परिवर्तन होता ही रहता है। इससे में अब अधिक सोच-विचार में समय-नष्ट करना नहीं चाहता। इसीसे मैं निश्चय ही कल यह काम पूरा करूँगा। आज रात तुम और बधू सीता उपवास करो तथा शय्या पर कुश बिछाकर शयन करो। रक्षकगण पूर्णतः सतर्क और सचेत रहें तथा सुमन्त्र रात-भर जाग कर स्वयं तुम्हारी रक्षा करें। मैं जानता हूँ शुभ कार्यों में बहुत विघ्न आते रहते हैं। तुम्हारे भाई ननिहाल गए हैं। मेरी इच्छा है कि उनके आने से पूर्व ही तुम्हें युवराज बना दूं। यद्यपि भरत तुम्हारा अनुयायी है, फिर भी मनुष्य स्वभाव चंचल है।"

मंत्रियों तथा सचिवों द्वारा सभा के निर्णय को कार्यान्वित होते ही, यह समाचार अयोध्या में व्याप गया। नगर जन हर्षोन्मत्त हो गये। अयोध्या में मंगल-वाद्य बजने लगे। राजमार्ग सज गए। नगर भवनों पर वंदनवार-कलश-पताकाएँ सुशोभित हो गयीं, पुष्प-मालाओं-तोरणों से समस्त गृह सम्पन्न हो गये, मंगल-गान, वेणुवाद्य शंख आदि बजने लगे। राजमार्ग दर्शकों से भर गया। वीरांगनाएँ नृत्य करने लगीं। विविध होम-पूजा और मंगल अनुष्ठान होने लगे, सुरभित-सुगन्धित पदार्थों की गन्ध से दिशाएँ महक उठीं। हर मुंह में राम के राज्याभिषेक की चर्चा थी। नगर-नागर राम की धीरता-वीरता धर्मभीरता, उत्साह, उदारता, सहृदयता, पितृभक्ति, विद्या-निपुणता आदि की चर्चा करने लगे। किन्तु भोर होते ही सभा के निर्णय पर कुछ कारणोंवश महाराज दशरथ अमल न कर सके, जिसका श्रेय मन्थरा को ही दिया जा सकता है (२।७।७-८)।

वास्तव में कैकेयी राम को पुत्रवत् प्यार करती थी, उनके मन में तुच्छता का थोड़ा मान भी न था। वह अपने शुल्क की बात भी भूल गई थी। राजा का प्यार तथा अयोध्या का वैभव उसे विशेष प्रिय था। उसने बूढ़ी धाय मन्थरा के वचन सुन नरमी से कहा—"धातृमातः, तू स्नेह से ऐसा कहती है। परन्तु राम तो यौवराज्य के सर्वथा योग्य और अधिकारी हैं। वह धर्मात्मा है, उदार, सत्यवादी और प्रजापालक है। वह तो मुझे ही अपनी माता समझता है, फिर भला भरत और राम में अन्तर क्या है ?[1] राम को राज्य मिलना भरत ही को राज्य जैसा है।"

अन्ततोगत्वा मन्थरा के विष-वमन से कैकेयी का मन फट गया और अन्तःपुर के षड्यन्त्र के कारण राम को वन के लिए प्रस्थान करना पड़ा। साथ ही महाराज दशरथ सभा के निर्णय को लागू करने में असमर्थ हो गये इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि जनता की माँग का उतना

---

१ रामो वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ।। २।७।३५

अधिक महत्त्व नहीं था, जितना कि एक रानी की बातों का। इससे यह भी ध्वनित होता है कि विशेष परिस्थितियों में राजा सभा के निर्णय को निरस्त कर सकता था और उसका निर्णय अन्तिम निर्णय होता था।

वाल्मीकि-रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि राक्षसराज रावण की भी एक सभा अथवा राज्य सभा थी, जिससे वह संकटकालीन परिस्थितियों में परामर्श लिया करता था। उसकी सभा में उसके सैन्य-अधिकारियों, सचिवों और बन्धु-बान्धवों की भरमार थी। इस सभा का अध्यक्ष स्वयं रावण था क्योंकि तत्कालीन समय में राजा ही सभा का अध्यक्ष होता था। रामायण में रावण द्वारा अपनी सभा के दो विशेष अधिवेशन बुलाने का वर्णन स्पष्ट परिलक्षित होता है—एक तो हनुमान द्वारा लंका में अग्निकाण्ड के पश्चात् और दूसरा लंका पर राम का आक्रमण होने के समय।

प्रथम सभा के अधिवेशन में लंकेश रावण ने सभासदों को सर्वप्रथम अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि—"हनुमान ने अजेय दुर्गम लंकापुरी को अग्नि द्वारा विध्वंस कर दिया है और बड़े-बड़े प्रतापी राक्षसों का वध कर डाला है (६।६।१२३)। साथ ही सम्मति माँगी कि राम के विरुद्ध क्या कदम उठाया जाय।[1]" सभासदों को सम्वोधित करते कहा कि हम राजाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—उतम, मध्यम और अधम। उन तीनों प्रकार के राजाओं के गुण-दोषों पर विधिवत् प्रकाश डालते हुए कहा कि 'जो अच्छी सलाह देने वाले और समर्थ मन्त्रियों के साथ अथवा बराबरी के मित्रों के साथ अथवा अपने से योग्य जनों के साथ परामर्श लेकर किसी कार्य का श्रीगणेश करता है और भाग्य के हानि-लाभ का यत्न करता है, वह उत्तम श्रेणी का है; जो अकेला ही अपने कर्त्तव्य का विचार कर कार्य प्रारम्भ करता है, वह मध्यम श्रेणी का; जो गुण-दोषों को भली-भाँति विचारे बिना और धर्म का सहारा त्यागकर, दैव अथवा भाग्य की उपेक्षा करता है वह अधम श्रेणी का है।[2]"

इसी प्रकार रावण ने सलाह (मन्त्रणा) अर्थात् निश्चयों को भी तीन श्रेणियों में विभाजित किया—उत्तम, मध्यम और अधम। शास्त्रानुसार जहाँ एकमत होकर मन्त्रिगण जो सलाह करते हैं, वह उत्तम सलाह कही जा सकती है। जिस विचार का निर्णय करने के लिए मन्त्री अनेकमत होकर फिर एकमत हो जायँ उसे मध्यम; और जहाँ अपनी-अपनी बुद्धि की प्रधानता रखकर स्पर्धापूर्वक भाषण किया जाय और ऐसे परस्पर-विरोधी मत प्रकट किए जायँ, जिनमें कल्याण की सम्भावना न हो, वह सलाह अर्थात् निश्चय अधम कहलाता है।[3] अतएव हे सभासदो! आप लोग स्वयं बहुत ही बुद्धिमान हैं। जो सलाह हो, उसे एकमत होकर निश्चित करो—बस, वही मेरी भी सलाह अर्थात् निश्चय होगा।"

किन्तु सबसे बड़ी बात तो यह थी कि रावण के सभा के अधिकांश सदस्यों को न नीति का ज्ञान था और न वे शत्रु की शक्ति के सम्बन्ध में ही कुछ जानते थे। वास्तव में उनमें चाटुकारिता और युद्ध के प्रति मोह था। इस नाते उन्होंने रावण के पराक्रम एवं शौर्य की प्रशंसा करके उसे परामर्श दिया कि 'हनुमान द्वारा किये गये अपमान का बदला अवश्य लिया जाय और प्रतिशोध स्वरूप सीता को न लौटाया जाय।' प्रहस्त विरूपाक्ष, दुर्धर्ष, महोदर, निकुम्भ, रभस, महापार्श्व, अग्निकेतु, रश्मिकेतु, इन्द्रजीत, बलवान, वज्रदंष्ट, धूम्राक्ष, अतिकाय आदि सभासदों ने

---

१. किं करिष्यामि भद्रं वः किं वां युक्तमनन्तरम्। ६।६।४
तस्माद्वै रोचये मन्त्रं रामं प्रति महाबलाः॥ ६।६।५

२ देखिये बा. रा. ६।६।६; ६।६।७; ६।६।८; ६।६।६-१०; ६।६।११

३ देखिये बा. रा. ६।६।१२: ६।६।१३: ६।६।१४; ६।६।१५

अपनी-अपनी शेखी बघारी। केवल विभीषण ने उक्त प्रस्ताव पर विरोध प्रकट करते हुए कहा—"आप मेरे भाई हैं। पण्डितों का कथन है कि जहाँ तीन उपायों से काम न चले, वहा पराक्रम प्रदर्शित करना चाहिए। किन्तु इसके बावजूद सोच समझकर कोई कदम उठाया जाय। मैं आपसे विनय करता हूँ, अकारण राम के साथ बैर लेना उचित नहीं है। इसलिए आपके हित के लिए सच्ची बात कहता हूँ कि राम को उनकी पत्नी लौटा दीजिये।"[1] विभीषण की बात को सुनकर रावण सभा की कार्यवाही को स्थगित कर अपने राजमहल में चला गया।[2]

विभीषण का विरोध आधुनिक संसद या विधान सभा की कार्यवाही की झाँकी प्रस्तुत करता है। आज भी ये परम्परा है कि सदन में रखे गये प्रस्ताव से यदि कोई पक्ष अथवा विपक्ष का सदस्य सहमत नहीं तो उसके विरोध में अपना स्वतन्त्र मत प्रकाशित कर सकता है। अधिक विरोध होने पर अध्यक्ष मतदान करा कर प्रस्ताव दो तिहाई से पारित करा सकता है और उसे निरस्त भी करा सकता है यदि बहुमत न मिला तो। सम्भवतः रावण ने विभीषण की बातों पर ध्यान इसीलिए नहीं दिया कि बहुमत उसके पक्ष में था।

दूसरे आपत्तिकालीन अधिवेशन और राक्षस राज की सभा के राजकीय वैभव का विस्तृत वृतांत हमें उसकी दूसरी बैठक के वर्णन से प्राप्त होता है (६।११-२)। दूसरे दिन प्रातः रावण सुवर्ण की जालियों से भूषित, मूँगों और मणियों से शोभित और प्रशिक्षित घोड़ों से युक्त रथ पर सवार होकर सभा-भवन की ओर चला (६।११।३-४)। जिस समय रावण ने सभा-भवन की ओर प्रस्थान किया, उस समय उसके साथ ढाल-खड्ग धारण करने वाले अनेक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित योद्धा, जो विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे वेश में आभूषणों से सजे हुए थे उसके आगे पीछे और दायें-बायें चल रहे थे। रथ वाले रथों पर, हाथी सवार हाथियों पर, घुड़सवार घोड़ों पर, हाथ में तोमर, शूल, गदा, शक्ति, परिध, लेकर रावण के साथ चले। उस समय सहस्त्रों भेदियां बज रही थीं, जिनसे गम्भीर शब्द होता था। आगे-आगे बन्दी जन स्तुति गाते जा रहे थे। राजपथ पर खड़े बहुत से राक्षस हाथ जोड़ कर और सिर झुका-झुका कर उसका सादर अभिवादन कर रहे थे। इस प्रकार राक्षसों द्वारा सम्मानित और विजय के लिए आशीर्वाद सुनता हुआ शत्रुदमनकारी एवं महातेजस्वी लंकेश रावण सभा-भवन में जा पहुँचा।[3]

सभा-भवन में पहुँचते ही तुमुल शंखध्वनि हुई। सभा-भवन का फर्श सोने-चाँदी से जड़ा हुआ था। उस पर रत्नजटित सुनहरी काम का बिछावन बिछा हुआ था। इस प्रकार अमिताभ रावण उस अपूर्व सभा में जा पन्नों से सुसज्जित सिंहासन पर, जिसके ऊपर प्रियंक जाति के हिरन का कोमल चर्म बिछा हुआ था, जा बैठा। इस भवन के रक्षक ६: सौ राक्षसों ने भूमि पर गिर कर रावण का अभिवादन किया। सभा में सदस्यों को बैठाने का प्रबन्ध शुक्र और सेनापति प्रहस्त के अधीन था।[4] आयोध्या की लोक-सभा की तरह लंका की सभा में भी सदस्य गण जहाँ चाहे वहाँ नहीं बैठ सकते थे। वे उन्हीं आसनों पर बैठने के हकदार थे, जो उनके के लिए नियत थे।

रावण ने अध्यक्ष-स्थान ग्रहण करने के बाद सभासदों को शीघ्र बुलाने के लिए दूतों अथवा संदेशावाहकों को आदेश दिया (६।११।१८-२०)। राक्षस संदेशवाहक रावण का आदेश

---

१ वैरं निरर्थकं कर्तुं दीयतामस्य मैथिली, ६।६।१७

२ विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
बिसर्जयित्वा तान सर्वान् प्रविवेश स्वकं गृहम्॥ ६।१०।२४

३ देखिये ६।११।१४

४ शुक्रः प्रहस्तश्च तथैव तेभ्यो, ददौ यथार्ह पृथगासनानि ६।११।३०

लंका के भवनों में, शयन-गृहों में, क्रीडास्थलों में, उद्यानों में जा-जाकर राक्षस-सामन्तों और सभासदों को सुना आए । राजाज्ञा पा कर शस्त्र और वस्त्र से मज्जित हो कोई सभासद रथ पर, कुछ हाथियों पर कुछ पालकियों पर चढ़कर राजसभा को चले । कुछ पैदल ही चल दिये । सभासदों की सवारियों से लंका के राजपथ भर गए, चहल-पहल से मुखरित हो उठे । उन्हें देखने को उत्सुक पौर-बधुएं झरोखों से ताक-झांक करने लगीं । सभासद् अपनी विविध प्रकार की सवारियों को सभा-भवन के मुख्य द्वार पर छोड़ पैदल ही सभा-भवन के अन्दर प्रविष्ट हुए । ये सब सभासद् प्रत्येक कार्य की सुगम से सुगम व्यवस्था करने में दक्ष और समुचित-समयानुकूल मत देने में निपुण थे । इसी समय राक्षसेन्द्र विभीषण, कुम्भकर्ण और युवराज मेघनाद भी अपने-अपने श्रेष्ठ घोड़ों के स्वर्णरथों में बैठ सभा में आ अपना नाम कह राक्षसेन्द्र के चरणों में प्रणाम कर अपने आसन पर आ बैठे । उधर रावण के आठों मन्त्री भी अपने-अपने नियत आसनों पर बैठ गये । इस प्रकार थोड़ी ही देर में सभा-भवन अत्यन्त बुद्धिमान् आमात्यों, सामान्त जनों, नीति-निपुण मन्त्रियों सैन्यपदाधिकारियों से भर गया ।[1] विविध मणि-माणिक्य-हीरकजटित बहुमूल्य वस्त्रों को धारण किये, अगरु, चन्दन और पुष्प-मालाओं की सुगन्ध से सभा-भवन को सुरभित करते हुए वे चतुर और सभ्य सभासद् सभा की शोभा बढ़ाने लगे । अयोध्या की भांति लंका के भी सभासद् पूर्णतः शिष ताचार और अनुशासन का पालन करते थे । उनमें न तो कोई जोर-जोर से चिल्लाकर बोलने वाला था और न असत्यवादी । सभी राक्षस अत्यन्त पराक्रमी और शूरवीर थे । वे सभी राजा की ओर उन्मुख होकर बैठे हुए थे ।[2] इस प्रकार उन महाबली शस्त्रधारी मेधावी सभासदों के बीच में बैठ लंकेश दिव्य सुषमा धारण कर रहा था ।

युद्धकालीन अधिवेशन होने के कारण लंकेश रावण ने समस्त सभा को देखकर, सभा-भवन और नगर-दुर्ग की रक्षा व्यवस्था हेतु सेनापति प्रहस्त को आदेश देते हुए कहा—"सेना चार प्रकार रथ, राज घड़सवार और पैदल की है । इन चारों तरह की सेना के सैनिकों को नगर रक्षा के लिए यथास्थान नियत कर दो" (६।१२।२) । तब सेनापति प्रहस्त ने लंकेश के आदेशानुसार यथा-विधान सैनिकों को नियुक्ति कर दिया । नगर की रक्षा के लिए अलग-अलग सेना नियत कर राक्षसेन्द्र रावण से निवेदन किया कि अब आप निश्चिन्त होकर सभा का अधिवेशन प्रारम्भ कीजिये (कुरुष्वाविमनाः कृत्यं यदभिप्रेतमस्तिते, ६।१२।५) ।

अधिवेशन का शुभारम्भ करते हुए रावण ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सर्वप्रथम सभा के सम्पूर्ण सदस्यों के प्रति उनकी पूर्व सेवाओं-हेतु आभार व्यक्त किया—"आप सबकी सहायता से ही मैंने देवासुर-संग्राम में शानदार विजय प्राप्त की थी । आपको ज्ञात है कि हमारा शत्रु राम लंका पर अभियान करने के विचार से आगे बढ़ रहा है । इसलिए आप निश्चय कर लेना परमावश्यक सा हो गया है । आप सब वही सोचें जिसमें राक्षसों का कल्याण हो तथा हमारी लंका का दुर्दिन का मुँह न देखना पड़े । धर्म, अर्थ, और काम-विषयक कठिनता उपस्थित होने पर आप ही लोग प्रिय-अप्रिय, लाभ-हानि, सुख-दुख, हित-अहित का विचार करने में पूर्ण समर्थ हैं । मैंने जो काम किया है, उसके विषय में भी मैं आप लोगों से पहले सम्मति लेना चाहता था पर कुछ कारणों वश ऐसा न कर सका ।" याचना भरे स्वर में उसने कहा—"मैं दण्डकारण्य से अपने शत्रु याचना दशरथ राम की पत्नी सीता को लाया हूँ ।[3] राम से यद्यपि मुझे भय नहीं है, फिर भी इस सम्बन्ध

---

१ देखिये—६।११।२८

२ देखिये ६।११।३०

३ रावण सभासदों के सम्मुख यह स्पष्ट रूप से नहीं कहता है कि मैं दण्डकवन से सीता को बलजोरी से हर लाया हूँ । वह कहता है "आनीता" अर्थात् ले आया हूँ ।

में विचार तो कर लेना चाहिए। फिर आगामी कार्यक्रम की योजना बनाना चाहिए। आप ही की सहायता से मैंने पृथ्वी को जय किया और दुर्लभ राज्यलक्ष्मी भोग रहा हूँ। अब सीता का का पता लगाकर राम-लक्ष्मण सेना सहित समुद्र के उस पार आ पहुँचे हैं तथा इस पार आने का उद्योग कर रहे हैं। यद्यपि उनका यह प्रयास हास्यस्पद ही है, फिर भी हमें ऐसा उपाय सोच रखना चाहिए जिससे दोनों भाई मारे जायें और सीता को लौटाना न पड़े।[१] आपकी ही योजनानुसार मैं कार्य करूँगा। मैं तो यही समझता हूँ कि वानरी सेना के लिए समुद्रोल्लंघन अत्यन्त दुष्कर ही है। फिर भी यदि वह यहाँ आ भी गये तो संसार में कोई भी ऐसी शक्ति मैं नहीं देखता, जो संग्राम में मुझे पराजित कर सके।"[२]

रावण की याचना भरी बातें सुनकर कुम्भकर्ण ने क्रोध भरे स्वर में विरोध प्रकट करते हुए कहा—"हे राजन् ! जब आपने सीता का हरण किया, तब हमसे सम्मति नहीं ली। यह काम अत्यन्त अनुचित हुआ।[३] हरण से पूर्व ही आपको परामर्श करना उचित था। महाराज, आपने बिना ही विचार किये यह क्षुद्र कर्म कर लिया, जो महा अनिष्टकारक हो सकता है। राम का बल जनस्थान में देख लिया गया है। मैं तो यह समझता हूँ कि आपने बलवान् शत्रु से अविचारपूर्ण दूषित छेड़छाड़ प्रारम्भ कर दी है, जिससे आपके विश्व विश्रुत सुनाम को कलंकित होने का भय उपस्थित हो गया है। यदि आपकी इस भूल के परिणाम स्वरूप हमारी सारी तपस्या, विश्व विजय के भागीरथ प्रयत्न तथा सम्पन्न लंका पर संकट आ पड़े और राक्षसों का सर्वनाश उपस्थित हो जाए, तो वह आपका ही दोष होगा। हे राजन् ! मैंने आपके वंश और प्रतिष्ठा के लिए प्राणान्तक युद्ध किये और सबको मार डाला। परन्तु इस स्वेच्छचारिता पूर्ण दुष्कर्म में मेरा आपसे कोई सहयोग नहीं है। मैं शत्रु का पक्ष नहीं लेता, परन्तु आपकी अनीति का अनुमोदन भी नहीं करता। अतः इस सम्भावित युद्ध में आप मुझसे कुछ भी आशा न रखें। मेरी इच्छा तो अब कुछ दिन एकान्तवास की है। अतः मैं रत्नगुहा में जाता हूँ। आपका कल्याण ही (युद्धकाण्ड)।"

बस इतना कहकर कुम्भकर्ण अपना आसन छोड़ उठ खड़ा हुआ। इस पर रावण ने क्रुद्ध होकर कहा—"कुम्भकर्ण, समुद्र के समान मेरे वेग और वायु के समान मेरी गति को न जानकर ही वह राम वानरी सेना ले लंका की ओर अग्रसर हो रहा है। जिस प्रकार सूर्य उदय होते ही नक्षत्रों की कान्ति नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मैं इस वानरी सेना को मौत के घाट उतार दूँगा। मुझे तेरी आवश्यकता नहीं है। मेरी ओर से तू रत्नगुहा में एकान्तवास कर। मुछ सहोदर से तेरा क्या प्रयोजन है ?" रावण के ये वचन सुन कुम्भकर्ण रावण को प्रणाम कर, बिना उत्तर दिये सभा-भवन से (वाक आउट) चला गया। (सम्भवतः आधुनिक युग की भाँति तत्कालीन समय में सभा के सदस्य वाक आउट कर देते थे। मेरा तो विचार है कि वाक-आउट की प्रथा रामायण काल से चली आ रही है।) किन्तु बाद में सत्ता का सदस्य और भाई होने के नाते कुम्भकर्ण को राजा का समर्थन करने के लिए बाध्य होना ही पड़ा।[४]

---

१ सीतायाः पदवीं प्राप्तौ सम्प्राप्तौ वरुणालयम्।
अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ ॥६।१२।२५

२ न हि शक्तिं प्रयश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित्।
सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चययेन जयो मम ॥६।१२।२६

३ सर्वमेतद् महाराज कृतमप्रतिमं तव।
विधीयेत सहास्माभिरादविवास्य कर्मणः ॥६।१२।२८

४ देखिये वा. रा. ६।६३।३३; ६।६३।३४-३५; ६।६३।३७-३८

तब राक्षसेन्द्र रावण के वचन सुन, शत्रु बल से अपरिचित और नीतिशास्त्र से शून्य राक्षस यूथपति योद्धा विनम्रता पूर्वक बोले—"महाराज ! सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित विशाल अजेय सेना हमारे पास है । फिर चिन्ता किस बात की है ? इसी सेना से आपने भोगपुरी के नागों को वश में किया, इन्द्र को बन्दी बनाया फिर इस राम में क्या रखा है ? हे राजन् ! जब तक इन्द्रजय मेघनाद और अथक विक्रम कुम्भकर्ण आपकी आज्ञा के अधीन हैं, तब आपको किस बात की चिन्ता है ।"

इस पर धर्म और राजनीति के परम ज्ञानी, राजमर्यादा के ज्ञाता विभीषण ने रावण को उसके विनाश' से सावधान कर देना अपना कर्त्तव्य समझा ! उसने रावण से मधुर स्वर में कहा—हे राजन् ! "आप राम को उनकी पत्नी सीता को लौटा दें क्योंकि क्या मेघनाद, क्या कुम्भकर्ण, क्या प्रहस्त, क्या महापार्श्व, क्या महोदर, क्या कुम्भ, निकुम्भ, अतिकाय इनमें से कोई युद्ध क्षेत्र में राम के सामने टिक नहीं सकते हैं ! जबसे आप लंका में सीता को लाये हैं, मैं अनेक अपशकुन देख रहा हूँ ! हमें राम के बल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और महाउत्पात करने वाले वानर जब तक लंका से दूर हैं, तब तक आप इस विषाक्त नागिन सीता को लौटा दीजिये (६।१४) ।"

विभीषण के ये वचन सुन इन्द्रजीत मेघनाद ने गरजते हुए कहा—हे पितृत्व, भीरु पुरुषों के समान यह आप क्या कह रहे हैं ? नीच-कुलोत्पन्न प्राणी भी ऐसे भीरु वचन नहीं कहता—आप तो प्रतापी पौलस्त्य हैं । भला कहीं मानव और पशु भी हम राक्षसों की समता कर सकते हैं । मैंने त्रिलोकपति इन्द्र को बन्दी बनाया । तब हमें देवता और दानव से क्या भय है । (६।१५) ।"

विभीषण ने विनम्रतापूर्वक कहा—"पुत्र तू शस्त्रधारियों में मर्धन्य है । हमारे कुल का शिरोमणि है । अमितविक्रम है, परन्तु तेरी आयु के समान तेरी बुद्धि भी अभी परिपक्व नहीं है । तू हिताहित और कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार नहीं कर सकता । जो तुम कहते हो—इससे रक्षकुल का विध्वंश ही होगा । तुम उस भयंकर राम के पराक्रम से बिलकुल अपरिचित हो ! मेरी यही सम्मति है कि ससम्मान सीता को लौटा दिया जाय, ताकि राक्षसेन्द्र निर्भय होकर लंका का साम्राज्य भोंग सकें ।"

लगातार विभीषण के विरोध करने पर लंकेश रावण ने क्रुद्ध होकर कहा—"अरे भ्राता ! शत्रु और सर्प के साथ रहना तो फिर भी निरापद है, परन्तु शत्रुपक्षपाती बन्धु के साथ रहना अत्यन्त भयानक है । मैं जानता हूँ कि हमारे कुल में ऐसे कुल-कलंक हैं, जो रक्षकुल पर विपत्ति आने पर प्रसन्न हो सकते हैं । वे अपने ही कुल का तिरस्कार करते हैं । ऐसे ही दुरात्मा तुम भी हो ! तुम जैसे कुलद्रोही से तो भय ही भय है । तुम शत्रु के प्रशंसक और कुल के निन्दक हो । आज जो आखिल विश्व में मेरी विजय-वैजयन्ती फहरा रही है, मेरे नाम का डंका बज रहा है मैंने जो विश्व के कुलीनों और ऐश्वर्यवानों का सम्मुख समर में पराभव करके जग विजयी की पदवी प्राप्त की है, वह सब तुझे अच्छी नहीं लगती । तुझ कुल-निन्दक को मृत्युदण्ड देना न्याय संगत है । परन्तु तू मेरा सहोदर भाई है । मैं तुझे केवल धिक्कार सहित त्याज्य घोषित करता हूँ । तू राक्षसों की लंका तथा यशस्वी रक्षकुल को त्यागकर अभी यहाँ से निकल यही तेरे लिए राजाज्ञा है (६।१६) ।"

विभीषण ने नम्रता पूर्वक कहा—"हे राजन ! आप पितृतुल्य मेरे ज्येष्ठ भ्राता और रक्षपति हैं; इससे में आपकी आज्ञा मानकर अभी लंका को त्यागता हूँ । मैंने जो कहा था, उसमें आपकी ही भलाई है और वह भी कहा था, जो निश्चय ही आगे होने वाला है किन्तु आपने उन

बातों पर ध्यान नहीं दिया। जो होना है वह अटल है! आपना कल्याण हो। इतना कहकर विभीषण तुरन्त उठकर अपनी भीम गदा ले सभा-भवन से चल दिये। उनके पीछे ही उनके चारों मन्त्री भी उठकर सभा-भवन से बाहर हो गये (६।१६।१६-२५)।''

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि राजा का निर्णय अन्तिम निर्णय होता था और रावण की सभा में कोई विरोधी सत्ता या दल नहीं था। फिर भी कुम्भकर्ण और विभीषण के विरोधी भाषण एक निरंकुश शासन में प्रजातान्त्रिक पद्धति का आभास देते हैं। इतना ही नहीं लंकेश रावण के सभा-भवन की सुरक्षा के लिए जो सैनिक प्रबन्ध होता था, वह आज भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

(ख) मन्त्रि-परिषद्

तत्कालीन राजतन्त्र में राजा को परामर्श देने तथा विधियों को क्रियान्वित करने के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। प्रत्येक प्रकार के अधिशासनिक तथा प्रशासनिक प्रस्तावों पर पहले विचार किया जाता था। विशेष तोर से अश्वमेघ करने के समय, युवराज को कार्यवश बाहर भेजने के समय, युवराज के योग्य वधू का चुनाव करते समय, सभा के समक्ष किसी प्रस्ताव को रखने से पूर्व, युद्ध-घोषणा करने से पूर्व तथा अन्य कठिन समस्याओं के निराकरण-हेतु राजा मन्त्रि-परिषद् से परामर्श करता था। इसमें दो प्रकार के सदस्य होते थे—(१) गुरुजन (गुरुवः), जो एक परामर्शदात्री समिति के रूप में काम करते थे। इनसे राजा महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने से पूर्व, परामर्श लिया करता था। ये सभी ब्राह्मण वर्ण के होते थे और 'मन्त्रिणः' भी कहलाते थे। (२) अमात्य या सचिव, जिन्हें आज की भाषा में कैबिनेट या मन्त्रि-मण्डल कहा जाता है। प्रत्येक सचिव को एक विभाग सौंप दिया जाता था।

गुरुजनों और मन्त्रियों तथा अमात्यों अथवा सचिवों का अन्तर राम द्वारा भरत से चित्रकूट पर पूछे गये राजनीतिक प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है। भरत से पूछा था—''तुम अपने अमात्यों और मन्त्रियों से परामर्श तो करते हो न।'' यहाँ मन्त्रियों से राम का अभिप्राय परामर्श-दाता गुरजनों से भी है। वानर और राक्षसी में भी मन्त्रि-परिषद के दोनों विभाग स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। हनुमान् को सुग्रीव का सचिव (४।३।२२) और उन परामर्शदाताओं को, जिन्होंने बालि को मृत समझकर सुग्रीव के राज्याभिषेक का आग्रह किया था, मन्त्री कहा गया है (४।६।२०-१)। विभीषण अपने चार साथियों को लेकर राम पक्ष में सम्मिलित हुए थे, वे उनके अमात्य थे। रावण के साथ उसके सचिव भी दिग्विजय के लिए गये थे, जबकि उसकी सभा के परामर्शदाता मन्त्र-तत्त्वज्ञ मन्त्री थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रि-परिषद् राज-काज में परामर्श देने, सहायता करने तथा क्रियान्वित करने वाली एक वृहद संस्था थी, जिसमें ऐसे राजकर्मचारी भी सम्मिलित थे, जिन्हें मन्त्रणा के समय उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

अयोध्या-नरेश दशरथ की मन्त्रि-परिषद् महर्षि वशिष्ठ के नेतृत्व में संचालित होती थी, जो राजपुरोहित और मन्त्री थे। सुयस, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, वशिष्ठ और वामदेव आठ मन्त्री थे, जिनमें से वसिष्ठ और वामदेव ऋत्विज भी थे (१।७।४-५)। अमात्यगण सदैव राजा के सान्निध्य में रहा करते थे। वहाँ गुरुजन आवश्यकता-नुसार परामर्श के लिए बुलाये जाते थे। जब महाराज दशरथ अश्वमेघ यज्ञ कराने के औचित्य पर विचार कर रहे थे, जब राम पर एक ब्राह्मण ने कुशासक होने का आरोप लगाया था, जब सीता की पवित्रता की सार्वजनिक परीक्षा लेने का प्रश्न उठा था, तब गुरुजन परामर्श के लिए आमन्त्रित किये गये थे। अपने अगाध धर्मशास्त्रीय ज्ञान और अनुभव तथा नीति, इतिहास एवं परम्पराओं से विस्तृत परिचय के कारण वे राजा के बहुत सहायक सिद्ध होते थे।

संकट कालीन स्थिति में जब राजा का पद रिक्त होता था, वे 'राजकर्तारः' के रूप में नवीन राजा की नियुक्ति करते थे। दशरथ के निधन के बाद ही उनके परामर्शदाता गुरुजन और मन्त्री सम्मिलित होकर सभा-भवन में गये और अमात्यों-सहित महर्षि वासिष्ठ को संबोधित करके बोले कि अराजकता के अनेक दोष हैं, इसलिए इक्ष्वाकु वंश के राजकुमारों में से जिसे आप उपयुक्त समझें, राजा बना दें।[1] आपसी मतभेद के कारण कहीं इसमें बिलम्ब न हो, इसलिए समस्त गुरुजनों ने प्रधान मन्त्री को यह अधिकार सौंप देने की बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की क्योंकि वे सबसे अधिक नीतिज्ञ, निष्पक्ष और आदर के पात्र थे।

दशरथ के आठ अमात्य या सचिव थे—धृष्टि, जयंत, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक अकोप मन्त्रपाल और सुमंत्र।[2] ये सब सचिव विद्या-विनयसम्पन्न, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, नीतिविशारद, शास्त्र के मर्म को जानने वाले थे। साथ ही राजा के कार्य में प्रमाद न करने वाले, क्रोध अथवा लोभवश झूठ न बोलने वाले, व्यवहार कुशल, अपने-अपने विभाग की पूर्ण जानकारी रखने वाले तथा अन्याय कार्य करने पर अपने पुत्र को भी न्यायोचित दण्ड देने वाले थे (१।७।५-८)। ये सब मन्त्री समय पर वेतनादि देने की व्यवस्था रख सेना को अपने पक्ष में रखने वाले और निरपराध शत्रु को न सताने वाले थे। सभी राजनीति के अनुसार कार्य करते और अपने राज्य के भीतर रहने वाले सत्पुरुषों की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते थे। वे राजकीय मंत्रणा को गुप्त रखने में समर्थ और सूक्ष्म विषय का विचार करने में दक्ष थे (१।७)। वे नीतिरूपी नेत्रों से देखते हुए सदा सजग रहते थे और गुणों के कारण महाराज दशरथ के कृपा पात्र थे।

श्री ग्रिफिथ के मतानुसार[3] महाराज दशरथ के तीन अमात्य सैन्य व्यवस्था, दो अमात्य अर्थ एवं वित्त तथा दो अमात्य कानून और न्याय विभाग का काम देखते थे। आठवें मन्त्री के अधीन रथ आदि वाहनों का विभाग था। किन्तु रामायण में विभागों के विभाजन का कहीं उल्लेख नहीं है।

श्री ग्रिफिथ महोदय का कथन है कि दशरथ के मन्त्रियों के नाम उनके व्यक्तिगत नाम नहीं हैं, अपितु उनके कार्य के सूचक हैं। धृष्टि, जयंत और विजय इन तीनों नामों का अर्थ क्रमशः साहस, इन्द्र का विजयी पुत्र तथा युद्ध में सफलता है। इसलिए इन तीनों को सैन्य विभाग का मंत्री माना जा सकता है। सिद्धार्थ का वास्तविक अर्थ सफल व्यक्ति है। अर्थ संग्रह करने में सफलता प्राप्त व्यक्ति भी उसका अर्थ हो सकता है। इस प्रकार सिद्धार्थ वित्त मन्त्री माने जा सकते हैं। छठें मन्त्री का नाम अशोक अर्थात शोक रहित था कोई मन्त्री प्रजा को शोकग्रस्त तभी करेगा, जब वह कानून और न्याय की सीमा को तोड़ दे। इसलिये अशोक नामक अमात्य के अधीन न्याय विभाग रहा होगा। मन्त्रपाल का काम मन्त्रों अर्थात् ऋक्‌युजः साम जैसे पवित्र मन्त्र-शास्त्रों का संरक्षण रहा होगा, इसलिए उन्हें धर्म-विभाग का संचालक माना जा सकता है। राजा राष्ट्र का धार्मिक अध्यक्ष होता था, और उसे व्यवहारिक एवं धार्मिक नियमों का सुचारु रूप से क्रियान्वित करना पड़ता था, इसलिए बहुत सम्भव है कि धर्म का विभाग एक विशिष्ट अमात्य के जिम्मे कर दिया गया हो। आठवें अमात्य सुमन्त्र के अधीन विविध विभाग रखे गये होंगे क्योंकि सुमंत्र दशरथ और राम दोनों के स्तुतिपाठक, सारथि और प्रिय निजी सचिव थे।

लेकिन मैं इनमें से कुछ से सहमत नहीं हूँ। सम्भवतः प्रशासन आठ विभागों में बँटा हुआ होता था, जिसमें प्रत्येक विभाग एक मन्त्र-परिषदीय मन्त्री के अधीन रखा जाता था। रामायण

---

१ देखिये वा. रा. २।६७।८
२ देखिये वा. रा. १।७।३
३ पी. सी. धर्मा-'द रामायण पॉलिटी' पृष्ठ ५१-२

में आठ[1] अमात्यों का उल्लेख है—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप धर्मपाल तथा सुमन्त्र। सम्भवतः मन्त्रियों के नामों से उनके विभागों पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश पड़ता है। मनुस्मृति[2] तथा शुक्रनीति[3] में भी कदाचित् परम्परा के अनुसार आठ मंत्रियों का उल्लेख हुआ है। रामायण के संकेत के अनुसार प्रशासन के निम्न आठ विभाग हैं, जो अमात्यों के नामों से ध्वनित होते हैं—

१. धृष्टि : प्रधान मन्त्री तथा मन्त्री परिषद का अध्यक्ष
२. जयन्त : वैदेशिक सम्बन्धों का मन्त्री
३. विजय : सैन्य तथा प्रतिरक्षा मन्त्री
४. सुराष्ट्र : गृह मन्त्री
५. राष्ट्रवर्धनः राष्ट्र विकास तथा राष्ट्र संवर्धन मन्त्री
६. अकोप : विधि तथा न्याय मन्त्री
७. धर्मपाल : धार्मिक मामलों का मन्त्री
८. सुमंत्र : वित्त मन्त्री[4] तथा अन्य विभाग

अमात्यों के कर्त्तव्य विविध थे। समूचे राष्ट्र, नगर में पूर्ण शान्ति बनाये रखने का उत्तरदायित्व उनका था। लोगों में कानून का भय बनाये रखना, उन्हें सत्य, नीनि धर्म और सदाचार के नियमों का उल्लंघन करने से रोकना, अमात्यों का काम था। आज की भाँति ही अमात्यों का काम अपने-अपने विभाग की नीति का संचालन करना था। रावण की सभा के वर्णन में उसके अमात्यों को 'सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः' तथा गुरुओं (परामर्शदाता मन्त्रियों) को 'निश्चितार्थेषु पण्डिताः' कहा गया है।[5] अमात्यजन तथा गुरुजन और मन्त्रिगणा सभा के पदेन सदस्य हुआ करते थे और उसकी कार्यवाही में भाग लेते थे क्योंकि राजा अथवा सभा के निर्देशों को कार्यान्वित करने का भार अमात्यों पर ही होता था। यात्राओं, जलूसों, अभियानों आदि में अमात्य राजा के साथ रहा करते थे।

अमात्यों अथवा सचिवों का सबसे महत्वपूर्ण कर्त्तव्य यह था कि राजा को सदा उचित मन्त्रणा प्रदान करें। मन्त्रणा का स्थान इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उसमें से बातचीत कोई भी न सुन सके। मारीच ने रावण से कहा था, सचिवों को यह अधिकार था कि वे राजा को दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने से रोके (३।४१।६-८)। जबर्दस्ती और अधिक कर वसूल करने तथा प्रजाजनों को अत्यधिक कठोर दंड देने से राजा को रोकना मन्त्रियों का काम था (२।१००।२७)। जब सुग्रीव राम को दिये गए अपने वचन को भूल गये और भोग-विलाश, सुरा-पान में लिप्त हो गये, तब उनके सचिव हनुमान् ने उन्हें सावधान किया था। हनुमान् ने कहा—हे कपिप्रवर ! राजकार्य में लगे हुए मन्त्रियों का यह कर्त्तव्य है कि वे राजा से हितकारी बात कहें ! इसी से निर्भय होकर मैंने आपको कर्त्तव्य के प्रति सजग किया।[6] इसी प्रकार जब रावण ने सीता का वध करना चाहा तो उसके बुद्धिमान एवं मेधावी सचिव सुपार्श्व ने रोकते हुए कहा—हे राजन् आप क्रोध के वशवर्ती होकर और धर्म को त्याग कर, सीता का वध करना चाहते हैं,। जबकि आपने यथाविधि वेदा-

१ धृष्टिर्जयन्तों विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥ १।७।३
२ मनुस्मृति ; ७,५४
३ शुक्रनीति ; २,७१-७२
४ शुक्रनीति में सुमन्त्र को वित्त मन्त्री बताया गया है।
५ देखिये ६।११।२६
६ देखिये ४।३२।१८

ध्ययन किया है और अग्निहोत्रादि कर्त्तव्यकर्मों में सदा आप रत रहते हैं। इसके बावजूद आप स्त्री-वध क्यों करना चाहते हैं। आय सुन्दरी सीता को क्षमा करें" (६।९३।६२-४)।

अमात्यों को कार्य-सम्पादन करते समय सुन्दर वेश भूषा धारण करनी पड़ती थी।[1] इनकी बैठक राजप्रासाद में हुआ करती थी। अमात्यों को राजधानी छोड़ने का अधिकार नहीं था क्योंकि उन्हें दैनिक शासन-प्रबन्ध की देखरेख करनी पड़ती थी। राम-विवाहोत्सव में सम्मिलित होने जब दशरथ जनकपुर गये, तब वह प्रधान मन्त्री (पुरोहित) तथा गुरुजनों (मन्त्रियों) को अपने साथ ले गये थे।[2] अमात्यगण शासन सम्हालने के लिए अयोध्या में ही रह गये थे। नंदिग्राम से शासन-संचालन करते समय भरत के साथ केवल उनके पुरोहित एवं मन्त्रिजन थे (वृतों मन्त्रिपुरोहितैः, २।११५।६)। अमात्य राजधानी में ही रह कर अपने विभागों का काम देखते थे।

राजा के लिए मन्त्रि-परिषद् के बहुमत की इच्छा के सामने झुक जाने की वैधानिक बाध्यता नहीं थी।

(ग) तीर्थः—तीर्थ (शासनाधिकारी) के अस्तित्व की झलक चित्रकूट पर राम द्वारा भरत से पूछे गये प्रश्नों में हुआ (२।१००।३६)।, किन्तु इन पदाधिकारियों के नाम का उल्लेख नहीं किया है : टीकाकारों के मतानुसार ये तीर्थ संख्या में अठारह होते थे—

१. मन्त्री
२. पुरोहित
३. युवराज
४. सेनापति
५. दौवारिक (द्वारपाल)
६. आंतरवंशिक (राजप्रासाद का प्रबन्धक)
७. कारागाराधिकृत (जेल-अधिकारी)
८. धनाध्यक्ष (अर्थसंचयकृत्)
९. प्राड्विवाक (न्यायाधीश)
१०. कार्य-नियोजक (मुख्य सचिव)
११. धर्माध्यक्ष (मुख्य न्यायाधीश)
१२. सेनानायक
१३. नगराध्यक्ष (सिटी मजिस्ट्रेट)
१४. दण्डपालक (मजिस्ट्रेट)
१५. दुर्गपाल (किले का प्रबन्धक)
१६. राष्ट्रांतरपाल (सीमान्त प्रदेश का राज्यपाल)
१७. सभ्य (सभा-सचिव)
१८. जल, पर्वत, वन का रक्षक
१९. कर्मांतिक (खानों और कारखानों का अधिकारी)

(११) न्याय-पद्धति :—

तत्कालीन न्याय-पद्धति बहुत ही सुन्दर एवं व्यवहार कुशल थी। जहाँ तक मेरा अनुमान है कि उस समय न पेशेवर एडवोकेट थे और न ही न्यायालय खर्च का ही कोई बवाल था। कुछ महत्वपूर्ण मुकद्दमों की सुनवाई और उसका निर्णय स्वयं राजा करता था। राजदरबार में

---

१ देखिये १।७।१५
२ देखिये बा. रा. १।६६।४-५

वादी और प्रतिवादी सभी निधड़क पहुँच जाते थे। मुकद्दमों का निर्णय राजा बिना पक्षपात के किया करता था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि तत्कालीन समय में सभी लोग मिल-जुल कर रहते थे, इस नाते झगड़े की नौबत कम आती थी। चूँकि राजा झगड़ों का निपटारा स्वयं करता था और अपराधी को कठोर सजा देता था। इस कारण जनता कानून का उल्लंघन नहीं करती थी। उस समय के न्याय का मुख्य सिद्धान्त यह था कि कुशल एवं योग्य न्यायाधीशों द्वारा जाँच किये बिना किसी अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता था। राजा का मुख्य दायित्व अयोग्य न्यायाधीशों के कारण कोई अपराधी दण्ड पाये बिना छूट न जाय, इसकी देख-रेख करना था। चित्रकूट पर राम द्वारा भरत से पूछे गये प्रश्नों से न्याय-पद्धति का अभास होता है—राम ने पूछा—'ऐसा तो नहीं होता कि उत्तम चरित्र वाले साधु लोग जो झूठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो, विचारार्थ न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं, तुम्हारे नीतिशास्त्र में कुशल व्यक्ति उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किये बिना ही लालच में फँसकर उनको कहीं दण्ड तो नहीं दे देते। हे भरत। जो चोर चोरी करते समय पकड़ा जाता है और जिरह (सबूत) से जिसका चोरी करना प्रमाणित हो जाता है, वह चोर कहीं घूस के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता? धनी और गरीब के मध्य झगड़ा छिड़ जाने पर तुम्हारे अनुभवी सचिव लोभरहित हो दोनों के मुकद्दमा का न्यायापूर्वक फैसला करते हैं अथवा नहीं (२।१००।५६-५८)" ?

न्यायाधीशों के लिए रामायण के उत्तरकाण्ड में 'धर्मपालक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो व्यक्ति विधि और राजनीति का विशेषज्ञ होता था, उन्हें ही इस पद पर नियुक्त किया जा सकता था। वे निष्पक्ष भाव से मुकदमे का निर्णय करते थे, क्योंकि तत्कालीन समय में यदि कोई व्यक्ति निरपराध दण्ड पा जाता था तो उसका शाप राजा, पुत्र और धन-धान्य पर पड़ता था।[1] भरत ने माता कौशल्या से कहा था—'जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप लगे जो पाप उस मनुष्य को लगता है, जो एक-दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ (न्यायाधीश) पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है। अर्थात् जो पाप पक्षपात करने वाले मध्यस्थ (न्यायाधीश) को होता है।" न्यायालय की कार्यवाही सभा-भवन में प्रत्येक दिन प्रातः काल प्रारम्भ हुआ करती थी, जबकि राजा और न्यायाधीश दोनों अपने नित्य कर्म से निवृत्त हो जाते थे।[2] प्रजा के सभी वर्गों को—चाहे वे नर हों या नारी—राजा के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी शिकायत रखने का पूर्णतः अधिकार था। जिस आसन पर बैठकर राजा मुकदमों का फैसला करता था, वह 'धर्मासन' कहलाता था।

सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष स्वयं राजा हुआ करता था। इसके अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, यथा पुरोहित वशिष्ठ, 'धर्मपारग' और 'व्यवहारज्ञ' ब्राह्मण मन्त्रिजन, परम्परा लौर लोकाचार के ज्ञाता अनुभवी ऋषि-मुनि, क्षत्रिय अमात्य, सभा के अर्थशास्त्र पारंगत सदस्य, प्रमुख व्यापारी तथा राजा के भाई। इनमें ऋषि-मुनि राजा को धर्म और सदाचार सम्बन्धी वादों में परामर्श देते थे। मन्त्रिजन अपने शासन-अनुभव के आधार पर बतलाते थे कि अमुक फैसला कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है अथवा नहीं और उसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया क्या होगी। क्षत्रिय अमात्य कूटनीति में अभ्यस्त थे तथा सामरिक मामलों और विदेश नीति से सम्बन्धित प्रश्नों पर अपनी राय प्रकट करते थे। प्रमुख व्यापारी (नैगम) बाणिज्य-व्यवसाय से सम्बन्धित मामलों में राजा को परामर्श देते थे तथा वैश्य वर्ग के हितों को

---

१ देखिये २।१००।५६

२ देखिये ७।१।१

सुरक्षित रखते थे। राजा के भाई सम्भवतः राजकीय विशेषाधिकार प्राप्तों की रक्षा के लिए नियत रहते थे।

(१२) दण्ड विधान

अपराध प्रमाणित होने पर सर्वोच्च न्यायालय साधारण दण्ड से लेकर प्राणदण्ड तक दे सकता था। अपराधों की श्रेणियों में—कुमारियों पर बलात्कार, राजद्रोह, झूठी गवाही, पराई नारियों का अपहरण, न्यास-सम्पत्ति का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, सैनिकों का निर्धारित वेतन भुगतान न करना, युद्ध से मुख मोड़ लेना, बालकों, स्त्रियों और राजाओं की हत्या, आग लगाना, जल की टंकी, तालाब आदि में विष छोड़ देना आदि आते थे। प्राण दण्ड के लिए प्रातः काल का समय निश्चित होता था। बन्धन (४।५५।१०) और बद्ध (५।१८।७) का प्रयोग कारागृहों की ओर संकेत करता है। युवराज अंगद ने भयभीत होकर कहा था कि मेरे चाचा सुग्रीव क्रूर और निर्दयी हैं; यदि मैं अवधि बीतने के बाद सीता को ढूँढे बिना किष्किन्धा लौटा तो वह या तो मुझे तीव्र सजा देंगे अथवा कैदगृहों में डाल देंगे, इससे यह ध्वनित होता है कि जब अंगद जैसा युवराज भी यातनाओं से भयभीत था, तब कोई आश्चर्य नहीं, यदि सामान्य कैदियों पर उनका व्यापक प्रयोग किया जाता हो, अशोकवाटिका में विलाप करते हुए सीता ने यातना देने की पद्धतियों का उल्लेख किया था और निश्चय किया था कि मुझे ऐसी कितनी ही यातनाएँ क्यों न दी जायँ, मैं रावण के प्रेम-प्रस्ताव से सहमत नहीं हूँगी—

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता।
रावणे नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्॥ ५।२६।१०

यहाँ सीता ने शरीर को शूल से छेद डालना या तलवार से दो भागों में काट डालना, कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना, कैदी को आग पर सेकना या जला डालना आदि यातनाओं की ओर संकेत किया है।

वैसे रामायण में व्यक्तिगत और राजकीय दोनों प्रकार के दण्डों का वर्णन मिलता है। व्यक्तिगत दण्ड का एक रूप 'शाप' था, जो ब्राह्मणों, ऋषियों द्वारा दिया जाता था। दूसरा रूप अन्य व्यक्तियों के क्षोभ या कोप का परिणाम था। इस प्रकार शाप द्वारा जिस दण्ड विधान का वर्णन रामायण में किया गया है, उसके मूल में उत्तेजना है और वह शापदाता तथा अपराधी के विकारों का शमन करने में सहायक है।

राम भी व्यक्तिगत अपराधों के लिए अपराधियों को दण्ड देते हैं। जयन्त जब सीता के चरण को आहत कर भागता है, तब राम उसे दण्ड देने के लिए सींक के बाण का संधान करते हैं; किन्तु जब वह आर्त्त होकर शरण में आ जाता है, तब केवल नयन-विहीन करके छोड़ देते हैं। काम-पीड़िता शूर्पणखा वासना-पूर्ति के लिए कभी राम के समीप जाती है, तो कभी लक्ष्मण के समीप और जब उसकी पिपासा को तुष्टि नहीं मिलती, तब भयंकर रूप धारण कर सीता पर आक्रमण करना चाहती है। उसी समय राम संकेत से लक्ष्मण को उसे दण्ड देने का आदेश देते हैं। इसका अर्थ यह है कि राम-लक्ष्मण की बात को न सुनकर वह इतनी निर्लज्ज हो गई कि उसे किसी से भी वासना-पूर्ति की याचना में संकोच नहीं हुआ। इसलिये उसके लिए यह दण्ड उचित ही था। अपने मित्र सुग्रीव की पत्नी को अपना लेने के कारण राम बालि का वध करते हैं और अपराधी को अपने दण्ड का औचित्य बताते हुए कहते हैं—तुम, धर्म, अर्थ, काम और लोकाचार को बिना जाने क्यों मुझे धिक्कारते हो! सुनो, यह सम्पूर्ण पृथ्वी इक्ष्वाकुवंश वालों की है। तुम सनातन धर्म छोड़ कर अपने भाई की स्त्री के साथ प्रवृत्त हुए हो इसलिए तुमको यह दण्ड मैंने दिया क्योंकि जो लोक से विरुद्ध और लोक के धर्म से च्युत है, उसके लिए घात ही

दण्ड है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से व्यक्तिगत अपराधों के लिए निजी दण्ड देने का प्राविधान प्रमाणित हो जाता है।

राजकीय दण्ड-विधान पर विचार करें तो उस समय के तीन राज्यों का वर्णन रामायण में विशेषतौर से मिलता है—जनकपुर, अयोध्या और लंका। जनकपुर के राजा आत्मज्ञानी विदेह जनक है, इसलिए वहाँ अपराध और दण्ड की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अयोध्या के राजा दशरथ हैं, वे अपने राज्य में ऋषियों के यज्ञ का विध्वंस करने वाले राक्षसों को दण्ड देने हेतु राम को विश्वामित्र के साथ भेजते हैं। अयोध्या के शासक पहले पादुका का अवलम्ब लेने वाले भरत और फिर राम होते हैं। राम-राज्य में तो प्रजा इतनी सुखी, समृद्ध तथा संयमित जीवन व्यतीत करती है कि अपराध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। फिर दण्ड कैसा ? अपनी वन-यात्रा में राम भावी राजा की भूमिका का निर्वाह करते हैं। इसलिए मार्ग में जन कल्याण, सार्वजनिक हित और धर्म की रक्षा के लिए अपराधियों को उनके अनुकूल दण्ड भी देते जाते हैं। वन-प्रदेश में मुनियों की भूमि के निकट अस्थि-समूह देखकर तथा यह जानकर कि राक्षसों द्वारा खाये हुए मुनियों की ये अस्थियाँ हैं, वे करुणाप्लुप्त हो जाते हैं तथा मृत्यु दण्ड देने की प्रतिज्ञा करते हैं। वैसे तीनों राज्यों में अपराधियों को वही दण्ड दिये जाते थे जिनका वर्णन दण्ड विधान के प्रारम्भ में किया है। लंका का शासक अत्याचारी और अनीतिगामी होने के साथ-साथ अविवेकी है, इसलिए वह दण्ड-विधान में भी उतना दक्ष नहीं जितना अन्य। वैसे लंका में उपर्युक्त दंड-विधान प्रचलित थे।

(१३) सुरक्षा व्यवस्था

राजमार्गों पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस-कर्मचारियों की नियुक्ति का भी संकेत मिलता है। पुलिस के सिपाही लाठी से लैस (दंडायुधधराः) रहते थे। लंका के रास्ते में हनुमान् ने विभिन्न शस्त्रास्त्र धारण किये हुए अनेक सैनिकों को देखा था। रामायण में कुछ सैनिकों को विध्वंसक शस्त्रों से लैस और कुछ को दंडों अथवा लाठियों से सुसज्जित बताया गया है (५।४१।१६), अतः इससे ध्वनित होता है कि ये लाठीधारी सैनिक लंका के मार्गों पर पुलिस का काम करने के लिए राज्य की ओर से नियुक्त किये गये थे। रावण-वध के उपरान्त जब विभीषण जानकी को पालकी में बैठाकर राम के पास लाये, तब अंगा और पगड़ी पहने इन्हीं पुलिस वालों ने अपने हाथों के डंडों से वानरों और राक्षसों की भीड़ को हटाया था (६।११४।२१)। राम के अयोध्या लौटने के अवसर पर भरत ने यह आदेश जारी किया था कि राजमार्ग पर भीड़-भाड़ न होने देने के लिए सैकड़ों व्यक्ति तैनात किये जायँ (६।१२७।१०)। इन प्रसंगों से ध्वनित होता है कि राजपथ पर यातायात-व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी।

राज्य में कर्मचारियों तथा प्रजा की शुद्धता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति होती थी। राजा धन और मान द्वारा उन गुप्तचरों को सन्तुष्ट रखते थे। राजमार्ग का निरीक्षण, मरम्मत, जल-छिड़काव, जल-कल व्यवस्था, नगर में प्रकाश हेतू दीपों की उचित व्यवस्था, किसी विशेष उत्सव पर नगर की सजावट, उद्यानों की देख-रेख का कार्य नगर-प्रबन्ध-समिति किया करती थी।

———

अध्याय ४

रामायणकालीन युद्ध-पद्धति

रामायण कालीन युद्ध-पद्धति :

(क) पृष्ठ-भूमि (युद्ध के कारण)

भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष यदि ब्राह्मणों के तप और तत्त्वज्ञान से समुज्ज्वल है तो इसका आदिभौतिक पक्ष युद्ध-वीरों की चरित्र-गाथा से भावित है। आर्य संस्कृति की प्रथम झलक उनकी विजयशीलता में मिलती है, जिसका वर्णन ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में भरा पड़ा है। आर्यों का युद्ध आर्येतर लोगों से हुआ वह युद्ध सम्भवतः सैकड़ों वर्षों तक चलता रहा। अपने उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि के लिए विरुद्ध तत्त्वों से संघर्ष करना, जूझना युद्ध है। मानवीय जीवन ही एक प्रकार का युद्ध है। मानव प्राणी का विकास प्रकृति से हुआ है अपने को जीवित बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रतिक्षण प्रकृति से युद्ध करना पड़ता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि प्रकृति ने भारत-भूमि की रचना युद्ध व्यूह के रूप में की है और भारतवासी प्रकृत्या योद्धा हैं। रामायण युगीन समाज के दो विभाग आर्य और अनार्य थे। हाँ, इन दोनों विभागों के भी कुछ उप विभाग थे किन्तु उनकी संख्या नगण्य थी। जातियों और उप-जातियों के आज जो असंख्य भेद-प्रभेद परिलक्षित हो रहे हैं, उनकी तुलना में रामायण काल की जातियों की संख्या कम ही जान पड़ेगी। दोनों की सामाजिक व्यवस्था अलग-अलग थी। यदि एक तरफ आर्यों का समाज वर्णाश्रम के साँचे में ढला हुआ था, तो वहीं दूसरी तरफ अनार्यों का समाज जाति-रहित था।

इस समय आर्यों का प्रभुत्व गंगा-सिन्धु के प्रायः पूरे मैदान पर छाया हुआ था, जबकि उसके दक्षिण वन ही वन थे, जिनमें अनार्य जातियाँ निवास करती थीं। वास्तव में आर्यों का राज्य गंगा और यमुना की घाटियों को पारकर सोन महानद के तटों को छू रहे थे। दक्षिण में नर्मदा के किनारे तक अनेक समृद्ध राज्य स्थापित हो चुके थे। सरस्वती और दृषद्वती की मध्य-भूमि—जिसे आजकल सरहिन्द का इलाका कहते हैं—आर्यावर्त की केन्द्रभूमि थी। अनेक चक्रवर्ती राज्यों की भाँति प्रभावशाली ऋषियों के अनेक आश्रम भी यहाँ स्थापित थे। वे निरन्तर असुरों, नागों, राक्षसों आदि अनार्य जातियों को पीछे धकेलते हुए अपनी राजश्री की वृद्धि करते जा रहे थे। अनार्य जातियों में से कुछ ने आर्यों को सहयोग दिया, तो कुछ ने उठकर उनका विरोध किया। यहाँ तक कि विंध्य पर्वत श्रेणी के दक्षिणी भाग में निवास करने वाली अनार्य जातियों में से बहुतों ने आर्यों के प्रभुत्व और उनकी श्रेष्ठ संस्कृति को सहर्ष अंगीकार कर लिया। परन्तु, भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर तथा लंका द्वीप में एक खूख्वार काली जाति निवास करती थी, जिसकी रीति-तीति आर्यों के आचार-विचार से बिल्कुल ताल मेल नहीं खाती थी। सम्भवतः इस जाति को आर्यों ने राक्षसों की संज्ञा प्रदान की।

जनसाधारण में प्रचलित आचार-विचार ही किसी समाज की संस्कृति का परिचायक होता है। नैतिक नियमों और धर्मानुकूल शासन द्वारा संचालित उस युग की सामाजिक व्यवस्था में आचार-विचार का अत्यधिक महत्व था। दैनिक जीवन में व्यवहार की सरलता और नम्रता

का विशेष ध्यान रखा जाता था। बाल्मीकि ने मुख्यतः उत्तरी भारत की आर्य सभ्यता का सफल चित्रण किया है। प्रसंगवश उन्होंने अन्य जातियों की सभ्यता और संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है, जिनके सम्पर्क में आर्य लोग दक्षिण की ओर बढ़ते समय आये थे। ये जातियाँ धन-वैभव में बढ़ी-चढ़ी होने पर भी भारत की आदिम जातियाँ थीं जो आर्यों का सहयोग अथवा विरोध करने के कारण दिव्य अथवा दुष्ट योनियाँ बन गई।[1] इनमें मुख्य राक्षस और वानर हैं। इनके अतिरिक्त आन्ध्र, पुंड्र, चोल पांड्य और केरल जैसे राज्यों का उल्लेख आता है (४।४१।१२), पर इनके बारे में उतना उल्लेख नहीं किया गया, जितना चाहिए। सम्भवतः इसका कारण यह था कि कवि लंका जाने वाले एक मार्ग-विशेष का वर्णन कर रहा था और इसलिए इन राज्यों की विस्तार से चर्चा करने का उसे अवसर ही नहीं था।[2]

रामायण में राक्षसों और आर्यों के पारस्परिक संघर्ष का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इस नाते उसमें राक्षसी सभ्यता का भी उल्लेख स्वाभाविक हो गया है। वाल्मीकि ने राक्षसों को ऋषि-मुनियों के आश्रमों का विध्वंस करने वाले, वैदिक क्रिया-कलापों में विघ्न डालने वाले, ब्राह्मणों के जानी दुश्मन तथा स्वेच्छानुसार रूप बदलने वाले निशाचरों के रूप में अच्छे ढंग से चित्रित किया है। उत्तर भारत के संस्कृत भाषी आर्यों से राक्षसों का सदैव संघर्ष बना रहता था। राक्षसों के बाद रामायण में वानरों का महत्वपूर्ण स्थान परिलक्षित होता है। यह भी एक अनार्य जाति थी, किन्तु इसने आर्यों से सहयोग किया और धार्मिक क्रियाओं को मुक्त हृदय से अपनाया।

लंका-युद्ध से पहले राक्षसों के राजनीतिक इतिहास में कई उतार-चढ़ाव आ चुके थे। रसातल विजय के बाद रावण ने पंचवटी के समीप जनस्थान में अपनी उत्तरी सैनिक चौकी स्थापित की जिसका सेनापतित्व खर-दूषण के हाथों में था। यहाँ से दोनों गंगा-यमुना के मैदानों तक उत्पात मचाया करते थे। रावण का भतीजा लवणासुर यमुना नदी के किनारे स्थित मधुपुरी (मथुरा) का नृपति था। ताड़का और उसके पुत्र मारीच ने जो रावण के ही सगे सम्बन्धी थे सोन और गंगा नदियों के बीच के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा रखा था। अयोध्या पर भी रावण ने दो बार धावा बोला था। उसकी वीरता से ही दशरथ ने महर्षि विश्वामित्र से कहा था कि मैं रावण का मुकाबला करने में असमर्थ हूँ (१।२०।२०)। इससे स्सष्ट होता है कि आर्य-प्रभुत्व का गौरवशाली सूर्य रावण के समक्ष अस्तप्राय हो चुका था। वाल्मीकि कहते हैं कि 'रावण को आते देख सूर्य अपनी गर्मी कम कर देता, पवन वेग से न चलता समुद्र गर्जन-तर्जन रोक देता, नदियाँ धीरे-धीरे वहने लगतीं और पर्वत अपनी कठोरता भूल जाते—रावण की उपस्थिति में समस्त प्रकृति भय के मारे कुण्ठित सी हो जाती थीं'। किसी व्यक्ति के आतंक का इससे बढ़कर वर्णन और क्या हो सकता है।

आर्यों और राक्षसों की इस शत्रुता का मुख्य कारण उनका एक दूसरे के क्षेत्रों में घुसने का प्रयास ही था। जहाँ राक्षस अपना राजनीतिक प्रभाव आर्यों के प्रदेशों पर फैलाना चाहते थे वहाँ आर्य भी दक्षिण भारत में अपना विस्तार करने पर तुले हुए थे। आपसी संघर्ष का प्रमुख रंगमंच दण्डकारण्य, जो गोदावरी नदी के निकट वाला प्रदेश था। चित्रकूट से लेकर पम्पा तक के सम्पूर्ण प्रदेश में राक्षसों ने भीषण उत्पात अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए मचा रखा था[3]।

---

१ चिन्तामणि विनायक वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० ९४।

२ बी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार—'साउथ इण्डिया इन दं रामायण' (सप्तम ओरियन्टल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३)

३ पम्पानदी निवासानामनुमन्दाकिनमपि।
चित्रकूटालयानां चक्रियते कदनं महत् ।।अरण्यकाण्ड ६।१७

देवराज इन्द्र की हार के बाद राक्षसों लोहा लेने का सम्पूर्ण भार अगस्त्य मुनि पर आ पड़ा, उसे उन्होंने भारत के राजनीतिक गगन में राम के अभिभार्व के बाद इन्हीं को सौंप दिया और इसमें सन्देह नहीं कि राक्षसों से लोहा लेने वालों में राम अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आर्य धनुर्धर थे। अपने वनवास काल में जब राम ने दण्डाकारण्य में प्रवेश किया तब राक्षसों के आतंक से त्रस्त वहाँ के ऋषि-मुनियों ने उनका भव्य स्वागत किया। राम-रावण युद्ध का प्रत्यक्ष कारण लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण था, जिसमें रावण द्वारा सीता के अपहरण ने आग में 'घी' का काम किया। सच पूछा जाय तो राक्षसों का नाम ही शान्ति-प्रिय आर्य ऋषि-मुनियों के प्रति उनकी हिंसा-वृत्ति के कारण, देश भर में कुख्यात और कलंकित हो चुका था। उनके यज्ञों का विध्वंस करना राक्षसों का एक कुत्सित व्यापार बन गया था।

राक्षस आर्यों के यज्ञ समारोहों में विघ्न ही नहीं पहुँचाते, वरन् भाग लेने वालों की मौत के घाट उतार देते थे। उत्तरकाण्ड में उल्लेख किया गया है कि रावण ने राजा मरूत के 'माहेश्वर यज्ञ' में आये हुए ऋषियों को खाकर और उसका रक्तपान कर अपने को तृप्त किया था। राम के दण्डकारमय में आने पर वहाँ के निवासियों ने उन्हें राक्षसों द्वारा मारे गये ऋषि-मुनियों की हड्डियों का ढेर दिखलाया था।[1] लंकेश रावण अनेक यज्ञों का विध्वंसक, धर्म की व्यवस्था को तोड़ने वाला तथा नैतिक धर्मों की धज्जियाँ उड़ाने वाला (अच्छेतारं धर्माणाम) था।

राक्षसों का सबसे अधिक घृणित कार्य, स्त्रियों पर बलात्कार था, जिसने उन्हें सभ्य संसार की नजरों में हेय बना दिया। रावण के शब्दों में 'पराई स्त्रियों का उपभोग करना अथवा उन्हें बलपूर्वक हर लेना राक्षसों का सदा से प्रचलित स्वधर्म रहा है (५।२०।५) कुम्भकर्ण मनुष्य हत्या, आश्रम-विध्वंस और परस्त्री हरण के लिए कुख्यात था (६।६१।१९)। देवों ने भगवान विष्णु के समक्ष रावण के जिस अत्याचार को मुख्य रूप से उपस्थित किया और उनकी दृष्टि में विष्णु के पृथ्वी पर अवतरित होने का सबसे प्रबल कारण हो सकता था, वह रावण द्वारा स्त्रियों का अपहरण ही था।[2] पुंजिकस्थला और रंभा जैसी सुन्दर अप्सराओं पर उसका बलात्कार, आर्य-ललना वेदवती का कामभाव से स्पर्श तथा अन्य अगणित सुन्दरियों का उनके सम्बन्धियों को मानकर अपहरण ऐसी घटनाएँ थीं जिनका तत्कालीन आर्य राजा कोई प्रतिशोध न कर सके, किन्तु सीता के अपहरण ने रावण को आर्यों के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर की क्रोधाग्नि की आहुति बना दिया, जिसकी विनाशकारी लपटों में राक्षस अपना साम्राज्य खो बैठे।

इतना तो निर्विवाद सत्य है कि रामायणकाल में दक्षिण भारत के छोर पर लंका में एक ऐसी जाति निवास करती थी, जो आर्यों से विमुख थी और उनके धार्मिक क्रिया कलापों में विघ्न डालती थी। इस जाति के कुछ अवशेष आज भी जावा में पाये जाते हैं।[3] डॉक्टर ज्ञान फ्रेजर[4] का मत है। कि सिलोन के मूल निवासी आर्यों से पहले पनपने वाली एक काली जाति के लोग थे और दक्षिण भारत की द्रविण जातियाँ उसी से निकलती हैं। भारत में आर्यों का प्रभुत्व स्थापित होने पर यह जाति दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायद्वीप में तथा इण्डोनेशिया और ओशिएनिया के द्वीपों में खदेड़ दी गई तथा मलेशिया के निवासी उसके वर्तमान प्रतिनिधि हैं।

---

१ एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम।
हताना राक्षसैर्धोरैर्बहूनां बहुधा बने। अरण्यकाण्ड ६।१६

२ शान्तिकुमार नानूराम व्यासः रामायण कालीन समाज, द्वितीय संस्करण १९६४, पृ० ४८

३ नवीन चन्द्र दास : 'ए नोट ऑन द एंटीक्विटी ऑफ द रामायण, पृ० ६।

४ पालिनेशियन जर्नल, भाग ५, उपर्युक्त में उद्धृत।

उपर्युक्त तथ्यों तथा रामायण में वर्णित युद्धों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में युद्ध के निम्नलिखित कारण थे—

(अ) अपहृत नारियों को मुक्त करने के लिए—तत्कालीन समय में अपहृत स्त्रियों को मुक्त कराने के निमित भी युद्ध का शंखनाद कर दिया जाता था, उदाहरणार्थ राम-रावण युद्ध; बालिसुग्रीव युद्ध; पाश्चात्य युद्धों में मेनेलास-पेरिस युद्ध आदि ।

राम-रावण युद्ध राज्य विस्तार हेतु न होकर बल्कि सीता मुक्त कराने के लिए हुआ था, क्योंकि राम ने सीता को अस्वीकार करते हुए उनके सम्मुख स्वयं कहा है कि—हे भद्रे । मैंने युद्ध में शत्रु को परास्त कर तुमको पुनः प्राप्तकर लिया । पुरुषार्थ जो किया जा सकता था वह मैंने कर दिखाया । रावण ने तुमको हर कर मेरा जो अनादर किया था उस अनादर का बदला भी पूरा हो चुका । शत्रु ने जो अनादर की बातें कही थीं उस अनादर के बदले मैंने युद्ध में शत्रु का वध कर डाला । आज लोगों ने मेरा पुरुषार्थ भलीभाँति देख लिया । मेरी अनुपस्थिति में चंचलमना रावण जो तुझको पंचवटी से अपहृत कर लिया था, वह देवकृत दोष अर्थात् अपमान था । उस अपमान को मुझ जैसे मनुष्य ने दूर कर दिया । मैंने क्रोध कर शत्रु के हाथ से तुम्हारा उद्धार वैसे ही किया; जैसे अगस्त्य ने दक्षिण दिशा का राक्षसों के हाथ से उद्धार किया था । हे भद्रे ! तुमको यह भी जान लेना चाहिए कि इन इष्टमित्रों ही के बल पराक्रम से मैं संग्राम के परिश्रम से पार हुआ हूँ । किन्तु मैंने यह परिश्रम (केवल) तुम्हारे लिए ही नहीं उठाया[1]—

रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता ।। यु. का. ११८।१६

अर्थात् सदाचारी की रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवाद का निवारण तथा अपने सुविख्यात वंश पर लगे हुए कलंक का परिमार्जन करने के लिए ही यह सब मैंने किया है ।

बालि-सुग्रीव युद्ध का एक मात्र कारण बालि द्वारा सुग्रीव की पत्नी रुमा का अपहरण था । सुग्रीव ने स्वयं राम से कहा था कि मेरे भाई ने मेरे साथ धोखा दिया है और उसके डर के मारे ऋष्यमूक पर्वत पर मारा-मारा फिरता हूँ । मुझे अपनी स्त्री के हर जाने का बड़ा दुःख है (४।८।१७) । रूमा को मुक्त कराने के लिए ही राम ने बालि को मारा था । घायल बालि के कठोर प्रश्नों का उत्तर देते हुए राम ने कहा था कि—'मैंने तुझे इसलिए मारा है कि तुमने सनातन धर्म को छोड़े, अपने भाई सुग्रीव के जीते-जी उसकी पत्नी रूमा का, जो तुम्हारी पुत्रवधु के समान है कामवश उपभोग करते हो । अतः पापचारी हो । हे हरियूथप । धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले और लोक-व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले को मारने के सिवाय मुझे और कोई दण्ड नहीं पड़ता (४।१८।१८-२१) ।

होमरकृत 'इलियड' महाकाव्य में भी अपहृत नारी का लेकर ही युद्ध हुआ है । रामायण की भाँति 'इलियड' की नायिका सुन्दरी हेलेन का उदाहरण ऐसा ही है जिस पर समूचा कथाचक्र घूमता है । ट्राय एक समृद्धिशाली राज्य है जिसका अधियति प्रायम है । उसका खूबसूरत बेटा पेरिस, जो इस महायुद्ध को प्रेरित करता है, यूनान की सर्वाधिक सुन्दरी हेलेन पर मुग्ध हो जाता है और परोक्ष में उसका अपहरण कर ले जाता है । हेलेन का पति मेनेलास स्पार्टा का राजा है और उसका ज्येष्ठ भाई एगमेम्नान बड़ा ही शक्तिशाली योद्धा और आरगोस देश का अधिनायक है । इस अपमान का बदला लेने के लिए दोनों भाई अपने सहायक राजाओं के विशाल सैन्य दल के साथ ट्राय पर आक्रमण कर देते हैं । ट्राय के चारों तरफ बड़ी ऊँची चाहरदीवारी थी । यूनान

१ देखिये : युद्धकाण्ड ११८ सर्ग ।

वालों ने नगर में घुसने को बड़ी कोशिश की, पर वे सफलता नहीं पा सके। दस वर्ष तक भयानक युद्ध होता रहा। दोनों तरफ के बहुत से योद्धा मारे गये, परन्तु यूनानी ट्राय नगर मे प्रवेश न कर सके। यूनानी सेना में यूलिसीज नाम का एक बड़ा चतुर राजा था। उसने अपने साथियों से कहा, "हम नगर को यों नहीं जीत सकते। हमें युक्ति से काम लेना चाहिए। हम लकड़ी का एक बहुत बड़ा खोखला बनाये और हमारे कुछ योद्धा उसके पेट में बैठ जाये। शिविर जला कर बाकी सब सेना जहाज में बैठकर पास के टापू में चले जायें। उन्हें जाता देख ट्राय वाले समझेगें कि यूनानी हार मान कर चले गये हैं। वे बाहर निकल जायेंगे और घोड़े को तमाशा समझ कर भीतर का फाटक खोल देगें और नगर जीत लेगें।"

यूनानियों ने ऐसा ही किया। दूसरे दिन ट्राय वालों ने देखा कि यूनानियों के डेरे (शिविर) जल रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि न यूनानी हैं और उनके जहाज। हाँ नगर के बाहर लकड़ी का एक बहुत बड़ा घोड़ा खड़ा है। ट्राय बाले नगर का फाटक खोलकर बाहर निकल आये। घोड़े को देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने समझा कि घोड़ा यूनानियों का देवता है। अपने बच्चों और औरतों को दिखाने के लिए वे उसे खींचकर नगर के अन्दर ले गये। कुछ लोगों ने कहा भी कि शायद इसमें कोई कूटनीतिक चाल हो, पर किसी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दी। ट्रायवालों को यूनानियों के चले जाने की बड़ी खुशी थी वे काफी रात तक नाचते-गाते रहे। काफी भव्य आयोजन हुआ और वे रात में निश्चित होकर सो रहे।

अर्द्ध रात्रि को यूनानी योद्धा घोड़े के पेट से निकल पड़े। सर्वप्रथम यूलिसीज निकला और उसने नगर को फाटक खोल दिया। यूनानियों की सेना भी रात को लौट आई थी। मुख्य द्वारा खुलते ही सभी सेना नगर में प्रवेश कर गई और ट्राय नगर में आग लगा दी। ट्राय निवासी और योद्धा बेखबर सो रहे थे। वे अचानक हमले से घबरा गये और भगदड़ मच गई। नगर विध्वंस हो चला और शत्रु पेरिस मौत के घाट उतार दिया गया। इस तहर १० वर्ष की लड़ाई के वाद यूनानियों की विजय हुई और वे सुन्दरी हेलेन को साथ लेकर अपने देश लौट आये।

२. **प्रतिशोध के लिए**—तत्कालीन समय ने प्रतिशोध भी संग्राम का महत्वपूर्ण कारण था। परशुराम ने समस्तक्षत्रिय जाति का नाश करने के लिए इसलिये संकल्प लिया था कि उनके पिता की एक क्षत्रिय राजा ने हत्या कर दी थी।

३. **मित्रों की सहायता के लिए**—यह भी युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण था। सम्भवतः राम ने बालि का वध इसीलिये किया था, क्योंकि स्वयं राम से कहते हैं कि—'सुग्रीव के साथ मेरी मित्रता हो चुकी है। उनके प्रति मेरा वही भाव है, जो लक्ष्मण के प्रति है। यह मित्रता स्त्री और राज्य के लिए हुई है, इसके लिए हुई है, इसके लिये वानरों के समक्ष मैं सुग्रीव को वचन भी दे चुका हूँ। मित्र के कर्त्तव्य की ओर दृष्टि रखते हुए, मुझे मित्र का उपकार करना उचित ही था और धर्म की ओर दृष्टि करके तुमको भी यह उचित था कि, तुम प्रार्थनापूर्वक यह दण्ड ग्रहण करते (४।१८।२७-३०)। मित्रतावश ही राम-रावण युद्ध में सुग्रीव ने अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर राम का सहयोग किया। सुग्रीव ने मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात् राम को धैर्य धारण कराते हुए कहा था—'हे शत्रुनाशन। आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे सीता आपको मिल जायँ, इसलिए अब आप शोक का त्याग करें। मैं आपके संतोष के लिए सैनिकों सहित रावण का वध करके अपना ऐसा पुरुषार्थ प्रकट करूँगा, जिससे आप शीघ्र ही प्रसन्न हो जायेंगे (४।७।३-४)।

अयोध्या नृपति दशरथ ने इन्द्र की सहायतार्थ शम्बरसुर लोहा लिया था। गिरिब्रज की उपत्यका में पांचालपति दिवोदास और महाकोशल आर्येन्द्र दशरथ अजेय की संयुक्त वीरवाहिनी

वैजयन्तीपुरी और गिरिव्रिज के बीच मार्ग में सन्नद्ध हो गई। दिवोदास की सेना में देव, नाग, गन्धर्व और आदित्य आदि सभी सुभट थे। शम्बर की सेना में दस हजार रथ और साठ हजार योद्धा असुर थे। दोनों ही पक्षों की सेनाएँ आमने-सामने हो युद्ध करने को विकल हो उठीं। आर्यों के प्रधान सेनापति ने महाशुचि व्यूह का निर्माण किया और शम्बर ने अपनी सेना का अर्द्धचन्द्र व्यूह रचा। महाराज दशरथ के साथ कैकेयी धनुष बाण ले राजा के पृष्ठ की रक्षा का दायित्व ग्रहण कर रखा था। युद्ध प्रारम्भ होते ही असुरों के दल दशरथ पर पिल पड़े। कुछ असुर यूथ-पतियों ने बाण-वर्षा से दशरथ के रथ की धज्जियाँ उड़ा दीं। घोड़े मार-मार डाले, चक्र तोड़ डाले और उनको घायल कर डाले। इस पर विकट साहस कर रानी कैकेयी ने एक हाथ में चक्र को संभालकर घायल राजा को रथ पर बैठाकर बाण-वर्षा करनी आरम्भ कर दी और रण क्षेत्र से बाहर निकाल उनके प्राणों की रक्षा की। अन्ततोगत्वा इस संग्राम में पांचालपति दिवोदास द्वारा शम्बर मारा गया और असुर भयभीत होकर रक्त के कीचड़ में लथपथ युद्ध-भुमि से भाग चले।

(४) **नारी के लिए (स्त्रीकृतं)**—तत्कालीन समय में नारी के लिए भी युद्ध होता था, उदाहरणार्थ बालि और मयावी के बीच किसी स्त्री की प्राप्ति के लिए युद्ध हुआ था। इन दोनों के मध्य लगभग एक वर्ष तक घमासान युद्ध चलता रहा। अन्त में मयावी को बालि मार देता है और पुनः किष्किंधा लौट आता है (४।६।५-२३)। सीता को पाने में असफल राजाओं ने क्रुद्ध हो मिथिलापुरी पर धावा बोला था, क्योंकि धनुष द्वारा बल की परीक्षा देने में उन्होंने अपना अपमान समझा। एक वर्ष तक भयंकर युद्ध होता रहा। इस बीच जनक के युद्ध के सारे साधन क्षीण हो गये। तब जनक ने तपस्या के द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न किया और उनके द्वारा प्रदत्त चतुरङ्गिणी सेना की सहायता से उन्होने युद्ध में समस्त राजाओं को पराजित किया (१।६६।१४-२४)।

(५) **राज्य-विस्तार के लिए**—यह भी युद्ध का प्रमुख कारण था। इसी इच्छा से प्रेरित होकर राम ने गांधार, कारुपथ, और चन्द्रकान्त के राजाओं को परास्त कर उनके प्रदेश अपने राज्य में मिला लिये थे।

(६) **सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए**—रावण ने त्रैलोक्य विजय की इच्छा से तत्कालीन राजाओं को चुनौती देकर भूमण्डल के समस्त ज्ञात भागों में उत्पत्ति मचा दिया। एक विजेता धनुर्धर के रूप में चारों तरफ माने जाने लगा। रावण ने अपने साम्राज्यवादी अभियान का श्री गणेश यक्षों पर आक्रमण करके किया। उन्हें जीत कर उसने कुबेर को इन्द्र युद्ध में परास्त किया। मानव लोक को अधीन करके रावण ने यमपुरी पर धावा बोला था जिसमें यमराज का युद्धस्थल से भाग जाना रावण का विजय प्रमाणित करता है क्योंकि रावण इस घटना के घटित होने पर यमपुरी में विजय का डंका बजा कर रसातल की ओर प्रस्थान कर देता है। मार्ग में उसने वासुकि की राजधानी भोगवती को जीतते हुए कालिय दैत्य के अश्मनगर को अपने अधीन किया। वरुण पुत्रों को युद्ध में पराजित कर लंका लौट गया। इसके बाद रावण ने अपने बहनोई मधु के साथ इन्द्रलोक पर हमला किया। देवों और राक्षसों के बीच घनघोर युद्ध हुआ जिसमें रावण पुत्र मेघनाद ने देशराज इन्द्र को बन्दी बना लिया। इस घटना से रावण का नाम समस्त भूमण्डल पर भय-मिश्रित आदर के साथ लिया जाने लगा। ब्रह्मा के बीच-बचाव करने पर ही देवराज इन्द्र मुक्त हो सके। अनार्यों में बालि ने ही साम्राज्यवादी रावण का सफलता से मुकाबला किया था, जिसमें अपने प्रतिद्वन्द्वी का लोहा मान कर बालि से सन्धि कर ली। वस्तुतः बालि के अंकुश से ही दक्षिण में रावण की साम्राज्य-लिप्सा नियंत्रित रह सकी थी।

(७) **कुशासक, दुर्वृत्त पड़ोसी राजाओं को दण्ड देने के लिए**—मधुपुरी नरेश लवणासुर

के अत्याचारों से त्रस्त होकर यमुना तट के सभी ऋषियों ने राम से उसके अत्याचार की शिकायत की थी। फलस्वरूप राम के आदेशानुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर के राज्य पर आक्रमण किया। घमासान युद्ध के बाद लवणासुर मारा गया और उसके राज्य को कोशल राज्य में मिला लिया।

(८) **सम्पत्ति के लिए**—इसी भावना से प्रेरित होकर रावण ने यक्षों के राजा कुबेर पर धावा बोला था और उन्हें द्वन्द्व युद्ध में पराजित कर उनकी राजधानी लंका और श्रेष्ठ पुष्पक विमान को हथिया लिया था। घायल बालि ने भी राम से कहा था—

भूमिर्हिरण्यं रूपं च विग्रहे कारणानि च।
तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ॥ कि० का० १७।३१

अर्थात् पृथ्वी, सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओं के लिए राजाओं में परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलह के मूल कारण हैं। परन्तु यहाँ वे भी नहीं हैं। इस दिशा में इस वन में या हमारे फलों में आपका क्या लोभ हो सकता है।

रामायण काल में उपर्युक्त आठ कारणों से ही युद्ध ठनता था। वास्तव में युद्ध अन्तिम अवस्था में ही किया जाता था। पहले साम, दाम और भेद की युक्तियों से इच्छा प्राप्ति की चेष्टा की जाती थी। इसमें असफल होने पर ही दण्ड का प्रयोग किया जाता था (६।९।८)।

(ख) सैन्य संगठन एवं सेनाङ्ग

यौद्धिक सफलता प्रधानतः प्रशिक्षित एवं सुसंगठित सांग्रामिक सेना की कार्य कुशलता पर निर्भर होती है। संगठन मानव जीवन का मूल है। इसी का फल समाज है। मानव बिना संगठन के जीवन की गुत्थियों का निदान नहीं कर सकता। युद्ध भी उसके जीवन की महत्त्वपूर्ण गुत्थी है, जिसे बिना सुसंगठित सेना के सुलझाना असम्भव ही है। सेना के विभिन्न अंग अपने आप में पूर्ण होते हैं और उनका कार्य भी एक-दूसरे से भिन्न ही होता है, परन्तु वे भी एक दूसरे के साथ संगठित होकर ही युद्ध क्षेत्र में सफलता पा सकते हैं। रामायण-काल में सेना के चार अंग होते थे—पैदल (पदाति), रथ, अश्व और हस्ति (गजारोही)। इन चारों अंगों से निर्मित सेना को 'चतुरंगबल' कहा जाता था। शतरंज का नाम उस जमाने में 'चतुरंग' था जिसमें राजा अपने मन्त्री के साथ अपनी चतुरंगिणी सेना का संचालन करते हुए शत्रु की सेना का मुकाबला करता था। टाइलोर नामक पाश्चात्य लेखक का कहना है कि शतरंज के खेल का आविष्कार किसी हिन्दू ने किया था, जिसने आठों खानों वाली गद्दी को युद्ध-क्षेत्र मानकर इसे युद्ध क्रीड़ा को प्रचलित किया था।[1]

मनुस्मृति (७।१८५) में उपर्युक्त चार प्रकार की चतुरंगिणी सेना के अतिरिक्त कर्मचारी वर्ग आदि को भी सेना में माना गया है। कुछ विद्वानों ने कोष और सलाहकार समिति को भी सेना का एक अंग माना है। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या ये सभी सैनिक वर्ग समान उत्तरदायित्व रखते थे? नहीं, इनमें प्रथम चार (पैदल, रथ, अश्व और गज) वास्तव में युद्ध करने वाले थे। शेष दो या चार वर्ग युद्ध करने वाले वर्गों को विभिन्न प्रकार से सहायता पहुँचाने का कार्य करते थे। जिस प्रकार आधुनिक सेना में लड़ाकू, सहायक और सेवी वर्ग होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त सैनिक वर्ग थे।

सैनिकों की श्रेणियाँ भी चार प्रकार की थीं[2]—मित्र-बल (मित्र राजाओं के सैनिक),

---

१ वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितारः वार इन ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृ० १३५-१३५।
२ मित्राटवीबलं चैव मौलं भृत्यबलं तथा।
सर्वमेतद्बलं ग्राह्यं वर्जयित्वा द्विषद्बलम् ॥ यु० का० ।१७।२४

अटवी-बल (जंगली जातियों के सैनिक), भृत्य-बल (वैतनिक सैनिक, जिन्हें आजकल स्टैंडिंग आर्मी कहा जाता है और द्विषद-बल (शत्रु को छोड़कर आये हुए सैनिक)। पैदल सेना दो भागों में विभाजित थी—तलवार-बर्छी से लड़ने वाले और धनुष-बाण से लड़ने वाले सैनिक। अश्वारोही और गजारोही सैनिकों के अश्व और गज की देखभाल करने के लिए 'अश्वबंध' और 'कुन्जरग्रह' नियत रहते थे—

> इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः।
> नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुन्जरग्रहः ॥ अयो० का०।९१।५७

लंका युद्ध में त्रिशिरा-राक्षस सैनिक ने साँड़ पर बैठकर रण-भूमि की ओर प्रस्थान किया था।[1] आवागमन का मार्ग, पुल आदि बनाने वाले तम्बू गाड़ने वाले खनको आदि का दल सेना के आगे जाया करता था। यह काम आज सैपर्स और माइनर्स करते हैं। खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामग्री दूसरे एक दल के जिम्मे सुपुर्द थी जिसका स्थान आजकल सप्लाई विभाग ने ग्रहण कर लिया है। सेना के पीछे व्यापारी, सैनिकों की स्त्रियाँ तथा दास वर्ग रहते थे। जैसे आजकल 'फालोवर' रहते हैं। दशरथ के साथ युद्ध-क्षेत्र में कैकेयी गई थी। अयोध्या काण्ड में भरत की चित्रकूट यात्रा का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि 'चतुरंगबल' की सहायता के लिए निम्नलिखित दल होते थे[2]—

१. भूमि उपदेशक दल।
२. सूत्रकर्म विशारद दल।
३. नाव आदि प्रस्तुत करने वालों का दल।
४. श्रमजीवी, यन्त्रक्ष, मार्गरक्षक तथा वृक्ष-तक्षक दल।
५. सूपकार दल।
६. बाँस का बोकला छीलने वाले तथा मार्ग ज्ञाता का दल।
७. कुम्भकार दल, पक्षी पकड़ने वालों का दल।
८. क्राकचिक (लकड़ी चीरने वाला), विशोचक, सुधाकार (सफेदी करने वाला), कम्बल-कारक, स्नापक (स्नान कराने वाला), उष्णोदक वैद्य[3] (गर्म जल से स्नान करने वाला वैद्य), धूपक (सुगन्धियुक्त पदार्थों का निर्माता), कार्तीतिक (ज्योतिषी), मद्यकार, धोबी, दर्जी, नट कैवर्तक (मछुआ)' खनक (खोदने वाला) आदि।

सेना के प्रस्थान से पूर्व मार्ग ठीक करने, शिविर स्थापित करने, मार्ग में अवरोध करने वाले कूप, जलाशय को पाटने तथा निर्जल स्थानों में कूप-वापी तैयार करने के लिए उपर्युक्त सभी दल भेजे जाते थे।

सम्पूर्ण सेना इकाइयों में बँटी हुई थी, जिनकी सबसे बड़ी इकाई 'अक्षौहिणी' थी क्योंकि जब विश्वामित्र दशरथ के यहाँ यज्ञ रक्षार्थ राम को माँगने के लिए आते हैं, तब महाराज दशरथ राम को देने से इन्कार करते हुए कह उठते हैं कि "राम केवल अभी पन्द्रह वर्ष का ही तो है। मैं उसे किसी भी तरह राक्षसों के साथ लड़ने योग्य नहीं समझता।" हे महर्षि! राम के बदले मेरे पास जो सबसे बड़ी इकाई सेना है, उसको साथ लेकर मैं उन राक्षसों से युद्ध करने को तैयार हूँ—

> इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याहं पतिरीश्वरः।
> अन्या संवृतो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः ॥ बा० का० २०।३

१ वृषेन्द्रमास्थाय गिरिएकाशमायाति योऽसौ त्रिशिरा यशस्वी। यु० का० ५९।१९
२ देखिये अयो० ८०।१-३
३ देखिये : अयोध्या काण्ड ८३।१४

इस प्रसंग से स्पष्ट पता चलता है कि सेना की सबसे बड़ी इकाई 'अक्षौहिणी' ही थी। इसकी पुष्टि हमें अयोध्या काण्ड में भरत की चित्रकूट यात्रा से भी होती है। जब भरत अपने भाई राम को मनाने जाते हैं तो उनके साथ सबसे बड़ी 'अक्षौहिणी' सेना जाती है, जिसमें ९००० हाथी, ६०,००० रथ, विविध शस्त्रधारी, असंख्य धनुर्धर तथा एक लाख घुड़सवार सैनिक थे।[1]

सेनाध्यक्ष को सेनापति अथवा सेनानायक कहा जाता था। सेनापति सर्वोच्च सेना अधिनायक (राजा) के आदेशानुसार युद्ध का संचालन करता था। उसके अधीन कई बलाध्यक्ष और यूथपति होते थे। सेनापति के सचिव भी होते थे। राक्षस सेनापति प्रहस्त के चार सचिव—नरान्तक, कुम्भहनू, महानन्द और सुमुन्यत थे। राजा और सेनापति युद्ध-परिषद् की राय से कार्य करते थे। राम और सुग्रीव ने विचार-विमर्श हेतु समराभियान से पूर्व भारतीय महासागर तट पर युद्ध-परिषद् का आह्वान किया था। प्रमुख सैन्य-पदाधिकारियों का निर्वाचन उनकी योग्यता, राज्य-भक्ति, साहस एवं चातुर्य के आधार पर किया जाता था।[2] उदाहरण के लिए रावण का सेनापति प्रहस्त सेनापति नील, महाबलाधिकृत जाम्बवान्, बलाध्यक्ष गन्धमादन इत्यादि थे।

सेना का सबसे विश्वसनीय अंग वह होता था जिसमें 'कुल-पुत्र' (प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न व्यक्ति) होते थे। वे लोग महत्त्वपूर्ण पदों पर लगाये जाते थे, क्योंकि ये धन के लिए नहीं बल्कि देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिये सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहते थे। दशरथ, सुग्रीव और रावण की सेना में ऐसे बहुत से विश्वस्त 'कुल-पुत्र' नियुक्त थे, जिन्हें कुल-परम्परा से अच्छे संस्कार प्राप्त हुए थे। अयोध्या में सैनिकों का अपना एक अलग वर्ग था। वे 'भट' (१।५४।८) या 'योध' (२।८२।२५) कहलाते थे। यह उपाधि उन क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होती थी, जिनका पेशा केवल लड़ना होता था। क्षत्रिय का जीवन राज्य की सुरक्षा के लिए समर्पित होता था, क्योंकि क्षत्रिय के लिए आवश्यक था कि वह सैनिक जीवन व्यतीत करे तथा युद्ध में विजय अथवा मृत्यु का वरण करे, क्योंकि युद्ध-स्थल की मृत्यु से स्वर्ग-प्राप्ति निश्चित थी। इस प्रकार क्षत्रिय का जीवन विजय तथा स्वर्ग के बीच दुर्बल धागे से झूला करता और वह नियमित युद्ध को अपने जीवन का आदर्श स्वीकार करता था। लंका और किष्किन्धा में सैनिकों का कोई अलग वर्ग नहीं था। वहाँ तो प्रत्येक वयस्क पुरुष ही सैनिक था। अयोध्या, किष्किन्धा और लंका के सैनिक प्रायः विवाहित थे। विवाहित सैनिकों से सेना की स्थिरता बनी रहती थी, क्योंकि, गृहस्थ सैनिक देश और राजा के लिए ही नहीं, अपने परिवार के लिये भी शत्रु का सामना करने के लिए उद्यत रहते थे।

राम-राज्य के आदर्श सैनिकों से वेदों और शस्त्रास्त्रों का ज्ञान अपेक्षित था। साम, दाम, भेद और दण्ड से उसे अभ्यस्त रहना पड़ता था (६।७१।२८-९)। तत्कालीन सैनिकों को सुन्दर और भड़कीले वस्त्राभूषण पहनने तथा अपने वाहनों को अलंकृत करने का बड़ा शौक था।[3] लंका के सैनिकों के घर बड़े वैभवशाली, गवाक्षों से युक्त, मुक्ता प्रवाल से सुशोभित, चन्दन-अगरु से सुवासित, सोने-चांदी के पात्रों बहुमूल्य शयनासनों तथा नाना प्रकार के वस्त्रों, अस्त्र-शस्त्रों तथा कवचों से सम्पन्न थे।[4] अयोध्या के सैनिक विलासी जीवन के अभ्यस्त थे। उनके स्नान-प्रसाधन के लिए

---

१ देखिये : अयो० का० ८३।३-५
२ देखिये : अयो० का० १००।३०-१
३ देखिये : ५।१०।७; ५।१५।४५; ६।५३।६; ६।५३।१०; ६।६४।२६; ६।६१।३; ६।६५।२५-८; ६।६६।२७-३६; ६।७१।५-२४; ६।९०।३०-३१; ३।१५।१५; ३।२२।१५।
४ देखिये : यु० का० ७५।७।२७; ६।७५।४८, ४९-५१।

दासियाँ नियुक्त रहती थीं। अंगराग, चन्दन, दन्त धावन, अंजन, दर्पणा, कंघा आदि सामग्री का वे प्रतिदिन उपयोग करते थे। सम्भवतः इसीलिए महर्षि भारद्वाज ने भरत के साथ आतिथ्य करते समय इन्हें ये सब वस्तुएँ भेंट की थीं।[1]

जहाँ तक सैन्य संख्या का प्रश्न है तो राव-रावण युद्ध में राम की सेना केवल पदाति सैनिकों की थी, जिसकी संख्या पर विश्वास करना सम्भव नहीं। युद्ध काण्ड के प्रसंग में उल्लेख किया गया है कि ये सब संख्या में २१ हजार करोड़ तथा सहस्र शङ्ख एवं सौ वृन्द है (६।२८।४)। तो वहीं एक दूसरे प्रसंग में वानरी सेना की संख्या एक सौ समुद्र (सौ हजार खर्व का एक महा खर्व और सौ हजार महा खर्व का एक समुद्र होता था) और एक सौ कोटि महौघ (सौ हजार समुद्र का एक मोघ और सौ हजार मोघ का एक महौघ होता था) बताई गयी (६।२८।४३) है।

वास्तव में राम की सैन्य शक्ति ४० करोड़ सैनिकों की थी। इसकी पुष्टि हमें युद्ध काण्ड के दो प्रसंगों से होती है। व्यूह रचना करते समय राम के आदेशानुसार लंका के चारों द्वारों पर एक-एक करोड़ सेना लक्ष्मण ने नियत किया था (६।४१।४३)। इसके अतिरिक्त मध्य भाग में सुग्रीव के नेतृत्व में अन्य सैनिकों के अलावे ३६ करोड़ वानरी सेना आरक्षित (रिजर्व) थी (६।४१।४१)।

रावण की सैन्य शक्ति के सम्बन्ध में दो मत हैं—प्रथम हनुमान जब लंका का भूगोल ज्ञात करके लौटते हैं तो अभियान से पूर्व राम उनसे रावण की सेना के बारे में पूछताछ करते हैं। हनुमान बताते हैं कि लंका के पूर्व द्वार पर १० हजार सैनिक, दक्षिण द्वार पर १ लाख विपक्षी सैनिक तथा इनके साथ चतुरंगिणी सेना, पश्चिम द्वार पर १० लाख सैनिक और उत्तरी द्वार पर एक अरब राक्षस सैनिक रहते हैं (६।३।२४-२७)। दूसरी तरफ विभीषण के सचिवों के अनुसार लंका में दस हजार गज सेना दस हजार रथ सेना बीस हजार घुड़सवार और १ करोड़ से कुछ अधिक पैदल सैनिकों की सैन्य शक्ति थी (६।३७।१६-१७)।

आगे हम चतुरंगिणी सेना का पृथक्-पृथक् विवरण प्रस्तुत करेंगे।

(१) पैदल सेना—

रामायण काल में हम सेना को अधिकतर पदाति युद्ध में संलग्न देखते हैं। जो सेना स्थल पर रहकर युद्ध क्षेत्र में पैदल ही सैनिक कार्यवाही करती है, उसे पैदल सेना कहा जाता है। शुक्र ने इसे पैदल चलने के कारण 'स्वगमा' कहा है। पैदल सेना ही सैन्य संगठन का प्रमुख भाग होती थी। यह सेना ऊँची-नीची, पहाड़ी-मैदानी, गरम- ठंडी आदि हर प्रकार की भूमि पर चलने में सक्षम होती है। वैदिक काल में इसका महत्त्व अधिक था, किन्तु, रामायण काल में रथ-सेना की वृद्धि एवं उन्नति ने इसके महत्त्व को कुछ कम कर दिया। फिर भी इसके अस्तित्व पर कोई आँच न आ सकी, क्योंकि विजित प्रदेश पर अधिकार जमाये रखने हेतु इसी सेना की आवश्यकता बनी रही। इस युग में पैदल सेना को रथ योद्धा के अनुचर की भाँति रथ के अगल-बगल चक्कर लगाते दिखाया गया है। 'नीति प्रकाशिका' में बताया गया है कि मार्ग-निरीक्षण शिविर के लिए उत्तम स्थान खोजना, तम्बू लगाना, गोदामों एवं शस्त्रागारों की रक्षा करना तथा व्यूह रचना का प्रबन्ध करना पैदल सेना का मुख्य कार्य है।

पैदल सेना के महत्त्व को 'महाभारत' ने भी स्वीकार किया है। शान्ति पर्व (१००।२४) में उल्लेख किया गया है कि वह सेना जिसमें पैदल सैनिक अधिक होते हैं, सदैव विजयी होती है। सम्भवतः राम-रावण युद्ध में राम की शानदार विजय का रहस्य यही था। पैदल सैनिक

१ देखिये : आयो० का० ६१।५२-८१।

शरीरस्त्राण धारण करता तथा अपने साथ धनुष, तलवार, भाला एवं अन्याय हथियारों में से उसे लेता है, जिसके प्रयोग में वह विशेष रूप से पटु होता है। धनुर्धर राम रामायण काल के महान् योद्धा एवं सम्राट थे। आर्य सभ्यता के रक्षक अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय राम ने पदाति के रूप में ही खर-दूषण सहित १४००० विपक्षी सैनिकों को मौत के घाट उतार फेंका। पैदल सैनिक निःशास्त्र रहने पर भी रथी की दुर्दशा कर देते थे। योद्धा जटायु ने अपने पास कोई शस्त्र न होने पर भी रावण के शस्त्रों का बहादुरी के साथ मुकाबला किया। बालि-दुंदुभि युद्ध में युष्टि, जानु, पद, नख, शिलाखण्ड और वृक्ष आदि का प्रयोग हुआ। एक कुशल पदाति धनुर्धर के लिए हजारों योद्धाओं का सामना करना आसान था। परशुराम के साथ कोई संगठित सेना न थी किन्तु, दिव्यास्त्रों के प्रयोग में वे इतने कुशल थे कि उन्हें देखते ही दशरथ की 'अक्षौहिणी' सेना कांपने लगी थी।

पाणिनि (अष्टाध्यायी; ४।४।५७) के अनुसार योद्धा का नामकरण उसके द्वारा प्रयुक्त हथियार के आधार पर किया जाता था, जैसे, आसिक, धानुष्क, शाक्तिक आदि। मनुस्मृति (७।१९३) में कुरु, मत्स्य, पंचाल तथा शूरसेन के सैनिकों की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। आज भी भारतीय पदाति सैन्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्‌गम स्थान उत्तरी गंगा यमुना दोआब, पूर्वी पंजाब तथा उत्तरी राजस्थान के क्षेत्र हैं।

(२) रथ सेना—

उस युग में रथ को युद्ध के साधन के रूप में उच्च स्थान प्राप्त था। रथों का महत्त्व इसलिये भी अधिक था क्योंकि आर्यों को अपने राज्य-विस्तार के लिये लम्बी सैनिक यात्रायें भी करनी पड़ीं जिनमें समय अधिक लगता था और पैदल सैनिक अधिक शस्त्रों को लेकर चलने में असमर्थ थे। अतः इसी को दूर करने के लिए ही रथों का विकास सम्भव हुआ। इसके अतिरिक्त रथ में सवार सैनिक नगर के ऊँचे परकोटों के पार (जो लगभग ७-८ फुट ऊँचे होते होंगे) देख सकता था और शत्रु पर शस्त्र प्रहार कर सकता था। मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ के मतानुसार रथ के पर्दे द्वारा अपने आपको शत्रु के शस्त्रों से बचाया भी जा सकता था। सम्भवतः तत्कालीन समय में गति की दृष्टि से, रथ सेना का महत्त्वपूर्ण स्थान समझा जाता था।

रथ का नागरिक और सामरिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान था। नागरिकों के दैनिक कार्य-कलाप रथों पर ही निर्भर रहते थे। नगरों के मार्ग रथों की घरघराहट से गूँजते रहते थे। रामायण में तीन प्रकार के रथों का उल्लेख है—(१) औपवाह्य (२।३९।१०), जो प्रतिदिन की सवारी के काम आने वाला सामान्य रथ था। इसमें प्राया दो घोड़े जोते जाते थे। सम्भवतः भरत ने ऐसे ही रथ में राजगृह से अयोध्या की यात्रा की थी। (२) 'पुष्परथ' (२।२६।१५), जो उत्सवों के अवसर पर उपयोग में आने वाला सुसज्जित रथ था। इसमें चार शीघ्रगामी, सोने के आभूषणों से सजे घोड़े जुतते थे। (३) सांग्रामिक रथ (३।६५।६), जो युद्ध क्षेत्र में प्रयुक्त होता था। सांग्रामिक रथ में दो पहिये होते थे। इसकी धुरी पर रथ का समूचा ढाँचा संतुलित रहता था। रथ के सामने वाले भाग में सारथि और रथी (रथ का स्वामी) रहते थे और पीछे के हिस्से में युद्ध से सम्बन्धित सामग्री भरी रहती थी। कभी-कभी कोई परिचारक उपस्थित रहता था। इनमें चार घोड़े जोते जाते थे। 'सारथि' रथ का संचालन करता और रथी युद्ध में संलग्न रहता था। रथ के ऊपर ध्वजा फहराती थी, जिस पर रथों का विशेष चिह्न अंकित रहता था। रथ के पृष्ठ भाग को 'रथोपस्थ' कहते थे, जहाँ सारथी या रथी घायल हो जाने पर गिर जाया करते थे। रावण के रथ में दो चँवर डुलाने वाले भृत्य भी थे (चामर-ग्राहिणो) योद्धा अतिकाय के रथ में चार सारथी थे। रावण पुत्र अक्षयकुमार के महारथ में आठ

घोड़े जोते जाते थे। रथ के ऊपर पताकाएँ फहराती रहती थीं और उसकी ध्वजा में रत्न जड़े थे। राजाओं के रथ में छत्र भी होता था। कभी-कभी घोड़ों के अभाव में बैल, गदहे, ऊँट और खच्चरों का भी प्रयोग होता था। भरत के साथ अयोध्या से कई नागरिक उष्ट्र-रथों पर सवार होकर राम को चित्रकूट से बुला लाने के लिए गये थे। इन्द्रजीत के रथ में खच्चरों का भी प्रयोग होता था (६।७३।६)।

रथ युद्ध की सफलता अधिकांशतः सारथी के ऊपर निर्भर करती थी। रामायण[1] में सारथि की योग्यताओं को गिनाया गया है। सारथी के लिये अश्व-शास्त्र में पारंगत होना, युद्ध-स्थल की समतलता तथा विषमता, युद्ध के समय स्नान तथा सैन्य-संचालन, शकुन और अपशकुन रथी के हर्ष और विषाद, उत्साह और अनुत्साह तथा शत्रु का बलाबल आदि का ध्यान रखने तथा युद्ध भूमि से हट जाने का उपयुक्त अवसर कब आता है, इन तमाम रथ युद्ध की विभिन्न विद्याओं का निर्णय सारथी के विवेक पर ही निर्भर रहता था, क्योंकि रथी तो युद्ध में संलग्न रहता था। इसलिये वह इन सभी बातों पर ध्यान नहीं दे सकता था।

राम की बाण-वर्षा के प्रहार से रावण की गम्भीर दशा देख, उसका सारथी बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे रथ हाँक कर समर भूमि के बाहर ले गया (६।१०५।३०)। मृत्यु से प्रेरित रावण अविवेक के कारण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और लाल नेत्र कर सारथी से बोला 'क्या तूने मुझे वीर्यहीन, अशक्त, पुरुषार्थहीन, डरपोक, निर्बल, तेजहीन समझा? मेरा अनादर कर और मेरा अभिप्राय जाने बिना ही शत्रु के सामने से रथ तूने क्यों हटा लिया? पराक्रम से प्रसन्न करने योग्य एक प्रसिद्ध पराक्रमी शत्रु के सामने से मुझे जो सदा युद्ध की अभिलाषा ही किये फिरता था, हटाकर, कायर बना डाला।" जब इस प्रकार बुद्धिहीन रावण ने अपने हितैषी सारथी को फटकारा तब सूत बड़ी नम्रता के साथ बोला (अब्रवीद्रावण सूतो हितं सानुनयं वचः ६।१०६।१०)—

"हे लंकेश! न तो मैं भयभीत हूँ न मेरी बुद्धि ही मारी गई है, न शत्रुओं से मैंने घूँस खाई है, न मैं पागल हूँ, न स्नेह शून्य हूँ और न तुम्हारे सत्कारों को ही भूला हूँ। मैंने तो तुम्हारे हित के लिए और तुम्हारे यश की रक्षा के लिए स्नेह युक्त मन से अच्छा ही काम किया है। दोषारोपण न करो। ऊँची जगह से गिरने वाली नदी के वेग की तरह तुम्हें रथ को रण-भूमि से यहाँ ले आया, उसका कारण सुनो—हे वीर! जब मैंने देखा कि घोर हो करते-करते तुम थक गए हो, मुख के ऊपर प्रसन्नता लाने वाला हर्ष तुम्हारे भीतर से विदा हो चुका है और रथ को खींचते-खींचते घोड़े भी थक कर वैसे ही सुस्त पड़ गये हैं और पसीने से सराबोर हो रहे हैं; जैसे वर्षा के मारे बैल, तब मैंने यहाँ चले आना ही ठीक समझा। दूसरी तरफ रण क्षेत्र में जैसी घटनाएँ घट रही थीं, वे सब अमंगल सूचक थी। साथ ही सारथी ने उन गुणों का भी उल्लेख किया, जो सारथी में होते थे (६।१०६।१४।१७)।

सारथी के उत्तर से सन्तुष्ट होकर लंकेश ने उसकी प्रशंसा की (१०६।२४)। सारथी का पेशा वंश-परंपरागत होता था। सुमंत्र इक्ष्वाकु-राजाओं के वंशगत सारथी थे। वह केवल सारथी ही नहीं, बल्कि राजा के सखा, हितचिंतक और परामर्शदाता भी थे।

---

१ देशकालौ च विज्ञयौ लक्षणानीङ्गितानि च।
दैन्यं खेदश्च हर्षश्च रथिनश्च बलाबलम्।। यु० का० १०६।१८
स्थलनिम्नानि भूमेश्च समानि विषमाणि च।
युद्धकालश्च विसेयः परस्यान्तरदर्शनम्।। यु० का० १०६।१९

रामायण काल में रथ-युद्ध का एक अलग स्थान ही होता था। वाल्मीकि ने राम-रावण के रथ-युद्ध का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है[1]। जब समस्त लोकों को आतांकित करने वाला राम-रावण का रथ-युद्ध प्रारम्भ होता है, तब सम्पूर्ण रण-क्षेत्र काँप उठता है। राम ने रावण की ध्वजा को उखाड़ फेंका। रावण ने अपने ध्वजा को उखड़ते देख, राम के घोड़ों को दीप्त बाणों से बेध दिया। गदा, परिघ, चक्र, मुसल आदि शस्त्रों को फेंका। दोनों समर विजयी वीरों के सारथियों ने विभिन्न प्रकार की युद्ध कुशलता का प्रदर्शन किया-मंडल, वीथी, गति, प्रत्यागति आदि। दोनों रथ एक दूसरे के इतने निकट पहुँच जाते थे, कि रथ की धुरी से धुरी, घोड़ों के मुख से मुख जा मिलते थे। ध्वजा से ध्वजा अड़ जाती थी।

रामायण में रथ-युद्ध की निम्नलिखित विधाओं[2] का उल्लेख है :—

(१) **उपायान**—शत्रु के सैन्य-व्यूह में भेदन करना।

(२) **अपयान**—सफलता के साथ पीछे हटना तथा असुविधाजनक स्थान को शीघ्र छोड़ देना।

(३) **स्थान**—सामान्य स्थिति पर दृढ़ रखते हुए शत्रु का सफलता पूर्वक अवरोध करना।

(४) **प्रत्यपसर्पण**—प्रत्याक्रमण करके लाभदायक स्थिति ग्रहण करना।

रथ-युद्ध का यह विशद् वर्णन इस बात की ओर संकेत करता है कि रामायण काल में रथ-युद्ध काफी विकसित हो चुका था ऐसा प्रतीत होता है कि रथ राजकुमारों तथा महान् वीरों के युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण साधन होता था और सामान्य उच्चकुलोत्पन्न लोग अश्वारोही होते थे। युद्ध में सारथी की भूमिका भी एक अलग स्थान रखती थी। राम के सारथी मातलि ने राम को रावण द्वारा विपर्यस्त देख कर उन्हें सलाह दी, आप ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करें[3] राम ने सारथी के परामर्श के अनुसार ब्रह्मास्त्र निक्षिप्त किया और रावण वीर गति को प्राप्त हुआ। सम्भवतः इसीलिये महान् योद्धाओं के सारथियों के चयन में बड़ी सतर्कता बरती जाती थी। महाभारत में कृष्ण वासुदेव को अर्जुन का तथा शल्य को कर्ण का सारथी तथा रामायण में सूत को रावण और मातलि को राम का सारथी बनाया गया है। सारथी भी कवचयुक्त तथा सशास्त्र होता था, जिससे निकट से युद्ध कर सके। ग्रीक[4] दर्शकों ने रथ में दो सारथियों तथा दो अनुषधारियों देखा था, जबकि रामायण और महाभारत में अधिकांशतः एक सारथी और एक योद्धा का ही उल्लेख मिलता है।

रथ का उपयोग शत्रु के आक्रमण को रोकने, लाभदायक स्थिति ग्रहण करने, युद्ध के कारण अस्त-व्यस्त सैनिकों को व्यवस्थित करने, शत्रु-पंक्ति का भेदन करने तथा शत्रु-सैन्य के पृष्ठ भाग को भयाभ्रान्त करने में किया जाता था।

(३) अश्व सेनाः—

अश्वारोही सेना के महत्वपूर्ण अंग होते थे। रामायण काल में सर्वप्रथम अश्वारोही सेना का प्रयोग तो किया गया, लेकिन, अश्वारोही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका युद्धों में अदा न कर सके। आचार्य शुक्र ने इस सेना को द्वितीय स्थान दिया है जो स्वगमा-पदाति बल के पश्चात् आता है। वैसे

---

१ देखियेः यु० का० १०९ सर्ग।

२ उपायानापयाने च स्थान प्रत्यपसर्पणाम्।
सर्वमेतद्रथस्तेन ज्ञेयं रथकुटुम्बिना ।। ६।१०६।२०

३ देखिये यु० का०।१११।२;१९

४ वासुदेव शरण अग्रवाल : इंडिया ऐज नोन टू पाणिनि, पृष्ठ ४२१

संग्रामिक दृष्टि से इसका युद्ध में तीसरा स्थान परिलक्षित होता है। अश्वारोहियों के पास तलवार और धनुष मुख्य रूप से होते थे। अश्वसेना का प्रयोग पीछे हटती हुई शत्रु सेना का पीछा करने, अपनी सेना के पार्श्वाङ्गों की सुरक्षा करने, सेना के विभिन्न भागों के बीच शीघ्र संचार-व्यवस्था करने शत्रु सेना का भेदन करने तथा शत्रु पक्ष की आपूर्ति तथा कुमुक के गमनागमन में बाधा उपस्थित करने में किया जाता था। ये सभी सेवायें अश्वों के हलकेपन तथा शीघ्रगामिकता के कारण सम्भव हो पाती थी।

अश्व-सेना के घोड़ों को सामरिक प्रशिक्षण दिया जाता था। राम जैसे राजकुमारों को अश्वारोहण की शिक्षा मिली हुई थी। सामरिकों रथों में जोते जाने वाले घोड़े 'सांग्रामिक हयं कहलाते थे, उन्हें रण-भूमि के शोरगुल को सहने करने तथा निर्दिष्ट गतिविधि करने की शिक्षा दी जाती थी। इन्द्रजीत के युद्ध-रथ में 'विधेय अश्व' (प्रशिक्षित घोड़े) जुते थे। सारथी के मर जाने पर उन्होंने रण-क्षेत्र में चतुराई भरी हलचलें करके सबको विस्मय में डाल दिया था (६।९०।२८-९)। लंकेश रावण के महारथ में 'विनीत' (सिखाये हुए) अश्व जोते-जाते थे। सामरिक अश्वों को सोने के आभूषणों से खूब सजधज के सजाया जाता था तथा कवचादि से सुरक्षित रखा जाता था। घोड़ों का सबसे इष्ट गुण उनकी त्वरित गति थी। तेज चलने वाले घोड़ों की नस्लें तैयार की जाती थीं। यह कार्य विशिष्ट प्रदेशों में होता था। उन दिनों श्रेष्ठ अश्व-जातियों में कम्बोज, सिन्ध, अरब, वाह्लीक (बैक्ट्रिया) के नाम उल्लेखनीय है।[१] सम्भवतः ये नस्लें पड़ोसी देशों से आयात की जाती थीं।

अश्व सेना के महत्व पर सोमदेव ने प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "अश्वबल सेना की गति का प्रतिनिधित्व करती है। जिस राजा के पास उत्तम अश्व-बल रहता है, उसके लिए युद्ध एक क्रीड़ा मात्र बन जाता है। विजयश्री उसके साथ रहती है और दूरस्थ शत्रु भी सरलता से उसके अधीन हो जाते हैं।[२] सोमेश्वर का भी कथन है कि 'अश्व-बल कीर्ति की कुँजी है। जिस राजा के पास श्रेष्ठ अश्व-बल है, वह अपनी सीमा रक्षा के लिये तनिक भी भयभीत नहीं है।[३]

राम के घोड़े श्रेष्ठ नस्ल के शीघ्रगामी तुरंग थे (२।४५।१४)। भरत के चित्रकूट आने पर उन्होंने दूर से ही अपने पिता के मनोहर, वायु के समान वेगवाले तथा अच्छी नस्ल के घोड़े पहचान लिये थे (२।९७।२४)।

(४) हस्ति सेना—

हस्ति सेना का बड़ा प्रतिष्ठित स्थान था तत्कालीन युद्धों जैसे राम-रावण युद्ध, शत्रुघ्न लवणासुर युद्ध आदि में गज-सेना का उपयोग किया गया था। लेकिन इस सेना को वह स्थान नहीं मिल पाया, जो रथ सेना को प्राप्त था। नागरिकों और सामरिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं के लिए तथा राजकीय वैभव और समृद्धि के प्रदर्शन में हाथियों का अनिवार्यतः उपयोग होता था। अपने उदार सौम्य और भव्य स्वरूप के लिये हाथी मूल्यवान होते थे। अच्छी नस्ल के हाथी सावधानी से पाले जाते थे। हाथियों के संरक्षण और संवर्धन के लिये राजाओं के पास विशाल वन होते थे, जो 'नागवन' कहलाते थे। हाथियों और 'नागवन' की देख भाल के लिए चित्रकूट पर राम ने भरत का ध्यान आकर्षित किया था (२।१००।५०)। जंगली हाथियों को पकड़ने और उन्हें पालतू बनाने की नियमित व्यवस्था थी (२।१००।५०)। बन्दी

१ देखिये १।६।२२
२ पी. सी. चक्रवर्ती: 'आर्ट आफवार इन ऐशियेन्ट इण्डिया' पृ० ३६।
३ वही " " " "

बनाने के बाद हाथियों को रस्सियों से बाँधा जाता था।[१] रावण के चंगुल में फँसी सीता की तुलना उस गजराज-वधू से की गई है, जो अपने यूथपति से बिछुड़ गई है, जो पकड़कर खम्भे से बांध दी गई है तथा लम्बी-लम्बी उसांसें भर रही है (५।१६।१८) हाथियों को फंसाने में पालतू हाथियों का ही सहयोग लिया जाता था।

महावत लोग 'महामात्र' हाथियों को देख भाल करने वाले नौकर 'कुंजरग्रह' या हस्तिबंधक' और गज के स्वामी 'हस्त्यध्यक्ष' कहलाते थे। युद्ध में हाथियों की सुरक्षा के लिये चमड़े की ढ़ालें होती थीं। हाथियों को विपक्षी हाथियों से टक्कर लेने के लिए शिक्षा दी जाती थी। साठ वर्ष की आयु वाले (षष्टिहायनाः) हाथी बहुमूल्य और अतिशय बल के प्रतीक माने जाते थे। रावण के यहाँ हनुमान ने दो, तीन और चार दांत वाले हाथियों को स्पष्ट देखा था (५।६।५)। रामायण-काल में हिमालय तथा विंध्य पर्वतों की तराइयाँ अच्छी नस्ल के हाथियों के लिए प्रसिद्ध थीं। वहाँ के हाथी पर्वत के समान विशाल, मदोन्मत और अत्यंत बलवान् होते थे; उनके मस्तक पर से निरन्तर मद चूता रहता था (१।६।२३)। अयोध्या नगरी में ऐरावत-कुल, महापद्य-कुल, आंजन-कुल और वामन-कुल, इन नस्लों के श्रेष्ठ हाथी विद्यमान (१।६।२४-२५) थे।

अग्नि पुराण में कहा गया है कि हाथी शत्रु के दुर्ग को तोड़ते और प्राकारों का विध्वंस करते थे। वैसे विखरी सेना को एकत्रित करना, शत्रु सेना को कुचलना और उनमें आतंक उत्पन्न करना, शत्रु सैनिकों को पकड़ना इत्यादि कार्य इनका होगा।

कम्बन, रामायण में कवि ने चतुरंगिणी'[२] सेना का एक सजीव चित्र राक्षस सेना के रूप में इस प्रकार अंकित किया है—"(उस सेना में) ऐसे हाथी थे जो वज्र सदृश चिघाड़ते थे। वे क्रोध से लाल आँख वाले, धवल दन्तवाले, मुखपट्ट से भूषित ललाट वाले, एवं पर्वत सदृश विशाल और भारी आकार वाले थे। (उस सेना में) बड़े-बड़े रथ थे जो विशाल चक्रों और लटकते हुए मुक्ताहारों से भूषित ध्वजाओं से युक्त हो ऐसे लगते थे मानों ब्रह्मा द्वारा रचे समस्त मेघ एक साथ जा रहे हों। (उस सेना में) ऊँची जाति के अश्व थे जो पंक्तियों में जाते ऐसे लगते थे मानों हवा के ही चार टाँगे लगाकर, उसमें प्राण फूँककर, उस पर यमराज को बिठा दिया गया हो। पदाति (पैदल) सेना के सैनिक युद्धोत्साह से भरकर उल्लासपूर्वक इस प्रकार जा रहे थे मानों चक्कर खाती पीली पुतलियों वाले विविध जातीय बाघों को पर्वतों के झुरमुटों में से जगाकर वहाँ एकत्र कर दिया गया हो।"[३]

चतुरंगिणी सेना का इससे अधिक प्रभावशाली वर्णन और हो ही क्या सकता है? चोल राजाओं की सेना में और अश्वों का बाहुल्य था।[४] अश्वसेना युद्ध का निर्णायक तत्व थी।[५]

सेना के विविध विभागों में ऊँटों की एक टुकड़ी होती थी। रावण की सेना में उष्ट्र-सवारों का एक विभाग (६।५३।५) था।

बालमीकि रामायण के अध्ययन से हमें तत्कालीन युग में 'चतुरंगबल' के अतिरिक्त नौ सेना और नभ सेना के भी अस्तित्व के बारे में स्पष्ट पता चलता है—

(५) नौ सेना :—

तत्कालीन समय में नौ सेना के अस्तित्व का पता हमें रामायण के कुछ प्रसंगों से

---

१ देखिये: ३।५५।३१; ५।४७।२०; ६।१६।६-८, २।२१।५४
२ देखिये कं० रा० १।१३।७२; ५।१२।१४।
३ देखिये कं० रा० ५।१४-५
४ देखिये कं० रा० १।३।६३।
५ देखिये : 'स्टडी इन केरला हिस्ट्री' पृ० २६।

चलता है । किष्किधाकाण्ड में एक ऐसा अवतरण है जिसमें कहा गया है कि सुग्रीव के द्वारा दिये गये आघातों से बालि उसी तहर लड़खड़ा गया, जिस प्रकार बहुत बोझ से लदी हुई नाव समुद्र के बीच हिलने डुलने लगती है—

स तु बाली प्रचलितः सालताड़नविह्वलः ।
गुरुभारसभाक्रान्तों नौसार्थ इव सागरे ।। ४।१६।२४

'रामोपाख्यान' में जो वस्तुतः रामायण का ही भाग है, ऐसा वर्णन आया है कि राम ने वानरी सेना को समुद्र के पार जलयानों में लंका तक ले जाने के प्रस्ताव को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि वैसी हालते में उन्हें समस्त व्यापारीय जलयानों को उस काम में लगाना पड़ेगा, जिससे समुद्रीय वाणिज्य-व्यापार को क्षति पहुंचेगी । इस प्रकार साहित्यक उपमाओं से इस बात का पता चलता है कि रामायण-काल में समुद्र में जलस्त्रोत चला करते थे ।

इस काल में जलयानों के प्रयोग के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस युग में जययानों का प्रयोग वैदिक युग की अपेक्षा अधिक था । सम्भवतः देश में भीतरी यातायात के लिए नावें प्रयोग में लाई जाती थीं । ये नावें पालों और पतवारों के सहारे संचालित होती थीं । जैसा कि 'हतकर्णोव नौर्जले' (टूटी पतवार वाली नौका के समान), 'मूढवातेव नौर्जले' (प्रतिकूल हवा से विमूढ़ हुई नौका के समान) जैसी उक्तियों से ध्वनित होता है (६।४८।२६;५०।१) । जहाँ स्थल-मार्ग के बीच से कोई नदी बहती, वहाँ जलयानों द्वारा उसे पारकर यात्रा की अविच्छिन्नता स्थित रखी जाती थी । महर्षि विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण ने गंगा नदी एक ऐसी नौका पर बैठकर पार की थी, जिसमें एक सुखद दरी बिछी हुई थी और ऊपर से ढकी हुई थी[१] । इस नाव के स्वामी वनवासी ऋषि लोग ही थे । सरजू और गंगा के अशान्त और तेज प्रवाह वाले संगम-स्थल को इन लोगों ने कामाश्रम की नाव में पार किया था ।

वन-यात्रा में राम-लक्ष्मण और सीता जिस नौका से गंगा पार हुए थे, वह सुन्दर, सुदृढ़ तथा मल्लाहों और पतवारों से युक्त थी । रामायण में अधिकांशतः राम के क्रिया-कलापों का उल्लेख है और तत्कालीन आर्य-नरेश हिमालय और विंध्य के बीच के उतरी भारत में राज्य करते थे, इसलिए उनके द्वारा नौ सेना रखे जाने की कोई सूचना नहीं मिलती । तत्कालीन समय में श्रृंगवेरपुर के नृपति निषादराज गृह और लंकेश रावण ही दो ऐसे व्यक्ति थे, जिनके पास उल्लेखनीय युद्ध पोत थे । निषादराज गृह गंगा तट के निवासी थे और उनके पास नौ सेना भी थी । जब भरत अपनी सेना सहित राम को मानने के लिए चित्रकूट जाते समय, श्रृंगवेरपुर से गुजर रहे थे, तब निषाद राज गुह ने उन्हें किसी दुष्ट भाव से प्रेरित समझा और सैकड़ों कैवर्त युवकों को आज्ञा दी कि पाँच सौ युद्ध पोतों को लेकर शत्रु का मार्ग अवरुद्ध कर दें । प्रत्येक युद्ध-पोत पर सौ-सौ नौजवानों को युद्ध के लिए सन्नद्ध रहने का आदेश मिला । इस प्रकार ५०,००० नाविक-सेना के अस्तित्व का पता चलता है—

नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतम् ।
संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्विभ्यचोदयत् ।। अयो० ८४।८

ये पोतें सम्भवतः 'अग्रमंदिरा' श्रेणी की रही होंगी, जिनमें 'मन्दिर' (जहाज का मार्ग देखने के लिए बनी केबिन) पोत के आगे भाग की ओर बना होता है । सम्भवतः इन पोतों का

---

१ देखिये १।४५।७
२ देखिये २।५२।६

प्रयोग वर्षा.ऋतु के समाप्त होने पर ही किया जाता होगा। लम्वी यात्राओं या जल-युद्ध के लिए ये विशेष उपयुक्त होती थीं।[1] यात्री और माल ढोने के लिए भी इनका प्रयोग होता था। भरत का शुद्ध भाव जानकर निषादराज ने उनकी सारी सेना को गंगा पार कराने के लिए अपनी उपर्युक्त समस्त जलयानों की व्यवस्था कर दी थी। इन पोतों में पुरुष, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, रथ और अन्य भारी सामान ले जाया गया था। अतः ये अवश्य ही विशाल नौ पोतें रही होंगीं।

डॉ० शान्ति कुमार नानू राम व्यास का कहना है कि राज परिवार के बैठने के लिए निषादराज गुह ने विशेष नौकाएँ मँगाई थीं। इन सुसज्जित नावों के अग्रभाग की ओर ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा बड़े.बड़े घण्टे लटक रहे थे। इनमें पत्तवारें लगी थीं। कुशल नाविक इनका संचालन कर रहे थे और इनके जोड़ मजवूती से बनाये हुए थे। ये जलयान सामान्य जलयानों से बड़े और 'स्वस्तिक' के आकार-प्रकार के थे, इसलिए इन्हें 'स्वस्तिक की संज्ञा दी गई थी।[2]

इन नौकाओं में श्वेत कम्बल बैठने के लिए बिछा हुआ था (पाण्डुकम्बल संवृताम्, (२।८९।७७)। तत्कालीन समय में पोतों के अन्दर 'सीट' की व्यवस्था नहीं थी। यात्रियो को पार उतारने के बाद निषादराज गुह ने मल्लाहों (नाविक) ने लौटते समय अपनी नावों के चित्र-विचित्र पैंतरे, नौका-चालन की अनेक विधियाँ प्रदर्शित की थीं।[3] इन दिनों नौकानयन निषाद और दास जैसी अनार्य जातियों के हाथ में था।

उत्तरकाण्ड में अपने वनवास के समय सीता ने लक्ष्मण के साथ जिस नौका में बैठकर गंगा को पार किया था, उसे भी इन्हीं जातियों के नाविकों ने खेया था।

दूसरी तरफ हमें रावण की सबल नौ सेना के अस्तित्व का पता राम-रावण युद्ध से बहुत पहले चलता है। रामायण में आदि कवि ने रावण की नौ-सेना का उल्लेख तो नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि लंकेश रावण (जिसका सात द्वीपों पर आधिपत्य था) के पास नौ-सेना थी ही नहीं। सूर्पणखा के पति विद्युज्जिह्व और रावण के मध्य हुई लड़ाई से हमें लंकेश के युद्ध पोतों का विधिवत् जानकारी होती है। लंका द्वीप के पूर्वी अंचल में कुछ अश्म-द्वीप-पुंज थे। ये द्वीप बहुत ही छोटे.छोटे थे और इनमें से अनेकों द्वीपों में मनुष्यों की आवादी नहीं थी। कुछ द्वीप तो ऐसे थे जिनका पता ही नाविकों को न था। पर कुछ द्वीप ऐसे भी थे, जहाँ जाते हुए अच्छे साहसी नाविक भी डरते थे, क्योंकि ये सभी द्वीप-पुन्ज चुम्बक पत्थर के द्वीप थे. इसी में एक अश्मद्वीप-पुंज के नाम से प्रसिद्ध था। विद्युज्जिह्व जब कालिकेयों (अनार्य जाति) का नेता बना, तो उसने पुरी को समृद्ध बनाया। यह अश्मपुरी समुद्र के जिस अंचल में बसी थी, उसके आस-पास एक समुद्र बहुत गहरा था। विद्युज्जिह्व एक छोटा-सा राजा और अपने कुल का अधिपति तथा द्वीप का स्वामी था। विद्युज्जिह्व का रावण की वहिन शूर्पणखा से प्रेम हो गया था और अन्ततोगत्वा वह प्रेम-विवाह के रूप में बदल गया। घर से चलते समय शूर्पणखा अपने भाई लंकेश रावण को अश्मपुरी में स्वागत हेतु आमन्त्रित कर गई थी। चूँकि कुल प्रतिष्ठा का प्रश्न था इस नाते लंकेश ने बहन की चुनौती को स्वीकार कर लिया। इतने बड़े इस साम्राज्य के अधिपति की इकलौती प्यारी

---

१ राधा कुमुद मुखर्जी: हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग, पृष्ठ २६।
२ अन्या स्वास्तिक विज्ञेया महाघण्टाधराषरा।
शोभमानाः पताकिन्यो मुक्तवाहाः सुसंहताः॥ २।८९।११
३ निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दुशबन्धुभिः, २।८९।१८

बहिन, भाइयों और भाभी के परम अनुरोध की भी न मानकर एकाकी विद्युज्जिह्व के साथ चली आई थी।

बहिन की चुनौती के अनुसार ही लंकेश के सोलह सौ युद्ध-पोतों ने अश्मद्वीप को घेर लिया, जिनमें—क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, मया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा, तरणी, प्लाविनी, वेगिनी, ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी, आदि अनेकानेक नामों के युद्ध-पोत थे।[1]

विद्युज्जिह्व सूचना पा तुरन्त ही युद्ध को सन्नद्ध हो गया किन्तु लंकेश की इस लड़ाई में नौ-सेना के बल पर ही विजय हुई और विद्युज्जिह्व मौत के घाट उतार दिया गया। इस संग्राम से यह ध्वनित होता है कि वास्तव में लंकेश रावण की नौ-सेना सबल थी, तभी उसने आस-पास के द्वीपों पर अपना कब्जा जमा रखा था।

हमें रामायण से यह भी ज्ञात होता है कि हनुमान् के लंकादहन के उपरान्त दुर्मुख राक्षस रावण द्वारा डांटे-फटकारे जाने पर कहता है कि वह समुद्र में भी युद्ध करने को तैयार है—

अस्मिन् मुहूर्ते हत्यैको निर्वतिष्यामि वानरान्।
प्रविष्टान् सागरं भीममम्बरं वा रसातलम्॥ यु० का० ८।८

अर्थात् हे लंकेश! मैं अभी जाकर वानरों की इतिश्री कर दूँगा। वे वानर भले ही समुद्र में, आकाश में, रसातल में या अन्यत्र कहीं भी जा छिपें, मैं उनका नाश किये बिना न मानूंगा।

इस प्रसंग से भी ध्वनित होता है कि बिना नौ-सेना के समुद्र पर युद्ध कैसे सम्भव था। रामायण में यत्र-तत्र जहाजों का उल्लेख है। जब हनुमान् लंका जाने के लिए समुद्र पार कर रहे थे तो उनकी उपमा उत्ताल समुद्र पर 'वात्याहत' जलपोत से की गई है।

कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि राम ने अपनी सेना को लंका पहुँचाने के लिये बड़े-बड़े जलयानों का उपयोग न कर एक काष्टसाध्य महान् सेतु का निर्माण क्यों किया? सम्भवतः इसका कारण यह था कि एक छिछले और अशांत सागर में जलयानों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था और फिर सामने के तट से एक प्रबल शत्रु के गतिरोध का भी तो भय था।[2]

(६) नभ-सेना

आकाश मार्ग से विमान द्वारा विचरण करने का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख रामायण में मिलता है। आकाशगामी यान को 'खग' या विमान कहते थे। सीता ने पति के चरणों की छाया के सामने 'वैहायस-गत' अर्थात् आकाश भ्रमण को भी तुच्छ समझा था (२।२७।८)। सीता की खोज के बाद हनुमान्, अंगद आदि आकाश मार्ग से वानरराज सुग्रीव के पास किष्किन्धा लौटे थे (५।६४।२३-६)। लंका-युद्ध में आकाश-युद्ध के अनेक प्रसंग आये हैं। सहस्रों वर्षों के बाद आज हम यह कहने में असमर्थ हैं कि इस आकाश-युद्ध और आकाश-मार्ग का यथातथ्य स्वरूप क्या रहा होगा। रामायण काल में निम्नलिखित प्रकार के वायुयान थे—

१. **पुष्पक विमान**—रावण के प्रसाद में रथ और यानों के साथ विमान भी थे। भवन में जो विमान रखे हुए थे, उनमें पुष्पक विमान सर्वश्रेष्ठ था। यह अद्‌भुत आकाशचारी यान उड़ते समय महाघोष करता था (महानादमुत्पपात विहायसम् ६।१२६।१)। इससे यह जान पड़ता है

१ आचार्य चतुरसेन : वयं रक्षामः : पृष्ठ २३३
२ चिन्तामणि विनायक वैद्यः 'द रिडिल आंफद रामायण', पृ० १६५।

कि आधुनिक वायुयान जिस प्रकार उड़ते समय तीव्र आवाज करते हैं उसी प्रकार पुष्पक विमान में भी बहुत तेज आवाज होती होगी। वास्तव में यह विमान यक्षराज कुबेर का था, परन्तु रावण ने अपने रक्ष संस्कृति-प्रसार-अभियान के दौरान अपने सौतेले भाई कुबेर को द्वन्द्व युद्ध में परास्त कर लंका हथियाने के साथ इस विमान को भी हथिया लिया था। यह विमान हंस की तरह सफेद रंग का था जैसा कि आधुनिक वायुयान अधिकांशतः सफेद अल्यूमीनियम से बनते हैं। इसके अन्दर आधुनिक वायुयानों की भाँति बैठने के लिये सीटें (वैडूर्यमयवेदिरम्' ६।१२४।२४) बनी हुई थीं। सफेद ध्वजा पताकाओं से वह सजा हुआ था। उसमें सोने की अटारियाँ थीं, जिनमें सोने के सोने के बने कमल शोभा के लिये लटक रहे थे। जगह-जगह बहुत सी घण्टियाँ लटक रही थीं। इस प्रकार से पूरा वायुयान मोती और मणियों से अलंकृत था। इस वायुयान के चालक विशालकाय आर्येतर जातियाँ ही थीं।

राम-रावण युद्ध में इस वायुयान का प्रयोग कई स्थलों पर किया गया है। जब मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर राम-लक्ष्मण सहित सम्पूर्ण विपक्षी सेना को मूर्च्छित कर दिया, तब लंकेश ने सीता को त्रिजटा के साथ इसी विमान से राम-लक्ष्मण को देखने के लिए अशोकवाटिका से युद्ध-क्षेत्र को भेजा था।[1] राम-लक्ष्मण को देखकर सीता पुनः उसी विमान से अशोकवाटिका को लौटी थीं।[2] विजयोपरान्त राम अपनी सम्पूर्ण सेना सहित 'पुष्पक विमान' से ही युद्ध-क्षेत्र, समुद्र आदि के बारे में सीता को अवगत कराते हुए नरेश सुग्रीव की राजधानी किष्किधा पहुँचे। यहाँ पर वायुयान को कुछ देर के लिए रोका गया (६।१२६।२१)। यहाँ से तारा आदि को लेकर इस वायुयान ने पुनः अयोध्या के लिए उड़ान भरी थी। जब वायुयान अयोध्या के निकट आया, तो सभी वानर योद्धा अयोध्या पुरी का नाम सुनते ही उचक-उचक कर विमान की खिड़कियों से देखने लगे (६।१२६।५१)। आदि कवि वाल्मीकि ने पुष्पक विमान के निर्माण तथा उसकी संचालन-क्रिया पर प्रकाश नहीं डाला है।

(२) **बजरंग विमान**—वैसे इस विमान का उल्लेख वाल्मीकि-रामायण में नहीं मिलता है, किन्तु, हनुमान् ने अपनी सभी यात्राएँ युद्धक्षेत्र (लंका) से हिमालय तक बजरंग विमान द्वारा ही सम्पन्न की क्योंकि पैदल जाकर शीघ्र लौटना सम्भव न था। हनुमान् ने हिमालय और महेन्द्र पर्वत से औषधियों[3] के लाने में जो शीघ्रता बरती है, उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि इन्होंने अपने विमान का उपयोग किया था। इस विमान का निर्माण चूँकि हनुमान् ने ही किया था, इस नाते इसका नाम बजरंग विमान पड़ा। इस मत से श्री बी० ए० बख्शी अबोध भी सहमत हैं।[4]

(३) **कौशिक विमान**—इसका भी उल्लेख हम बाल्मीकि-रामायण में नहीं पाते, किन्तु इस विमान का निर्माण सम्भवतः महर्षि विश्वामित्र ने किया था, इसलिये इसका नाम कौशिक पड़ा।[5]

---

१ सीतामारोपयामा सुविमानं पुष्पकं तदा।
ततः पुष्पकमारोप्य सीतां त्रिजटया सह॥ यु० क० ४७।१४
जग्मुर्दर्शयितुं तस्यै राक्षस्यो राम लक्ष्मणौ।
विमानेनापि सीता तु गत्वा त्रिजटया सह।
ददर्श वानराणां तु सर्व सैन्यं निपातितम्॥ यु० का० ४७।१७

२ विमानं पुष्पकं तत्तु सन्निवर्त्य मनोजवम्।
दीना त्रिजटया सीता लङ्कामेव प्रवेशिता॥ यु० का० ४८।३५

३ देखिये: यु० का० ७४।२६-७४; १०१।२३-४४

४ गीता:दि फिलास्फी ऑफ प्रेक्टीकल लाइफ भाग १, पृ० ११

५ बी० एन० बख्शी अबोध: गीतादि फिलासकी ऑफ प्रैक्टीकल लाइफ, भाग १, पृष्ठ ११।

वायुयानों की पुष्टि हमें महाभारत काल से भी होती है। इस काल में भी तीन प्रकार के वायुयानों का निर्माण किया गया था, जो निम्नलिखित हैं[1]—

(१) **द्रोण का विमान**—इस वायुयान का निर्माण सम्भवतः द्रोणाचार्य ने किया था। यह अपने समय का 'मास्टर ऑफ वारफेयर' था।

(२) **वसुदेव का विमान**—इस वायुयान का निर्माण श्रीकृष्ण ने किया था और अपने पिता के नाम पर ही इसका नामकरण किया।

(३) **पंचवाण विमान**—इस विमान के निर्माणकर्त्ता का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि ऐसा विमान जिस पर पाँच बाण लगे हुए हों और इन पाँचों बाणों को एक साथ छोड़ने का सामर्थ्य हो। सम्भव है कि इस विमान में लगे पाँच बाण नियंत्रित प्रक्षेपास्त्र (गाइडेड मिसाइल) हों।

आकाश आकार यंत्र के २३वें अध्याय में तीन मंजिला विमान का वर्णन है, जो पारे की ऊर्जा से संचालित होता था। इसका नाम था 'त्रिपुरयान'—त्रि (तीन) और पुर (स्टोरी) मंजिल।

उपर्युक्त रामायणकालीन वायुयानों के विवरण से ज्ञात होता है कि लंका में रावण के राज्य में विमान थे, जो आकाश-मार्ग से उड़ सकते थे। ऐसी परिस्थिति में कहा जा सकता है कि लंका की आर्येतर जाति एक समय विमान-विज्ञान में निष्णात थी। उस युग में भारत में विमान का प्रचलन सम्भवतः नहीं था। रामायण की राम-रावण युद्ध सम्बन्धी कथा आज से कई हजार वर्ष पूर्व की है। सम्भवतः आर्यों ने आर्येतर जातियों से विमान-विज्ञान सीखा था। भरद्वाज ने विमान-विज्ञान पर एक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसका नाम 'वैमानिक शास्त्र' है। इस शास्त्र के आधार पर एक विमान सन् १९८० ई० में बनाकर बम्बई में उड़ाया गया था और बम्बई आर्ट्स-सोसाइटी की प्रदर्शनी में इसका सार्वजनिक प्रदर्शन भी हुआ था। वैमानिक शास्त्र में अनेक प्रकार के विमानों के बनाने की विधियाँ दी हुई हैं, जिनमें से 'पुष्पक' और 'मरुत्सखा' सुप्रसिद्ध हैं।[2] युद्धों के लिए विमानों का उपयोग होता था। शाल्व के सौभ नामक विमान द्वारा द्वारिका पर आक्रमण करने का वर्णन मिलता है। शाल्व दानवों का राजा था। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि आर्येत्तर जातियों में दानवों के पास महाभारत-युग में भी विमान थे।[3]

(क) सैनिक-भर्ती तथा वेतन-भत्ता आदि—

तत्कालीन समय में मुख्य रूप से सेना में क्षत्रिय ही भाग लेते थे। लंका और किष्किंधा में सम्पूर्ण वयस्क लोगों को सेना में भर्ती होना पड़ता था। अयोध्या में वयस्क लोगों की भी भर्ती होती थी, किन्तु, यहाँ एक अलग योद्धाओं का वर्ग था जिसे 'भट' नाम से सम्बोधित किया जाता था जिनका मुख्य पेशा केवल युद्ध करना ही होता था। इस युग के क्षत्रियों में साम्राज्य-विस्तार

---

१ बी० एन० बख्शी अबोधः गीतादि फिलास्फी ऑफ प्रैक्टिकल लाइफ, भाग १, पृ० ११-१२

२ 'वैमानिक शास्त्र' के अनुसार विमान बनाने का श्रेय आधुनिक युग में श्री शिवकर बापू जी तालपदे को है। तालपदे बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्राध्यापक थे। इनके बनाये हुए 'मरुत्सखा' को श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने भी देखा था। १८९५ में यह बम्बई की चौपाटी पर उड़ाया गया और १५०० फुट उड़कर यह नीचे उतरा। इस अवसर बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ भी वहाँ उपस्थित थे। तालपदे की मृत्यु १९१७ में हुई। विमान बनाने के विज्ञान का परिचय 'समराङ्गण सूत्र' में भी मिलता है। यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियन्टल सीरीज से प्रकाशित हुआ।

३ महाभारत, वनपर्व १४वें अध्याय से।

तथा अपने यश को बढ़ाने की भावना अधिक विकसित हो गई थी। जगह-जगह अश्वमेघ-यज्ञ का आयोजन चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिये किया जाता था। राम ने भी इस यज्ञ का आयोजन किया था। राज्य की आन्तरिक एवं वाह्य आपत्तियों से सुरक्षा करने का पूर्ण उत्तरदायित्व क्षत्रियों पर ही था। सब वर्णों के धर्मों की रक्षा करना और जनता की सुख-सुविधाओं का उचित प्रबन्ध इनका परम कर्त्तव्य समझा जाता था। दण्डकारण्य में ऋषियों एवं मुनियों के यज्ञों एवं धर्मों की रक्षा राम ने इसी कर्त्तव्य के परिपालन-हेतु किया था युद्ध के लिए तैयार रहना, युद्ध में पराजित हुए विना मृत्यु-पर्यन्त डटे रहना आदि क्षत्रियों के कर्त्तव्यों में प्रमुख समझे जाते थे। यह वर्ग सामरिक एवं प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त और कोई कार्य ही नहीं करता था। क्षत्रिय का विश्वास वीरता तथा साहस-पूर्ण जीवन में था और वह शान्ति तथा निष्क्रिय जीवन से घृणा करता था। महाभारत में यह उल्लेख किया गया है कि दैवी विधान के अनुसार क्षत्रिय को संग्राम[1] में विजय अथवा मृत्यु के परम्परागत धर्म के प्रति निष्ठावान् होना चाहिए, क्योंकि स्वधर्म का पालन न करने में उसका कल्याण नहीं है। यदि हर प्रकार की नैतिकता को अलग रखा जाय, तो क्षत्रिय वर्ण के लिये मात्स्य न्याय की विधि विहितता ही चिरकालिक युद्ध की पर्याप्त प्रेरणा थी।

उस युग में स्थाई सेना रखी जाने लगी थी जो दुर्गों की रक्षा करती तथा राज्य में शान्ति स्थापित करती थी। इसकी पुष्टि हमें रामायण से होती है। लंका-नरेश रावण ने लंका दुर्ग के चारों द्वारों पर स्थाई सेना लगा रखी थी जिसका प्रत्यक्ष अवलोकन हनुमान् ने किया था। साथ ही स्थाई रूप से १४००० सैनिकों की सेना जनस्थान में नियत थी। जिसके सेनापति खर दूषण थे।[2] स्थाई सैनिक पदाधिकारी भी होते थे। उनमें सेनापति तथा दुर्ग-रक्षक अधिकारी राज्य के प्रमुख १८ अधिकारियों में गिने जाते थे।

स्थाई सेना के सैनिकों को नियमित रूप से वेतन देने की व्यवस्था थी जिसकी पुष्टि राम द्वारा भरत से चित्रकूट पर पूछे गये राजनीतिक प्रश्नों से होती है। राम पूछते हैं कि हे भरत! सैनिकों को देने के लिए नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता समय पर देते हो न! वेतन भुगतान में बिलम्ब तो नहीं करते क्योंकि, यदि समय बिता कर वेतन और भत्ता आदि का भुगतान किया जाता है तो सैनिक अपने स्वामी पर बहुत असंतुष्ट रहते हैं और इसके कारण बहुत अनर्थ हो जाता है[3]—

अयोध्या नृपति दशरथ ने स्वयं महर्षि विश्वामित्र से कहा था कि—

इमें शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं ने तुमर्हसि ॥ बालकाण्ड २०।४

अर्थात् ये मेरे शूर, पराक्रमी और युद्धविद्या में दक्ष, वेतनभोगी योद्धा राक्षसों से युद्ध करने योग्य हैं, पर आप राम को न ले जाइये।

उत्तरकाण्ड में लवणासुर से युद्ध करने के लिए शत्रुघ्न से राम ने स्वयं कहा है कि—"हे शत्रुघ्न! शक्तिशाली सैनिकों को साथ लेकर जाओ तथा उनको विधिवत् सन्तुष्ट रखने के लिए उन्हें अच्छे वचन बोलना और उनको नियमित मासिक वेतन भी देते राहना। (उ० का० ६४।५)।

इसी तरह से तत्कालीन शक्तिशाली राज्य किष्किधा में भी स्थाई सेना को नियमित

---

१ जयो वधो वा संग्रामे धात्रादिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्यरायं न प्रशस्यते ॥ महाभारत, उद्योग; ७३,४
२ अरण्यकाण्ड २१।१०; ३०।३५
३ देखिये अयो. ।१००।३२-३२

वेतन भुगतान आदि के बारे में जानकारी रामायण से मिलती है[1]। रावण का गुप्तचर 'सारण' स्वयं पता लगाकर लंकेश से कहता है—यूथपा हरिणजस्य किङ्कणः समुपस्थिताः ६।२७।६; अर्थात् कपिराज सुग्रीव के ये सब किङ्कर यूथपति हैं (वेतनभोगी यूथपति) और युद्ध करने के लिए उपस्थित हुए हैं।

युद्धकाण्ड के अध्ययन से लंका के सैनिकों में भी वेतन-प्रथा का आभास मिलता है क्योंकि जब गुप्तचर शुक्र और सारण राम के बलाबल की वास्तविक सूचना अपने लंकेश रावण को देते हैं, तब सत्य बात भी लंकेश को अप्रिय लगने लगती है और रावण क्रुद्ध होकर बोल उठता है—

न तावत्सहशं नाम सचिवैरूप जीविभिः।
विप्रियं नृपतेर्वक्तुं निग्रहप्रग्रहे प्रभुः ॥ यु० का० २९।७
आचार्या गुरवो वृद्धा वृथा वां पर्युपासिताः।
सारं यद्राजशास्त्राणा मनुजीव्यं न गृह्यते ॥ यु० का० २९।९

अर्थात् तुम लोगों ने मुझसे जैसे वचन कहे हैं, वैसे वचन क्या किसी वेतन भोगी सचिव को अपने उस स्वामी के सामने, जो निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ है, कहना उचित है? युद्ध के लिए प्रस्तुत एवं अपने विरोधी शत्रुओं की इस प्रकार अनवसर प्रशसा करना उचित नहीं था। छिः! आज तक आचार्य, गुरु और वृद्धजनों के पास रह कर तुमने भाड़ ही झोंका। एक वेतन भोगी को जो समस्त राजनीति की मुख्य बातें सीखनी उचित है—वे भी तुमने न सीखीं।

पाणिनि के व्याकरण में आयुधजीवी अर्थात् शस्त्रोपजीवी लोगों का उल्लेख मिलता है,[2] जो इस बात पर प्रकाश डालता है कि स्थाई सेना के अतिरिक्त ऐसे भी व्यक्ति थे जो युद्ध के समय सेना में भर्ती किये जाते थे और उन्हें उचित पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था। यह भी सम्भव है कि वे शान्तिकालीन अवस्था में अन्य कोई व्यवसाय करते हो। तत्कालीन समय में युद्ध की समाप्ति पर सैनिकों को उपहार तथा युद्ध की लूट का हिस्सा भी प्रदान किया जाता था। लंका-विजय के बाद राम ने विभीषण से कहा था कि हमारे सैनिकों ने प्राणों का मोह त्यागकर मुझे विजय दिलाई है, इसलिये मेरी ओर से कृतज्ञता-रूप में इन्हें रत्न तथा विविध प्रकार का धन, उपहार आदि प्रदान कर इनका सम्मान कीजिये, जो राजा सेना को दान-मान से प्रसन्न नहीं रखता, उसे वह छोड़ देती है (६।१२५।४-९)।

राम के आदेशानुसार विभीषण ने समस्त सैनिकों और उनके यूथपतियों को उनकी पद मर्यादा के अनुसार हिस्सा लगा, रत्न और धन देकर, सन्तुष्ट किया—

एवमुक्तस्तु रामेण वानरांस्तान् विभीषणः।
रत्नार्थैः संविभागेन सर्वानिवाभ्यपूजयत् ॥ यु० का० १२५।१०

इन तमाम उपर्युक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट पता चलता है कि रामायण काल में स्थाई सेना को नियमित वेतन प्रदान किया जाता था। साथ ही सैनिकों को युद्ध-क्षेत्र में जाने पर भत्ता, उपहार आदि भी प्रदान किया जाता था, लेकिन नियमित रूप से वेतन पर बल दिया जाता था।

(ख) सैनिक शिक्षण-प्रशिक्षण व्यवस्था :—

तत्कालीन समय में स्थाई सेना होने के कारण तथा क्षत्रिय वर्ग के कर्त्तव्यों की सीमा के दृढ़ रूप से निश्चित हो जाने के कारण सैनिक शिक्षा का महत्व भी बढ़ गया था। भर्ती किये जाने वाले सैनिकों को युद्ध-शिक्षा दी जाती थी। राजकुमारों और उच्चकुल के पत्रों के लिए राज्य की ओर से सैनिक पाठशालाएँ होती थीं। तत्कालीन आश्रम युद्ध-विद्या के स्थाई केन्द्र थे।

---

१ बालकाण्ड ७।१०
२ डॉ० राधा कुमुद मुकर्जीः हिन्दू सभ्यताः पृ० १२३।

सैनिकों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार के प्राध्यापकों का रामायण में उल्लेख हुआ है, उनमें गुरू (२।१११।३) वह था, जिसका अपने शिष्यों से पिता-पुत्र का सम्बन्ध रहता था और जो अपने ही आश्रम (प्रशिक्षण केन्द्र) में रहने वाले शिष्यों को उनकी योग्यतानुसार शस्त्राध्ययन करता था। गुरू के बाद आचार्य (२।१११।४) और कुलपति (२।११६।४) की गणना की जाती थी। कुलपति के अधीन दूर-दूर से आये हजारों शिष्य विद्याध्ययन करते थे। छात्र के परिवार का सामाजिक स्तर कुछ भी क्यों न हो, उसे गुरू के प्रशिक्षण केन्द्र में रह कर वहीं के कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था। अयोध्या-नृपति दशरथ के पुत्रों को भी परम्परागत प्रणाली के अनुसार शिष्य-वृति ग्रहण करनी पड़ी। विश्वामित्र की अधीनता में रहते समय राम और लक्ष्मण को राजकुमार होते हुए भी, तृणों पर शयन करना पड़ा था। छात्र का सर्वोपरि कर्त्तव्य गुरू के प्रति भक्तिभाव रखना और उसकी आज्ञाओं का सर्वतोभावेन पालन करना था। राम न नु-नच किये बिना राक्षसी ताड़का का वध करने को इसलिए उतारू हो गये थे कि उनके गुरू की ऐसी ही आज्ञा थी (१।२५।२२)।

विद्यार्थी को अध्ययन काल में जो कठोर अनुशासन-बद्ध जीवन व्यतीत करना पड़ता था, उससे 'वास्तविक' जीवन का भी उसे पूर्वाभास मिल जाता था—परिस्थितियों के विरुद्ध वह कैसा दीर्घ और निर्मम संघर्ष होता है ! उसः काल में शय्यात्याग, स्थान, संध्या, जय, होम, स्वाध्याय गुरू-सेवा आदि का नित्य कार्यक्रम विद्यार्थी को शास्त्र-पटु तथा अच्छी आदतों वाला बनाने में सहायक होता था।

रामायण काल एक युद्ध-बहुल युग था, अतः युद्ध विद्या का सर्वांगीण शिक्षण-प्रशिक्षण छात्र के लिये अनिवार्य था। युद्धविद्या का बोध धनुर्बेद के नाम से होता था; धनुः शब्द सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों अथवा युद्ध-पद्धतियों का वाचक था। धनुर्वेद सभी शास्त्रास्त्रों के प्रयोग में विद्यार्थी को दक्ष करता था। इम दृष्टि से उसे अस्त्र-शास्त्र शिक्षा' की भी संज्ञा दी जाती थी। उसमें अस्त्रों का संग्रहण (सम्पूर्ण रूप से उनकी उपलब्धि) और संहार (फेंक कर लौटाने की विधि) तथा शत्रु के शस्त्रों का 'परिवारण' या 'निवारण' सभी कुछ सिखलाया जाता था। मेघनाद इन्द्रजीत का 'पाणिलाघव' (शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में हाथों की सफाई) दर्शनीय था।

तत्कालीन समय में इलाहावाद स्थित 'भरद्वज आश्रम' सैनिक शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। इसी आश्रम में हाथी, घोड़ों के लिये शालाएँ बनी हुई थीं। इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों की सैनिक-शिक्षा का एक आश्रम अयोध्या में अथवा उसके आस-पास कहीं बना हुआ था। इस आश्रम के आचार्य के घर में नियमित शास्त्राभ्यास के लिये राम और लक्ष्मण के शस्त्रास्त्र रखे रहते थे।[1] इस आचार्य के बारे में केवल इतना ही पता चलता है कि सम्भवतः ये कोसल राजकुमारों के गुरु उपाध्याय सुधम्वा ही थे जो धनुर्वेद के महान् आचार्य थे। राम को अपनी प्रारम्भिक सैनिक शिक्षा सुधम्वा से प्राप्त हुई थी। वैसे तो सारा देश ही आश्रमों से भरा-पूरा था। उनमें ज्ञान-विज्ञान की अजस्र धारा बहती थी।

सोलहवाँ वर्ष वाल्य-काल की समाप्ति का सूचक माना जाता था और इस समय तक क्षत्रिय कुमार सामान्यतः शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण हो जाता था। जब विश्वामित्र ने राम को राक्षसों के वधार्थ अपने साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की तब दशरथ बोल उठे कि यह तो अभी बालक है, इसने सोलह वर्ष भी पूरे नहीं किये हैं और उसकी शस्त्र विद्या भी पूर्ण नहीं हुई है (१।२०।२-७)। इसकी पुष्टि हमें महाभारत से भी होती है कि अभिमन्यु सोलह वर्ष की आयु

१ रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० २२२।
देखिये : अयोध्याकाण्ड ३१।३१।

में ही निपुण योद्धा बन गया था[१]। उसका विवाह भी हो चुका था तथा वह रण-क्षेत्र में भी गया था। इससे सिद्ध होता है कि सोलह वर्ष की आयु में किशोरावस्था की समाप्ति मान ली जाती थी तथा इस आयु का नवयुवक युद्ध-कला में पारंगत और जीवन के कर्म-क्षेत्र में जूझने के लिए साधन सम्पन्न हो चुकता था।

उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिक्षार्थी को एक आश्रम या गुरु से दूसरे आश्रम या गुरु के पास जाने को वैदिक प्रथा रामायण में भी मिलती है। विश्वामित्र पहले उत्तर अंग-राज्य में कौशिकी नदी के तटवर्ती एक आश्रम में निवास करते थे। वाद में अपना कर्मकाण्ड पूरा करने (अपनी योग्यता बढ़ाने) दक्षिण-पश्चिम स्थित सिद्धाश्रम (बक्सर के पास) में गये थे (१।३४।१२)। राम को भी उच्च स्तरीय सैनिक-शिक्षा विश्वामित्र से मिली थी (१।२७।८) अगस्त्य से भी राम को कई नवीन शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए थे और उन्होंने उसकी प्रयोग विधि भी उन्हें बताई थी। विश्वामित्र से राम को जो शिक्षा मिली, उसे स्नातकोत्तर (पोस्ट ग्रेजुएट) प्रशिक्षण हम कह सकते हैं, क्योंकि इसके पूर्व वे स्नातक बन चुके थे। सुयोग्य गुरु की देख-रेख में धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के बाद यह आवश्यक था कि विभिन्न युद्ध-प्रणालियों का वास्तविक अभ्यास भी किया जाय। युवराज को युद्ध का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कराने के लिए उच्च सैनिक अधिकारियों के साथ लड़ाई के मोर्चों पर भेजा जाता था। राजकुमार राम और युवराज अंगद सैनिक अभियानों में जाया करते थे। इन स्थानों पर उन्हें युद्ध की विभिन्न प्रणालियों में दक्ष बनने का अवसर मिलता था।

विश्वामित्र ने धनुर्धर राम को कुल-परम्परागत संग्रह किये हुए पचपन असामान्य दुर्लभ दिव्यास्त्र प्रदान कर उनकी प्रयोग-विधि भी विधिवत समझा दी थी। व्यावहारिक प्रयोग का अवसर भी राम को अविलम्ब मिल गया, जब उन्होंने विश्वामित्र के आश्रम में उपद्रव करने वाले तथा यज्ञों में विघ्न पहुँचाने वाले राक्षसों का वध किया विश्वामित्र मुनि का आश्रम आधुनिक बक्सर के पास था। विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा यहाँ मिलती थी। अस्त्र-शस्त्र भी आविष्कृत होते थे।[२]

युद्ध-शिक्षा सेना के चारों अंगों (पैदल, रथ, घोड़े और हाथी) को दृष्टि में रखकर सैनिक शिक्षार्थी को हाथी-घोडों की सवारी और उनका नियन्त्रण (आरोह और विनय) तथा रथ चलाने की कला (रथ-चर्या) में प्रशिक्षित करती थी।[३] लंका युद्ध में जब लक्ष्मण ने इन्द्रजीत के सारथी को मार डाला, तब मेघनाद इन्द्रजीत ने स्वयं रथ और बाण दोनों साथ-साथ चलाने का कौशल दिखाकर सबको विस्मय में डाल दिया था—

स्वयं सारथ्यमकरोत् पुनश्च धनुरस्पृशत्।
तदद् भुतमभूतत्र सामर्थ्यं पश्यतां युधि ॥ यु० का० ९०।४३

रथ-संचालन की कला बड़ी विकसित थी। राक्षसों के यहाँ (परम्परागत सारथियों) को 'रथ-कुटुम्बी' कहा जाता और उन्हें इस पेशे का विशेष प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था (६।१०४।१७-२०)। अयोध्या के सैनिक के हाथ बड़े फुर्तीले थे (लघुहस्ताः)। सैनिकों को बाहु-युद्ध अथवा मल्ल-युद्ध तथा गदा-युद्ध की भी शिक्षा दी जाती थी। रावण का कनिष्ठ पुत्र अतिकाय ज्ञानी, वेदों में पारंगत, सब शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में दक्ष, घोड़े और हाथी की सवारी में प्रवीण तथा धनुर्वेद में सिद्धहस्त था। राजनीति और कूटनीति के अतिरिक्त साम, दाम, दण्ड और भेद

---

१ देखिये : अयो० का० २।३६-७, किष्किन्धा काण्ड २९।३३।
२ पं० रामदीन पाण्डेय : प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, पृ० ३६।
३ शान्ति कुमार नानू राम व्यास : रामायण कालीन संस्कृति, पृ० १३०; बाल काण्ड १८।२७

की चालों में भी वह निष्णात था। मेघनाद की प्रशंसा करते हुए रावण ने कहा था कि युद्ध-विद्या या कूटनीति का कोई भी विवेकपूर्ण कार्य या सिद्धान्त ऐसा नहीं, जो तुम्हारी पहुँच के बाहर हो (५।४८।४-५)। रावण के अन्यान्य पुत्र और बान्धव भी जो लंका-युद्ध में राम से लोहा लेने के लिए गये थे, अस्त्र-विद्या के ज्ञाता, माया-विशारद, युद्ध-निपुण और सर्वोच्च दर्शन-शास्त्र के पण्डित थे (६।६६।११-३)। रावण के अनुसार क्षत्रिय राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे विद्या के विभिन्न अंगों तथा युद्ध की कला दोनों में समान रूप से विशारद हों। विद्वता के साथ-साथ युद्ध में सफलता भी नितान्त आवश्यक है (५।४८।१३-४)

लंकेश रावण भी वेदों में निर्दिष्ट अग्नि-पूजा किया करता था। स्वाध्याय और तपस्या का कर्मठ सेवी था। वैदिक शिक्षा की चरम सीमा तक पहुँच गया था। लंका युद्ध में उसके द्वारा प्रदर्शित युद्ध-कला से यह प्रमाणित होता है कि रावण ने नियमानुसार किसी आश्रम (सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र) में रहकर वैदिक शिक्षा एवं युद्ध विद्या का सांगोपांग अध्ययन किया था। तत्पश्चात् वैदिक विधि के अनुसार स्नातक उपाधि लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था।

वास्तव में ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न अंगों की शिक्षा के साथ रण-विद्या, आयुध-ज्ञान, रथ संचालन आदि विद्यायें तत्कालीन आश्रमों में सिखाई जाती थी। अगस्त्य-आश्रम में ज्ञान के विभिन्न विभाग थे। ब्रह्मस्थान, अग्निस्थान, विष्णुस्थान, महेन्द्रस्थान, विवस्वान्स्थान, वायुस्थान, सोमस्थान, भगस्थान, कौवेरस्थान, धातृस्थान, विधातृस्थान, वरुणस्थान आदि।[1] विष्णु-स्थान में राजनीति, अर्थशास्त्र, पशुपालन तथा कृषि आदि विषयों से सम्बन्धित शिक्षा प्रदान की जाती थी। महेन्द्रस्थान में आक्रमणात्मक और प्रतिरक्षात्मक (आफेन्सिव और डिफेन्सिव) आयुधों का ज्ञान प्रदान किया जाता था। गरुड़स्थान में यातायात, यान आदि के ज्ञान उपलब्ध होते थे। कार्तिकेय स्थान में शिक्षार्थी गुल्म, पाती, वाहिनी, आदि के संचालन की शिक्षा प्राप्त करते थे। कौवेर स्थान में जल स्तम्भन, जल संस्तरण, पोत संचालन आदि की विद्या सिखाई जाती थी।

अगस्त्य-आश्रम तत्कालीन समय में भय और आदर का विषय हो गया था। इस आश्रम' में इतने विध्वंसात्मक अस्त्र-शस्त्र तैयार होते थे कि लंकेश रावण के हृदय में सदा आतंक बना रहता था। इसी आतंक से मुक्ति पाने के लिए १४००० सैनिकों की छावनी जनस्थान में खर-दूषण के सेनापतित्त्व में उसने स्थापित कर रखी थी।

धनुर्वेद में कहा गया है कि धनुषधारी पहले बाएँ हाथ से धनुष-संधान में पारंगत हो और उसके पश्चात सीधे हाथ का प्रयोग सीखे, तत्पश्चात् नाराच और बाण का दोनों हाथों से अभ्यास करे। रथी पहले दाएँ हाथ से समस्थान और कैशिव्याय का अभ्यास करें और पूर्णता प्राप्त करके बाएं हाथ का प्रयोग करें। रामायण में भी राजा को अनेक विषयों की शिक्षा के साथ-साथ धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है[2]। रामायण में रावण अपने सेनापति को आदेश देता है कि हे ! वीर सेनापति, हमारी चतुरंगिणी सेना को जो पूर्णतः युद्ध कला में प्रशिक्षित है, शत्रु से नगर की रक्षा करने के लिये यथास्थान नियत कर दो—

सेनापते यथा ते स्युः कृतविद्याश्चतुर्विधाः।
योधा नगररक्षायां तथा व्यादेष्टुमर्हसि ॥ यु० का० १२।२

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-काल में सैनिकों एवं राजकुमारों को सैन्य शिक्षा एवं युद्ध कला सम्बन्धित प्रशिक्षण प्रदान करने की समुचित व्यवस्था थी।

---

१ अरण्यकाण्ड सर्ग १२।
२ डॉ० आर० के० मुकर्जीः 'एन्शेट इंडियन एजुकेशन' पृ० ३४०।

(ख) युद्ध-संचालन-विभाग :—

सैन्य अभियानों की सफलता सेना के सुसंगठन, अनुशासन एवं सुआयोजन पर एक मात्र निर्भर रहती है। सेना के विभिन्न अङ्गों के संगठन, सैनिकों के चुनाव व नियुक्ति, सैन्य-सामग्री का संग्रह, सैनिकों की सुख-सुविधा का प्रबन्ध, सामरिक योजनाओं का निर्माण, अन्य राष्ट्रों से सैनिक-सम्बन्ध आदि कार्यों का सुसंचालन आवश्यक होता है। इन सभी कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र द्वार विभिन्न सैन्य विभागों की स्थापना की जाय। रामायण काल में हमें ऐसे ही कई सैन्य विभागों का परिचय मिलता है। जो अपने-अपने क्षेत्रों में सफलता पूर्वक कार्य करते थे। वे विभाग निम्नलिखित थे—

१. युद्ध-परिषद
२. युद्ध-वित्त-विभाग
३. सैन्य रसद विभाग
४. आयुधागार
५. गुप्तचर-व्यवस्था

१. युद्ध-परिषद्—

रामायण के अनेक संदर्भों से तत्कालीन समय की सेना में युद्ध-परिषद् के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। रामयण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि युद्ध में विजयश्री उचित विचार-विमर्श तथा मंत्रणा पर ही आधारित है। उसी प्रसंग में मंत्रणा-पद्धति तथा युद्ध के समय साहसिकता को ध्यान में रखकर राजाओं का वर्गीकरण भी किया गया है—

उच्यतां नः समर्थं यत्कृतं च सुकृतं भवेत्।
मंत्र मूलं हि विजयं प्राहुरार्या मनस्विः॥
तस्माद्वै रोचये मन्त्रं रामं प्रति महाबलाः।
त्रिविधाः पुरुषा लोके उत्तमाधममध्यमाः॥ यु० का० ६।५-६

अर्थात् तुम लोग कोई ऐसा उपाय बतलाओ जिसके करने से अन्त में भलाई हो और जिसे हम लोग कर भी सके। क्योंकि पण्डित लोग विजय की कुंजी विचार ही को बतलाते हैं। हे सदस्यों! इस समय मुझे राम के विजय में परामर्श करना ही ठीक ही जान पड़ता है। संसार में उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के लोग हुआ करते हैं।

राज्य की अन्य मंत्रणाओं की भाँति युद्ध-परिषद् के सर्वसम्मत निर्णयों की प्रशंसा की गई है। महाभारत[1] में भी इस बात का संकेत है कि विजय बुद्धि पर आधारित है तथा बुद्धि द्वारा निर्देशित कार्य श्रेष्ठ और बाहुबल पर आधारित कार्य मध्यम कोटिक होते हैं। सम्भवतः इसीलिए युद्ध के समय सर्वोच्चि सेनाध्यक्ष (राजा) को सभी कार्यों का प्रारम्भ विचार-विनिमय अथवा मंत्रणा के साथ करना पड़ता था। इस कार्य के लिए प्रत्येक राजा एक युद्ध-परिषद् अर्थात् परामर्शदायी समिति का गठन करता था, जिसका कार्य सैनिक-क्रियाओं एवं समस्याओं पर परामर्श देना था। इस परिषद् का अध्यक्ष राजा स्वयं होता था और कम से कम तीन युद्धशास्त्र के ज्ञाता सदस्य होते थे। राजा इन सदस्यों के एक मत से निर्णीत विषयों को कार्यान्वित करता था।

रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आक्रमण करने से पूर्व राम ने भी अपनी युद्ध-परिषद् की बैठक बुलाई थी जिसके सम्मानित सदस्य लक्ष्मण, किष्किंधा नरेश सुग्रीव युवराज अङ्गद, विभीषण, हनुमान्, जाम्बवान्, सहित सुषेण, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल, नील, आदि

---

१ वर्त्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत्।
बुद्धि श्रेष्ठानि कर्माणी बाहुमध्यानि भारत॥ महाभारत, शान्तिपर्वः ११२,१७

यूथप और सेनानायक थे।[1] राम ने परिषद् के सदस्यों को सम्बोधित करते हुए कहा कि सर्व प्रथम विभीषण अपना मत प्रकट करें। विभीषण ने कहा—महाराज ! मेरी आज्ञा से मेरे चारों मंत्री अनल, पनस, सम्पाति और प्रग्रस वेश परिवर्तित कर लंका में जा, वहाँ की गतिविधि और व्यवस्था देख आये हैं[2]। लंका के पूर्व द्वार का रक्षक सेनापति प्रहस्त है और दक्षिण द्वार का महाबली महापार्श्व तथा महोदर है। पश्चिम द्वार पर इन्द्रजित मेघनाद नियुक्त हैं और उत्तर द्वार पर शुक, सारण आदि सेनाधिपतियों और मंत्रियों-सहित स्वयं राक्षसराज रावण ने अपने अधिकार में ले लिया है। नगर के मध्य भाग में शस्त्रों से सज्जित महासेनापति विरूपाक्ष नियुक्त हुआ है।

विभीषण के वचन को सुनकर राम ने क्षण भर विचार कर कहा—'पूरब द्वार पर सेनापति नील अपने यूथपतियों को लेकर आक्रमण करेंगे। युवराज अङ्गद दक्षिण द्वार पर और मारुति हनुमान् पश्चिम द्वार को आक्रान्त करें उत्तर द्वार पर मैं लक्ष्मण सहित लंकापति रावण का अपने बाणों से सत्कार करूँगा। नगर के मध्य भाग पर तेजस्वी सुग्रीव, जाम्बवान, विभीषण आक्रमण करेगें ! कोई वानर मानव रूप धारण न करेगा। 'वानर' रूप ही हमारा आज का गुप्त संकेत शब्द होगा। मैं लक्ष्मण और अपने चार मन्त्रियों सहित विभीषण-बस ये सात पुरुष मानव वेश में युद्ध करेंगे।

यह व्यवस्था कर राम अपनी परिषद् के सदस्यों सहित सुबेल पर्वत की ऊँची चोटी पर चढ़ गए। वहाँ पहुँच कर उन्होंने लंका की गतिविधि पर विहंगम दृष्टि डाली। तुरन्त ही लंका दुर्ग पर कूच किया और उसे घेर लिया। आक्रमण करने से पहिले पुनः राम ने नियमानुसार मन्त्रियों से परामर्श किया जिसमें विभीषण और सुग्रीव मुख्य थे। सर्वसम्मत से यह पारित हुआ कि युद्ध आरम्भ करने से पूर्व शत्रु को दूत द्वारा युद्ध के लिए आमंत्रित करना उचित है। सुग्रीव और विभीषण के सम्मत्यनुसार अगंद को रावण के पास दूत बनाकर भेजा गया (६।४१।५८-५९)।

राम की भाँति लंकेश रावण ने भी अपनी युद्ध परिषद् की बैठक बुलायी थी जिसमें हनुमान् द्वारा किये कार्यों का उल्लेख किया गया और उस पर विचार करते हुए यह भी प्रस्ताव रखा गया कि अब आगे क्या करना चाहिए ? रावण ने कहा कि लंका पर चढ़ाई होने की और वानरों के साथ विरोध हो जाने की बात को ध्यान में रख, सब लोग एकमत होकर ऐसी सलाह निश्चित करें, जिससे लंकापुरी और राक्षसी सेना की रक्षा हो सके। आप लोगों द्वारा लिया गया निर्णय ही मेरा अन्तिम निर्णय होगा (यु० का० ६ सर्ग)। परिषद की बैठक में ही सेनापति प्रहस्त ने सैनिक योजना प्रस्तुत की और विभीषण ने सीता को राम के हाथ लौटाने का मत प्रकट किया (६।९।२०-३१)। विभीषण के विरोध के बावजूद परिषद् ने यह निर्णय लिया कि सीता को न लौटाया जाय और राम से लोहा लिया जाय। परिषद् के निश्चयानुसार ही लंका की पूरी मोर्चाबन्दी कर दी गई।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि राजा को युद्ध-परिषद् के निश्चयानुसार ही कार्य करना पड़ता था, किन्तु, यह प्राविधान ध्वनित हो रहा है कि राजा (अध्यक्ष) सदस्यों के विचारों को समझने, तदनन्तर स्वयं बुद्धिपूर्वक विचार कर अपना निर्णय ले सकता था। इससे सिद्ध हो रहा है कि राजा युद्ध-परिषद् के निर्णय को पूर्णतः मान लेने को बाध्य नहीं होता था।

१ देखिये: यु. का. ३७।१-३
२ देखिये यु. का. ३७।७-१५

युद्ध-परिषद् युद्ध आरम्भ हो जाने के पश्चात् युद्ध-क्षेत्र में भी विभिन्न सामरिक स्थितियों पर विचार करती थी और अपने प्रधान नायक की सैन्य योजनाओं तथा युद्ध-संचालन में परामर्श देती थी।

२. युद्ध-वित्त-विभाग :—

आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा के निमित्त सेना के रख-रखाव के कारण रामायण काल में सैन्य वित्त-प्रबन्ध नागरिक वित्त-व्यवस्था से अलग होता था। सैन्य आवश्यकताओं एवं युद्ध-योजनाओं की पूर्णता हेतु वित्त-व्यवस्था अपेक्षित थी। यह विभाग सैनिकों एवं पदाधिकारियों आदि के वेतन, मृत सैनिक परिवार को आर्थिक सहायता, शस्त्रास्त्र एवं अन्य सैन्य आवश्यकताओं पर होने वाले व्यय का लेखा-जोखा समुचित ढंग से रखता था चूंकि उस युग में स्थाई सेना को रखने पर काफी जोर दिया जाने लगा था इस नाते वित्त-विभाग की व्यवस्था अपरिहार्य हो गई। अयोध्या और लंका दोनों ही जगहों पर इस विभाग की अलग व्यवस्था थी, जिसका कार्य अपने में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। नगर-रक्षा के लिए प्राकार आदि का निर्माण, रथों का निर्माण, शस्त्रास्त्रों का निर्माण एवं संग्रह, सेना के प्रयोग में आने वाले अश्व एवं हाथियों की व्यवस्था और उनकी देख-भाल व भोजन की व्यवस्था आदि सैनिकों के व्यय के विषय थे। राज्य की आय का लगभग आधा भाग सेना और उससे सम्बन्धित कार्यों पर व्यय किया जाता था। शन्ति काल में एक तिहाई और युद्ध काल में आधा अंश व्यय करने का प्राविधान था।

स्थाई सेना को शान्ति काल में भी वेतन देने की व्यवस्था थी। युद्ध काल में भृतक सेना के बढ़ जाने पर इस विभाग का कार्य और भी अधिक बढ़ जाता था। इस विभाग का मुख्य अधिकारी वित्त-सचिव होता था। रामायण में वित्त-सचिव का उल्लेख नहीं है, किन्तु, दशरथ के अमात्य 'सिद्धार्थ' का शाब्दिक अर्थ सफल व्यक्ति हो सकता है। अर्थ या धन संग्रह करने में सफलता प्राप्त व्यक्ति भी उसका अर्थ हो सकता है। अर्थ-साधक से तात्पर्य अर्थ-व्यवहार में निपुण व्यक्ति है। इस प्रकार सिद्धार्थ और अर्थ-साधक वित्त-सचिव माने जा सकते हैं, क्योंकि, इस सम्बन्ध में श्री ग्रिफिथ का कहना है कि दशरथ के तीन अमात्य सैन्य-व्यवस्था, दो अमात्य अर्थ एवं वित्त तथा दो अमात्य कानून और न्याय-विभाग का उत्तरदायित्व वहन करते थे और आठवें अमात्य के अधीन रथ आदि वाहनों का विभाग था। ग्रिफिथ महोदय[1] का कहना है कि दशरथ के अमात्यों के नाम उनके व्यक्ति नहीं हैं, अपितु उनके कार्य के सूचक हैं।

राम द्वारा चित्रकूट पर भरत से पूछे गये प्रश्नों में भी कोष सम्बन्धी बातों की झलक स्पष्ट सामने आती है। राम ने भरत से पूछा था कि हे तात् ! तुम सेना को कार्यानुरुप भोजन और वेतन यथा समय देते हो न ! तुम्हारे कोष में आमदनी अधिक और आय से कम व्यय है न (२।१००।३२-५४)। इससे सिद्ध होता है कि वित्त-विभाग की व्यवस्था अवश्य होगी। दूसरी बात यह है कि दशरथ के १८ पदाधिकारियों में दो अधिकारी इससे सम्बन्धित थे—धनाध्यक्ष और सेना को वेतन बाँटने वाला। इसकी पुष्टि हमें महाभारत से भी होती है। महाभारत[2] में शत्रु द्वारा आक्रमण की आशंका होने की संकटग्रस्त स्थिति में धन-संग्रह का उल्लेख है। ऐसे संग्रहीत धन की आपदा समाप्त होने पर जनता को वापस किये जाने का भी उल्लेख है। पाणिनि[3] ने स्पष्ट रूप से पदाति सेना तथा रथ सेना के लेखाकारों का संकेत किया है और उन्हें क्रमशः 'पत्तिगणक' तथा 'रथगणक' नाम से सम्बोधित किया है। महाभारत[4] में भी शान्ति अथवा युद्ध

---

१ पी. सी. धर्मा: 'द रामायण पॉलिटी' पृष्ठ ५१-२।
२ महाभारत शान्ति पर्व; ८७, २६,३०,३४।
३ अष्टाध्यायी; ५;१,१२९; वासुदेव शरण अग्रवालः इंडिया ऐज नोन टू पाणिनि; पृ० ४१९
४ महाभारत सभापर्व; ६१,२०।

के समय सैनिकों को नियमित मासिक वेतन भुगतान की पद्धति का उल्लेख है, जिससे नागरिक वित्त-प्रबन्ध से अलग सैन्य-वित्त-व्यवस्था की पुष्टि होती है।

३. सैन्य रसद्-विभाग—

तत्कालीन समय में प्रदाय विभाग सेना का महत्वपूर्ण अंग होता था और उसमें कई उप-विभाग होते थे जिसका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है—

(अ) **परिवहन**—इस उप विभाग का यह दायित्व था कि वह-सैन्य संचालन के मार्ग की रुकावटों को हटाये, असम भूमि को समतल बनाये तथा परिवहन के साधनों की देख-रेख करे। रामायण में नील के नेतृत्व में सैन्य संचालन मार्ग की सभी बाधाओं को अग्रगामी दस्तों के द्वारा दूर किये जाने का उल्लेख मिलता है—

अग्रे यातु बलस्यास्य नीलो मार्गमवेक्षितुम्।
वृतः शतसहस्रेणा वानराणां तरस्विनाम्॥ यु० का० ४।१०

अर्थात् मार्ग देखने के लिए सबसे आगे नील जाँय और इनके साथ एक लाख बलवान वानर सैनिक जाँय।

पुरस्ताद्दृषभो वीरो नीलः कुमुद एव च।
पन्थानं शोधयान्ति स्म वानरैर्बहुभिर्वृताः॥ यु० का० ४।३१

अर्थात् सबसे आगे नील, ऋषभ और वीर कुमुद-ये बहुसंख्यक वानरों के साथ रास्ता ठीक करते जाते थे।

उपर्युक्त प्रसंगों से सिद्ध होता है कि रामायण काल में सैन्य रसद-विभाग के अधीन परिवहन विभाग की समुचित व्यवस्था थी।

(ब) **कोष**—अभियान-रत सेना के साथ कोष का बड़ा ही महत्त्व होता था, क्योंकि युद्ध-काल में भी सैनिकों को नियमित मासिक वेतन दिया जाता था। युद्ध में रत सैनिकों को नियमित वेतन मानवीय तथा मनोवैज्ञानिक आधारों पर और अधिक आवश्यक था। लवणासुर युद्ध में शत्रुघ्न की सेना में कोष विभाग भी गया था ताकि सैनिकों को नियमित मासिक वेतन प्रदान किया जा सके।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य नियुतं पुरुषर्षभ।
आदाय गच्छ शत्रुघ्न पर्याप्तधनवाहनः॥ उत्तरकाण्ड ६४।४

अर्थात् हे पुरुश्रेष्ठ शत्रुघ्न! तुम दस लाख स्वर्ण मुद्रा लेकर जाओ। इस तरह पर्याप्त धन और सवारियाँ अपने साथ रखो।

(स) **चिकित्सा सैन्य-दलः**—चिकित्सा सैन्य दल (आर्मी मेडिकल कोर) प्रदाय विभाग का अपरिहार्य अंग होता था। युद्ध में घायल सैनिकों की चिकित्सा के लिए योग्य चिकित्सकों और शल्यकों (सर्जन) की आवश्यकता होती थी। उस समय की चिकित्सा-प्रणाली में मुख्यतः औषधियों (जड़ी-बूटियों) का प्रयोग होता था। वनों और पर्वतों में इनकी खोज की जाती थी (६।७४।२९-३२) ये जड़ी-बूटियाँ अपनी प्रभा से आस-पास के प्रदेश को आलोकित करती रहती थीं। चित्रकूट पर्वत पर ऐसी हजारों औषधियाँ उत्पन्न होती थीं, जो रात के समय चमकती रहती थी। महेन्द्र पर्वत पर सर्प-विष प्रतिरोधक औषधियाँ पाई जाती थीं[1]। कुछ औषधियाँ ऐसी प्रति-रोधात्मक (एंटीसेप्टिक) होती थीं कि उनको शरीर पर लगा देने से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रभाव

---

१ यानि त्वौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते।
विषघ्नान्यपि नागानां नशेकुः शमितुं विषम्॥ सुन्दर काण्ड १।२१

से बचा जा सकता था। त्रिशिरा आदि राक्षसों ने युद्ध क्षेत्र में जाने से पूर्व ऐसी ही औषधियों और गंधों का अपने शरीर पर लेप किया था (६।६६।१८)। रामायण काल में युद्धों का बाहुल्य था। अतः युद्ध क्षेत्र में घायल सैनिकों की चिकित्सा का विशेष प्रबन्ध रहता था। सेनाओं के साथ डाक्टर (वैद्यगण) भी जाया करते थे। भरत की सेना के साथ राम को लौटाने के लिये चिकित्सकों का एक रत्न भी गया था (२।८३।१४)। सुग्रीव के श्वसुर सुषेण एक निपुण एवं दक्षता प्राप्त शल्य-चिकित्सक (सर्जन) थे।

सुषेण की समयोचित चिकित्सा से वानरी-सेना को लंका युद्ध में बड़ा सहारा मिला था। जब-जब वानर सैनिक युद्ध में लगातार रत रहने के कारण थक जाते या हताहत हो जाते, तब सुषेण उन्हें शक्तिवर्धक जड़ी-बूटियों और रसों का सेवन कराकर उनमें नवीन आशा, बल एवं उत्साह का संचार कर देते थे। लंका-युद्ध में अनेक अवसर ऐसे आये हैं कि राम-लक्ष्मण तथा अन्य वानरों का जीवन ही सुषेण की चिकित्सा पर निर्भर हो गया। शल्य चिकित्सक सुषेण को सभी औषधियों के गुणा व गुण का तो पता था ही, उनका प्राप्ति स्थान भी वह भली-भाँति जानते थे। उनकी चिकित्सा-पद्धति की यह विशेषता थी कि वह शल्य-क्रिया से दूर होने वाले रोगों का भी औषधि द्वारा सफल उपचार कर देते थे। बह नासिका के मार्ग से शक्तिशाली औषधियों का प्रभाव सारे शरीर में पहुंचा कर रोगी को तत्काल निरोग कर देते थे।

जब इन्द्रजीत ने राम-लक्ष्मण को घायल कर दिया, तब सुषेण ने हनुमान को हिमालय पर्वत से मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और संधानी नाम की चार महाऔषधियों[1] को लाने की आज्ञा दी। मृतसंजीवनी-मूर्छा दूर करके चेतना प्रदान करने वाली, विशल्यकरणी-शरीर में धँसे हुए वाणों आदि को निकालकर घाव भरने वाली और पीड़ा दूर करने वाली, तो सुवर्णाकरणी शरीर में पहले की सी रंगत लाने वाली तथा संधानी टूटी हड्डियों को जोड़ने वाली औषधि थी। इनका गंध लेकर दोनों राजकुमार पूर्णतः स्वस्थ हो गये, उनके शरीर के घाव भर गये। यही नहीं, जितने भी वानर-वीर मूर्छित हुए थे, वे सभी निरोग हो गये और उनमें नयी ताजगी आ गयी। इसी प्रकार जब रावण के शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण बेहोश हो गये तब सुषेण ने उपर्युक्त चारों औषधियों को हनुमान द्वारा महोदय गिरि से मँगाकर पीसा और लक्ष्मण की नाक में सुंघाया। गंध को सूँघते ही लक्ष्मण की सारी पीड़ा दूर हो गयी (६।१०१।४५)।

हनुमान ने अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिये विश्व-भ्रमण किया था। विभिन्न देशान्तरों से परिचित होने के कारण वानरों को औषधियों और उनके प्राप्ति-स्थानों का भली-भाँति पता था। सच तो यह है कि वानर उस युग के श्रेष्ठ चिकित्सक थे। राम की सेना में घायल सैनिकों की युद्ध-क्षेत्र में तत्काल मरहम पट्टी कर दी जाती थी। जब इन्द्रजीत के ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से समस्त वानरी सेना निष्प्राण हो गई तब हनुमान विभीषण हाथ में मशाल लिये समस्त रण-भूमि में विचरने लगे और घायल सैनिकों को आश्वासन देकर प्राथमिक उपचार करने लगे।[2] सुग्रीव ने अपने श्वसुर शल्य चिकित्सक सुषेण को आज्ञा दी कि आप घायल राम-लक्ष्मण को उचित उपचार हेतु किष्किधा ले जायँ (६।५०।२४)। इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि किष्किधा में वानरों की बहुत बड़ी विकसित चिकित्सा-व्यवस्था होगी जहाँ के मुख्य चिकित्साधिकारी सुषेण थे। लेकिन सुषेण ने दोनों राजकुमारों को किष्किधा ले जाना उचित न समझा और हनुमान द्वारा पुनः औषधियों को मँगाकर दोनों में नयी ताजगी का संचार कर दिया।

---

१ देखिये बा. रा. ६।७४।३३

२ द्खिये बा. रा. ६।७४-६-७

तत्कालीन चिकित्सक शल्य-चिकित्सा से भी अनभिज्ञ नहीं थे। शल्य चिकित्सक (सर्जन) 'शल्यकृत' कहलाते थे। उन्हें गर्भाशय की शल्य-क्रिया करने का ज्ञान था। यह अनुमान सीता की एक उक्ति से लगाया जा सकता है। लंका में उन्होंने अपनी असहाय अवस्था पर विलाप करते हुए कहा था—

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे गर्भस्थजन्तोखि शल्यकृन्तः।
नूनं ममांगान्यचिरादनार्यः शरैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः ॥५।२८।६

अर्थात् यदि राम समय पर आकर मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो अनार्य रावण मेरे अंगों को शीघ्र पैने वाणों से वैसे ही काट डालेगा, जैसे शल्य-चिकित्सक गर्भ-स्थित बालक को निकालने के लिये गर्भ को तेज औजारों से काट डालते हैं। इससे ध्वनित होता है कि कठिन प्रसव की दशा में शल्य-चिकित्सक गर्भाशय की शल्य-क्रिया करते थे।

उपर्युक्त प्रसंगों से यह सिद्ध हो जाता है कि रामायण काल में युद्ध क्षेत्र में सेना के साथ चिकित्सा सैन्य दल भी जाता था।

(द) **शिल्पी तथा दक्ष श्रमिक**—शिल्पियों तथा दक्ष-श्रमिकों की आवश्यकता शिविरों की स्थापना करने तथा सेना के अधिकारियों के लिए सुविधाजनक आवासों की व्यवस्था करने में पड़ती थी। भरत की सेना में चित्रकूट तक शिल्पी तथा दक्षता प्राप्त श्रमिक भी गये थे। इसकी पुष्टि हमें महाभारत[१] में वर्णित कौरवों तथा पाण्डवों के स्कंधावार से भी होती है जो किसी प्रकार भी सुनियोजित नगरों से कम नहीं थे, क्योंकि उनमें योद्धाओं के लिए सभी प्रकार के आनन्द और उपभोग की सुविधाएँ उपलब्ध रहती थी, जहाँ युद्ध में भाग लेने के पश्चात् वे नृत्य, गीत तथा संभोग का आनन्द लिया करते थे। उसी प्रकार रामायण काल में इसकी समुचित व्यवस्था परिलक्षित होती है। लवणासुर युद्ध में शत्रुघ्न की सेना में मनोरंजन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध थीं (७।६४।२-३)।

(य) **आपूर्ति**—आपूर्ति उप विभाग में जिम्में भोजन, जल, दूध, मांस मक्खन, मदिरा तथा सेना के उपयोग की अन्य वस्तुओं की पूर्ति करने का गम्भीर उत्तरदायित्व रहता था।

४. आयुधागार—

सैनिक शस्त्रास्त्रों के भण्डार की देख-रेख करने तथा विभिन्न प्रकार के हथियारों के एकत्रित करने और युद्ध में खराब हो जाने वाले शस्त्रास्त्रों की मरम्मत करने वाले विभाग को आयुधागर कहा जाता था। इस विभाग के जिम्में शस्त्रास्त्रों, विभिन्न प्रकार के संयंत्रों तथा कूटयुक्तियों के निर्माण तथा भंडारण का कार्य होता था। रामायण में युद्ध में प्रयुक्त होने वाले सामान्य आयुधों का अनेकशः उल्लेख मिलता है[२]। सामान्य हथियारों में तलवार, मुद्गर भाला, मूसल, चक्र तथा अन्य तीक्ष्ण शस्त्रों का संकेत मिलता है, यद्यपि धनुष-बाण उस काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सामान्य हथियार था। महाभारत[३] में भी प्रायः इन्हीं हथियारों का उल्लेख मिलता है। पाणिनि[४] ने भी धयुष, तीर भाला, कुल्हाड़ी, तलवार तथा प्राश को युद्ध के सामान्य आयुध बतलाया है।

---

१ महाभारत, उद्योगपर्व, १९६।१८-१९।
२ देखिये: अरण्यकाण्ड २२।१८-१९; यु० का० ९५।२४-२५
३ देखिये: महाभारत; द्रोणा: १५६,१४०,४२
४ वासुदेव शरण अग्रवाल: इंडिया ऐज नोन टू पाणिनि; पृ० ४२१-२२

आयुधों के निर्माण के प्रसंग में रामायण में यह संकेत मिलता है कि स्त्रियाँ हथियारों के आविष्कार और निर्माण में दक्ष होती थीं[1]। अर्थशास्त्र के अनुसार आयुधागार में किलो तथा अन्य भवनों की रक्षा और विनाश के लिए चालन-यन्त्र युक्त कपटयुक्तियों, धनुषों, बाणों, तलवारों, पाषाणों, अनेकानेक फलकों तथा तेज अस्त्रों और लौह तथा चर्म-कवचों का प्रचुर भंडार होता था[1]। इस विभाग का मुख्य अधिकारी आयुधागाराध्यक्ष होता था। यही राज्य का एकमात्र शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाला विभाग होता था।

५. गुप्तचर-व्यवस्था—

युद्ध में गुप्तचर-व्यवस्था सैनिक-संगठन की एक विशिष्ट अंग होती थी। इसी सूत्र से संग्रहीत सूचनाओं के आधार पर ही राज्य की नीति तथा सेना की गतिविधि निर्धारित होती थी। गुप्तचर-व्यवस्था रामायण-काल से भी पहिले स्थापित हो चुकी थी। इस विभाग की व्यवस्था की पुष्टि के प्रमाण ऋग्वेद में भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है कि देवगण लोक के विषय की सूचना प्राप्त करने के लिए 'चर' रखते थे। 'चर' इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा रखते थे। इसके आधार पर 'चर लोग अपने स्वामी को तदनुसार सूचना दिया करते थे'[2] इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में आर्य राजा भी अपने अधीन प्रजा के सुख-दुःख जानने के लिए 'चर' रखते थे। चर प्रत्येक समय अपने इस कर्त्तव्य—पालन में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्य राज्यों में चर-व्यवस्था का उदय हो गया था।

वेदों में चर को 'स्पश' नाम से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में वरुण देव अपने 'स्पश' समूह से घिरे हुए वर्णित हैं[3]। दूसरे स्थान पर वरुण देव अपने स्पशों के मध्य चारों ओर से घिरे हुए बैठे हैं, ऐसा दृश्य दिखलाया गया है[4]। इसी वेद के एक अन्य प्रसंग-स्थल पर इन्द्र अपने स्पशों के मध्य बैठे हुए दिखलाये गये हैं[5]। अथर्ववेद के एक प्रसंग में वरुण देव की ओर संकेत करते हुए बतलाया गया है कि उनके 'स्पश' अपनी सहस्रों आँखों से प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते हुए पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं[6]। अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग स्थल पर रुद्र के 'स्पश' पद-पद पर स्थित बतलाये गये हैं[7]।

इस प्रकार वेदों में आये हुए इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में भी 'स्पश' होते थे जो प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते थे और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के "यम-यमी" नामक एक सूक्त है। इस सूक्त में यम और यमी इन दोनों व्यक्तियों का संवाद है। इसका विषय काम-वृत्ति की तृप्ति है। यमी की यम से याचना है और यम का उसकी याचना को निठुरता पूर्वक ठुकरा देना है। यम और यमी भ्राता और भगिनी है। वे निर्जन स्थान में हैं। इस प्रसंग में काम-वेदना से विशेष व्यथित होने के कारण यमी का विवेक नष्ट हो गया है। यमी-यम से अनुनय-विनय पूर्वक स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करती है कि वह उसकी कामना को शान्त कर देने की कृपा करे। परन्तु यम

---

१ जया सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सूतेऽस्त्राणि शस्त्राणि शतं परमभास्वरम्।। बालकाण्ड २१।१५

२ अर्थशास्त्र; २,१८

३ ऋग्वेद, ८।१०।१०

४ ऋग्वेद १३।२५।१।

५ ऋग्वेद ३।८७७।

६ ऋग्वेद ८।३३।१।

उसके समक्ष लोकापवाद का भय प्रस्तुत करता है और इस प्रकार उसकी काम-तृप्ति सम्बन्धी याचना को ठुकरा देता है। ऐसा देखकर यमी यम से पुनः याचना करती हुई कहती है कि वह निर्जन स्थान में उसकी कामना शान्त कर दे और इस प्रकार उसके इस कार्य के देखने एवं सुनने का अवसर किसी अन्य प्राणी को न मिल सके। ऐसी दशा में लोकापवाद का लेश मात्र भी भय नहीं है। यमी के इस सुझाव को अस्वीकार करता हुआ यम उससे कहता है—देवों के 'स्पश' प्रत्येक स्थान-पर हर समय भ्रमण करते रहते हैं। वे प्राणियों के सभी शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते हैं और उसकी सूचना अपनी स्वामी तक पहुँचाते रहते हैं। अपने इस कर्त्तव्य-पालन में वे लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करते[1]। इस प्रकार प्राप्त सूचना के आधार पर प्राणियों के सम्बन्धित शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें फल मिला करते हैं।

ऋग्वेद के उपर्युक्त 'यम-यमी' सूक्त के आधार पर इस विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि वैदिक आर्य इस व्यवस्था से भली भाँति परिचित नहीं थे। इससे सिद्ध होता है कि रामायण काल से पूर्व ही गुप्तचर-व्यवस्था का उदय हो चुका था। साथ ही उक्त प्रसंग से यह भी पता चलता है कि चारों का इतना आंतक था कि लोग काम-वृत्ति में भी उनसे डरते थे। यह चर-व्यवस्था के महत्त्व और सक्रियता का द्योतक है।

रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन समय में गुप्तचरों को 'चर', 'चार', प्रणिधि', चारक अथवा चारण कहा जाता था। भारत के प्राचीन राजनीतिकारों ने चरों को राजतन्त्र के लिए अनिवार्य बताया है। अयोध्या और लंका में अपना एक अलग नियमित गुप्तचर विभाग था, जो आधुनिक समय के सी० आई० डी० विभाग का समकक्ष माना जा सकता है। दशरथ के मंत्रिजन चरों द्वारा शत्रुओं की गतिविधि से अपने को अवगत रखते थे—

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा।
क्रियमाणां कृतं वापि चरेणापि चिकीर्षितम्॥ बालकाण्ड ७।९

अर्थात् अपने या शत्रुपक्ष के राजाओं की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते हैं, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें गुप्तचरों द्वारा उन्हें मालूम रहती थीं।

अयोध्या-नृपति दशरथ गुप्तचरों द्वारा अपने और शत्रु-राज्य के वृत्तान्तों पर दृष्टि रखते, थे, प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करते तथा प्रजा-पालन करते हुए अधर्म से दूर ही रहते थे (१।७।२१)। राम ने भरत से राजनीतिक प्रश्नों के दौरान चित्रकूट पर पूछा था क्या तुम शत्रुपक्ष के अठारह और अपने पक्ष के पंद्रह तीर्थों की तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरों द्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो (वेत्सि तीर्थानि चारणैः २।१००।३६)?

इन प्रसंगों से स्पष्ट पता चलता है कि राजा को व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा जन-हित का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। जन-मत के सामने उसे झुकना पड़ता था। राजा समस्त प्रजा का संरक्षक होता था; धर्मानुसार न्याय-वितरण करना उसका कर्त्तव्य था। राज्य के भीतर कहीं पाप की प्रबलता होने पर, कहीं महामारी होने पर, कहीं संघर्ष, अशान्ति या अकाल-मृत्यु होने पर तथा कहीं प्रजागण के मानव-जीवन के आध्यात्मिक आदर्श से च्युत होने पर सत्पुरुष राजा को ही उत्तरदायी मानते थे। वे ऐसा निश्चय करते थे कि राजा के जीवन में अवश्य कहीं अधर्म को आश्रम मिला है। जिस प्रकार राजा प्रजा का निर्णायक था, वैसे ही प्रजा भी राजा की निर्णायिका थी। सम्भवतः इसी कारण गुप्तचरों द्वारा इसका संवाद प्राप्त करना तथा उसके अनुसार अपने

१ ऋग्वेद ४।१६।४।
२ अथर्ववेद ६।६।५।
३ ऋग्वेद ८।१०।१०।

आचरण का संशोधन करना या अपने को दण्ड देना राजा का विशेष कर्त्तव्य माना जाता था, क्योंकि, राजा का जीवन आदर्श होने पर तथा राजा और प्रजा के बीच सुमधुर सम्बन्ध प्रतिष्ठित होने पर ही राष्ट्र का अभ्युदय हो सकता है।

लंका में रावण का एक गुप्तचर विभाग अलग था जो सैनिक एवं नागरिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था। शूर्पणखा ने लंकेश को गुप्तचर व्यवस्था क्रियाशील रखने की आवश्यकता समझाई थी, क्योंकि—"चारेणा तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ३।३३।१०) अर्थात् गुप्तचर ही राजा को दीर्घ दृष्टि प्रदान करते हैं, इसीलिये वे दीर्घदर्शी या दूरदर्शी या कहलाते हैं। शूर्पणखा गुप्तचर व्यवस्था के महत्व पर प्रकाश डालते हुए पुनः रावण से कह उठती है—'विजयी वीरों में श्रेष्ठ निशाचरपते ! तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है। जिन नरेशों के गुप्तचर, कोष और नीति—ये सब अपने अधीन नहीं हैं, वे साधारण लोगों के ही समान हैं। मैं समझाती हूँ, तुम गवाँर मन्त्रियों से घिरे हुए हो, तभी तो तुमने अपने राज्य के भीतर कहीं भी गुप्तचर नियत नहीं किये। इसी से तुझे जनस्थान वासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल मालूम नहीं। अकेले आर्य राम ने खर-दूषण सहित १४००० सैनिकों को यम-लोक पहुँचा दिया जनस्थान उजाड़ डाला और वहाँ शान्ति स्थापित कर दी, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं लगा है (३।३३।९-१३)।

उपर्युक्त प्रसंग से यह ध्वनित होता है कि इसके पूर्व लंका में गुप्तचर विभाग सक्रिय नहीं था और न रावण का झुकाव ही इस तरफ था क्योंकि जनस्थान की घटना से शूर्पणखा के बताने से पूर्व अवगत नहीं था। घटना घटित हो जाने के बाद रावण का गुप्तचर विभाग सक्रिय हुआ, फिर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि अनार्यों में भी गुप्तचर-व्यवस्था थी।

सीता हरण के बाद लंका नरेश रावण ने आठ जासूसों (चर) को इस काम में लगा दिया था कि राम-लक्ष्मण की गति-विधि की सूचना बराबर देते रहें और राम के वध के लिए सदा प्रयत्नशील रहें (३।५४।२६-२७)। शत्रु सेना में भेद-नीति द्वारा फूट डालने की युक्ति का राक्षस प्रायः आश्रय लिया करते थे। राम और सुग्रीव में फूट डालने के लिए रावण ने अपने गुप्तचर शुक को नियुक्त कर रखा था (६।२०।८-१५)। राम की सेना का वलाबल जानने के लिए भी उसने शुक, सारण और शार्दूल के नेतृत्व में कई गुप्तचरों को भेजा था। शार्दूल तो बहुत दक्षता प्राप्त गुप्तचर था। उसने बड़ी सावधानी से वानरी सेना का सारा वृतान्त (जो समुद्र तट पर टिकी हुई थी) अपनी आँखों से देख लौट गया और रावण को सूचित किया था (६।६।१-६)।

शुक और सारण के लौटाने के बाद रावण ने महोदर से कहा—

उपस्थापय में शीघ्र चारान्नीतिविशारदान् यु. का. २९।१७ अर्थात् तुम नीति विशारद चरों को तुरन्त हाजिर करो ! आज्ञानुसार गुप्तचर तुरन्त ही लंकेश के सामने उपस्थित हुए। लंकेश रावण ने चरों को आदेश दिया कि तुम लोग राम के पास जाओ और पता लगाओ कि, उनका इरादा किस समय क्या-क्या करने का है। उनके अन्तरंग मन्त्री जो प्रीतिवश उनके साथ आये हैं, उनके कामों की भी टोह लगाना। राम क्या अकेले सोते हैं अथवा वे सोते हैं और अन्य लोग सोने के समय जाग कर उनकी रखवाली करते हैं ? आगे वे क्या करने वाले हैं—इन सब बातों का विधिवत् पता लगा कर हमें सूचित करो[1]।

---

१ इतो गच्छत रामस्य व्यवसायं परीक्षथ।
मन्त्रिष्वभ्यन्तरा येऽस्य प्रीत्या तने समागताः ।। यु० का० २९।२०
कथं स्वपिति जागर्ति किमन्यच्च करिष्यति।
विज्ञाय निपुणा सर्वमागन्तव्यमशेषतः ।। यु० का० २९।२१

यह प्रसंग युद्धकालीन गुप्तचर व्यवस्था की सक्रियता तथा चरों के कार्यों पर विधिवत् प्रकाश डालता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि युद्ध-काल में शत्रु की गति-विधि से अवगत रहने के लिए गुप्तचर सेना के एक अपरिहार्य अंग होते थे।

(क) गुप्तचर के भेद—

रामायण काल में दो प्रकार के चर माने जाते थे-नागरिक गुप्तचर और सैनिक गुप्तचर। उत्तरकाण्ड में जिन जासूसों से राम को सीता विषयक लोकापवाद की सूचना मिली थी, वे नागरिक गुप्तचर थे। सुग्रीव ने भी हनुमान् को ऐसा गुप्तचर बनाकर राम लक्ष्मण का मनोभाव जानने के लिए भेजा था। नागरिक गुप्तचरों को संस्था चर भी कहा जाता था, क्योंकि, इनका काम अपने राज्य के अन्तर का ही समाचार एकत्रित करना था। इसमें आचार्य कौटिल्य के अनुसार पाँच प्रकार के चर होते थे[1]—

(१) **कापटिक**—दूसरों के गुप्त रहस्यों को जानने वाला तथा छद्मवेष में रहने वाला गुप्तचर। इसे हम कपट वेषधारी गुप्तचर भी कह सकते हैं।

(२) **उदास्थित**—बुद्धिमान, पवित्र तथा संन्यासी वेष में रहने वाले गुप्तचर। इन्हें संन्यासी वेषधारी भी कहा जा सकता है। राम-लक्ष्मण के मनोभाव को जानने के लिए सुग्रीव के आदेशानुसार हनुमान् संन्यासी वेष में हो गये थे—

> कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः।
> भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥ कि० का० ३।२

अर्थात् हनुमान् ने यह सोच कर कि मेरे इस कपिरूप पर किसी का विश्वास नहीं जम सकता, अपने उस रूप का परित्याग करके भिक्षु (संन्यासी) का रूप धारण कर लिया।

(३) **गृहपतिक**—बुद्धिमान, गरीब किसान के वेष में रहने वाला गुप्तचर। इन्हें गृहस्थ वेषधारी भी जा सकता है।

(४) **वैदेहक**—बुद्धिमान, पवित्र हृदय, गरीब व्यापारी के वेष में रहने वाला गुप्तचर। इन्हें बनिया वेषधारी भी कहा जा सकता है।

(५) **तापस**—मुण्ड अथवा तपस्वी वेष में रहकर, जीविका के लिए राजा का काम करने वाला गुप्तचर।

साथ ही उच्च कर्मचारियों की शुद्धता का पता लगाने तथा दूसरे राज्यों में जाकर कार्यों का सम्पादन करने वाले चरों को संचार चर कौटिल्य ने कहा है। इनमें खत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी आदि नामक चर होते थे। इनकी व्याख्या आचार्य कौटिल्य ने निम्न प्रकार की है[2]।

खत्री—राजा के सम्बन्धी जिनका पालन पोषण राजा के द्वारा हो और अनेक प्रकार की विद्याओं, शास्त्रों, आदि के ज्ञाता गुप्तचर।

तीक्ष्ण—अपने देश के निवासी, वीर, योद्धा, शरीर की चिन्ता न करने वाले, द्रव्य हेतु हिंसक प्राणियों का सामना करने वाले गुप्तचर।

रसद—अपने कुटुम्बियों में स्नेह न रखने वाले, क्रूर स्वभाव वाले, उत्साह रहित, गुप्तचर। ये किसी को विष तक देने में संकोच नहीं कर सकते।

भिक्षुकी—जो भिक्षा माँगने वाली के रूप में चरों का कार्य करती थीं। जीविका भोग

---

१ अर्थशास्त्र १।११-१२
२ वही १।११-१२

की कामना करने वाली, दरिद्र, प्रौढ़, विधवा ब्राह्मणी अन्तःपुर में सम्मान पाई हुई जो प्रधान आमात्यों के घर अधिक जाती थी परिव्राजिका कहलाती थी। ये स्त्री चर थीं।

तत्कालीन सैनिक गुप्तचरों का दायित्व अधिक कठिन था। उन्हें सदा राजभक्त, वीर और निर्भय बने रहना पड़ता था। "चरन्प्रत्यायिकान् शूरान् धीरान् विगतसाध्वसान् (६।२६।१८)।" शत्रु सेना का बलाबल जानने के लिए राजा और सेनापति उन्हीं पर निर्भर रहते थे। लंका के सुरक्षा-साधनों का पता लगाने के लिए राम ने विभीषण के अमात्यों से जासूसी कराई थी।

इसी प्रकार मनु ने पंचवर्ग गुप्तचर, अग्निपुराण में तथा शुक्रनीति में भी चरों के विभिन्न भेद बताये हैं जो रामायण और कौटिल्य के भेदों से अधिक मिलते जुलते से ही हैं।

(ख) योग्यता—आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि जो व्यक्ति सद्वंशजात, राजभक्त, विश्वसनीय, देशों और व्यापारियों के अनुकूल वेष-परिवर्तन करने में निपुण तथा अनेक भाषाओं, कलाओं के ज्ञाता हों उन्हें चर बनाना चाहिए। लंकेश रावण ने भी इसी का समर्थन किया है (६।२६।१६)।

इस प्रकार गुप्तचर व्यवस्था सैन्य संगठन का एक विशिष्ट अंग होता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि युद्ध काल में चर-व्यवस्था का उपयोग शत्रु की योजनाओं तथा सैन्य गतिविधियों के विषय में ठीक सूचना प्राप्त करना, गुप्त युक्तियों से शत्रु पक्ष को हतोत्साहित करने, तथा सेनाओं के आत्मसमर्पण के लिए अनेक युक्तियों के करने में किया जाता था।

(ग) रामायणकालीन शस्त्रास्त्र

रामायणकाल में युद्ध को राजनीतिक ही नहीं, वरन्, धार्मिक कर्त्तव्य भी माना जाता था। अपने इस कर्त्तव्य के कुशल पालन, उसके प्रति जागरुकता लौकिक लाभों के साथ-साथ पारलौकिक लाभों (पुण्यों) का सृजन करती थी। वैदिक युग से ही युद्ध भारतीय राजनीतिक अभिन्न अंग बन चुके थे। युद्ध में विजय और सफलता अस्त्र-शस्त्र के कुशल प्रयोग और रणनीति के सफल वैज्ञानिक संचालन पर निर्भर करती थी। युद्ध और अस्त्र-शस्त्र का अन्योन्य सम्बन्ध था। युद्धों की बहुलता ने जहाँ रणनीति को प्रभावित किया और उन्हें नियमित करने की प्रेरणा दी थी, वहीं युद्ध भूमि में मिलने वाली जय-पराजय ने अस्त्र-शस्त्र के विकास, नूतन प्रयोगों और अनुसंधानों के लिए भी समान रूप से प्रेरणा दी। हमारे रामायण-कालीन ग्रन्थों में जिस प्रकार के अमोघ तथा विचित्र अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है, वह आज के आधुनिक युग के लिए भी एक चुनौती है। यद्यपि आधुनिक युद्ध विज्ञान में प्रायः सभी देशों के प्राचीन अस्त्र-शस्त्र आज अनुपयोगी हो गये हैं, किन्तु, वर्तमान नवीनतम अस्त्रों के क्रम विकास की एक उल्लेखनीय कड़ी के रूप में प्राचीन भारत के शस्त्रों का अध्ययन रोचक एवं ज्ञानवर्धक तथ्य प्रस्तुत करता है। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार भारत में आर्य जाति को प्रति इंच भूमि के लिए लड़ना पड़ा था, अतः उस काल में दोनों ही प्रकार के आयुधों का प्रयोग था—प्रहारक शस्त्र और संरक्षक शस्त्र।

रामायण कालीन युद्धों में ऐसे विचित्र, शक्तिशाली व बहुलशस्त्रों का वर्णन मिलता है जो अकल्पनीय लगते हैं। इस काल में जहाँ वानरों द्वारा आदिम-मानव के युद्धास्त्रों का प्रयोग मिलता है वहाँ राक्षसों द्वारा आधुनिक युद्धास्त्रों के प्रयोग के उदाहरण प्राप्त होते हैं। बानर अपने दाँतों, नखों, थप्पड़ों और मुक्कों एवं वृक्षों, पत्थरों आदि का शस्त्रों के रूप में प्रयोग करते थे। राम-रावण युद्ध में राम की सहायता में मित्र वानरों ने जो युद्ध कौशल दिखलाया वह वास्तव में अद्वितीय तथा अद्भुत है। बाघ से पैने दाँतों और नखों से उनकी आकृति विकृत तथा रोंगटे खड़े कर देने वाली हो जाती थी। वास्तव में वानरों के नख और दंत ही उनके प्रिय आयुद्ध थे। बालि

और सुग्रीव ने लड़ते समय नखों तमाचों लातों और हाथों की मारों का खुलकर प्रयोग किया था। बानरो के बज्र तुल्य घूसों और तमाचों की मार खाकर राक्षस लोग खून उगलने लगते थे, उनके मुँह और नेत्र फट जाते थे, छाती, बाहु और कमर टूट जाती थी। धूम्राक्ष (राक्षस-सेनापति) के के साथ युद्ध करते समय बानरों ने बहुत से राक्षसों की बगलें फाड़ दीं, नखों से मुख नोच लिया, और बहुतों को दाँतों से काटकर घायल कर दिया। हनुमान द्वारा रावण की छाती में घूँसा मारे जाने पर वह घुटने के बल गिर कर बेहोश हो गया और मुँह से खून उगलने लगा। हनुमान ने वृक्ष प्रहार द्वारा मेघनाद के रथ को चकनाचूर कर दिया था।

बानरों ने अपने भयानक शत्रु के विशेष युद्ध-कौशल और अस्त्र-शस्त्र से विजय प्राप्त कर विश्व इतिहास में अद्वितीय कार्य किया। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब राक्षसों के पास अत्यन्त भयानक यांत्रिक शस्त्रास्त्र थे और उनके बल पर वे अपनी विश्व-विजयी पताका रहे थे, तब निःशस्त्र बानर केवल, वृक्षों, पत्थरों, मुक्कों आदि से ही युद्ध कर कैसे विजयी हुए ? राक्षसों ने बानरों से युद्ध करते समय जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया उनकी भयानकता आज के बड़े-बड़े भयानक आणविक अस्त्रों से किसी प्रकार कम न थी। पर राम और रावण के मध्य प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्र दुर्लभ थे। रावण ने राम की सेना पर श्वान-कुक्कुटमुख, मकरमुख, सर्पमुख, खरमुख तथा वराहमुख जैसे विध्वंसक यन्त्रों का प्रयोग किया था। इन यन्त्रों के सम्बन्ध में श्री ग्रिफिथ का कथन है कि ये एक प्रकार के साग्रामिक इंजन थे। इंगलैण्ड के सम्राट एडवर्ड प्रथम ने चीन को घेरते समय ऋक्षमुखास्त्र (वारवाल्फ) का प्रयोग किया था। उन पर आक्रमण के समय (केट हाउस) व 'सा' का प्रयोग एडवर्ड तृतीय ने किया था।

तत्कालीन समय में शस्त्रास्त्रों की सैकड़ों-हजारों किस्में थीं। धनुष भी अनेक प्रकार के थे। बाण भी विभिन्न प्रकार के थे। इतना ही नहीं उस समय शब्दवेधी बाण भी मौजूद थे। इसी को महाराज दशरथ ने श्रवण कुमार पर चलाया था। ऐसे विशेष अस्त्र भी थे जिनसे साधारण अस्त्र व्यर्थ हो जाते थे। इन्हें दिव्यास्त्र कहते थे। रामायण कालीन आयुधों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—अस्त्र और शस्त्र। स्वचालित यन्त्रों को (चक्रादि) अस्त्र और हाथ से चलाये जाने वाले आयुधों को शस्त्र कहा जाता था।

धनुर्वेद के अनुसार भी आयुधों में मुख्यतः दो विभाजन थे—अस्त्र और शस्त्र। स्वचालित यन्त्रों को (चक्रादि) अस्त्र और हाथ से चलाने वाले आयुधों को शस्त्र कहा गया है। यदि विस्तार पूर्वक देखा जाय तो आयुधों के चार भेद थे—(१) मुक्त-स्वचालित आयुध (चक्रादि) अर्थात् अस्त्र (२) अमुक्त-तलवार, गदा आदि जो हाथ से चलाये जाते थे (३) मुक्तामुक्त-भाले आदि ऐसे यन्त्र जो दूर से मन्त्रमुक्त-मंत्र द्वारा अभिमंत्रित शस्त्र, विशेषकर बाण आदि। बाणों को विशेष साधना के उपरान्त मंत्र से अभिमंत्रित कर प्रयोग किया जाता था, इस क्रिया में कुछ ही सिद्धि प्राप्त कर पाते थे और इन अस्त्रों का प्रयोग भी विशेष स्थिति में ही होता था।

रामायण से हमें तत्कालीन समय के अद्भुत अस्त्र-शस्त्रों का पता लगता है। जब राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र अपने यज्ञ के रक्षार्थ ले जा रहे थे, तब ताड़का वध और राम के गुणों से प्रसन्न होकर प्राप्तः काल उन्होंने राम को अनेक नवीन प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की शिक्षा दी—

हे राम ! "मैं अत्यन्त दिव्य दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र और भयानक ऐन्द्रचक्र देता हूँ। इन्द्र का वज्रास्त्र शिव का श्रेष्ठ त्रिशूल तथा ब्रह्माजी का ब्रह्मशिर, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र तथा दो गदाएँ जो बहुत चमकदार हैं, जिनका नाम मोदकी और शिखरी है, तुम्हें प्रदान करता हूँ। हे नरश्रेष्ठ ! धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, तथा सूखी और गीली दो प्रकार की अशनि (वैद्य-

तास्त्र) पैनकास्त्र, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र तथा शिखरास्त्र, बायव्यास्त्र, जो अस्त्रों में प्रधान है, तुम्हें अर्पणा करता हूँ। म्यशिर, क्रौंचास्त्र, तथा दो शक्तियाँ, कंकाल, भयानन्द, मुशल, कपाल, किंकिणी, नन्दनास्त्र, खड्ग, गन्धर्वों का मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र, नाराच, परशु, मयामय, तेजप्रभ, शिशिर, दारुण, त्वष्टा, मोहन, तामस सौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्यास्त्र, तोमरास्त्र तथा मनु का शीतेषु आदि अस्त्रों को प्रदान करता हूँ हे राम तुम इन दिव्यास्त्रों को ग्रहण करो" (१।२७।४-२०)।

इस प्रकार विश्वामित्र के पास कुल-परम्परागत पचपन असाधारण अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह था, जो उस समय दुर्लभ थे तथा जिनका प्रयोग करने वाला युद्ध में अजेय बन सकता था। विश्वामित्र ने अस्त्रों की संहारविधि (अर्थात् अस्त्र चला कर उसे वापस लेने की विधि) पर भी विधिवत प्रकाश डाला है। विश्वामित्र ने राम से कहा—तुम अस्त्र विद्या के सुयोग्य पात्र हो; अतः निम्नांकित अस्त्रों भी ग्रहण करो—

सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख अवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढनाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, विमन नैराश्य, दैव्य, प्रमाथी, योगन्धर, विनिद्र, शुतिवाहु, महाबाहु, निष्कलि, विरुच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान्, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रति, धन,धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जृम्भक, सर्पनाथ, पन्थान और वरुण अस्त्रों के चलाने और लौटाने को प्रक्रिया बताई (१।२८।४-१०)।

उपर्युक्त विवरणों से हमें रामायण युगीन अस्त्र-शस्त्र की पूरी जानकारी हो जाता है। आगे हमे कुछ उन मंत्रयुक्त (दिव्यास्त्रों) का परिचय प्राप्त करना है, जो तत्कालीन युग में आधुनिक विध्वंसकारी न्यूक्लियर अस्त्र के समान थे।

(१) **ब्रह्मास्त्र**—ब्रह्मास्त्र की सर्वप्रथम चर्चा आदि कवि ने अपने ग्रन्थ में की है। ब्रह्मास्त्र का क्या आकार प्रकार था, उस सम्बन्ध में तो महर्षि बाल्मीकि ने कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु, उसके अमोघ प्रभाव के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर विस्तृत विवरण दिये गये हैं। इस अस्त्र के आविष्कर्ता अथवा प्रदाता लोक-पितामह भगवान ब्रह्मा थे। त्रिदेवों में सर्वश्रेष्ठ एवं सृष्टिकर्त्ता होने के नाते उनके इस अस्त्र का बड़ा ही सम्मान था। यद्यपि इन तीनों प्रमुख देवताओं के पास भी इसी प्रकार के एक-एक विश्वजयी अमोघ अस्त्र थे, तथापि ब्रह्मा के इस न्यूक्लियर (नाभिक) अस्त्र की मर्यादारक्षा का विष्णु एवं शंकर को भी सदैव ध्यान रखाना पड़ता था। यहाँ तक कि भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र तथा शंकर के त्रिशूल अथवा पाशुपत अस्त्र की महिमा भी न्यूक्लियर ब्रह्मास्त्र के सामने नहीं ठहरती थी। ऐसे भी अवसर आये हैं जब स्वयं विष्णु अथवा उनके अंशभूत रामचन्द्रादि तथा शंकर एवं उनके अंशभूत हनुमान् आदि को ब्रह्मास्त्र की मर्यादारक्षा के लिए विवश होना पड़ा है।

रामायण में ब्रह्मास्त्र की चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है। दशानन के अप्रतिम वीर पुत्र मेघनाद ने अपनी दुर्द्धर्ष तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न करके इस अमोघास्त्र की प्राप्ति की थी। जिस समय हनुमान् सीता को ढूँढ़ निकालने के लिए लंका पहुँचे और अशोक वाटिका में सीता से उनकी भेंट हुई, उस समय सीता की रखवाली करने वाली राक्षसियों ने दशानन को लंका में रामदूत के रूप में हनुमान् की उपस्थिति की भयदायिनी सूचना दी। हनुमान इसके पूर्व ही सीता की आज्ञा प्राप्त कर, अशोक-वाटिका को उजाड़कर तथा उसके रक्षकों को मौत के घाट उतार अपनी क्षुधा मिटाने के साथ आतंक जमा चुके थे। रावण के कनिष्ठपुत्र अक्षय कुमार का वध

करते ही उनके पराक्रम की समूची लंका पर धाक जम गई। फलतः रावण ने हनुमान् के निग्र-हार्थ अपने पुत्र मेघनाद को भेजा। मेघनाद ने आते ही समझ लिया कि इस उत्पाती वानर को वश में करना सरल काम नहीं है। अतः उसने अपने अमोघअस्त्र ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर हनुमान् बन्दी बना लिया। अस्त्र की मर्यादा के अनुसार उनका सारा बल-पराक्रम निष्फल हो गया। इस प्रसंग से प्रकट होता है कि ब्रह्मास्त्र का सन्धान सामान्य धनुष-वाण से किसी विशिष्ट मन्त्र के साथ होता था और उसका प्रयोग करते ही लक्ष्य पुरुष निष्क्रिय हो जाता था।

रामायण के अध्ययन से यह पता चलता है कि ब्रह्मास्त्र का प्रयोग दो उद्देश्यों से किया जाता था—(i) जान से मारने के उद्देश्य से (ii) जीवित बन्दी बनाने के उद्देश्य से। मेघनाथ को ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते ही यह आशंका होने लगी कि कहीं इसके प्रयोग करने पर भी यह बल-शाली वानर न मरा तो अनर्थ हो जायेगा, अतः उसने जानबूझकर केवल बन्दी बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। प्रयोग सफल भी रहा। किन्तु बाहर से असमर्थ होते हुए भी भीतर से हनुमान् की चेतना तथा स्फूर्ति अम्लान थी, उन्होंने इसे लोक पितामह ब्रह्मा, देवराज इन्द्र तथा अपने पिता पवन देव का परम अनुग्रह समझा और अपने उस वरदान का स्मरण किया, जिसके द्वारा स्वयं ब्रह्मा ने उन्हें ब्रह्मास्त्र से अवध्य होने का आश्वासन दिया था। फिर तो उनके अन्दर से इस अस्त्र का भय दूर हो गया। तब उन्होंने मदारी के वानर की भाँति कुछ खेल-कूद और मनोरंजन करने का इरादा किया। राक्षसराज रावण से उनकी भेंटवार्ता हो सके इस कारण वे मेघनाद के ब्रह्मास्त्र में बँध कर दशानन के भरे दरबार में उपस्थित हुए। किन्तु कुछ राक्षसों ने अपनी मूर्खता के कारण मेघनाद के देखते-देखते ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को व्यर्थ बना दिया। बात यों हुई कि ब्रह्मास्त्र से शिथिल हनुमान् के पास जब आतंकित राक्षस समूह पहुँचा तो कुछ ने उन्हें बिना किसी बाहरी बन्धन तथा चोट के यों ही निश्चेष्ट पड़ा देखकर यह ठीक समझा कि इन्हें ऊपर से किसी बन्धन द्वारा बाँध दिया जाय।

पहले तो उन्होंने दुर्वचन कह कर तथा गाली फटकार देकर उन्हें उत्तेजित किया, किन्तु जब देखा कि सिवा सिंहनाद करने के अतिरिक्त हनुमान् में स्वयं अपना हाथ उठाने की भी शक्ति नहीं है तो उनके समीप पहुँच कर उन्होंने सन तथा वृक्षों के वल्कलों से बनी रस्सियों द्वारा उनके शरीर को खूब मजबूती में बाँध दिया। ऐसा करते ही ब्रह्मास्त्र का बन्धन व्यर्थ हो गया क्योंकि स्वयं ब्रह्मा की प्रतिज्ञा के अनुसार वह अन्य बन्धनों को नहीं मानता था। मेघनाद को राक्षसों की इस मूर्खता पर अपार चिन्ता हुई किन्तु उसे देखकर कुछ सन्तोष मिली कि ब्रह्मास्त्र के व्यर्थ होने पर भी हनुमान पूर्ववत् निश्चेष्ठ तथा अशक्त थे।

इधर हनुमान् को ब्रह्मास्त्र के व्यर्थ होने की बात ज्ञात थी; किन्तु इस लोभ से वह राक्षसों की डांटे-फटकार और लात मुक्कों का प्रहार सहते जा रहे थे कि वे लोग उन्हें रावण के दरबार से खींचकर ले जा रहे थे। फलतः राक्षसों द्वारा पहुँचाई जाने वाली असह्य पीड़ा को उन्होने तब तक शान्ति पूर्वक सहन किया जब तक उनकी रावण से खूब जली-कटी बात चीत नहीं हो गई और कुतूहलप्रिय राक्षसों के द्वारा लंका की सड़कों तथा गलियों से उनकी खूब परिचय नहीं हो गया। अन्त में रावण की इच्छा से जब उनकी प्रिय पूँछ जला देने का उपक्रम किया गया और तैलसिंचित चीथड़ों से बोझिल उनके लांगूल में आग लगा दी गई, तो उन्होंने अपने को सन तथा बल्कल के बन्धनों से तत्काल मुक्त करने की सामर्थ्य रखते हुए भी कुछ देर तक आग की पीड़ा भी सहन की और बड़ी अधीरता के साथ समूची लंका का भूगोल ज्ञात किया। इसके अनन्तर तो उन्होंने अपने को ब्रह्मास्त्र तथा सन-बल्कलों के बन्धनों से बड़े लाघव से मुक्त कर समूची लंका को भस्मासात कर दिया।

लंका युद्ध में दूसरी बार भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग मेघनाद ने ही किया। राम-लक्ष्मण की घनघोर बाणवृष्टि से जब दशानन की चतुरंगिणी सेना के पैर उखड़ गये तथा उसके गिने-चुने वीर पुत्रों तथा सेना सेनापतियों का विनाश हो गया तो दुरभिमानी रावण के शोक की सीमा न रही। किन्तु अभी उसे अपने अखिल लोकविजयी इन्द्रजीत पुत्र मेघनाद पर अडिग भरोसा था। उसने पूर्वापर की अनेक उक्तियाँ सुनाकर मेघनाद को उत्तेजित किया। मेघनाद सचमुच त्रैलोक्य-विजेता था। उसने उस दिन अद्भुत युद्ध किया और थोड़े ही समय में वानरों तथा भालुओं की उस विशाल वाहिनी को छिन्न-भिन्न कर दिया। लाखों वानर मौत के घाट उतार दिये गये, किन्तु राम, लक्ष्मण, हनुमान्, जाम्बवान्, सुग्रीव, अंगद, नल नीलादि अब भी आविजित थे। मेघनाद यह जानता था कि इस महान पराक्रमी वीरों को साधारण शस्त्रास्त्रों द्वारा वश्य करना असम्भव है अतः उसने अपने ब्रह्मास्त्र का पुनः स्मरण किया और अपनी चतुरंगिणी सेना का साथ छोड़ आगे बढ़ गया।

ब्रह्मास्त्र के प्रभाव विचित्र थे। मेघनाद आकाशचारी बनकर प्रच्छन्न हो गया और वहीं से ब्रह्मास्त्र के मन्त्रों द्वारा अभिमंत्रित ऐसे बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी कि स्वयं राम-लक्ष्मण भी अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्होंने देखा कि समूची सेना में अब एक भी वीर नहीं बचा है, जो किसी को चुल्लू भर पानी भी पिला सके। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव उस दिन बड़ा भयंकर था। ब्रह्मास्त्र की भयंकरता का वर्णन बाल्मीकि ने इस प्रकार किया है—

त्रैलोक्यमासीत् संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते।
रोदसी संपफालेव पर्वताश्च चकम्पिरे॥
तमश्चालोकमावव्रे दिशश्च न चकाशिरे॥

अर्थात् ब्रह्मास्त्र के छूटने पर तीनों लोक त्रस्त हो गये। भूलोक तथा अन्तरिक्ष फटने लगे। पर्वत हिलने लगे। चतुर्दिक कालिमा छा गयी थी। किसी तरफ कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। जिधर दृष्टि जाती, उधर वानरी सेना का हाहाकर मचा था। मेघनाद ने ही नहीं, सम्पूर्ण राक्षसों ने भी समझ लिया कि इस एक अमोघ बाण ने साराकाम फतह कर दिया और अब राम की विभीषिका सदा के लिए बीत गयी। मेघनाद प्रसन्न होकर सेना के संग जब अपनी पुरी में प्रविष्ट हुआ तो दशानन ने उसकी विजय का हार्दिक अभिनन्दन किया।

किन्तु, इधर विभीषण की चिन्ता बढ़ गई थी। उसने घायल तथा मरे वानरों के बीच से सर्वप्रथम सुग्रीव को ढूँढ़ निकाला, जो अत्यन्त आहत और असमर्थ हो मूर्च्छित पड़े थे। थोड़े उपचारादि के बाद विभीषण ने सुग्रीव की संवर्द्धना की और उनके पूर्व-जीवन के वीरोचित कार्यों का स्मरण दिलाकर उनका साहस बँधाया। फिर दोनों ने मिलकर हनुमान् को भी ढूँढ निकाला, जो अचेतावस्था में आहत पड़े थे। राम-लक्ष्मण की अचेतावस्था की चर्चा से पहले तो हनुमान् को बहुत शोक हुआ, किन्तु जब विभीषण ने बताया कि भगवान् ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त ब्रह्मास्त्र की मर्यादारक्षा के लिए दोनों राजपुत्र मूर्च्छित हैं तथा उन्हें यथोचित उपचार द्वारा स्वस्थ किया जा सकता है, तब हनुमान को धीरज हुआ। फिर तो विभीषण और हनुमान् ने रात में मशालें जला-जला कर रण-भूमि का पूरा चक्कर लगाया कि सेना के कितने लोक जीवित हैं और कितने मर चुके हैं। निरीक्षण करने पर पता चला कि केवल वाहर घड़ी के भीषण युद्ध में अमोघ ब्रह्मास्त्र द्वारा इन्द्रजीत मेघनाद ने सरसठ करोड़ बड़े-बड़े वीरों को मार गिराया है।

फिर तो उनके शोक का पारावार नहीं रहा किन्तु करते भी तो क्या करते? अन्ततः उन्होंने मुखिया को ढूँढ़ना शुरू किया और सर्वप्रथम ऋक्षराज जाम्ववान् को ढूँढ़ निकाला, जो मेघनाद के बाणों की चोट से अत्यन्त आहत होकर बुझे हुए अंगारे की भाँति निश्चेष्ट पड़े थे।

विभीषण की बातें सुनकर उन्होंने आँखे मूंदे ही बड़ी कठिनाई से कराहते हुए कहा—भद्र ! क्या आप विभीषण हैं ? मेरी आँखे वाणाघात से खुल नहीं पा रही हैं, किन्तु, मेरा अनुमान है कि आप विभीषण ही हैं । यदि ऐसा है तो कृपया बतायें कि अंजनी पुत्र हनुमान् जीवित हैं या वे भी मर चुके हैं । बूढे जाम्बवान् की यह बातें सुनकर विभीषण को आश्चर्य हुआ कि राम-लक्ष्मण तथा सुग्रीवादि को न पूछ कर यह बूढ़ा सर्वप्रथम हनुमान् की ही पूछताछ क्यों कर रहा है ? उन्होंने जब इसका कारण पूछा तो जाम्बवान् ने बताया—हे सौम्य ! मैं तो यही समझता हूँ कि यदि हनुमान् जीवित हैं तो हम सब तथा रामचन्द्रादि भी जीवित हो सकते हैं किन्तु यदि उनकी कुशल नहीं है, तो हम सबके प्राणों की रक्षा असम्भव हैं क्योंकि अकेले हनुमान् में ही यह शक्ति है जिसके भरोसे हम मृतक लोग भी पुनर्जीवन का लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

जाम्बवान् के कथन में सार था । हनुमान् ने जाम्बवान् के चरणों में गिरकर प्रणाम किया और उनके ही निर्देनुसार पर्वतराज हिमालय के शिखरों से मृतसंजीवनी, विशल्पकारणी, सावर्णकरणी तथा सन्धानकरणी नामक दुर्लभ औषधियों को प्राप्त किया, जिनके प्रयोग से स्वयं राम-लक्ष्मण ही नहीं सम्पूर्ण आहत सेना के प्राणों की भी रक्षा हुई । इस प्रकार ब्रह्मास्त्र के प्रहार से हनुमान् ने विष्णु के अंशभूत राम-लक्ष्मण की रक्षा कर ब्रह्मास्त्र-मर्यादा की रक्षा की ।

रामायण में ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का तीसरा उदाहरण राम-रावण युद्ध है । राम और रावण को जब घनघोर युद्ध होने लगा तो पूरा दिन और पूरी रातों अथवा एक क्षण के लिए भी इन दोनों का युद्ध वन्द नहीं हुआ । राम और रावण के युद्ध में राम की जीत न देख, 'इन्द्र का सारथि मातलि, जो बड़ा बुद्धिमान् था, संग्राम करते हुए राम को स्मरण दिलाता हुआ कहने लगा—हे वीर ! अनजान की तरह इसके साथ युद्ध क्यों कर रहे हों । हे प्रभो ! तुम इसके ऊपर ब्रह्मास्त्र छोड़ो (१।१-२) ।

तब अगस्त्य मुनि द्वारा प्रदत्त बाण को ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित कर धनुष पर चढ़ाते ही समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथ्वी काँपने लगी । ज्यों ही राम ने बाण को छोड़ा, त्यों ही वह रावण को मौत के घाट उतारते हुए पुनः विनम्र की तरह राम के तरकस में प्रविष्ट हो गया (६।१११।१४-२०) ।

ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का एक और उदाहरण हमें बालकाण्ड में वसिष्ठ और विश्वामित्र-युद्ध में प्राप्त होता है । जब वसिष्ठ ने अपने ब्रह्मदण्ड द्वारा विश्वामित्र के चलाए समस्त अस्त्रों को निष्फल कर दिया तब महर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया—

> तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्र क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः ।
> तदस्ममुद्यतं दृष्ट्रा देवाः साग्निपुरोगमाः ।। १।५६।१४

ब्रह्मास्त्र के उठाते ही तीनों लोक भयभीत हो गये । देवर्षि, गन्धर्व और मानव सभी घबड़ा गये, किन्तु, उस ब्रह्मास्त्र को अपने ब्रह्मविद्याभ्यास जनित तेज से अर्थात् ब्रह्मदण्ड से पकड़कर वसिष्ठ ने शान्त कर दिया । उस ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को निष्फल बनाते समय महात्मा वसिष्ठ का वह रौद्ररूप तीनों लोकों को मोह में डालने वाला और अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था । (१।५६।१७) ।

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट पता चलता है कि ब्रह्मास्त्र शत्रु को व्यक्तिगत रूप से अथवा सैन्य सामूहिक रूप से मारक महान् संहारक नाभिक (न्यूक्लियर) अस्त्र था ।

(२) **वायव्यास्त्र**—यह सामूहिक रूप से शत्रु-सेना का संहारक था । इसके प्रयोग से शत्रु-सेना में प्रचण्ड वायु (आँधी) चलने लगती थी और सम्पूर्ण सेना का विध्वंस कर डालती थी । रामायण में वायव्यास्त्र के प्रयोग के कई प्रसंग मिलते हैं । सर्वप्रथम बालकाण्ड में यह

उल्लेख किया गया है कि विश्वामित्र की यज्ञ में विघ्न पहुँचाने वाले राक्षसों का सफाया राम ने वायव्यास्त्र द्वारा ही किया था—"शेषान्वायव्य मादाय निजधान महायज्ञाः १।३०।२२।" लंका-युद्ध में सर्वोच्च सेना-अधिनायक राम ने कुम्भकर्ण का सफाया करने के लिए वायव्यास्त्र का प्रयोग किया था (६।६७।१६८-६)। महर्षि विश्वामित्र ने वसिष्ठ का विनाश करने के लिए कुछ क्रुद्ध होकर वायव्यास्त्र (वायव्यं १।५६।१०) का प्रयोग किया था। किन्तु, इसके प्रभाव को महर्षि वसिष्ठ ने ब्रह्मदण्ड से विफल कर दिया। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि वायव्यास्त्र के प्रभाव को निष्फल बनाने के लिए पर्वतास्त्र चलाया जाता था। वह वायु को रोक देता था। पर्वतास्त्र से युद्ध-क्षेत्र में पर्वत प्रकट हो जाते थे जो वायु को प्रवाहित होने से रोक देते थे। पर्वतास्त्र को विफल करने के लिए वज्रास्त्र का प्रयोग किया जाता था। वह पर्वतों को नष्ट कर तिनके के समान चूर-चूर कर डालता था। सर्वोच्च सेना-अधिनायक राम को इन सभी की प्रयोग विधि भली-भाँति ज्ञात थी।

(३) आग्नेयास्त्र—यह महान् संहारक, आधुनिक अणु-अस्त्रों के समान शत्रु सेना में आग उत्पन्न कर देने वाला था। विश्वामित्र की यज्ञ में बाधा पहुँचाने वाले राक्षस सुबाहु को, महर्षि द्वारा प्रदत्त आग्नेयास्त्र से राम ने मौत के घाट उतारा था (१।३०।२२)। आग्नेयास्त्र के प्रयोग

का दूसरा उदाहरण हमें लंका-युद्ध के एक प्रसंग से प्राप्त होता है। जब लक्ष्मण ने मेघनाद द्वारा चलाये गये रौद्रास्त्र के प्रभाव को विफल कर दिया, तब समर विजयी एवं महातेजस्वी मेघनाद ने क्रोध में भर मानों तीनों लोको का संहार करने के लिए विध्वंसकारी आग्नेयास्त्र चलाया[1] किन्तु, आग्नेयास्त्र को वीर लक्ष्मण ने सूर्यास्त्र से रोक दिया और उसके प्रभाव को व्यर्थ कर दिया—"सौरेणास्त्रेणा तद्वीरो लक्ष्मण प्रत्यवारयत् (६।९१।५९)" रामायण के अध्ययन से पता चलता है कभी-कभी आग्नेयास्त्र के प्रभाव को सूर्यास्त्र अथवा पर्जन्यास्त्र से व्यर्थ कर दिया जाता था। इससे पानी बरसा कर आग बुझा दी जाती थी। तत्पश्चात् वायव्यास्त्र द्वारा हवा बहा कर बादलों को नष्ट कर दिया जाता था।

(४) **आसुरास्त्र**—यह भी शत्रु-सेना का संहारक अस्त्र था। सबसे बड़ी मार्के की बात यह थी कि इसके द्वारा सम्पूर्ण सेना का सफाया न कर किसी व्यक्ति विशेष को भी मौत के घाट उतारा जा सकता था। इससे यह प्रमाणित होता है कि आधुनिक प्रक्षेपास्त्रों की भाँति यह एक नियंत्रित प्रक्षेपास्त्र था, जो केवल लक्ष्य को ही वेध सकता था। आसुरास्त्र के प्रयोग के कई उदाहरण हमें रामायण में मिलते हैं, परन्तु, सबसे रोमांचकारी उदाहरण मेघनाद और लक्ष्मण के बीच सम्पन्न हो रहे अभूतपूर्व युद्ध से मिलता है। जब मेघनाद द्वारा प्रयोग किये गये आग्नेयास्त्र को लक्ष्मण ने बहुत ही पटुता के साथ विफल कर दिया तब इन्द्रजीत ने क्रुद्ध होकर शत्रु-सेना को नष्ट करने के लिये भयङ्कर आसुरास्त्र का प्रयोग किया जिससे युद्ध-क्षेत्र में काँटेदार मुगदर, शूल, गदा, खड्ग, इत्यादि की वर्षा होने लगी और ये अस्त्र-शस्त्र स्वयं ही शत्रु का सफाया करने लगे। जब लक्ष्मण ने उस भयंकर आसुरास्त्र को, जो किसी प्राणी से रोका नहीं जा सकता था और समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला था, देखा; तब समर प्रवृत लक्ष्मण ने उस आसुरास्त्र के प्रभाव को माहेश्वर द्वारा व्यर्थ कर दिया था (६।९१।६०-२)।

आसुरास्त्र के प्रयोग का दूसरा उदाहरण हमें राम-रावण घोर युद्ध से मिलता है। जब राम रावण के अस्त्रों को बड़ी कुशलता के साथ विफल कर दे रहे थे तब रावण ने क्रोधित होकर राम तथा उनकी सेना का संहार करने के लिए आसुरास्त्र का प्रयोग किया। उस आसुरास्त्र से सिंघमुख, व्याघ्रमुख, कङ्कमुख, काकमुख, गृधमुख बाजमुख, भृगालमुख और भेड़ियामुख वाले तथा सर्पमुख वाले अनेक भयंकर बाण निकल पड़े। इसके अतिरिक्त शूकरमुख, श्वानमुख, कुक्कटमुख, मगरमुख इत्यादि बाणों को आसुरास्त्र के मन्त्र से अभिमंत्रित कर छोड़ा जो क्रुद्ध सर्प की तरह फुसकारते हुए राम की ओर चल पड़े (६।१००।४१-४५)। किन्तु जब राम ने इसे आते देखा तो फौरन उन्होंने अग्न्यस्त्र का प्रयोग कर आसुरास्त्र के प्रभाव आकाश में ही व्यर्थ कर दिया। इससे यह प्रमाणित है कि अग्न्यस्त्र एक प्रकार का प्रक्षेपास्त्र विरोधी प्रक्षेपास्त्र था।

(५) **वरुणास्त्र**—यह शत्रु-सेना में भयंकर जल वृष्टि एवं बाढ़ द्वारा भगदड़ मचा देने वाला अस्त्र था। लंका-युद्ध में इसका प्रयोग लक्ष्मण ने मेघनाद सहित सम्पूर्ण उसकी सेना का सफाया करने के लिए किया था—"सुसंरब्धस्तु सौमित्रिरस्त्रं वारुणमाददे। (६।९१।५६)"

(६) **रौद्रास्त्र**—यह शत्रु-सेना का संहारक था। लंका-युद्ध में इसका प्रयोग किया गया था। रौद्रास्त्र का सबसे भयंकर और रोमांचकारी उल्लेख बाल्मीकि ने अपने काव्य में किया है। सर्वोच्च सेना अधिनायक राम जब रावण के प्रत्येक अस्त्रों को प्रभावहीन बताते जा रहे थे तब रावण ने क्रोधित होकर राम सहित सम्पूर्ण वानरी सेना का सफाया करने के लिए रौद्रास्त्र का

१ ततः क्रुद्धो महातेजा इन्द्रजित्समितिज्जयः।
आग्नेयं सन्दधे दीप्तं स लोकं संक्षिपन्निव॥ ६।९१।५८

प्रयोग किया। ज्यों ही रावण ने अपने बाण को रौद्रास्त्र के मन्त्र से अभिमन्त्रत कर छोड़ा, त्यों ही उसके अन्दर से वज्र के समान दारुण शूल, गदा, मुगद्र, कपटपाश तथा चमकते हुए वज्रादि विविध तीक्ष्ण शास्त्र वैसे ही वेग से निकले, जैसे वेग से प्रलयकारी पवन चलता है (६।१०१।३)। इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि रौद्रास्त्र भी एक नियंत्रित प्रक्षेपास्त्र था।

रौद्रास्त्र के प्रभाव को व्यर्थ बनाने के लिए एन्टी प्राक्षेपिक प्रक्षेपास्त्र जैसे परमास्त्र और गान्धर्वास्त्र का प्रयोग किया जाता था। राम ने रावण द्वारा प्रयोग किये गये रौद्रास्त्र को निष्फल बनाने के लिए इन्हीं प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग किया था—

तदस्त्रं राघवः श्रीमानुत्तमास्त्रविदां वरः।
जघान परमास्त्रेणा गान्धर्वेण महाद्युतिः ।। ६।१०१।५

अर्थात् उत्तमास्त्रों के जानने वालों में श्रेष्ठ महाकान्तियुक्त राम ने रावण के रौद्रास्त्र को नष्ट करने के लिए परमास्त्र तथा गान्धर्वास्त्र चलाया।

आदि कवि ने उल्लेख किया है कि परमास्त्र और गान्धर्वास्त्र को व्यर्थ बनाने के लिए रावण ने सौरास्त्र का प्रयोग किया—"रावणः क्रोधताम्राक्षः सौरमस्त्रमु दैरयत् ६।१०१।६," जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण रणक्षेत्र वैसे ही प्रकाशित हो गया; जैसे गिरते हुए सूर्य चन्द्रादि ग्रहों से समस्त दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं। सौरास्त्र भी एन्टी प्राक्षेपिक प्रक्षेपास्त्र ही था।

(७) **ऐन्द्रास्त्र**—यह भी बहुत ही भयंकर संहारक अस्त्र था जिसकी तुलना आधुनिक नियंत्रित प्रक्षेपास्त्रों से की जा सकती है। तत्कालीन समय में इसकी तुलना महर्षि वसिष्ठ के ब्रह्मदण्ड और कालदण्ड से की जाती थी। रामायण में ऐन्द्रास्त्र प्रयोग के कई प्रसंग मिलते हैं। आर्य योद्धा लक्ष्मण ने इसका प्रयोग मेघनाद को मौत के घाट उतारने के लिए किया था (६।६१।७५-६)। राम ने भी कुम्भकर्ण जैसे महान् योद्धा को मारने के लिए ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग किया था। उसके छूटते ही दसों दिशाएँ प्रकाशित हो गई। वह अस्त्र इन्द्रवज्र की भाँति कुम्भकर्ण का वध करने के लिए उसकी ओर चला था। उस अस्त्र ने कुम्भकर्ण का कुण्डलों सहित मस्तक उसी तरह काट गिराया जिस तरह वृत्रासुर का मस्तक इन्द्र के वज्र ने काट डाला था[1]।

(८) **गरुड़ास्त्र**—इसके प्रयोग से सैकड़ों गरुड़ प्रकट होकर शत्रु सेना में हलचल उत्पन्न कर देते थे। सर्वोच्च-सेना अधिनायक राम ने रावण द्वारा प्रयोग किये गान्धर्वास्त्र और दौवास्त्र जैसे विध्वंसकारी अस्त्रों को निष्फल कर दिया, तब रावण ने क्रोधित होकर राक्षसास्त्र का प्रयोग किया, जिससे भयानक मुख वाले सर्प, मुख से आग उगलते हुए राम के ऊपर गिरने लगे। तब राम ने सर्पों को भयभीत करने वाले भयानक गरुड़ास्त्र का प्रयोग किया (६।१०३।२१)। राम के बाण सर्पशत्रु गरुड़ बनकर सर्पों को खा लेते थे (६।१०३।२२-२२)।

(९) **नारायणास्त्र**—इसके प्रयोग से सहस्त्रों प्रदीप्त शोले तथा गोले शत्रु-सेना पर गिरने लगते थे। साथ ही यह अमोघ अस्त्र अवध्य का भी वध करता था। किन्तु, इससे वह सैनिक या शत्रु (लक्ष्य) बच जाता था जो शस्त्र डालकर आत्मसमर्पण कर देता था।

(१०) **वैष्णवास्त्र**—इसका प्रयोग गरुड़ास्त्र के शान्त्यर्थ किया जाता था। यह शान्ति-अस्त्र था।

(११) **पाशुपतास्त्र**—यह सामूहिक रूप से शत्रु-सेना का संहारक था।

(१२) **ब्रह्मदण्ड**—यह भी सामूहिक रूप से शत्रु-सेना का संहारक अस्त्र था। बालकाण्ड के ५६वें सर्ग में वाल्मीकि ने ब्रह्मदण्ड की भयंकरता का उल्लेख किया है। इसी के माध्यम से

---

१ देखिये युद्धकाण्ड ६७।१७८-१८१।

महर्षि वसिष्ठ ने विश्वामित्र के आग्नेयास्त्र और ब्रह्मास्त्र जैसे महान् विध्वंसकारी अस्त्रों को निष्फल बनाया था (१।५६।६-१६)।

उपर्युक्त प्रमुख अस्त्रों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शस्त्राभ्यासी के लिए इन शस्त्रों का प्रयोग (शत्रु पर प्रयोग) और संहार (शत्रु पक्ष द्वारा इन शस्त्रों का अपने ऊपर प्रयोग होने पर उनसे बचाव एवं शान्त्यर्थ), दोनों क्रियाओं में निष्णात होना अपरिहार्य था। वास्तव में इनके पीछे बहुत बड़ी जटिल क्रियाएँ हैं, जो जन-सामान्य के वश की बात नहीं, क्योंकि, थोड़ी सी क्रिया (प्रयोग विधि) में त्रुटि होने पर स्वयं अपने और अपने पक्ष के हित में अनिष्ट हो सकता है। यह उल्लेखनीय है कि 'गुरू' लोग कड़ी साधना और कठोर परीक्षा के बाद इनकी गुप्त क्रियाओं को बतलाते थे। राम को इन अस्त्रों की प्रयोग विधि के लिए बहुत ही कठोर तपस्या करनी पड़ी थी। महाभारत के नायक अर्जुन को भी पाशुपतास्त्र की क्रिया बहुत बड़ी साधना से प्राप्त हुई थी। शिष्य के धैर्य की परीक्षा और सहनशीलता का परीक्षण आवश्यक था अन्यथा कहीं दुरुपयोग न हो जाय, इसका भय था। लेकिन इस प्रकार के प्रलयकारी एवं विध्वंसकारी अस्त्रों का प्रयोग आपत्काल में या अन्तिम अवस्था में ही होता था; इसकी पुष्टि हमें रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थों से होती है।

आधुनिक युग में इन दिव्यास्त्रों को कुछ कोरी कल्पना भी मानते हैं, परन्तु, वास्तव में यह कल्पना नहीं सत्य है। हाँ आधुनिक मानव के लिए ये वास्तव में काल्पनिक बन गये हैं, क्योंकि इतनी साधना, सहनशीलता, व्यापक ज्ञान तथा इन जटिल-क्रियाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लेना आज के मानव के वश के बाहर की बात है। यह महानतम् साधना है। इन सभी दिव्यास्त्रों का प्रयोग बाण पर ही होता है, इसलिए वेदों में धनुर्वाण की इतनी महत्ता है। 'शुक्रनीतिसार' और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वृहन्नालिक (तोप) लघुनालिका (बन्दूक) सर्वतोभद्र (मशीन गन के समकक्ष) पर्जन्यक (आग बुझाने वाला) आदि आधुनिक यंत्रों के समकक्ष आयुधों का वर्णन है। सच्चाई तो यह है कि भारत की ऐतिहासिक सामग्री आज भी अधूरी और परावलम्बित है, इसके लिए विशद् अनुसंधान की आवश्यकता है।

शस्त्र—रामायणकालीन शस्त्रों में धनुष, बाण, पट्टिश, तलवार, गदा, त्रिशूल, मुगदर, शूल, परिध, शक्ति, असि, भाला, भिन्दिपाल, चक्र, वज्र, कूट, शतहनी, पाश, तोमर, मुसल, विरूपाल, परशु, असनि, आदि थे! इनमें से कुछ शस्त्रों की विस्तृत जानकारी हेतु वर्णन इस प्रकार किया जा रहा है। चित्र ४ का अवलोकन करें।

(१) **धनुष-बाण**—रामायण का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल के लोग यद्यपि अनेक प्रकार के अस्त्रशस्त्रों के निर्माण और उनके प्रयोग में निपुण थे, किन्तु उनका मुख्य हथियार धनुष-बाण ही था। संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी हमें इन्द्र के अजेय हथियार 'वज्र' के अतिरिक्त धनुष-बाणों का उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद संहिता' से भी यह प्रकट होता है कि उस काल में धनुष तथा बाण बनाने का स्थायी व्यवसाय था। तत्कालीन समय में युद्ध-विद्या को धनुर्विद्या कहते थे, जिसका अध्ययन विद्यालयों में कराया जाता था और क्षत्रिय राजकुमारों को इसको शिक्षा अवश्य दी जाती थी। 'धनुर्विद्या' के नाम से ही यह स्पष्ट है कि उस समय धनुष-बाण का महत्त्व अधिक था और यही मुख्य हथियार समझा जाता था। रामायण काल में धनुर्विद्या का महत्त्व बहुत बढ़ चला था। ऋग्वेद में तो इस विद्या का विशद वर्णन है। इसके द्वितीय मण्डल में रुद्र को धनुष एवं बाण को धारण करने वाला बताया गया है (ऋग्वेद २,३३,१०)

'निरुक्त नेगमकाण्ड' के द्वितीय प्रकरण के पंचम एवं षष्ठ अध्याय में धनुर्विद्या को बहुत अधिक सम्माननीय स्थान दिया गया है। 'सांख्यानादिश्रौतसूत्र' के अश्वमेध-प्रकरण में धनुर्धर के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। 'विष्णु पुराण' के अनुसार धनुर्विद्या विश्व के प्रमुख १८ विज्ञानों में से एक है। इसे यजुर्वेद का उपवेद माना गया है और प्रत्येक युद्ध में इसका ज्ञान अनिवार्य ठहराया गया है। वास्तव में 'शार्ङ्गधर पद्धति' धनुर्वेद, 'अग्नि-पुराण' बाल्मीकि-रामायण और महाभारत हमारे धनुर्विद्या के ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं। यूँ तो 'धनुर्वेद संहिता' 'द्रोणाविद्या' 'कोदण्डमण्डन' आदि अन्य ग्रन्थ भी इस विद्या का विवेचन करते हैं, पर इन ग्रन्थों ने प्रारम्भिक स्रोत्रों को ही आधार माना है।

सम्पूर्ण धनुर्वेद को चार भागों में बाँटा गया है, जिसके मुख्य प्रणेता विश्वामित्र हैं। प्रथम में धनुष के लक्षण तथा उसके अधिकारी के गुणों का वर्णन है। धनुर्वेद शब्द केवल धनुष पर आधारित होते हुए भी धनुष शब्द से ही चारों प्रकारों के आयुधों का प्रतिनिधित्व करता है। युद्ध शस्त्रों को धारण करने वाले अधिकारियों, चार प्रकार की सेना (पैदल, रथी, अश्वारोही, गजारोही) के अधिकारियों की दीक्षा-अभिषेक आदि का वर्णन भी प्रथम भाग (पाद) में ही है। सभी प्रकार के आयुधों के लक्षण, गुरू के लक्षण तथा शस्त्र-संग्रह करने की विधि 'संग्रह' नामक दूसरे भाग में है। विशेष शस्त्रों को गुरु-परम्परा से सिद्ध करने की विधि, शस्त्रों का पुनरभ्यास तथा मन्त्रयुक्त शस्त्रों की सिद्धि का विधान 'सिद्ध' नामक तीसरे भाग (पाद) में वर्णित है और देवपूजा, शास्त्राभ्यास, विशेष शस्त्रों का प्रयोग आदि चतुर्थ 'प्रयोग' नामक पाद में वर्णित है—

तत्रचतुष्टय पादात्मको धनुर्वेदः यस्य प्रथम पादे दीक्षाप्रकारः।
द्वितीये संग्रहः तृतीयेसिद्ध प्रयोगाः चतुर्थे प्रयोग विद्यमः॥

तीन तरह के धनुषों का सबसे श्रेष्ठ माना गया है, जैसे शिव का 'पिनाक' या अजगव, नारायण का 'सारंग' एवं अर्जुन का 'गांडीव' आदि। सारंग सींग से और गांडीव बाँस से निर्मित थे। तत्कालीन समय में धनुष को कई नामों से पुकारा जाता था जैसे 'कार्मुक', कोदण्ड आदि। धनुष बनाने वाले का नाम धनुषाकार और बाण बनाने वाले का नाम 'इषुकार' बतलाया गया है। नारायण का सारंग-धनुष तो समुद्र-मंथन के अवसर पर अमृतादि रत्नों के साथ ही निकला था। यह सर्वथा दिव्य माना जाता है। इस धनुष का विशेष प्रकार रामावतार में माना गया है। यह भी कहा जाता है कि विष्णु भगवान के पास दो सारंग धनुष थे। इनमें से दूसरा धनुष विश्वकर्मा का बनाया हुआ था। उसे उन्होंने शंकर को दिया था। भगवान शंकर ने परशुराम को और परशुराम ने वरुण को तथा वरुण ने उसे अर्जुन को दिया था। 'सारंग स्माद वक्रशृंगकम्' वृद्ध शार्ङ्गधर तथा ज्योतिष-निवन्ध के इस वचनानुसार सारंग धनुष गैंडे के टेढ़े सींग का बना होता है। गांडीव की व्याख्या भी "गाण्डी-खड्गाख्यः पशुविशेषः, तस्य विकारः गाण्डीमयः गाण्डीवो वा। एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद्गाण्डीवं धनुः।" आदि इन वचनों द्वारा कुछ इसी प्रकार की गई है।

भगवान् शंकर के धनुष का नाम पिनाक था। रामचरित-मानस में इसके नामों का गोस्वामी जी ने स्मरण कराया है, यथा—

'छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।
अजगव खांड न ऊखमय, अजहूँ न बूझ-अबूझ।
तब प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना'।

यह धनुष भी विश्वकर्मा का बनाया हुआ था। कूर्म-पुराण और बाल्मीकि-रामायण के अनुसार शंकर ने इस धनुष के द्वारा दक्षयक्ष-विध्वंस तथा त्रिपुरासुर आदि का संहार किया था।

बाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड के अन्त में भगवान विष्णु तथा शिव के धनुषों के युद्ध की भी कथा आती है। यह कथा 'विष्णुधर्म' में भी आती है। इसके अनुसार एक बार परशुराम ने शंकर से पूछा कि महाराज आपका पिनाक धनुष राजा जनक के पास कैसे पहुँचा। इस पर शंकर ने कहा कि परशुराम ! एक बार बड़ा भारी तमाशा हुआ था। पता नहीं देवताओं के मन में यह कौतूहल किस प्रकार उत्पन्न हो गया कि हममें तथा भगवान विष्णु में कौन अधिक बलवान है। उन्होंने यह प्रश्न ब्रह्मा के सामने भी रखा। इस पर ब्रह्मा ने एक विलक्षण युक्ति बतलाई। उन्होंने देवताओं को यह राय दी कि इनमें युद्ध करा दिया जाय। फिर तो अपने आप ही निर्णय हो जायेगा कि इन दोनों में कौन अधिक बलवान है। बस ! सभी देवताओं ने मिलकर हम दोनों को लड़ाकर ही दम लिया परशुराम। वह युद्ध बड़ा ही भयानक था। उससे संसार के सभी जीव अत्यन्त भयभीत हो गय। फिर सभी देवता ऋषि-मुनि तथा ब्रह्मा ने भी हम लोगों से प्रार्थना की —"आप दोनों का लड़ना उचित नहीं प्रतीत होता। बस आप लोगों के युद्ध का निर्णय यों ही हो जाय कि आप दोनों एक-दूसरे के धनुष को चढ़ा दें। इस पर भगवान विष्णु ने तो तुरन्त ही हमारे धनुष पिनाक को लेकर चढ़ा दिया, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी उनका वैष्णव धनुष मुझसे नहीं चढ़ पाया।"

"इस घटना से प्रभावित होकर मैंने भगवान विष्णु की बड़ी स्तुति की। उन्होंने मुझे सात्वना देते हुए कहा कि—मुझमें तथा आपमें कोई भी अन्तर नहीं है। अब लीजिये यह आपको मैं अपना वैष्णव दिव्य धनुष प्रदान कर रहा हूँ। इसे आप भार्गवनन्दन जमदग्नि ऋषि को दे देंगे। वह इसे अपने पुत्र परशुराम को दे देंगे। पातालवासी महादैत्यों के संहार करने के बाद परशुराम भी इस धनुष को दशरथनन्दन राम को दे देंगे। रावणादि राक्षसों के वध के बाद राम भी इस धनुष को वरुण को देंगे। वरुण इस धनुष को फिर देवकार्यार्थ महाबली अर्जुन को देंगे। उस समय ही यह धनुष 'गाण्डीव' कहा जायेगा। साथ ही अब इस अपने पिनाक धनुष को आप राजा जनक को दे देंगे। वह इस समय पृथ्वी में 'निमि' नाम से प्रसिद्ध है। तदन्तर मैंने उस धनुष को निमि को दे दिया। इस पिनाक को तो राम ने तोड़ डाला और दूसरा वैष्णव धनुष जमदग्नि परशुराम आदि के हाथों में होता हुआ अर्जुन के हाथ में जा पहुँचा।

धनुष के दो भाग होते हैं—कमानी तथा डोरी। कमानी लकड़ी, बाँस, सींग तथा धातु आदि की बनी होती थी। अग्निपुराण के अनुसार पतझण के मौसम में उगे हुए बाँस की कमानी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। सम्भवतः धनुष का नामकरण सामग्री के आधार पर ही किया गया है जैसे ताल लकड़ी से निर्मित धनुष को कार्मुक, बाँस के धनुष को दण्ड, दारू लकड़ी के धनुष को द्रूण और सींग से निर्मित धनुष को धनु कहा गया है। धातुओं में अग्निपुराण के अनुसार लोहे, सोना, चाँदी और ताँबे को ही प्रयोग में लाया जाता था (अग्निपुराण २४६।४)। लकड़ी में प्रधानता बाँस को दी जाती थी क्योंकि उसमें लोच अधिक होता है।

डोरी का निर्माण बाँस तन्तु, सन, अर्क आदि लकड़ी तन्तु, मूंज तथा चर्म व जानवरों के स्नायु तंतुओं से बनाई जाती थी। शिव धनुर्वेद के अनुसार रेशम के धागे की या बाँस-तन्तु और रेशम-धागे के योग से बनी डोरी श्रेष्ठ मानी जाती थी। यहाँ तक कि वैदिक काल में गाय के चर्म की डोरी का उल्लेख मिलता है। शिव धनुर्वेद में हिरन व भैंस की स्नायु-तन्तु की तथा भेड़ के चर्म की डोरी का भी उल्लेख है। डोरी की मोटाई छोटी अंगुली (कनिष्ठका) की मोटाई के समान होती थी।

धनुष की लम्बाई भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थी। धनुष का प्रमाण यों तो साढ़े पाँच हाथ भी कहा गया है, किन्तु सामान्यतः चार हाथ का धनुष मानवों के लिए उत्तम माना गया

है, ताकि भारी धनुष होने से थकान न हो और लक्ष्य भ्रष्ट न हो। अग्निपुराण ४ हाथ लम्बे धनुष को निकृष्ट मानता है। हॉपकिन्स ने महाभारत के आधार पर धनुष की लम्बाई ६ हाथ बताई है। ५½ हाथ लम्बे धनुष को ही प्रधानता देता है।.'नीति प्रकाशिका' के मत धनुष तीन लम्बा, त्रिभंगी तथा हाथीदाँत की तरह किनारों पर मुड़ा हुआ होना चाहिए।

सैनिक धनुष को कमानी की बायें हाथ से बीच से पकड़ा जाता था और दाहिने हाथ से कान तक डोरी को खींचना पड़ता था। बड़े धनुष का एक सिरा भूमि पर टेक कर बाये पांव से सहारा देकर हाथ से डोरी खींचीं जाती थी।

बाण—बाण शरकण्डे, बाँस अन्य प्रकार की लकड़ी तथा लोहे का बना होता था, इस आधार पर बाण भी अनेक नाम से पुकारे जाते थे। आचार्य कौटिल्य ने (अर्थशास्त्र २।१८) बाँस से बने बाण को वेणा, शरकण्डे से निर्मित को शर अन्य लकड़ी के दण्ड से बने बाण को शलाका, आधे लोहे और आधे २६७ लकड़ी के बने बाण को दण्डासन तथा सम्पूर्ण लोहे से बने बाण को नाराच कहा है। बाल्मीकि रामायण में बाणों के निम्नलिखित नाम मिलते है, जिनका प्रयोग तत्कालीन युद्धों में किया गया था—अधोगति, अग्निदीप्ति मुख, अंजालंक, अर्द्धचन्द्र, अर्द्धनाराच, आशीविषानन, आशुग, ईहामृगमुख, उल्कामुख, काकमुख, कंकमुख, कंकपत्रिन्, कर्णिन्, खरमुख, क्षुर, क्षुरप्र, कुक्कुट-वक्त्र, ग्रहवक्य, गृध्रमुख, चन्द्रवक्त्र, धूम्रकेतु मुख, नक्षत्र वक्त्र, नतपर्व, नाराच, नागमय, पंचास्य, प्रसन्नाग्र, भल्ल, मकरानन, मार्गण, रूक्मपुंख लेलिहान, बराहमुख, वत्सदंत, विधुज्जिहोपम, विपाट, व्यादितास्य, व्याघमुख, शल्प, शिलीमुख, सिंहमुख, श्रगालवदन, सूर्यमुख, श्वानवक्त्र तथा श्येनमुख आदि।

बाल्मीकि-रामायण में धनुष एवं बाण के द्वारा अलौकिक एवं अद्भुत कार्यों के सम्पन्न होने का उल्लेख है। इसके अनुसार 'वर्षा', अग्नि' एवं व्योम मे गर्जन उत्पन्न कर सकने की क्षमता इन उपर्युक्त बाणों में थी और इनमें से बहुत सम्पूर्ण सेना को एक साथ नष्ट करने की क्षमता रखते थे। इन बाणों को 'सर्प' अथवा अन्य विकराल रूपों में परिवर्तित भी किया जा सकता था। राम ने राक्षस 'खर' का वध करने के लिए 'अग्निदीप्तमुखानि' एवं 'सूर्यमुखानि' नामक बाणों का प्रयोग (दीप्तान क्षिपति नाराचान सर्पानिव महाविषान) किया था।

एरियन तथा स्टेबो ने भी भारतीयों द्वारा छोड़े गये बाण की प्रशंसा में लिखा है कि—"उस समय भारतीय धनुर्धर के प्रहार को सहन कर सकने की क्षमता किसी में न थी। न ढाल न कवच और न अन्य सुरक्षात्मक साधन उन्हें रोकने में सफल हो सकते थे।"

बाण कनिष्ठिका अंगुली के तुल्य मोटे होते थे तथा गति के लिए उनमें कौवा, हंस शश आदि के ६ अंगुल लम्बे चार-चार पंख लगाये जाते थे। इन्हें स्नायु तन्तुओं से बाँधा जाता था। धनुर्वेद में काक, हंस, बगुला, क्रौंच, मोर, गृद्ध आदि चिड़ियों के पंखों का विवरण है, पंखों से बाण की उड़ान शक्ति बढ़ जाती थी। लोहे के बाण में पाँच-पंख लगते थे और सींग के बाण में दस अंगुल लम्बे पंख लगते थे।

फल और पूँछ से बाण के आगे या पीछे के भाग में सन्तुलन रहता था। जिस बाण का फल भारी रहता था वह स्त्री बाण, जिसकी पूँछ भारी रहती थी वह पुरुष बाण और जो आगे-पीछे सम रहता था नपुंसक बाण कहलाता था। स्त्री बाण दूर तक मार करने, पुरुष बाण दृढ़ भेद तथा नपुंसक बाण प्रशिक्षण के लिए प्रयुक्त होते थे।[1]

बाण की लम्बाई तीन-हाथ होती थी। इसका समर्थन शतपथ ब्राह्मण ने भी किया है।

---

१ इन्ट्रोडक्शन टू धनुर्वेद-प्रो० आर. सी. कुलश्रेष्ठ

स्टेबो मौर्य कालीन बाण की लम्बाई ३ हाथ बताता है।[1] कनिंघम ने साँची के चित्रों से लम्बाई ३ से ५ फुट तक मानी है। धनुर्वेद के अनुसार बाण दो हाथ लम्बा बताया गया है।

बाणों के अग्रभाग में फल शुद्ध लोहे के बनते थे, जो सुन्दर, तीखी धार वाले, घाव रहित होते थे। वज्रलेप (पुणकालीन एक रसायन) के द्वारा इन फलों को बाणों पर जोड़ा जाता था। इन फलों में रसायन द्वारा धार दी जाती थी, रसायनों का लेप किया जाता था। फल भी कई प्रकार के होते थे, जिनमें प्रमुख निम्न हैं—

१. आरामुख—आरे के समान मुख वाला (चमड़ा या ढाल काटने के लिए)।
२. क्षरप्र—छूरे की तरह नुकीला और पतला (बाण काटने के लिए)।
३. गोपुच्छ—गाय की पूँछ के समान (लक्ष्य-भेदन हेतु)।
४. अर्द्ध-चन्द्र अर्द्ध-चन्द्र के समान (गर्दन मस्तिष्क तथा धनुष काटने के लिए)।
५. सूचीमुख—सुई के समान नुकीला (धनुष की डोरी काटने तथा कवच भेदन के लिए)।
६. भल्ला भाले की तरह (हृदय में प्रहारार्थ)।
७. वत्सदन्त—बछड़े के दाँतों की तरह (कवच-भेदन के लिए)।
८. द्विभल्लक—दो भाले युक्त (बाणों को मार्ग में रोकने तथा काटने के लिए)।
९. कर्णिक--काँटेदार नोकवाला (लौह बाण काटने के लिए और मुख-भेदन के निमित्त)।
१०. काकतुण्ड—कौवे की चोंच की तरह (लोहे की वस्तु अथवा सरल भेदय वस्तुओं को भेदन के लिए)।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मानसोल्लास, राजतरंगिणी आदि कई ग्रन्थों में आग्नेय फलकों का उल्लेख मिलता है। फलकों में अग्नि प्रज्वलित करने वाले पदार्थ भरे जाते थे। धनुष पर जो बाण चढ़ाकर मन्त्रों से अभिषिक्त करके छोड़े जाते थे, वे अमोघ होते थे। शत्रु को मार कर पुनः लौट कर तरकस में अपना स्थान ले लेते थे। बाणों के प्रयोग (छोड़ने) और संहार (लौटाने) के लिए मन्त्र शक्ति का प्रयोग किया जाता था जब ऐसे बाण चलाये जाते थे तो उनकी शक्ति क्षीण करने के लिए निवारक मंत्र का जप किया जाता था! राम ने धनुर्वेद की स्नातकोत्तर शिक्षा महर्षि विश्वामित्र से प्राप्त की थी। कुछ बाण आधुनिक बन्दूक की तरह 'नल-यंत्र' से भी छोड़े जाते थे। इन्हें 'नालीक' और वैसे छोड़े जाने वाले बाणों को 'नाराच' कहते थे। इन 'नालीक' यंत्रों से बाणों का प्रयोग जहाँ लक्ष्य काफी दूर हो, ऊँचा हो, अथवा दूर से दुर्ग पर प्रहार करना हो, तो वहाँ होता था। बाण छोड़ने हेतु विभिन्न प्रकार के स्थानों और आसनों का भी वर्णन है।

स्थानों (पैंतरे) के प्रकार—तत्कालीन युद्धों के अध्ययन से पता चलता है कि बाण चलाते समय धनुर्धरों को कुछ स्थानों (पैंतरे) को अपनाना पड़ता था। धनुर्वेद के अनुसार स्थान (पैंतरे) आठ प्रकार के होते हैं[2]—

(i) प्रत्यालीढ़—इस पैंतरे में बाँया पैर आगे और दाहिना संकुचित करके दोनों में दो हाथ का अन्तर रहता है।
(ii) आलीढ़—उपरोक्त पैंतरे के विपरीत इस पैंतरे में बाण को दूर फेंकने के लिए दायाँ पैर आगे रहता है।

---

१ ऐंशिमेण्ट इण्डिया-मेक्रीनडले-पृ० ७३
२ इन्ट्रोडक्शन टू धनुर्वेदः प्रो० आर. सी. कुलश्रेष्ठ, पृष्ठ-२०-२१

(iii) विशाख—इस पैंतरे में दोनों पैर बराबर व मध्य में एक हाथ का अन्तर होता है। कठिन लक्ष्य-साधन के लिए इस पैंतरे का उपयोग किया जाता है।

(iv) समपाद—इस पैंतरे में दोनों पैर बराबर मिले होते हैं तथा उनमें किसी भी प्रकार कम्पन नहीं होता है।

(v) असमपाद – इस पैंतरे में बाँया पैर आगे तथा शरीर हाथ की ओर झुका रहता है।

(vi) दुर्दुक्रम—दोनों पैर मोड़कर भूमि पर टिके, यह स्थान दृढ़ भेदन में होता है।

(vii) गरुड़क्रम—इस पैंतरे में बाई जाघ भूमि पर फैली रहती है तथा सीधा पैर इस प्रकार मुड़ा रहता है कि तलवे पर बैठा जा सके।

(viii) पद्मासन—यह प्रसिद्ध पैंतरे धनुर्धरों के लिए विशेष रूप से लाभदायक हैं।

पकड़ (Holding Hc string) **के प्रकार**—बाण छोड़ते समय अंगुलियों की भी विभिन्न मुद्राएँ होती हैं जैसे—

(i) पताका—इस पकड़ में पहली अंगुली अंगूठे की जड़ में होती है तथा नलिका को दूर फेंकने में इस पकड़ का उपयोग किया जाता है।

(ii) वज्रमुष्टि—इस पकड़ में पहली और बीच की अंगुली के बीच में अँगूठा प्रयोग में लाया जाता है।

(iii) सिंहकर्ण—इस पकड़ का प्रयोग दृढ़ लक्ष्य साधन में होता है। इसमें तर्जनी उँगली का ऊपर का भाग अँगूठे के मध्य भाग से मिला रहता है।

(iv) मत्सरी—यह पकड़ चित्र लक्ष्य भेदन में प्रयोग की जाती है और अँगूठे के नाखून से पहली उँगली का ऊपर का भाग मिला रहता है।

(v) काकतुण्डी—इस पकड़ में तर्जनी का मुख भाग अँगूठे के अग्र भाग पर रखा होता है। सूक्ष्म लक्ष्य में उसका प्रयोग है।

धनुर्धरी के लिए चार लक्ष्य नियत हैं—

(१) चर (योद्धा स्थिर हो, किन्तु लक्ष्य चलायमान हो)।
(२) स्थिर (जहाँ योद्धा और लक्ष्य दोनों स्थिर हों)
(३) चलाचल (लक्ष्य स्थिर हो और योद्धा चलायमान हो)।
(४) द्वयचलं (योद्धा और लक्ष्य दोनों चलायमान हों)।

इससे पता चलता है कि तत्कालीन भारतीय योद्धा इस विद्या में बड़े निपुण थे। धनुर्वेद का कथन है कि पहले बाँये हाथ से अभ्यास करना चाहिए, इससे शीघ्र सिद्धि होती है। छोटे बाणों का लक्ष्य क्रमशः ६०,४०, और २० धनुष तथा बड़े बाणों का लक्ष्य क्रमशः ४०,३०,१६ धनुष (१ धनष=४ हाथ) उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है। आधे अंगुल मोटी लोहे की चादर को, अथवा एक साथ २४ चमड़ों का जो धनुष बाण से वेध न करे, उसे दृढ़वेधी कहा गया है। सामने से आते हुए बाण को जो अपने बाण से काट दे, वह 'बाण वेधी' कहा जाता था। किसी लकड़ी पर घोड़े की पूँछ के माल से मक्खी को बाँध-कर उस काष्ठ को दूर से कोई घुमाता रहे और उस मक्खी को जो वेध सके वह 'धनुर्धर' कहा गया है। धनुर्वेद का मत है कि अभ्यास बना रहे, एतदर्थ, शिक्षोपरान्त प्रतिवर्ष विजयादशमी के बाद दो मास शस्त्राभ्यास करना चाहिए।

रामायण बाण और धनुष के आविष्कार का श्रेय दक्ष की दो पुत्रियों जया एवं सुप्तमा को देता है। वशिष्ट ने भी एक विशेष प्रकार के तीर का उल्लेख किया है, जो सम्पूर्ण लोहे का

निर्मित था एवं इसमें पाँच पंख लगे हुए थे और इसका नाम 'नाराच' था। हीरोडोटस के लेखों में भी इस बात का संकेत है कि गांधारवासी खागर, धनुष एवं लम्बे भालों का प्रयोग करते थे, जबकि भारतवासियों का धनुष लम्बा एवं बेंत द्वारा निर्मित होता था तथा उनके तीरों के शीर्ष लोहे से मढ़े हुए थे। तक्षशिला के 'ट्राइबल सिक्कों' के वर्ग दो, श्रेणी दो में हम लेख एवं चक्र के साथ धनुष-बाण का अकन पाते हैं। कनिंघम ने अपनी प्लेट ३ चित्र संख्या १४ में एक ऐसे ही सिक्कों का उल्लेख किया है। कोल्हापुर के प्रारम्भिक सिक्कों में बाण एवं धनुष बहुतायत मिले हैं। अनेकानेक 'इण्डोसीथियन' एवं 'इण्डोपार्थियन' (दूसरी शती ई० पू०) सिक्कों में तीर एवं धनुष का व्यापक उल्लेख है।

बाण और धनुष का अवलोकन भारहुत (प्रथम शती० ई० पू०) एवं साँची की मूर्तिकलाओं में भरपूर किया जा सकता है। भरहुत के एक स्तूप में नाव, रथ, तलवार के साथ सिपाहियों का एक समूह चित्रित है, जो हाथों में धनुष-बाण लिए हुए हैं। साँची स्तूप के दक्षिणी द्वार के निचले भाग में एक युद्ध-दृश्य का अंकन है, जहाँ सैनिक-वर्ग दुश्मनों पर प्रस्तरों तथा धनुष-बाण से प्रहार कर रहे हैं। यहाँ हमें सम्भवतः पहली बार तरकस के भी दर्शन होते हैं, जो तीरों से भरे हुए हैं, एवं सैनिकों के पीठ के दायें भाग पर बँधे हैं जिससे यह पता चलता है कि एक तरकस में लगभग २० बाण होते थे जो रण-क्षेत्र में पीठ पर दाहिनी ओर बाँधा जाता था।

आन्ध्रप्रदेश के गुन्तूर जिले में स्थित नागर्जुनीकोण्डा संग्रहालय में तीसरी शती ई० की एक काँसे की सुन्दर प्रतिमा उपलब्ध है, जिसमें राजकुमार (राम अथवा सिद्धार्थ) एक धनुष को हाथ में लिये खड़े हैं। धनुष काफी लम्बा है एवं सुडौल भी पर प्रत्यंचा का स्पष्ट अंकन नहीं है। अमरावती के एक स्तम्भ (तीसरी शती ई०) में एक लम्बे धनुष का आभास मिलता है, जिसकी तुलना पाँचवी शती की उड़ीसा की गुफाओं में उपलब्ध धनुष से की जा सकती है। तक्षशिला की खुदाई में अनेक प्रकार के बाण-नोक उपलब्ध हुए हैं। इन्हें सम्भवतः लकड़ी के स्तम्भ में बाँधा जाता था, क्योंकि इनमें स्तम्भ में स्थिर करने के लिए लम्बी नोक लगी हुई है। सर जान मार्शल ने तक्षशिला के बाण-नोकों को सात प्रकारों में विभाजित किया है। यहाँ त्रिकोणीय, पत्तीनुमा, भालानुमा आदि प्रकार के बाण-नोंक मिले हैं। उनकी पुस्तक का नं० ७२ पत्तीनुमा बाण एवं नं० ७३ त्रिभुजाकार है। सर आरेल स्टाइन की खोजों ने मध्य-एशिया के कुछ बाण, नोकों का भी पता लगाया है, जिससे उस प्रदेश एवं भारतीय संस्कृति के बीच आदान-प्रदान का पता चलता है। यहाँ प्रस्तर एवं 'चर्ट' के प्रस्तरयुगीन बाण भी मिले हैं। यह भी पता लगता है कि दूसरी-तीसरी शती ई० में पत्थर के स्थान पर ताँबे एवं काँसे के बाण-नोकों का प्रयोग होने लगा था। यहीं पर हमें एक लोहे का बाण-नोंक भी मिला है। नं० एम तग० ३ और एम० तग ९००१७ में धनुष के प्रमाण भी मिले हैं। लकड़ी के धनुष का उदाहरण नं० टी ४३, ० भी है।

अजन्ता के कलाकारों की सूक्ष्म-दृष्टि से धनुष-बाण न बच सके। इस कला में लगभग दो दर्जन विविध अस्त्रों का चित्रण है, जिसमें केवल तीर-धनुष के लगभग ५० से भी अधिक बार दिखाया गया है। गुफा नं० १ एवं २ में इसका उल्लेख है। गुफा नं० १७ में तो इसके अनेक उदाहरण हैं। यहाँ अंकित 'छदन्त-जातक' की कहानी में छः दाँतों वाले हाथी को एक दम्पति देख रहा है। पुरुष ने एक धनुष पकड़ रखा है एवं उसके पास बाणों का एक समूह है। 'महाकपि जातक' की कहानी में बनारस के राजा के रक्षार्थ अनेक सैनिक हैं जो तीर-धनुष धारण किये हुए हैं। गुफा नं० १७ में भी 'शरभ जातक' चित्रित है, जहाँ राजा अपने मन्त्री

के साथ उन्मत्त घोड़ों पर बैठकर शिकार खेलने जाता है और उन दोनों घोड़ों की काठी में तीरों से भरे तरकस सुसज्जित हैं।

जब अपने अन्धे माता-पिता के लिए एक मात्र पुत्र श्याम एक कमल-कुण्ड से जल निकाल रहा था कि बनारस के राजा ने मृग के धोखे में उस पर बाण चला दिया (प्लेट नं० ४४-४६)। प्लेट नं० ६८ में राजा की पीठ से एक तरकस बँधा हुआ है, जिसमें चमड़े की पत्तियाँ लगी हुई हैं जबकि राजा अपनी रानी से उसके द्वारा स्वप्न में देखे गये स्वर्णिम हिरण की कहानी सुन रहा है। पर धनुर्विद्या के खेल का सबसे सुन्दर अंकन प्लेट नं० ६६ अ-ब में है जहाँ एक शिकारी दैवी-सुअर को पकड़ने के प्रयास में असफल हो जाता है तब वह अपने साथी से उसे मारने को कहता है। साथी द्वारा खींच कर मारा गया बाण सुअर के पीठ में बिधा हुआ स्पष्ट दीखता है।

मद्रास के तंजौर जिले में स्थित सरकारी संग्रहालय में राम, लक्ष्मण, सीता एवं हनुमान् की एक कास्य-मूर्ति है। प्रा० चोल : ११वीं शती० ई०) में राम को धनुष-बाण धारण करने की मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। मदुराई की चौदहवी शती की एक राम-प्रतिमा के कन्धे पर सुन्दर तरकस बाण सहित सँजोया गया है। एलोरा के प्रस्तर-खण्ड (८वीं शती ई०) में शिव तारक का वध कर रहे हैं एवं एक लम्बी धनुष धारण किये हुए हैं। सैय्यद मुहम्मद बुध ऊर्फ सैय्यद अली मीर अलवी ने धनुर्विद्या पर एक पूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम 'हदीयुतुररमी' है और जो उसने जौनपुर-नरेश अलाउद्दीन (ल० १४५८ ई०) के लिए लिखी थी। इल्तुतमिश के ही समय से भारत में 'क्रास-धनुष' का प्रारम्भ हो चला था। यह एक प्रकार की नलीयुक्त मशीन थी जिसमें प्रत्यंचा को खींच कर बाण एवं गोले आदि फेंके जाते थे। सम्भव है भारत में तोपों का आधार यही क्रास धनुष हों ?

उपर्युक्त विवरणों से धनुष-बाणो का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। रामायण काल में बाणों पर नाम लिखने की भी प्रथा थी। अशोकवाटिका में रावण के अनुचित प्रेम-प्रस्ताव पर सीता ने उसे झिड़कते हुए कहा था कि वह समय दूर नहीं है, जब तुम्हारे यहाँ राम-लक्ष्मण नाम वाले शरों (बाण) की झड़ी लगने लगेगी (इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः ५।११।२५)। बाल्मीकि ने लंका की समस्त रण-भूमि को राम-नाम-धारी बाणों से व्याप्त बताया है (६।४४।२३)। आतंकित राक्षसों के मुख से यह आशंका प्रकट हो जाती थी कि राम-नाम वाले बाणों से हमारे शरीर क्षत-विक्षत हो जायेगे (विदार्य स्वतनुं बाणै रामनामांकितैः शरैः, ६।६४।२५)।

२. तलवार (खड्ग)—भारतीय अस्त्र-शस्त्रों में तलवार का हमेशा ही एक प्रमुख स्थान रहा है। भारतीय ग्रन्थों तथा खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह पता चलता है कि भारतीय शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण के बहुत बाद में तलवार का प्रादुर्भाव हुआ। हमें इसके आविष्कार के बारे में स्पष्ट पता नहीं चलता, किन्तु महाभारत के शान्तिपर्व में इसकी उत्पति एक रोचक वृत्तान्त मिलता है। इस पर्व में बताया गया है कि ब्रह्मा ने असुरों द्वारा पीड़ित देवों की प्रार्थना पर एक पवित्र अग्नि प्रज्वलित की, जिसमें से तेज धार वाली खड्ग (असि) का आविष्कार हुआ। वैसे तलवार के ऐतिहासिक प्रारम्भ के बारे में हमें पूर्व पाषाण युग (लगभग १६,००० ई० पू०) के चाकू, खंजर एवं उत्तर-पाषाण युग (लगभग ३,००० ई० पू०) के भालों का अवलोकन करना होगा और यही उचित होगा कि इन भालों को ही हम तलवार (खड्ग) का जनक मान लें। माइकेल नैस्तुर्ख ने अपनी पुस्तक 'ओरजिन ऑफ मैन' में तलवार की शक्ल के भालों एवं उन्हें सीधा करने वाले यन्त्रों का उल्लेख किया है।

सिन्धु-सभ्यता में खड्ग एक विवादास्पद वस्तु है। यद्यपि सर जान मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी है कि तलवार, जो गंगा-यमुना सभ्यता का एक प्रमुख शस्त्र है, का उपयोग सिन्धु-सभ्यता में नहीं मिलता। पर लेखक विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता श्री मैके से अधिक सहमत हैं कि इन लम्बे फल वाले शस्त्रों को तलवार मानना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इनके शीर्ष कुन्द हैं एवं किनारे धारयुक्त। इस प्रकार ये भोंकने वाले न होकर काटने वाले शस्त्र थे अतः इन्हें तलवार की श्रेणी में ही रखना चाहिए। श्री ह्यूजे ने अपनी पुस्तक में ऐसी ही एक तलवार का वर्णन किया है, जो सुमेर में प्राप्त है एवं १६ इंच लम्बी है। दूसरी तलवार जो अपेक्षाकृत बाद की है, भिण्ड में श्री पैट्री को मिली है। इन तलवारों से यह स्पष्ट है कि २५०० ई० पू० के लगभग भारत, सुमेर एवं फिलिस्तीन तीनों ही स्थानों में तलवार का उदय हो चुका था।
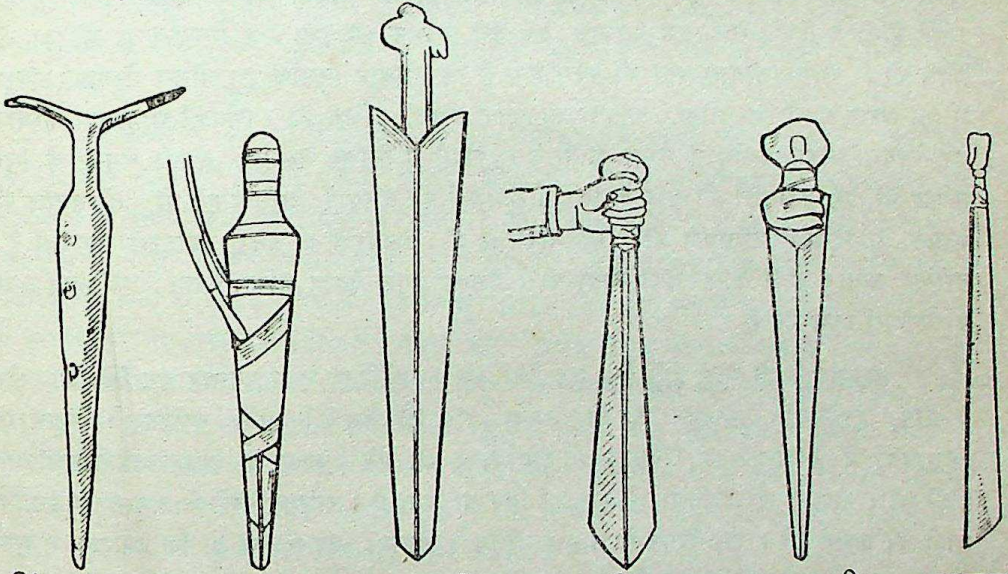
पंजाब में फोर्ट मुनरों से प्राप्त काँसे की तलवार प्रथम ऐतिहासिक एवं निश्चित रूप से तलवार का आधुनिक रूप मानी जा सकती है। इसमें मध्य-एशियाई प्रभाव है, अतः इसे हड़प्पा-सभ्यता के बाद ही (लगभग १२०० ई० पू०) समझना चाहिए। लेकिन तलवार का क्रमबद्ध विकास लौह युग से हुआ। लौह युग का प्रारम्भ यजुर्वेद संहिता (लगभग १००० ई० पू०) से कुछ पूर्व का मानना चाहिए क्योंकि इसी में हमें सर्वप्रथम लोहा एवं लोहे से निर्मित पदार्थ मिलते हैं। प्रारम्भ में लोहे का प्रयोग केवल आभूषण के लिए होता था और बाद में अस्त्र-शस्त्र हेतु। साधारण एवं सीधी तलवारें तो धातु के टुकड़े काट कर ही बना दी जाती थी, पर अधिकतर लोहे को गला कर पत्थर या मिट्टी के साँचे में ढाल कर इच्छित स्वरूप दे दिया जाता था। विश्व में सम्भवतः कोई स्थान ऐसा न था, जहाँ भारतीय लोहे की धूम न मची हो।

टेशियस (५वीं शती ई० पू०) ने पार्शियन सम्राट एवं राजमाता द्वारा प्रदत्त दो भारतीय तलवारों का वर्णन किया है।

धनुर्वेद में अस्त्र-शस्त्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है—मुक्त, अमुक्त, यन्त्र-मुक्त एवं यन्त्रयुक्त। तलवार अमुक्त श्रेणी में आती है, क्योंकि यह हाथ से पृथक नहीं होती है। संस्कृत-साहित्यों में इसके कई रूप वर्णित हैं, जैसे नितृम्य, विशयन, खंग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय एवं धर्ममूल (धर्म-रक्षक)। ये नाम सम्भवतः तलवारों की विशेषताओं के आधार पर ही निर्धारित किये गये हैं। आचार्य कौटिल्य (अर्थशास्त्र २।१८) ने तीन प्रकार के तलवारों का वर्णन किया है। पहली का मूठ वक्र होता था एवं इसका नाम 'निश्त्रिंश' था, दूसरी लम्बी एवं धारयुक्त थी तथा इसका नाम 'असियष्टि' था एवं अन्तिम तलवार सीधी तथा अर्द्ध-चन्द्राकार मूठयुक्त थी और उसे 'गण्डलाग्र' कहा जाता था।

बाल्मीकि-रामायण के अध्ययन से हमें केवल तीन प्रकार के तलवारों का परिचय मिलता है—'असि' 'खड्ग' तथा ऋष्टि। असि लम्बी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार थी। अच्छी तलवार का रंग कुक्कू की ग्रीवा की भाँति होना चाहिए एवं चलने में सनसनाहट की ध्वनि होनी चाहिए। सुन्दरतम तलवार ५० इंच, मध्यम ४६ इंच एवं निम्न-कोटि की ३६ की होती थी। श्रीगायत्रीनाथ पन्त जी का कहना है कि तलवार निर्माण हेतु जौगल में प्राप्त पंडास लोहा, अम्पा का काला लोहा, सतहर्ण का सफेद लोहा, कलिंग का स्वर्णवर्णी लोहा एवं कम्बोज का तैलयुक्त लोहा प्रयोग में लाया जाता है। खाती में निर्मित तलवारें अपनी चमक के लिए प्रसिद्ध थीं, तो कांसिकी की मार के लिए। सुप्रासक की तलवारें अधिक दृढ़ थीं, तो बंगाल की अधिक धारयुक्त। रामायण और महाभारत में भी तलवारों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। तलवार अक्सर बायीं तरफ बाँधी जाती थी। इसका प्रमुख देवता अग्नि, नक्षत्र रोहणी एवं प्रथम धारणकर्त्ता स्वयं रुद्र थे।

तलवार के दो भाग होते हैं—मूठ तथा फल। कौटिल्य के मतानुसार मूठ गेंडा और भैंस के सींग, हाथी-दाँत, मजबूत लकड़ी अथवा बाँस की जड़ की होनी चाहिए।[1] महाभारत (सभापर्व) में स्वर्ण-मूठ का विवरण भी मिलता है जो अनेक प्रकार के जवाहरातों से सुसज्जित होती थी। बाण ने भी मोतियों की मूठ का विवरण दिया है। राजतरंगिणी के अनुसार मूठ सोने, चाँदी की बनती थी। इन विवरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कौटिल्य ने मूठ-निर्माण-वस्तुओं का जो विवरण दिया है, वहीं सामान्यतः प्रयोग में आती होंगी, क्योंकि अन्य विवरण कीमती मूठों से सम्बन्ध रखते हैं। हाँ राजाओं के पास कीमती वस्तुओं से निर्मित मूठ-युक्त तलवारें होती थी ! मूठों की आकृति का विशेष विवरण नहीं मिलता है, लेकिन अजन्ता के चित्रों से अंग्रेजी के अक्षर 'वी' (v) की भाँति की मूठ का परिचय मिलता है जिसकी ऊपर की घुण्डी गोल होती थी।

तलवार के फल की आकृति कौटिल्य द्वारा वर्णित तीन प्रकार की तलवारों के नामों से ही स्पष्ट हो होती है। अग्निपुराण के अनुसार कमल की पङ्खुडी की नोंक के समान फल वाली तलवार को श्रेष्ठ माना जाता था। ऐरियन ने चौड़े फल वाली तलवार का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में तलवार निर्मित करने के कई केन्द्र थे। खत या खत्तर प्रदेश में बनी तलवार सुन्दरता के लिए; ऋषिक की काटने की क्षमता के लिए; शुर्मारक की बनी मजबूती के लिए;

---

१ अर्थशास्त्र २।१२

अंग प्रदेश में निर्मित तीक्ष्णता के लिए तथा वंग देश में बनी तलवार प्रहार तथा तेज धार के लिए प्रसिद्ध थी।[1]

आहत मुद्राओं (पंचमार्क सिक्के) एवं देशी-राजाओं के सिक्कों (ट्राइबल क्वायन्स) में तलवार का अंकन तो नहीं है पर, इण्डोसीथियन-नरेशों के सिक्कों में सीधी एवं वक्र दोनों प्रकार की तलवारों का आभास मिलता है। भारहुत एवं साँची की कलाकृतियों में तलवारों के दर्शन होते हैं। भरहुत का सिपाही एक चौड़ी एवं दुधारी तलवार एक पेटी के सहारे बाँये कन्धे से लटकाये हुए हैं। साँची के सिपाहियों के तंग वस्त्र हैं एवं तलवारें छोटी पर बहुत अधिक चौड़ी हैं। अमरावती के एक स्तम्भ में हमें सीधी तलवार का चित्रण दिखाई पड़ता है, जिसकी तुलना उड़ीसा के पर्वतीय गुफाओं (५ वीं शती ई०) से की जा सकती है। लेकिन सबसे अधिक विख्यात प्रतिमा कनिष्क (प्रथम शती ई०) की मथुरा संग्रहालय की है। मथुरा-शैली में निर्मित लाल प्रस्तर की प्रतिमा के हाथ में सीधी, दुधारी एवं चौड़ी तलवार है। मथुरा के ही सूचिका-स्तम्भ (प्रथम शती राष्ट्रीय संग्रहालय) में एक स्त्री 'खंग-नृत्य' कर रही है यह खांड़नुमा तलवार है।

भारतीय तलवारों का दिग्दर्शन विदेशों में भी प्राप्य है। श्री गायत्री नाथ पंत के अनुसार जावा के बोरोबोतुर मूर्तियों के एक युद्ध-दृश्य में वक्र तलवार एवं गोल ढाल दीखते हैं, जबकि कम्बोडिया के अंगकोरवत मन्दिरों में दोनों हाथों से चलाई जाने वाली तलवारों का दर्शन किया जा सकता है।

भुवनेश्वर के मन्दिरों में प्राचीन शिल्प चित्रकारी में अश्वारोही योद्धाओं के पीछे पैदल सैनिक कार्य करते हुए दिखाये गये हैं जिसमें योद्धाओं और पैदल सैनिकों को धनुष-बाण और तलवारों से सुसज्जित दिखाया गया है। तलवारें सीधी आकार की हैं। अजन्ता की चित्रकला में तलवार का भरपूर चित्रण किया गया है। गुफा नं० १७ में अंकित 'महाकपि जातक' की कहानी में बनारस के राजा के रक्षार्थ अनेक सैनिक तलवार धारण किये हुए खड़े हैं। यहाँ के अंकित चित्रों में क्रोधातुर राजा द्वारा एक स्त्री पर तलवार प्रहार, तलवार एवं तलवार पेटी के साथ राजा का शयन तथा सौदाश द्वारा तलवार के धुआँधार प्रहार से समस्त सेना को भगा देना दिखाया गया है। यहाँ की तलवार की प्रमुख विशेषताएँ हैं—दुधारी होना, गोल मूठ, काली म्यान, म्यान के नीचे लगा हुआ तैनाल एवं तलवार लटकाने वाली पेटी। अंजता के साथ मुगल, राजपूत, पहाड़ी, दक्षिणी, देशी स्कूल एवं कम्पनी कलाशैलियों में भी तलवार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। चित्र नं० ५ तलवार के विकास क्रम को स्पष्ट करता है।

तलवार चलाने की कला—तलवार चलाने की कला, युद्धकला की अत्यन्त उत्कृष्ट और वीरोचित कला मानी जाती है। कभी-कभी इसको मुक्त शस्त्र की भाँति फेंककर भी मारा जाता था। महाभारत द्रोणपर्व में इसके प्रयोग के कई भेद बताये गये हैं। अग्निपुराण (२५१।४) तथा नीति प्रकाशिका (अध्याय ३) में भी कई विधियों का उल्लेख किया गया है। सैनिक इसका प्रयोग केवल दाहिने हाथ से करते थे किन्तु मुठभेड़ के युद्ध में वे दोनों हाथों का प्रयोग करते थे। रामायणकालीन युद्धों में तलवारों का प्रयोग तो होता था, किन्तु आदि कवि ने उसके प्रयोग-विधि पर प्रकाश नहीं डाला है। लेकिन तो भी तत्कालीन युद्धों में युद्ध-विशारद रण क्षेत्र में निम्न विधियों को काम लाते होंगे—

(i) भ्रांतः—युद्ध में तलवार को जब चालक मंडलाकार घुमाता है, तो उस विधि को 'भ्रान्त' कहा जाता है।

---

१ अग्निपुणा २४५-२१

(ii) उद्भ्रान्तः—मण्डलाकार तलवार के घुमाने की विधि को जब हाथ उठाकर प्रदर्शित किया जाय तो उसे उद्भ्रान्त कहा जाता है।

(iii) आविद्धः—शत्रु के बाणों से अपनी रक्षा करने के लिए जब योद्धा अपने शरीर के तलवार घुमाता है, तब उसे आविद्ध कहते हैं।

(iv) चालक जब युद्ध-भूमि में शत्रु पर आक्रमण करने के लिए चारों ओर तलवार को घुमाता है तो उसे अप्लुत कहते हैं।

(v) प्रसृत—तलवार की नोंक से शत्रु के ऊपर प्रहार करने को प्रसृत कहा जाता है।

(vi) सृतः—शत्रु को भुलावा देकर उस पर तलवार से प्रहार करने को 'सृत' कहा जाता है, लेकिन ऐसा कार्य पैंतरा बदलने में निपुण योद्धा ही कर सकता है।

(vii) शत्रु के बायें और बायें भाग में तलवार चलाकर आक्रमण करे तो उसे 'पारिवृत' कहा जाता है।

(viii) निवृतः—शत्रु पर उसके दांये-बांये आक्रमण करके पीछे हटने की विधि को 'निवृत' कहते हैं।

(ix) सम्पातः—दोनों योद्धाओं का परस्पर जब घात-प्रतिघात होता है तब उसे सम्पात कहते हैं।

(x) समुदीर्णः—तलवार चलाने में अपनी विशेषता प्रदर्शित करना समुदीर्ण कहा जाता है।

(xi) भारतः—प्रदर्शन-भूमि में अंग-प्रत्यंग से तलवार चलाने को 'भारत' कहा जाता है।

(xii) सात्वतः—ढाल की आड़ में तलवार चलाने की कला को सात्वत कहा जाता है।

(xiii) प्लुप्तः—तलवार चलाते हुए एक ही दिशा में आगे बढ़ना 'प्लुप्त' कहा जाता है।

३. गदा—रामायणकालीन भारत की गदा भी एक प्रमुख हथियार रही है। सिन्धु घाटी के प्राप्त अवशेषों से यह पता चलता है कि इसका प्रयोग अति प्राचीन काल से ही होता रहा है। आचार्य कौटिल्य ने इसे चल यन्त्रों में स्थान दिया है। रामायण में 'गदा' तथा महाभारत में इसे "अयोमयी गदा या सर्वायसी गदा"[१] के नाम से सम्बोधित किया गया है। इससे यह प्रतीत है कि यह लोहे की बनती थी। नीति प्रकाशिका[२] के अनुसार यह लोहे की चार हाथ लम्बी सौ कीलों से युक्त होती थी। शुक्र ने इसे अष्टभुजाकार बताया है। भीष्मपर्व (५१।२८) के अनुसार यह लोहे की चार हाथ लम्बी, षट्भुजाकार होती थी। फिर भी जो कुछ भी हो चार हाथ लम्बी गदा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है जो हाथी को भी आघात पहुँचा सकती हो। इसका प्रयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। अग्निपुराण १२ आदिपर्व में चार विधियों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में यह विशेष रूप से विष्णु का ही आयुध है। कुछ ऐसी भी गदाओं का उल्लेख किया गया है जिनका ऊपरी भाग पतला और नीचे का भाग अपेक्षाकृत मोटा होता था। पूर्ववर्ती कला में इसका चित्रण सदा हुआ है (चित्र ६) और परवर्ती कला में कुछ अलंकृत (चित्र ७ तथा ८)। प्रतिमाओं द्वारा इसका ऊपर का पतला भाग पाँचों अँगुलियों से पकड़ा जा सकता था। कभी-कभी मोटा वाला भाग धरती पर टिका होता था और पतले भाग के ऊपरी सिरे पर देवता का हाथ रखा रहता था। सबसे बड़ी बात तो यह थी इसके द्वारा दोनों ही सिरों से शत्रु पर चोट की जा सकती थी। कहा जाता है कि यह प्रक्षेप अस्त्र का भी काम देता था। हिन्दू-देवता

१ द्रोणपर्व १५।४; सल्य पर्व ३२।३७
२ ५।२६-३०

संघ में गदा के साथ अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करने वाले प्रमुख देवता महाविष्णु हैं। विष्णु की सर्वप्राचीन मूर्तियाँ वे हैं जो मथुरा से मिली हैं और वहीं के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। ये मूर्तियाँ कुषाण-काल की अर्थात् आज से लगभग १७०० वर्ष पुरानी कलाकृतियाँ हैं। इसमें गदा का आकार मलखम्भ या बड़ी जोड़ी के एक टुकड़े जैसा है। कुषाण-काल में उसे उलटा अर्थात् मोटा भाग ऊपर तथा पतला भाग नीचे करके पकड़ा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण-काल में प्रारम्भ से ही यह शस्त्र बड़ा लोकप्रिय था। वेम की गदा में तो बड़े बड़े काँटे लगे हैं। इसी काल की दूसरी कला पद्धति गांधार-कला में भी ऐसे ही एक शस्त्र के दर्शन होते हैं, जिसमें काँटों के स्थान पर बुलबुलों जैसे लोहे के गोले जड़े हैं। गुप्तकाल के प्रारम्भ से गदा के विकसित रूप के दर्शन होने लगते हैं। लेकिन यहाँ गदा का आकार जोड़ी से मिलने वाला तो है पर नीचे वाले छोर में पहलूदार एक छोटा गोला बढ़ गया जिसे शास्त्रीय भाषा में 'कुम्भ' कहा गया है। जिस प्रकार त्रिशूल को पुरुष रूप में बताया गया, उसी प्रकार गदा को स्त्रीरूप में बताया जाता था।

मध्यकाल में (आज से ७०० वर्ष पूर्व) गदा के आकार में पुनः कुछ परिवर्तन हुए। अब 'कुम्भ' प्रमुख हो गया तथा जोड़ी के समान दिखलाई पड़ने वाला भाग शनैः शनैः पतला होने लगा। ऐसी ही एक प्रतिमा लखनऊ के राज्यसंग्रहालय में प्रदर्शित है। आदर्शवाद के चक्कर में पड़कर इस काल के कतिपय कलाकारों ने त्रिशूल के समान विष्णु की गदा को भी अस्वाभाविक रूप दिया अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि नवीनत कोमलाङ्ग विष्णु के मार्दव को फबने वाली गदा बनाने के फेर में उन्होंने उसके भारीपन को पूरी छूट दे दी। किन्तु गदा का यह अन्तिम रूप लोकप्रिय न हो सका। फलतः गदा का बाद रूप भी एक भारी गोले से लगे हुए डण्डे का ही बना रहा। उत्तर मध्यकालीन चित्रों में हनुमान, विष्णु, बालि, सुग्रीव, भगवती दुर्गा आदि के हाथों जो गदा दिखलाई पड़ती है, उसका यही रूप है। किन्तु लंका-युद्ध में रावण सेनापति धूम्राक्ष ने हनुमान के ऊपर बहुत से काँटों युक्त एक गदा द्वारा प्रहार किया जिसकी हनुमान ने कुछ भी परवाह न की (६।५२।३५-३६)।

उपर्युक्त प्रसंग से यह स्पष्ट पता चलता है कि रामायण काल में गदा लोहे का बहुत भारी एक डण्डा सा होता था और इसके अगले सिरे पर बहुत सी कीलें लगी होती थीं। शत्रु के मारने के अतिरिक्त कभी-कभी इससे शिलाखण्डों को तोड़ा जाता था। राम-रावण युद्ध में वानरी सेना का संहार करने के लिए राक्षस सैनिकों ने गदा का प्रयोग समुचित मात्रा में किया था। एकाध स्थलों पर हनुमान् और सुग्रीव को भी गदा द्वारा राक्षस सैनिक से युद्ध करते आदि कवि बाल्मीकि ने दिखाया है।

४. **शूल अथवा त्रिशूल**—रामायणकालीन शस्त्रों में शूल अथवा त्रिशूल का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वैसे यह आयुध शिव को बहुत प्रिय है। यह लोहे का बना होता था। कभी-कभी इसका अगला सिरा पीतल का भी होता था। इसकी लम्बाई लगभग छः फीट होती थी। रामायण कालीन युद्धों में इसका प्रयोग काफी हद तक हुआ था, जिसका प्रमाण राम-रावण युद्ध है। जब राम ने अपने बाणों की बौछार द्वारा रावण को परेशान कर दिया, तब रावण ने क्रोधित होकर शूल उठा लिया, जिसके भयंकर सिंहनाद से रणक्षेत्र की दिशाएँ गूँज उठी। उस विशाल शूल को लेकर राम से बोला—हे राम! देख, यह वज्र के समान कठोर शूल तेरे ऊपर चलाता हूँ, जो भ्राता सहित तेरे प्राणों को हरण करेगा और अन्ततोगत्वा रावण शूल को राम के ऊपर छोड़ देता है। रावण के हाथ से छूटा हुआ वह शूल आठ घंटों सहित घनघनाता हुआ आकाश में बिजली की तरह शोभित होने लगा (६।१०४।१८-२१)।

इस शूल की भयंकरता का वर्णन आदि कवि वाल्मीकि ने बहुत ही पटुता के साथ किया है। रावण छोडे गये भयंकर और ज्वलन्त शूल प्रभाव को निष्क्रिय बनाने के लिए बाणों की वृष्टि उसी प्रकार की जिस प्रकार धधकती हुई प्रलय की आग को बुझाने के लिए मूसलाधार जल वर्षा की जाती है। लेकिन शूल ने राम के चलाए हुए बाणों को उसी तरह जलाकर भस्म कर डाला, जिस प्रकार आग पतंगों को भस्म कर डालती है (युद्धकाण्ड ।१०४।२२-२०) ।

शिल्प-कला में शूल कई रूपों में अंकित है, किन्तु सामान्यतया एक लम्बे दण्ड में ऊपर लगे विभिन्न आकार के तेहरे नुकीले शूलों के रूप में इसका चित्रण देखने को मिलता है जैसे चित्र नं० २६, २७, २८। राजघाट (वाराणसी) में बहुत बड़ी संख्या में मिट्टी की मुहरें मिली हैं, जिन पर व्यक्तिगत नामों के साथ कई वस्तुओं के चित्र भी बने हैं। इनमें से कुछ मुहरों पर शिव का वाहन वृष और आयुध शूल बना है तथा नीचे की ओर तत्कालीन ब्राह्मी में 'जयकस' लिखा हुआ है। यहाँ दृष्टिगत होने वाला शस्त्र शुद्ध रूप में 'त्रिशूल' नही है, यह है 'शूल' जिसके ऊपर केवल एक ही नोक या 'फल' है, शेष दो नोकें नीचे की ओर मुड़ी हुई हैं (चित्र नं० १)। ऐसे ही 'शूल' 'देवपालि' और दाम घोष की मुहरों पर भी बने है (चित्र न० २-३)।

शूल के रूप को समझने के लिए प्रागैतिहासिक काल के शस्त्रों की ओर एक बार मुड़कर देखना होगा। इस प्रकार के शस्त्र उत्तर प्रदेश से भी प्रचुर मात्रा में मिले हैं, जिनमें से कई राज्य-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें नीचे की ओर मुड़े हुए ६ नोकों वाले शूल का दर्शन होता है (चित्र ५)। इन शस्त्रों का काल लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन अर्थात् ई० पू० १००० आंका गया है। इस प्रकार के शूल की ऊपर की नोंक शस्त्र को शरीर में प्रविष्ट कराने के लिए होती है और नीचे वाली नोकें उससे भी भयंकर कार्य अर्थात् प्रविष्ट शस्त्र को सरलता से बाहर न निकलने देने या हठात् निकाले जाने पर मांस के लोथड़ों को बाहर खींच लाने के लिए होती हैं।

कुछ मुहरों पर त्रिशूल के संदिग्ध आकार भी मिले हैं (चित्र-४)। इन्हें हम संदिग्ध इसलिए मानने को बाध्य होते हैं कि यह त्रिशूल न होकर 'त्रिरत्न' भी हो सकता है। जैन और बौद्धों के चिह्न 'त्रिरत्न' का प्रयोग भारतीय कला में खुलकर हुआ है। बहुमूल्य कण्ठाभूषणों से लेकर तलवार के म्यान तक को सजाने तथा तोरणद्वार के शिखरों से स्वयं बुद्ध के प्रतीक बन जाने तक 'त्रिरत्न' की व्याप्ति काफी हद तक देखी जा सकती है। 'त्रिशूल' के रूप से ही 'त्रिरत्न' का उद्भव हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'त्रिशूल' का मूल रूप और उसका शिव से सम्बन्ध आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व ही निश्चित सा हो चुका था। उत्तर भारत में औदुम्बरों के गण-राज्य में प्रचलित ताँबे के छोटे चौकोर सिक्कों पर शिव मन्दिर के बगल में गड़ा हुआ परशु युक्त त्रिशूल देखा जा सकता है। इस 'त्रिशूल' में एक ध्वज भी लटक रहा है। इसके बाद कुषाण-काल में स्पष्ट रूप से त्रिशूलधारी शिव के दर्शन होने लगते हैं। ईसवी सन् की चौथी से छठी शताब्दी तक दक्षिणी-भारत में परशु शिव की सेवा करता रहा। पर उत्तर भारत में शिव के हाथ में अनिवार्यरूप से विराज का सम्मान त्रिशूल को मिला।

यहाँ त्रिशूल के नये साथी भी मिलने लगे। अब उसका कुषाण काल वाला सीधा-सादा रूप बदलने लगा और उसमें धीरे-धीरे कलात्मकता की मात्रा बढ़ने लगी। त्रिशूल का बीच वाला फाल अब कालिकाकार बना और उसके अगल-बगल के फाल बाहर्मुख हो गये। पर इसके साथ त्रिशूल की भयंकरता को बढ़ाने वाले नोकों को भी आँखों से ओझल नहीं किया गया। अगल-बगल के फालों से नीचे की ओर मुड़ी हुई दो और नोकें बन गई (चित्र ७)। बंगाल की पालकृतियों में त्रिशूल का अंकन किया गया है, जिसमें उसके अगल-बगल वाले फाल मध्यफाल की ओर झुकते हुए बने हैं (चित्र १२)। लेकिन यह झुकाव इतना अस्वाभाविक हो गया है और इसमें कलात्मकता

की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि शस्त्र का मूल उपादेय रूप लुप्त प्राय हो जाता है। विंध्याचल के अष्टभुजा नामक स्थान से प्राप्त शैव-मूर्तियों में अथवा खजुराये की प्रतिमाओं में जो त्रिशूल दिखलाई पड़ते हैं उनमें कई ऐसे ही हैं। यही बात कुछ अंशों में दक्षिण-भारत की कास्य-मूर्तियों में दिखलाई पडने वाले त्रिशूलों में भी देखी जा सकती है (चित्र १३-१७)। चित्र नं० ६ के विकास क्रम को स्पष्ट करता है।

५—**शक्ति बर्छी**—इसका उल्लेख रामायण तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। शक्ति (बर्छी) एक प्रकार का भाला था (चित्र २९-३०)। यह स्कन्द कार्तिकेय और दुर्गा का विशिष्ट आयुध है। आचार्य कोटिल्य ने इसे १ दर्शन आयुधों का ग्रहण करना बताया है। शस्त्र-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में इसका बहुत बडा वर्णन है। शक्ति का प्रधान आकार नीति प्रकाशिका के पाँचवे अध्याय वर्णित है कि शक्ति नामक आयुध का सारा शरीर लौहमय, शिरोभाग तीक्ष्ण एवं षट् पलक होता है। यह अस्त्र और शस्त्र दोनों ही हैं। यह आयुध ५ हाथ लम्बा, गोल फल और भयङ्कर होता है। इसकी छः गतियाँ—उड्डीन, अवडीन, भूमिडीनक, तिर्यगलीनक और निश्वात हैं। आकार—भेद से इसी के दजनों विभिन्न नाम हैं जैसे सम्पूर्ण लोहमय करवीर (कनेर के पत्ते के आकार का
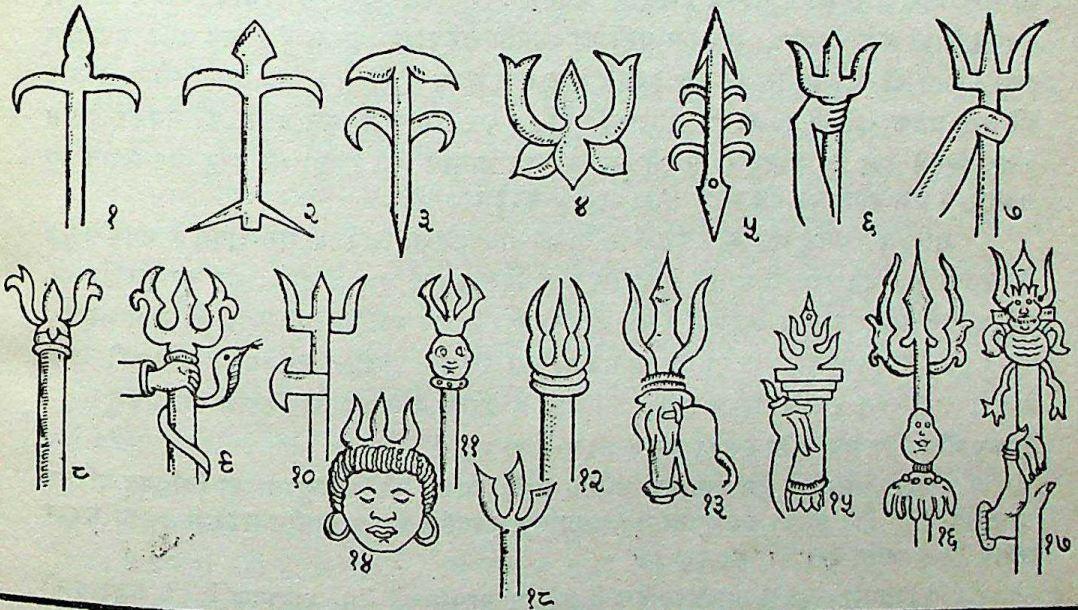
दण्ड एवं षट पलक को शक्ति कहते हैं। पाँच हाथ लम्बे काष्ठ में चौबीस अंगुल लम्बे दो धार के फल वाले प्रास। सात हाथ लम्बे दण्ड वाले कुंत। छः हाथ दण्ड एवं फल में तीन काँटे वाले को 'हाटक' कुछ छोटे को कर्पण, बाराह के कान सदृश लम्बे फल वाले को वाराहकर्ण, बीस, बाईस या चौबीस अंगुल के काँटेदार मूठ वाले को कर्णय, चन्द्राकार गोल एवं आरा के समान दाँत बने हुए फल वाले को 'तोमर' और प्रास के समान सम्पूर्ण लौहमय दण्ड एवं तीक्ष्ण धार वाले को 'त्रासिका' कहा जाता है।

आदि कवि वाल्मीकि के अनुसार शक्ति (बर्छी) में आठ घण्टियाँ लगी होती थी, जिसमें एक डरावनी आवाज निकलती थी। भय ने उसे छल और कला पूर्वक निर्मित किया था। वह अमोघ रामु के जीवन-शोणित का पान करने वाली और वायु में विद्युत् गति से चलने वाली थी तथा उसके पीछे एक रेखा अंकित होती जाती थी। शक्ति के प्रयोग और उसकी भयङ्करता का विधिवत् ज्ञान हमें युद्धकाण्ड के तीन स्थलों से पूर्णत हो जाता है। जब लक्ष्मण के छोड़े गये बाणों के आघात से रावण का सारा शरीर तरबतर हो गया तब अन्त में प्राण बचाने के उद्देश्य से ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग रावण ने लक्ष्मण के ऊपर किया। उस शक्ति को अपने ऊपर आते देख यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत से अग्नि के समान बाणों से काटना चाहा, लेकिन उसका प्रभाव निष्फल न हो सका और अन्तोगत्वा उस शक्ति ने लक्ष्मण के वक्ष-स्थल को बेध ही दिया और लक्ष्मण मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े (५९।१०७-११०)।

शक्ति (बर्छी) के प्रयोग और भयङ्करता का दूसरा उदाहरण में राम-रावण युद्ध से ही मिलता है। विभीषण ने गदा प्रहार द्वारा रावण के रथ के विशालकाय घोड़ों को मार डाला तब रावण ने क्रोधित होकर एक शक्ति का प्रयोग विभीषण पर किया किन्तु उस बर्छी को लक्ष्मण ने अपने पैने बाणों द्वारा मार्ग में ही काटकर विध्वंस कर डाला—

लक्ष्मण की ऐसी वीरता को देखकर रावण क्रोधित हुआ और पुनः एक भारी बर्छी उठाई, जो चन्दनादि से पूजा की हुई थी और काल के लिए भी दुर्धर्ष थी। ज्यों ही इसे रावण ने विभीषण पर छोड़ना चाहा त्योंही लक्ष्मण स्वयं विभीषण के सामने जाकर खड़े हो गये, तब रावण ने लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहा—हे बलशाली लक्ष्मण! तूने इस शक्ति से विभीषण को बचा दिया अतएव मैं भी उसे छोड़कर, अब इस बर्छी का प्रयोग तेरे ऊपर करता हूँ। वह बर्छी मयदानव द्वारा निर्मित थी, जो अमोघ थी एवं जिसमें आठ घण्टे घनघना रहे थे। यह अपनी चमक से आग की तरह धधक रही थी। लक्ष्मण को लक्ष्य केन्द्रित कर रावण ने उस बर्छी को भयंकर वेग से फेंका, जिसने वज्र के समान सनसनाते हुए सर्पराज वासुकि की जिह्वा की तरह लप-लपाते हुए लक्ष्मण के वक्ष स्थल को वेध दिया (६।१०१।३०-३६)।

शक्ति की भयङ्करता और उसके प्रयोग का तीसरा उदाहरण स्वयं राम-रावण के घनघोर युद्ध से मिलता है। जब राम के समस्त बाण रावण के विशालकाय शूल से टकरा कर चूर-चूर हो गये, तब क्रोधित होकर राम ने इन्द्र की बनाई और उनके सारथि मातलि की लाई हुई बर्छी उठाई। उठाते ही उसमें लगी हुई घण्टियों की आवाज से पूरा रण-क्षेत्र ध्वनित हो गया और उसकी चमक से पूरा वायुमण्डल प्रकाश से भर उठा। इस बर्छी के प्रहार से रावण का विशाल एवं भयङ्कर शूल टूटकर नीचे गिर पड़ा और उसकी चमक भी नष्ट हो गई।[1]

उपर्युक्त प्रसंगों से हमें रामायण कालीन बर्छी (शक्ति) की भयङ्करता का विधिवत् परिचय प्राप्त हो जाता है। इसकी भयङ्करता यह प्रमाणित करती है कि तत्कालीन युद्धों में इसका भरपूर प्रयोग किया जाता है।

(६) **परशु**—परशु नामक आयुध से हम फरसा समझते हैं। रामायण में इसे युद्धोपयोगी आयुध बतलाया गया है। वैसे देवों के अतिरिक्त महर्षि परशुराम का यह मुख्य हथियार बतलाया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने परशुराम के परशु की भयङ्करता का वर्णन इस प्रकार किया है—

भुजबल भूमि भूप बिनु किन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।
सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परशु बिलोकु महीपकुमारा॥
मातु पितहि जनि सोचबस करसि महीसाकेसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परशु मोर अति घोर॥ २७२॥ (बाल काण्ड)

---

१ देखिये ६।१०४।२६-८

परशु में एक लकड़ी का हत्था और धातु-निर्मित धार युक्त फलक संलग्न रहता है। अध्ययन से पता चलता है कि यह अर्द्धमण्डलाकार अथवा टेढ़ी तलवार की भाँति होता था। इसकी लम्बाई लगभग दो फीट होती थी। इसका प्रयोग युद्ध में मानव शरीर के अंगों को काटने के लिए किया जाता था। रावण ने अपने साम्राज्यवादी अभियान में परशु को ही मुख्य हथियार मानकर अनेकों राजाओं को मौत के घाट उतार दिया। जैसे बालि द्वीप के नागराज वज्रनाम को रावण ने परशु से ही मौत के घाट उतार कर नाग-गन्धर्व-यक्षों से अपनी अधीनता स्वीकार करा ली।[1]

(७) **पाश**—यह वरुणदेव का आयुध बतलाया गया है। पाश का शाब्दिक अर्थ फन्दा होता है। पाश के साम्य, व्याम्य, संदेश्य विदेश्य, दैव और मानुष छः भेद अर्थवेद में बतलाये गये हैं। जैसा कि 'पाश' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह रस्सियों का एक फन्दा है, जो शत्रुओं के हाथ-पैर बांधने के काम आता था। कभी-कभी नाग का बना पाश (नाग पाश) भी मिलता है। कर्ण पर्व (५२।२३) के अनुसार भी शत्रु के पाँव को बाँधने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था। रामायण में हनुमान को भी नाग फाँस में बाँधने का विवरण मिलता है। अग्नि पुराण (२५१।२) के अनुसार यह दस हाथ लम्बी रस्सी होती थी जिसके एक सिर पर एक फन्दा बना होता था और दूसरा सिरा प्रयोग करने वाले के हाथ में रहता था। इससे शत्रु सैनिकों को गिराया जाता था या पकड़ा जाता था और कैदी बना लिया जाता था। अग्नि पुराण में इसके प्रयाग की ११ विधियों का विधिवत् उल्लेख किया गया है। यह धागा, मूंज, चमड़ा अथवा पशुओं के स्नायुओं से बनाया जाता था। सम्भवतः यह ४० फीट लम्बा हो सकता था। इसको तीन छल्लों में मोड़ लिया जा सकता था। इसको दौड़ते हुए घोड़े पर बैठा हुआ सैनिक भी प्रयोग कर सकता था। मूर्तिकला में पाश एक, दो और तीन रस्सियों के इकहरे, दोहरे अथवा तेहरे फन्दों के रूप में चित्रित होता है (चित्र ३७, ३८, ३९ तथा ४०)। छोर से पकड़े एक रस्से के इकहरे फन्दे का पाश (चित्र ३७) भुवनेश्वर मन्दिर की मनोरम वरुण-प्रतिमा के बाँये हाथ में विशेष दर्शनीय है। दो रस्सियों के कई फन्दों का पास (चित्र ३८) खजुराहों की वरुण-प्रतिमाओं के हाथों में द्रष्टव्य है।

(८) **वज्र**—इसको इन्द्र का विशेष हथियार बताया जाता है। प्राचीनतम आयुधों में यह एक है और पूर्व वैदिक काल से ही इन्द्र से संयुक्त है। ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख मिलता है कि इन्द्र के लिए त्वष्टा ने वज्र बनाया था।[2] साथ ही यह भी उल्लेख है कि उशना ने इसे बनाकर इन्द्र को अर्पित किया था। चूँकि यह इन्द्र का विशेष प्रिय आयुध था, इसीलिए इन्द्र को वेदों में वज्रिन्, वजवातु आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।[3] वज्र लोहे (आयस) से निर्मित होता था, ऐसा वेदों में उल्लिखित है।[4] 'मत्स्यपुराण' में उल्लेख है कि त्वष्टा ने सूर्य उर्जा की सहायता से इसका निर्माण किया था।

इस आयुध का जब प्रयोग किया जाता था तो बिजली के समान भयानक आवाज होती थी। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे अजेय आयुध बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर यह बताया गया है कि इन्द्र ने वृत्र नाम के असुर का वध करने के लिए दधीचि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया था। महाभारत में उल्लेख है कि दधीचि की अस्थियों से यह तैयार किया गया था। इसी प्रकार की कथा भागवत् पुराण में भी मिलती है—

"वृत्रासुरवधार्थं दधीचिमुनेरस्थ्ना इन्द्राज्ञया विश्वकर्म्मणा-निर्म्मित वज्रस्य प्रमाणम्।"

---

१ आचार्य चतुरसेन : वयं रक्षामः
२ ऋग्वेद ३।४८।१०;
३ ऋग्वेद ५।७५।६;
४ ऋग्वेद ५।६३।१।

'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख है कि जो वज्र इन्द्र ने वृत्र के विरुद्ध किया था, उसमें १०० धारें तथा १००० कीलें थीं। इसकी कीलें नुकीली और तेज होती थीं। इसके सिरों को इस प्रकार मोड़ा भी जा सकता था जिससे उनके बीच भिन्दिपाल हथियार रखा जा सके।

किन्तु, यह बताना कठिन है कि इन्द्र के वज्र का वास्तविक स्वरूप क्या था। यह स्पष्ट नहीं है। ऋग्वेद (१३।८४।१) के अनुसार त्वष्टा द्वारा निर्मित वज्र स्वर्ण के समान प्रकाशमान बताया गया है। मूर्तिकला में इसका निर्माण दो समान भागों में होता है। प्रत्येक भाग में पक्षियों के पंजों के समान तीन नोकें होती हैं और दानों भाग मध्य में स्थित एक मूठ के द्वारा जुड़े होते हैं (चित्र नं० १८) इन मूर्तियों में वज्र का जो आकार-प्रकार पाया जाता है, वह तत्कालीन वज्र से कहाँ तक समानता रखता है, इस विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कतिपय विद्वानों का मत है कि वेदों के इन प्रसंगों के मतानुसार विद्युत् स्वरूप तीक्ष्ण एवं उग्र आयुध को वज्र मानना उचित होगा। तत्कालीन युग के समाप्त हो जाने पर वज्रायुध लोक से लुप्त हो गया। वह केवल कतिपय देवताओं का नाममात्र को आयुध रह गया।

(६) **भिन्दिमाल**—यह एक गदा के समान होती थी। इसका शरीर टेढ़ा और सिर झुका हुआ चौड़ा होता था। इसकी लम्बाई एक हाथ होती थी। सैनिक इसका प्रयोग करते समय बाँये पाँव को आगे रखता था।[१] इसको घुमाकर शत्रु के पाँव पर मारा जाता था। अग्नि पुराण (२५२।१५) के अनुसार इसका प्रयोग शत्रु के अंगों को काटने, हड्डी-पसली तोडना, उसके सिर को खण्डित करने तथा उसे घायल करने के लिए किया जाता था। इस हथियार का प्रयोग वज्र हथियार में लगाकर भी किया जा सकता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस हथियार का उल्लेख मिलता है।

(१०) **खट्वांड**—रामायण में आदि कवि वाल्मीकि ने खट्वाङ्ग नामक आयुध का उल्लेख किया है। साधारणतः खट्वाङ्ग का अर्थ 'खटिया का पाया' समझा जाता है। खटिया का पाया अर्थ की सार्थकता सिद्ध करते हुए यह भी कहा जाता है कि भगवती दुर्गा नारी हैं अतः उनके लिए खटिया का पाया, बेलन, चिमटा, सँड़सी आदि सभी आयुध हैं। प्रतीक रूप में खटिया का पाया बतलाया गया है। पर खट्वाङ्ग का अर्थ बहुत ही भयङ्कर है।

आशय यह है कि हाथों में 'नर कंकाल' और गले में नरमुण्डों की माल धारण किया है। इसकी व्याख्या इस श्लोक में भी की गई है—

विचित्र खट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्म-परीधाना शुष्क मांसाति भैरवी॥

यह आयुध टाँगों और भुजाओं की अस्थियों से निर्मित एक विलक्षण दण्ड है, जिसके ऊपरी सिरे पर नरमुण्ड संलग्न रहता है (चित्र ३१)। इसके वर्णन से स्पष्ट है कि यह विचित्र आयुध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। मध्य-युगीन चित्रण में अस्थियों के दण्ड का स्थान काष्ठ-निर्मित सुन्दर दण्ड ने ले लिया है (चित्र नं० ३२)। यह विकराल रूप वाली देवी और उसके पति चामुण्डा और भैरव का प्रमुख आयुध है। कभी-कभी इसे यम भी धारण किये चित्रित हुए हैं। यह भी बतलाया गया है कि भगवती ने अपने असुरों का शूल-प्रहार से विदारित कर दिया तथा अनेक असुरों को मार-काट कर खट्नांग अर्थात् कंकाल विशिष्ट बना दिया—

तस्याग्रस्तथा काली शूलपात-विदारितान्।
खट्वांगपाथितांश्चारीन् कुर्वतीव्यचरस्तदा॥

(११) **तोमर**—यह आयुध सम्भवतः दो प्रकार का होता था—(i) सर्वायसम (Lion club), (ii) दण्ड (Jauelin)। वैशम्पायन के अनुसार यह तीन हाथ लम्बा होता था। इसका शरीर काष्ठ

१ नीत प्रकाशिका ४।३०-३१।

और सिर धातु का बना होता था। उसके अनुसार यह एक प्रकार की गदा थी। किन्तु आचार्य कौटिल्य ने इसे बल्लम के रूप में माना है। यह एक लकड़ी के दण्ड में लोहे के तीर जैसे फल युक्त शस्त्र होता था। इसे हलमुख हथियार बताया गया है। इसका सिरा एक बाण की भाँति था। यह हथियार उत्तम मध्यम और निकृष्ट प्रकार का होता था, जिनकी लम्बाई क्रमानुसार ५, ४½, ४, हाथ होती थी। रामायण में भी राक्षसों के हाथों में सुसज्जित कई स्थानों पर इसका उल्लेख है।

(१२) **चक्र**—यह भी विष्णु का विशेष प्रिय आयुध है। इनके अतिरिक्त इसे दुर्गा भी धारण करती हैं। 'वामनपुराण' में उल्लेख मिलता है कि इसे शिव ने विष्णु को दिया है—

ततः प्रीतः प्रभु. प्रदात् विष्णवे प्रवरंवरम्।
प्रत्यक्षं तैजसं श्रीमान् दिव्य चक्र सुदर्शनम्॥

यह एक मण्डालाकार तश्तरी की भाँति होता था, जिसका बीच का हिस्सा कुछ खुला होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि यह आयुध एक प्रकार का गतिशील यन्त्र था। यह हथियार शत्रु पर गिरकर उसके टुकड़े-टुकड़े करने, अंगों को काटने का कार्य करता था। यह चक्कर लगाता हुआ शत्रु के पास पहुँच जाता था। ऐसी धारणा है कि यह एक ऐसा यन्त्र था जैसे स्वतः ही शत्रु का पीछा कर सकता था और शत्रु पर प्रहार कर पुनः अपने स्वामी के पास वापिस भी आ जाता था।[1] मूर्तिकला में चक्र का चित्रण दो-तीन प्रकार से हुआ है—रथ के पहिये के रूप में और प्रस्फुटित कमल के रूप में अलकृत लपटों से युक्त चक्र के रूप में (चित्र ४-५)। पल्लव-मूर्तियों में ऐसी अलंकृत लपटों से युक्त चक्र दर्शनीय है। शंख की भाँति कभी-कभी चक्र भी खूब अलंकृत हुआ है और उसके चारों ओर बँधा प्रगुच्छित फीता नीचे लटकता चित्रित होता है (चित्र-६)। चक्र का ऐसा अलंकरण होयसल मूर्ति-कला में देखा जा सकता।

(१३) **अंकुश**—हाथियों के संचालन के प्रयोग में आने वाला अंकुश है। इसमें काष्ठनिर्मित मूठ में धातु का एक तिरछा नुकीला काँटा संलग्न रहता है (चित्र १९ तथा २०)। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इन्द्र के पास एक अंकुश बताया गया है, जिससे वे धन बाँटते थे। कभी-कभी इसका प्रयोग शस्त्र के रूप में भी किये जाने का उल्लेख मिलता है।

(१४) **मूसल**—यह ओखली में अन्न कूटने का वर्तुलाकार मूसल है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग प्रहार योग्य आयुध के रूप में होता रहा होगा। वैसे लंका-युद्ध में राक्षसों को इससे सुसज्जित दिखाया गया है। वास्तव में राक्षसों ने वानरी सेना को हताहत करने के लिए इसका प्रयोग किया था। प्रहस्त और नील के मध्य हुए घनघोर युद्ध में मूसल का प्रयोग हुआ था। जिसकी भयङ्करता का वर्णन इस प्रकार है—

काङ्क्षमाणौ यश प्राप्तुं वृत्रवासवयोः समौ।
आजघान तदा नीलललाटे मुसलेन सः॥ ६।५८।४९
प्रहस्तः परमायत्तस्तस्य सुस्राव शोणितम्।
ततः शोणितदिग्धाङ्ग प्रगृह्य सुमहारुम्॥ ६।५८।५०

अर्थात् वे दोनों ही वीर वृत्रासुर और इन्द्र की तरह लड़ते हुए यशप्रार्थी थे। लड़ते-लड़ते प्रहस्त ने नील के ललाट में बड़े जोर से मूसल मारा, जिससे उसके सिर से रुधिर की धार बहने लगी। वैसे यह 'बलराम' का प्रिय आयुध है। इस सादे आयुध के स्वरूप में प्राचीनकाल से आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

(१५) **परिघ**—यह लकड़ी की बनी एक कड़ी होती थी जो द्वार को बन्द करने के लिए प्रयोग में लायी जाती थी यह बहुत भारी होता था, अतः इसको प्रयोग करते समय अनेक सैनिकों

---

1 भारतीय सैन्य विज्ञान : मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ, पृष्ठ ३१८।

की आवश्यकता होती थी। ऐसी कुछ लोगों की धारणा है किन्तु राम-रावण युद्ध में उसका प्रयोग किया गया। सेनापति धूम्राक्ष ने वानरी सेना का संहार करने के लिए इस आयुध को अकेले प्रयोग किया था। अन्य राक्षसों ने परिघों की भयङ्कर मार से रण-भूमि में वानरों का मार गिराया था (६।५२।३)।

(१६) **पट्टिश**—यह सम्भवतः भाले की तरह होता था। इसकी धारा बड़ी तेज होती थी। यह लोहे का बना होता था। इसमें दो फनकें होती थीं। इसकी लम्बाई लगभग ४ हाथ (छ फीट) होती थी। इसका प्रयोग सम्भवतः बीच से पकड़कर किया जाता होगा। ऐसी कतिपय विद्वानों की धारणा है कि इस आयुध से कभी-कभी वज्र का काम भी सम्पन्न कराया जा सकता था। रामायण में इसका उल्लेख है। इसकी मार की भयङ्करता का वर्णन इस प्रकार है– पट्टिशैराहताः केचिद्विह्वलन्तो गतासवः ६।५२ २१)। अर्थात् बहुत से वानर तो पट्टिशों की मार से घबड़ाकर पृथ्वी पर गिरकर मर गये।

(१७) **मुद्गर**—यह ३ हाथ (४½ फीट) लम्बा एक भारी डण्डा सा होता था। इसमें एक मजबूत मण्डलाकार हत्था लगा रहता था। यह पत्थर और चट्टानों को तोड़ने के कार्य में लाया जाता था। कौटिल्य ने इस हथियार को एक गतिशील यन्त्र बताया है। रामायण में भी इसका उल्लेख है। राक्षस सेनापति धूम्राक्ष ने वानरी सेना को मारने के लिये इसका प्रयोग किया था (मुद्गरैराहताः कोचित्पतिता धरणीतिले ६।५२।२०)। अर्थात् अनेक वानर मुद्गरों की मार से पृथ्वी पर गिर पड़े।

(१८) **कुन्त**—यह एक भाला अथवा काँटेदार बर्छा होता था। इसकी लम्बाई ९ फीट से लेकर लगभग १६ फीट तक हो सकती थी। यह लोहे का बना होता था और इसमें छः धारे होती थीं। यह शरीर पर चोट करने अथवा घुमाकर मारने के लिए बहुत उपयोगी हथियार था।

(१९) **टंक**—यह एक प्रकार की छेनी है, जिसे पाषाणतक्षक पाषाण काटने के काम में लाते थे। इसे कार्तिकेय लेते हैं। मूर्तिकला में इसका चित्रण (चित्र ३३) की भाँति हुआ है।

(२०) **हल**—किसान खेत जोतने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। तत्कालीन समय युद्ध में इसका प्रयोग होता रहा होगा। यह भी बलराम का आयुध विशेष है। मूर्तिकला में उसका चित्रण सादा (चित्र २०) अथवा कुछ अलंकृत होता है (चित्र २३)। ऐसा अलंकृत हल हमें खजुराहों के लक्ष्मण-मन्दिर में 'गर्भगृह' की अभ्यन्तर जंघा में उत्कीर्ण बलराम-प्रतिमा के दाहिने हाथ में दर्शनीय है, जहाँ बलराम इससे सूत लामहर्षण को मारते चित्रित किये गये हैं।

(२१) **शतघ्नी**—जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करती थी। कुछ लोग इसे १०० गोले एक साथ फेंकने वाला लोहे का हथियार मानते हैं तो कुछ एक साथ १०० पत्थर के गाले फेंकने वाला लकड़ी का बना यन्त्र मानते हैं। वैसे इसके आकार-प्रकार के विषय में काफी मतभेद है। उसके ये अनेक अर्थ लगाये जाते हैं—चारों ओर से असंख्य तेज लोहे के छुरों से विंधा हुआ दण्ड; दुर्ग की दीवार पर रखा हुआ एक विशाल स्तम्भ, जिसके धरातल पर असंख्य तीक्ष्ण नोकें हों; सैकड़ों पत्थर एक बार में फेंकने का यन्त्र, जिसे आधुनिक तोप का पूर्ण रूप कहा जा सकता है; तोपनुमा यन्त्र से फेंका जाने वाला एक बड़ा पत्थर जिसमें लोहे की अराएँ लगी हों। रामायण के कई उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि यह अयोध्या (२।५।११); (सुन्दरकाण्ड २।१) और लंका[1] के दुर्गों की सुरक्षा के लिए किलों की दीवारों पर

---

१ युद्धकाण्ड ३।१३
द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाः शिताः।

अधिक संख्या में स्थित किया जाता था।[1] अतः यह स्थिर यन्त्रों में से एक था। किन्तु आचार्य कौटिल्य ने स्थिर यन्त्रों में इसका उल्लेख नहीं किया है।

धनुर्वेद में सिंहासन की रक्षा के लिए इसका प्रयोग बताया गया है। मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ का कहना है कि इसके साथ बारूद का भी प्रयोग होता था।[2] नीति प्रकाशिका (५,४८-६) के अनुसार यह लोहे की काँटेदार मुगद्र के समान थी। कौटिल्य ने इसे चल यन्त्रों में मान्यता प्रदान की है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुवादक उदयवीर शास्त्री ने इसे एक ऐसा खम्भा माना है जिसमें लम्बी-लम्बी कीलें लगी रहती थीं और दुर्ग की दीवार पर लगा रहता था। वैशम्पायन के अनुसार यह भी गदा के समान बताई गयी। इसकी लम्बाई चार हाथ थी जिसमें मजबूत हत्था लगा रहता था और सिरे पर अनेक लोहे के काँटे लगे रहते थे। इन विवरणों से यह हथियार दो श्रेणी मे विभाजित हो जाता है—(१) मशीन (यन्त्र) और द्वितीय आयुक्त शस्त्र। फिर भी कुछ भी हो यह एक ऐसा शस्त्र था जो एक साथ सौ व्यक्तियों को मौत के घाट उतार सकता था जिसका प्रयोग दुर्गरक्षार्थं किया जाता था।

(२२) इषूपल—यह भी प्रकार की तोपे थीं। इन तोपों से गोले के वजाय शत्रु सेना पर तीरों और पत्थरों की वर्षा की जाती थी। लंका दुर्ग के चारों द्वारों पर इषूपल नामक यन्त्र लगे थे, जिनके द्वारा शत्रु की आक्रमणकारी सेना मारकर भगा दी जाती थी।[3]

(२३) क्षेपणी—इसे ढेलवांस कहा जाता था। ढेलवाँस शब्द से ही बोध हो जाता है कि इससे ठेला चलाया जाता है। इसका प्रयोग उस समय किया जाता था जब दो दल आमने-सामने होते थे चूँकि इससे निशाना नहीं साधा जा सकता था, इसलिए ढेलवाँस चलाने वाला शत्रु भीड़ पर ढेलवांस से पत्थर फेंकता था। ढेलावांस को बनाने का ढंग इस प्रकार होगा—पहले लगभग एक बालिश्त लम्बी और ५-६ अंगुल चौड़ी रस्सी (पतली रस्सी) की जाली बनाई जाती होगी। फिर उसके दोनों सिरों पर से दो डोरियाँ बाँध दी जाती होंगी। सम्भवतः डोरियाँ चलाने वाले के टीके तक होतीं थीं। चलाने वाला जाली पर पत्थर रखकर उसे पाँव से दबाता होगा। फिर इस प्रकार दोनों डोरियों के छोर को मिलाकर आकाश मे कई बार घुमाता होगा ताकि पत्थर गिरने न पाये। घुमाते-घुमाते जब उसमें काफी वेग आ जाता होगा तब डोरा का एक छोर छोड़कर पत्थर फेंक देता होगा, क्योंकि ढेलवाँस से निकला हुआ पत्थर आकाश में बहुत वेग से जाता है। ऐसा लगता है जैसे बाज का पर सनसना रहा हो। जिसे ढेलवाँस से छूटा हुआ एक पत्थर लग जाय उसकी खैर नहीं। यह ऐसा अस्त्र है, जिनमें लोहे का प्रयोग नहीं होता। एक प्रकार से इन्हें पत्थर कालीन शस्त्र कहा जा सकता है।

अंगरक्षक आयुध

एक दूसरे से अपनी प्रतिरक्षा करने की मूल प्रवृति मानव में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जीव-जन्तुओं में पाई जाती है। संग्राम में अस्त्र-शस्त्रों से योद्धा की शरीर रक्षा हेतु कतिपय अंग-रक्षक आयुधों का निर्माण तत्कालीन समय से भी कुछ पहले हो चुका था। इन प्रतिरक्षात्मक आयुधों का उल्लेख रामायण तथा वेदों में पाया जाता है। अंग-रक्षक आयुध भी कई प्रकार के थे—यथा वर्म या कवच, अभेद्य कवच, आर्षभ-चर्म, गोधा धनुष के चिल्ले को चोट से बचने के लिए बाईं कलाई पर बाँधने का चमड़ा), तनुत्राण, मर्मत्राण, अंगुलित्राण और शिरस्त्राण। घोड़ो की प्रतिरक्षा के

---

१ शतशो रचिता वीरैः शतहन्यो रक्षासां गणैः। ६।३।१४
२ इन्ट्रोडक्शन टू धनुर्वेद, पृष्ठ १३,१४
३ देखिये ६।३।१२-१३

लिए 'डरच्छद' काम में लाया जाता था। इन आयुधों द्वारा रामायणकालीन योद्धा अपने शरीर के विभिन्न अंगों, विशेष कर मर्मस्थलों की रक्षा करते थे। इनमें से मुख्य एवं महत्वपूर्ण आयुध इस प्रसंग में दिये जाते हैं।

यथा वर्म या कवच

सिर के नीचे शरीर की सुरक्षा-हेतु वर्म या कवच का प्रयोग किया जाता था। कुछ लोगों की धारणा है कि वर्म तथा कवच एक नहीं, बल्कि दोनों दो अर्थ रखते थे। किन्तु, वे भूल जाते हैं कि वर्म विशेष प्रकार का एक कवच होता था। यह किस प्रकार और किस पदार्थ से निर्मित होता था, स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य स्पष्ट है कि शरीर के मर्मांगों की रक्षा हेतु कवच का उपयोग किया जाता था।[१] ऋग्वेद के एक प्रसंग में इसका संकेत अवश्य मिलता है कि वर्म या कवच गोचर्म का होता था।[२] यजुर्वेद में प्रसंग वश एक यन्त्र में वर्म की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—जब वर्मधारी योद्धा समरभूमि में प्रवेश करता है तब मेघ के निकट विद्युत् के समान हो जाता है। पुरोहित युद्ध हेतु प्रस्थान करने वाले अपने यजमान राजा के कल्याण के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि वह व्रण रहित शरीर द्वारा विजय प्राप्त करे। वर्म की महिमा उसकी रक्षा करे।[३]

रामायण में भी हमें कवच-प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु उनके स्वरूप तथा आकार-प्रकार पर आदि कवि ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। लंका-युद्ध में राम-लक्ष्मण तथा राक्षसों द्वारा अभेद्य कवच पहन करके लड़ाई लड़ने का वर्णन किया है। ये कवच और ढाल भालू के चर्म[४], गोह के चर्म[५], बैल[६] तथा व्याघ्रों[७] के चर्म से निर्मित थे। अभेद्य कवच की भयकरता का वर्णन आदि कवि ने इस प्रकार किया है—

स कांञ्चन भारसहं निवातं विद्युत्प्रभं दीप्तमिवात्मभासा।
आबध्यमानः कवचं रराज सन्ध्याभ्रसंवीत इवाद्रिराजः ।। ६।६५।३०

अर्थात् बड़े-बड़े आयुधों के प्रहार से भी कभी न टूटने वाला तथा जिसमें हवा तक न जा सके—ऐसे कवच को कुम्भकर्ण ने धारण किया। वह कवच अपनी कान्ति से बिजली की तरह चमकता था। उस कवच को पहिन कुम्भकर्ण ऐसा जान पड़ता था, मानो सन्ध्यासमय के बादलों के रंग से रंगा हिमालय पर्वत हो।

एक अन्य स्थल पर अभेद्य कवच का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विलयं जग्मुराहत्य कवचं कांचनप्रभम्।
अभेद्य कवचं मत्वा लक्ष्मणं रावणतमज ।। ६।९१।३३

अर्थात् इन्द्रजीत द्वारा छोड़े गये वज्र के समान विषधार सर्प की तरह बाण, लक्ष्मण के सुवर्ण की तरह चम-चमाते कवच से टकराकर नष्ट हो जाते थे। तब इन्द्रजीत ने यह समझा कि लक्ष्मण का कवच अभेद्य है।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि कवच अनेक प्रकार के होते थे। ये सींग, लोहा अथवा खाल किसी भी चीज से बनाये जा सकते थे। कछुवा, गेंडा, भैंस, हाथी आदि जानवरों की खाल का बहुधा प्रयोग किया जाता था। नीति-प्रकाशिका में लिखा है कि धनुष चलाने

---

१ ऋग्वद १८।७५।६
२ ऋग्वद ७।१६।१०
३ ऋग्वद १।७५।६
४ युद्धकाण्ड। ५४।३०;
५ युद्धकाण्ड। ६७।१०२;
६ युद्धकाण्ड। ६७।२१;
७ युद्धकाण्ड। ७५।१२;

वाले सैनिक का बाँया हाथ सुरक्षात्मक चमड़े के कवच से ढँका रहना चाहिए और उसे एक ऐसा कवच भी पहनना चाहिए जो गले के नीचे की ओर लटका रहे। कवच ऐसा होता था जो दोनों हाथों सहित सिर से लेकर पैर तक सम्पूर्ण अंग को ढक लेता था। एक और कवच ऐसा होता था जिसके दो अलग-अलग भाग होते थे। एक भाग सिर तथा शरीर को ढक लेता था और दूसरा भाग बाजुओं को ढँकता था। एक तीसरे प्रकार का कवच ऐसा होता था जो लंगोट की भाँति पहना जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के कवच भी होते थे जो शरीर के विभिन्न अंगों की सुरक्षा करते थे जैसे—

शिरस्माण—सिर की रक्षा हेतु शिरस्माण का उपयोग किया जाता था। इस शिरस्माण को बिल्मि की संज्ञा दी गई है।[1] आचार्य कौटिल्य ने भी बिल्मि को शिरस्माण माना है।[2] एक विशेष प्रकार का शिरस्माण शिप्रा भी कहलाता था। शिप्रा सम्भवतः आधुनिक युग के झलम टाप का पूर्ण रूप था। यह शिरस्माण चमकदार होता था।

कण्ठत्राण—गले की सुरक्षा करने वाला।

अंगुलित्राण—इसे नागोद्रिक भी कहा जाता था। यह अंगुलियों की सुरक्षा के लिए पहना जाता था। लक्ष्मण गोह के चर्म के बने दस्ताने पहनकर राक्षसी सेना का संहार कर रहे थे—

तस्मिन् काले सुमित्राया. पुत्रः परबलार्दः।
चकार लक्ष्मणः क्रुद्धो युद्धं पुरपुञ्जयः॥ ६.६७.१०२

मर्मत्राण—यह वक्ष-स्थल, पेट व कमर आदि शरीर के अंगों की सुरक्षा के लिए पहना जाता था।

तनुत्राण—यह ऐसा कवच होता था जो पूरे शरीर अर्थात् घुटनों तक के भाग को पूर्णतः ढक लेता था।

खादि—खादि विशेष प्रकार का त्राण था। इसका उपयोग योद्धा के हाथ और पाँव की रक्षा-हेतु होता था, हाथ की सुरक्षा-हेतु उपयोग में आने वाले खादि का हस्त-खादि, और पैरो की रक्षा-हेतु काम में आने वाले खादि को पत्सु-खादि की संज्ञा दी गई।

इन कवचों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे ऐसे आयुध भी रामायण-काल में होते थे जो शरीर के विभिन्न अंगों की प्रतिरक्षा मे सफल सहयोग देते थे। रामायण में कई स्थलों पर ढाल प्रयोग का भी विवरण मिलता है। ये गोह, बैल, चीते आदि के चमड़े से बनती थीं। इन ढालों को विभिन्न प्रकार से सजाने की भी प्रथा प्रचलित थी। चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व काल की ढाल व कवचों का विवरण हमें विदेशियों से भी प्राप्त होता है। ऐरियन ने अभेद्य कवच और नगी बैल के चर्म की ढालों की उल्लेख किया है। हाथियों और घोड़ों को कवच पहनाये जाते थे, जिससे वे भी शत्रु के प्रहार से सुरक्षित रह सकें। किन्तु, रामायण-कालीन युद्धों के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवच का प्रयोग थोड़े ही, सम्भवतः उच्च श्रेणी के सैनिक एव सेनानी ही कर पाते थे। अधिकतर सैनिक कवचरहित ही संग्राम में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे।

प्राचीन भारत के कवच आदि के प्रयोग पर थोड़ा सा प्रकाश प्राचीनकाल की कुछ कलाकृतियों में भी मिलता है। यद्यपि अधिकांश चित्र शुद्ध संस्कृतिक, धार्मिक तथा अन्य सामाजिक अवस्था पर ही अधिक प्रकाश डालते हैं, और अस्त्र-शस्त्रों और कवच आदि की जानकारी बहुत थोड़ी ही हमें मिल पाती है। तथापि, जो कुछ भी जानकारी मिलती है, वह तत्कालीन भारतीयों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले हथियारों आदि की जानकारी कराने में बहुत हद तक सहायक है।

---

१ ३५।१६ यजुर्वेद
२ अर्थशास्त्र।

भरहुत के स्तूप पर हिमालय प्रदेश के सैनिकों की आकृतियाँ चित्रित हैं जो चमड़े का बना कवच पहने हुए हैं। साँची के चित्रों से पता चलता है कि सैनिक अपने शरीर की सुरक्षा हेतु अंग से चिपका कोई मोटा वस्त्र पहनते थे। एक चित्र में दिखाया गया है कि एक सेना एक नगर का घेरा डाले पड़ी है। नगर के सैनिक दरवाजे से तथा मीनारों से बाण चला रहे हैं और बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े फेंक रहे हैं। सैनिकों के पास तलवारें तो नहीं मालूम पड़तीं, लेकिन उनमें से बहुत से सैनिकों के पास लम्बी-लम्बी ढालें हैं दो व्यक्ति राष्ट्रीय ध्वज ले जाते हुए भी दिखाये गये हैं। अनेक हाथी जिन पर सैनिक सवार हैं और एक में कुछ अश्वारोही भी नजर आते हैं। सैनिकों के दायें कन्धे से एक तरकस लगा हुआ है। सैनिक चमड़े की पट्टियाँ कसे हुए हैं। उनका वस्त्र ऐसा है जो उनके शरीर को घुटने तक ढके हुए हैं।

अजन्ता गुफाओं की कलाकृतियों में भी अनेक प्रकार के कवच और ढालों का ज्ञान प्राप्त होता है। एक चित्र में लंका की विजय का दृश्य चित्रित किया गया है, जिसमें हाथी, घोड़े एवं धनुर्धर दिखाये गये हैं। उनके भालों के तीक्ष्ण सिरों पर ध्वजायें हैं। छाते, चँवर, युद्ध गान व दुन्दुभी के वाद्य-यन्त्रों के चित्र हैं। यहाँ पर दो चक्र भी जिनके सिर तीक्ष्ण धार वाले हैं, चित्रित हैं। शत्रु अपने लम्बे भालों से इन चक्रों को दूर रखने का प्रयत्न कर रहा है। तलवारें सीधे आकार की और आरम्भिक प्रकार की चित्रित हैं। लम्बे आकार की तथा अर्द्ध चन्द्राकार ढालें बनी हैं, जो चमड़े की बनी होती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जो कवच योद्धा पहने दिखाये गये हैं, उसके दो भाग स्पष्ट मालूम पड़ते हैं—

(i) सीना और पीठ का आवरण,
(ii) जंघाओं से लेकर पैर तक का आवरण।
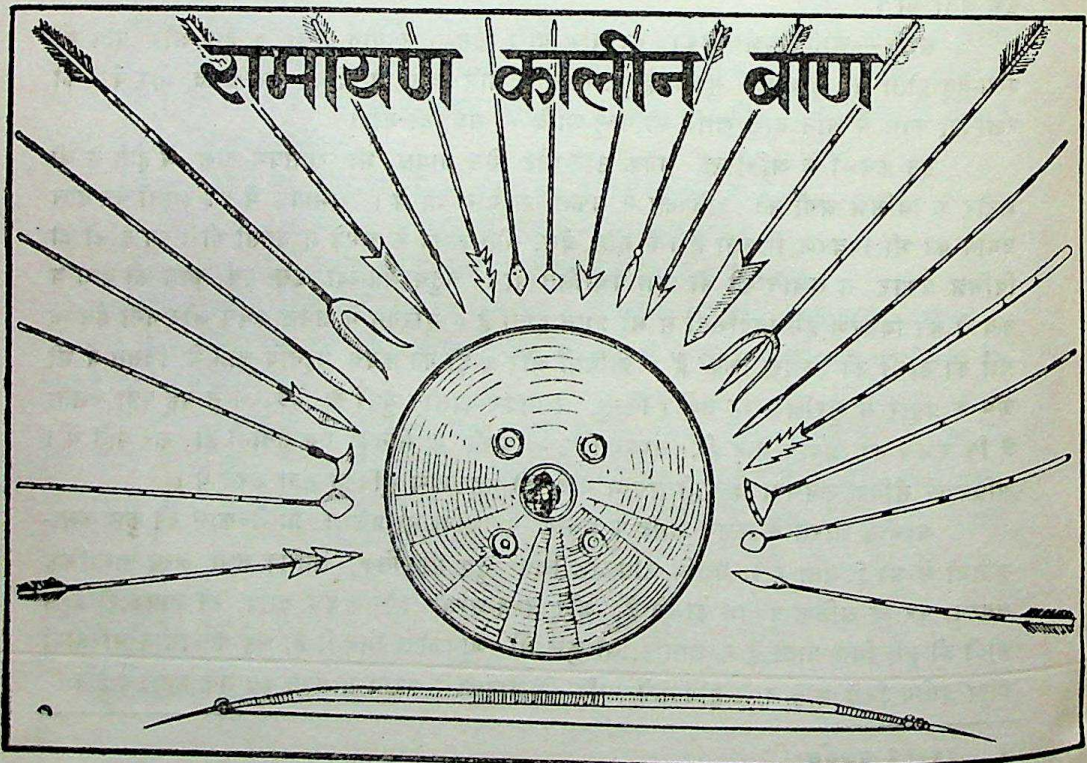
एक चित्र में दो प्रकार के शिरस्माण देखने में आते हैं—

(i) घड़े के आकार का,

(ii) चमड़े अथवा लोहे की बनी तथा भली प्रकार अलंकृत खोपड़ीनुमा टोपी।

गान्धार-शिल्प कला में भी कुछ ऐसी आकृतियां देखने को मिलती हैं जिनमें एक ओर दो योद्धाओं का चित्र है जो खाल के वस्त्र पहने हैं और जिनके घुटने व पैर नंगे हैं।

इस उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री से स्पष्ट होता है कि रामायण कालीन योद्धा विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों एवं अंग-रक्षक आयुधों का संग्राम में विधिवत् उपयोग करते थे। ये आयुध अपने युग के अनुसार बहुत उपयोगी थे। इनका आश्रय लेकर उन्होंने शत्रुओं से अपने जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा भलीभांति की था। उन्होंने इन्हीं अस्त्र शस्त्रों और अंग-रक्षक आयुधों का आश्रय लेकर अनेक भयंकर एवं रोमांचकारी युद्ध किये थे, जिनमे वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने मे सफल हुए थे।

(घ) शिविर एवं दुर्ग-रचना

रण क्षेत्र में पहुँचकर सेना को उचित स्थान पर ठहराने एवं युद्ध-सामग्री को सुरक्षित रखने आदि के लिए शिविर की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि, कूटयोजना मे द्वितीय प्रमुख स्थान सैनिक पड़ाव का ही होता है। किसी स्थान पर शिविर लगाते समय सेना के संस्थान की सुविधा की दृष्टि से कई बातों को ध्यान में रखा जाता था। साधारणतया घने जंगल वाले स्थान को सैन्य-संस्थान के लिए उपयोगी माना जाता था। राम ने शिविर डालने के लिए वन के किनारे का स्थान सर्वोत्तम बताया है जहाँ जल एवं फल-फूल आदि की समुचित सुविधा उपलब्ध हो (६।४।११)। शान्ति-पर्व में भीष्म ने भी इसका समर्थन किया है। महाभारत के उद्योग-पर्व में लिखा है कि अश्वों के लिए पत्थरों व कीचड़ से रहित थोड़े वृक्षों से आच्छादित मैदान, रथों के लिए रेत, कीचड़, झाड़ आदि से रहित और अच्छी प्रकार की सड़कों वाला स्थान, हाथियों के लिए नुकीले पत्थरों से रहित मैदान तथा पैदल सेना के लिए ऐसा विस्तृत मैदान होना चाहिए जो सभी प्रकार के दोषों से रहित हो और जहां पीने के जल की पर्याप्त सुविधा हो। जबकि, आचार्य कौटिल्य सैन्य शिविर तथा योग्य भूमि के विषय में एकसा ही विचार प्रकट करते हैं।[1] प्राचीन भारत में सैनिक शिविर बहुधा नदियों के किनारे स्थापित किये जाते थे। डॉ० चक्रवर्ती ने इसके प्रमुख दो कारण बताये हैं—(१) सेना के लिए ताजा जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके (२) सैनिक शिविर के चारों ओर की खाई को जल से भरा जा सके। चक्रवर्ती साहब के इन दो मतों से मैं भी सहमत हूँ।

(१) सैन्य-शिविर रचना एवं व्यवस्था :—

शिविर के अन्दर भिन्न-भिन्न सेनाओं, सेनानायकों, राजा के निवास स्थानों आदि की कौशलात्मक ढंग से व्यवस्था की जाती थी। रामायण के अध्ययन से यह पता चलता है कि शिविर की रचना एवं व्यवस्था पर विचार करने के लिए पड़ाव डालने से पहले ही उपयुक्त क्षेत्र पर वास्तु विद्या (गृह निर्माण कला) के विद्वान, सेनानायक, कारीगर तथा मौहूर्तिक (ज्योतिषी) पहुँच जाते थे। ज्ञात प्रदेशों में कूच करते समय सेना के शिविर की व्यवस्था पूर्ण-नियोजित होती थी, जैसा कि भरत की सेना की चित्रकूट यात्रा से स्पष्ट है। सैन्य प्रस्थान से पूर्व भरत के आदेशानुसार ऊँची-नीची एवं सजल-निर्जल भूमि का ज्ञान रखने वाले (भूमिप्रदेशज्ञाः) सूत्रकर्म

---

१ अर्थशास्त्र १०।४

२ वार इन ऐंशियेन्ट इण्डिया।

(छावनी आदि बनाने के लिए सूत धारण करने) में कुशल, मार्ग रक्षक भूमि खोदने या सुरंग आदि बनाने वाले, नदी आदि पार करने के लिए तुरन्त साधन उपस्थित करने वाले, निरीक्षक, कलपुर्जों के ज्ञाता, बढ़ई मार्गों के ज्ञाता, वृक्ष काटने वाले, चूने से पोतने आदि का काम करने वाले, बांस की चराई और सूप आदि के निर्माता, कुआँ खोदने वाले तथा अन्य शूर-वीर एवं सामर्थ्यशाली पुरुषों ने पहले ही प्रस्थान किया (२।८०।१-३)। शत्रु सेना का पता लगावें। राम के आदेशानुसार महासेनापति सुग्रीव ने सम्पूर्ण सेना को तीन भागों (रीछ, बन्दर और लंगूर) में विभाजित कर शिविरों के गश्ती दलों की समुचित व्यवस्था की। सम्पूर्ण सेना में यह कठोर आदेश प्रसारित किया गया कि 'प्रत्येक सेना नायक अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ी पर नियुक्त रहे और किसी भी दशा में शिविर छोड़कर बाहर न जाये (६।४।४१)।

सेतु निर्माण के बाद जब सम्पूर्ण सेना समुद्र पार कर गयी तो दूसरा सैन्य शिविर सुवेल पर्वत और उसके आस-पास के क्षेत्रों में राम ने स्थापित किया। सैनिक शिविर में कड़ा अनुशासन रखा जाता था। शुक और सारण गुप्तचरों ने अपने स्वामी रावण से कहा था कि—"हे राजन राम की सेना में जासूसी नहीं की जा सकती क्योंकि वानर योद्धा शिविरों के मार्गों की रक्षा में कठोरता से रत हैं अर्थात् शिविर के मार्गों पर बड़े-बड़े योद्धा पहरा दे रहे हैं। ज्यों ही सैन्य शिविर में प्रवेश किये त्यों ही पहचान लिये गये (६।३०।५-७)।

सैनिक शिविर में अपना आवास भूलकर भटके सैनिक भेरी और शंख के नाद सुनकर तथा ध्वजाओं को देखकर अपने आवास को पहचान लेते थे। सेना का आवाहन करने के लिए सैन्य शिविरों में हाथियों पर नगाड़े रखकर बजवाये जाते थे।[1] भरत के शिविर में भी नगाड़े, शंख, तुरही आदि की ध्वनि सेना आवाहन हेतु की गई थीं (ओ०।८१ २)। प्रस्थान करते समय अथवा शिविर को छोड़ते समय शिविरों को जलाकर नष्ट कर दिया जाता था (अमे०।८६।१५), जिससे शत्रु उनका उपयोग न कर सके।

शिविरों के बारे में आचार्य कौटिल्य का कहना है—"अपनी विजय को सुनिश्चित करने के लिए राजा और मित्र पक्ष की सेना को चाहिए कि शिविरावस्थान के समय वे आत्म-निषेध, मुक्त विचार और धर्म के कड़े अनुशासन का पालन करें।"

(२) दुर्ग-विधान :–

(अ दुर्गों का सैनिक महत्व युद्ध की आवश्यकता की दृष्टि से राज्य की सीमाओं पर दुर्ग बनवाने का प्रचलन प्राचीनकाल में था। इन्हीं दुर्गों में सेना रहती थी जो आक्रमणकारी शत्रु को राज्य में प्रवेश करने से रोकती थी। प्राचीन काल में जीवन और निवास सकम्पन्न रहने के कारण नगरों को चहारदीवारी और खाइयों से सुरक्षित रखा जाता था। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार की प्राचीन नगर-शैलियों का यह एक सामान्य लक्षण था। मूलतः प्रत्येक नगर एक दुर्ग होता था और प्रत्येक दुर्ग एक नगर; व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनो पर्यायवाची शब्द थे। रावण की राजधानी लंका का इन पड़ावों में अनेक शिविर लगाये जाते थे तथा आवागमन के मार्गों और क्रय-विक्रय स्थलों की योजना रहती थी। राजशिविर की प्रतिष्ठा शुभ मुहूर्त में की जाती थी—

१—कम्बरामायण ३।६।२३।

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः ।
निवशान् स्थापयामासुभरतस्य महात्मनः ।। अयो० का० ८०।१७

—वास्तु-कर्म के ज्ञाता विद्वानों ने उत्तम नक्षत्रो और मुहूर्तों में महात्मा भरत के लिए शिविर बनाये ।

भूमि के अनुसार पड़ाव (शिविर) की रचना चोकोर, लम्बे, गोलाकार आदि प्रतिरूपों में की जाती थी । यदि शिविर में अधिक समय तक रहने या शत्रु द्वारा आक्रमण की सम्भावना होती थी तो शिविर के चारों ओर खाई, परकोटा, अट्टालिकायें तथा केवल एक द्वार बनाया जाता था । आचार्य कौटिल्य का मत है —"जिधर से शत्रुओं के आने की सम्भावना हो, उधर राजा स्थान-स्थान पर तृणाच्छादित कुओं एवं गड्ढों का बनवाकर काँटों युक्त बड़े-बड़े तख्त डलवा दे । वहाँ पर मौल, भृतक आदि छः प्रकार की सेना के तीन-तीन सैनिक अर्थात् अठ्ठारह सनिकों का पहरा रात-दिन चलता रहे । यह पहरा रात-दिन चलता रहे । यह सैनिक शत्रु के गुप्तचरों की कार्यवाही का भी पता लगावें । इन पहरेदारों को परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने, मद्यपान करने तथा जुआ खलने की सर्वथा मनाही रहे । शिविर के भीतर आने और बाहर जाने वालों के पास राज-मुद्रांकित आज्ञा-पत्र (गेट पास) हो ।"

उपर्युक्त कथन की पुष्टि हमें रामायण से भी होती है । भरत की सेना के लिए मार्ग में बने हुए शिविर इन्द्रपुरी के समान शोभा पाते थे । उनके चारों ओर खाइयां खोदी गयी थीं, जिनमें जल भरा हुआ था । धूल-मिट्टी के ऊँचे ढेर लगाये गये थे । शिविरों के भीतर इन्द्रनीलमणी की बनी हुई प्रतिमाएँ सजायी गई थीं । गलियों और सड़कों से उनकी विशेष शोभा होती थी । राजकीय गृहों और देवस्थानों से युक्त व शिविर चूने पुते हुए प्राकारों (चाहरदीवारियों) से घिरे हुए थे । सफेद रंग के बड़े भव्य ऊंचे देवगृहो के समक्ष मकानों की भाँति बनाई गई थी । सर्वत्र बड़ी-बड़ी सड़कों का सुन्दर ढंग से निर्माण किया गया था । विटङ्कों कबूतरों के रहने के स्थानों-कावकों और ऊँचे-ऊँचे श्रेष्ठ विमानों के कारण तथा समस्त मार्गों के पताकाओं आदि से सजा दिये जाने के कारण उन शिविरों की बड़ी शोभा हो रही थी । २।८०।१८-२०)

राम ने लंका अभियान के समय हिन्द महासागर के तट पर स्थित जंगल में सैन्य शिविर स्थापित किया गया था । अर्थात प्रदेश होने के कारण राम ने सारी सेना को संगठित रूप में एक ही जगह पर रखा । सेनापति नील के अधिकार में समस्त सेना समुद्र के उत्तर तट तर भली-भांति टिका दी गई और सैनिक नियमानुसार पहरे आदि का भी प्रबन्ध किया गया मैन्द और द्विविद नामक दो यूथपति सेना के चारों ओर घूम-घूम करके पहरा देने लगे (६।०।१-२) । भूर-वीर सैनिक योद्धाओं को आदेश दिया गया कि इधर-उधर घूम फिर कर छिपी हुई किला वाल्मीकि-कालीन भारत का अत्यन्त सुदृढ़ और दुर्भेद्य दुर्ग था । आक्रमण और प्रत्याक्रमण का दृष्टि से उसकी असाधारण किलेबन्दी की गई थी । यदि वास्तव में देखा जाय तो दुर्ग-निर्माण का मूल कारण शत्रु सेना से सुरक्षा था, क्योंकि दुर्गों को सदैव धन, धान्य, शास्त्रास्त्र, यंत्र, शिल्पियों तथा धनुर्धरों से सुसज्जित रखा जाता था, जिससे आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला किया जा सके । मनु ६।२९४) ने लिखा है कि दुर्ग राज्य की रक्षा का प्रमुख आधार है । इतना ही नहीं बल्कि यह भी कहा गया है कि—'दुर्ग राज्य की सुरक्षा प्रदान करने के साथ ही, उसकी प्रजा, सम्पत्ति एवं मित्रों को भी आश्रय प्रदान करता है यज्ञवल्क्य १।३२१) ।

राजशास्त्र के पंडित मनु ने तो दुर्ग के महत्व की तुलना सैनिकों से करके और भी स्पष्ट

कर दिया है। उनका कथन हैं—"दुर्ग परिखा पर स्थित एक धनुर्धारी एक सौ सैनिकों तथा एक सौ धनुर्धारी सैनिक दस हजार सैनिकों का मुकाबला कर सकते हैं" (मनु० ७।७४)। आचार्य शुक्र भी इसी मत से सहमत हैं। युक्ति कल्पतरु में स्पष्ट किया गया है कि अपने अजय दृढ़ दुर्ग के कारण राजा थोड़ी भी सेना सहित शक्तिशाली बन जाता है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में सुरक्षात्मक साधनों का कितना विकास हो चुका था और भारतीय दुर्ग के सैनिक महत्व को भली-भांति समझ गए थे।

(ब) दुर्ग-रचना

दुर्गों की रचना भूमि, आर्थिक साधन तथा शत्रु आक्रमण की दिशा आदि को दृष्टि में रखकर की जाती थी क्योंकि आर० के० दीक्षित का मत है कि प्रत्येक राज्य की राजधानी व प्रत्येक नगर सुरक्षात्मक दुर्ग परिखा आदि से घिरा रहता था, जो परिस्थिति आर्थिक साधन तथा आक्रमण के भय से बनाये जाते थे[1]। जब, दुर्ग के लिए प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त न होती थीं तब किलेबन्दी के लिए कृत्रिम उपायों का प्रयोग किया जाता था। किलों की लम्बाई चौड़ाई व आकार आदि राज्य व नगर की स्थिति व आवश्यकतानुसार कम या अधिक हो सकती थी। दुर्ग गोलाकार, आयताकार, वर्गाकार, अण्डाकार किसी भी प्रकार के हो सकते थे। दुर्ग के भीतर जो राजधानी का विन्यास होता था, उसमें विभिन्न उपयोगों के लिये बनाई हुई सड़कें विभिन्न व्यवसायों के लोगों के आवास, राजकीय, कार्यालय आदि की स्थिति वैज्ञानिक विधि से नियत होती थीं। लंका दुर्ग की विशेषतायें युद्ध-काण्ड के तीसरे सर्ग में इस प्रकार वर्णित हैं और आज के युग में भी अध्ययन की रोचक सामग्री प्रस्तुत करते हैं—"किले के चारों ओर ऐक भीमाकार परकोटा था, जो ऐक चौड़ी और गहरी खाई से घिरा हुआ था। खाई जल और मत्स्य-ग्रहों से परिपूर्ण रहती थी। खाई और परकोटे के बीच कुछ खाली जगह थी, जो युद्ध के समय वानरी सेना द्वारा पाट दी गई थी (यु० का० ४१।२७)। दुर्ग का परिकोटा सुवर्ण निर्मित था। उस पर चढ़ना बडा दुष्कर कार्य था। इसका भीतरी भाग हीरे-जवाहरातों से अलंकृत था। उसके ऊपर वज्र और अटारियाँ बनी थीं। परकोटे में चारों दिशाओं में चार विशाल द्वार बने हुऐ थे। उनमें मजबूत किवाड लगे थे ओर मोटी अर्गलाएँ थीं। उन पर बड़े विशाल और प्रबल शतघ्नी और उपल यंत्र रखें थे, जिनसे आक्रामक शत्रु-सेना को रोक दिया जाता था। आवागमन के लिऐ खाई के ऊपर द्वारों तक पहुँचने के लिऐ चार सक्रम या पुल बने थे। हमलावरों को खाई में फेंकने के लिऐ इन संक्रमों पर भीषण यंत्र लगे हुये थे।

लंका दुर्ग का पूर्व द्वार सहस्त्रोंशूल और खड्गधारी योद्धाओं से सुरक्षित रहता था। पश्चिम द्वार पर अस्त्र-शस्त्र निपुण ढाल तलवार से सजे सैनिक और दक्षिणद्वार पर चुने हुए सैनिकों की चतुरंगिनी सेना तैनात रहती थी। उत्तर द्वार की रक्षा के लिऐ अधिकांशतः रावण की सेना नियत थी। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत लंका के उत्तर में स्थित था, अतः इस उत्तरी द्वार की सुरक्षा का अधिक ध्यान रखा जाता था। इस द्वार का संक्रम विशेष रूप से सुदृढ़ और दुर्भेद्य बनाया गया था। दुर्ग के मध्यवर्ती भाग में अगणित राक्षस योद्धा तैनात रहते थे। सारा किला शास्त्रागारों से युक्त, घोड़ों और हाथियों से संकुल तथा योद्धाओं से परिपूर्ण था। उसमें यत्र-तत्र दूर-वीक्षण-स्तंभ बने हुऐ थे, जो चैत्य कहलाते थे जहाँ से चैत्यपाल (५।४३।१३) बराबर निगरानी रखते थे कि कहीं से कोई आक्रमक तो नहीं आ रहा है। राज-

---

1 उत्तर भारती शोध जनरल—वाल्यूम ७ नं १ अप्रैल १९६०, पृ० ११०।

प्रासाद भी दुर्ग के मध्य में ही बना हुआ था। सारा किला, शंख भेरी और दुदुभि जैसे वाद्य-यंत्रों से निनादित रहता था।

यदि रामायणकालीन दुर्ग-रचना के उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों का सूक्ष्म समालोचन किया जाय तो कुछ ऐसे विशिष्ट निष्कर्ष निकलेगें, जिनसे प्राचीन नगर-निवासियों की जागरूक नागरिकता की भावना तथा उनके नैतिक और कलात्मक आदर्शों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सच तो यह है कि रामायण में वर्णित दुर्ग-रचना के तथ्य, प्रविधिक शब्दावली के अभाव में भी, वास्तु-विद्या और शिल्पा-शास्त्र के परिवर्ती रान्थों से परिपुष्टि और अनुमोदित होते हैं।

(स) **दुर्गों के भेद**—रामायण में चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख है जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिम च चतुर्विधम्।
स्थिता पारे समुद्रस्य दूरपारस्य राघव॥ यु० का० ३।२१

लंका में नदी दुर्ग, गिरि दुर्ग, वनदुर्ग और चौथे कृत्रिम दुर्ग हैं। हे राघव। समुद्र के उस पार बहुत दूर तक लंका बसी हुई है।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि रामायण कालीन भारत में चार प्रकार के दुर्ग होते थे, जो निम्न हैं—

१. **नादेय-दुर्ग**—समुद्र या नदी से चारों तरफ से घिरा हुआ जैसे लंका। इसी को आचार्य कौटिल्य ने औदक दुर्ग कहा है, जो जल के मध्य एक द्वीप की भाँति बने होते हैं और उनके चारों तरफ गहरी खाई होती है जो जल से भरी हुई होती है (अर्थ० २।३।२)। मनु से इसे जल दुर्ग की संज्ञा प्रदान की है[1]।

२. **गिरि-दुर्ग**—पहाड़ियों से घिरा हुआ अथवा पर्वत कन्दराओं में अथवा बड़े-बड़े पत्थरों की दीवारों से निर्मित जैसे किष्किधा। मनु ने सभी दुर्गों में गिरि (पार्वत) दुर्ग को ही उत्तम बताया है। उनका कथन है कि "गिरि दुर्ग तक शत्रु को पहुँचने में बहुत ही कठिनाई होती है तथा दुर्ग से फेंके जाने वाले अस्त्र शत्रु की अधिकाधिक सेना को हानि पहुँचा सकता है"। गिरिव्रज पांच पर्वतमालाओं द्वारा सुरक्षित था। आचार्य कौटिल्य ने भी गिरि दुर्ग को महत्वपूर्ण बताते हुए निर्देश दिया है कि इन दुर्गों में संकट काल से पूर्व ही पर्याप्त मात्रा में शस्त्रास्त्र, रसद एव अन्य युद्धोपयोगी समान एकत्र कर लेना चाहिए।

३. **वन-दुर्ग**—घने जंगलों से घिरा हुआ जैसे लंका। मनु ने के अनुसार चारों ओर स्थित घना जंगल ही वृक्ष दुर्ग है।

४. **कृत्रिम-दुर्ग**—चाहरदीवारी तथा खाई से घिरा हुआ जैसे अयोध्या, लंका और सांकाश्य आदि।

अतः वाल्मीकि के उल्लेख का आशय यह जान पड़ता है कि लंका चार प्रकार के दुर्गों से घिरी होने के कारण अजेय थी। ये चारों प्रकार के दुर्ग इस प्रकार थे—(१) लंका अगम्य त्रिकूट पर्वत के शिखर पर अवस्थित थी, अतः त्रिकूट पर्वत ही गिरि दुर्ग था (२) नगर के चारों ओर बनाया गया विशाल प्राचीर ही कृत्रिम दुर्ग था (३) इस प्राचीर को चतुर्दिक घेरने वाला घना जंगल ही वन्य दुर्ग था, एवं (४) समुद्र नादेय या जल दुर्ग का कार्य करता था। कम्बन् ने पद्य सं० १।३।७२ में निलवरण (महीदुर्ग), नीररण् (जलदुर्ग) मलैयरण् (गिरि-दुर्ग) और काहरण (वनदुर्ग) का संकेत किया है और बताया है कि अयोध्या इन चारों प्रकारों के

---

१ मुनस्मृति ७।७०-७१।

दुर्गों से रक्षित थी।[१] कहीं-कहीं पंचदुर्गों का उल्लेख मिलता है। रामायण में चित्रकूट पर राम ने भरत से राजनीतिक प्रश्नों के दौरान पूछा था—हे भरत! क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यंत्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकों से परिपूर्ण हैं अथवा नहीं" (२।१००।३)? राम ने 'पंचवर्ग का'[२] उल्लेख किया है। जलदुर्ग, गिरि-दुर्ग, वृक्ष-दुर्ग, इरिण-दुर्ग और धन्व दुर्ग—ये पाँच प्रकार के दुर्ग पंचवर्ग कहलाते हैं। इनमें आरम्भ के तीन तो प्रसिद्ध ही हैं। जहाँ किसी प्रकार की खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेश को 'ईरिण' कहते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसी भूमि को बंजर भूमि कह सकते हैं। बंजर भूमि का प्रयास भी दुर्ग का काम करता है। बालू से भरी मरुभूमि को 'धन्व' कहते हैं। गर्मी के दिनों में वह शत्रु के लिए दुर्गम होती है। इन सब दुर्गों का यथासमय उपयोग करके राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिए।

वाह्य भाग से दुर्गों की सुरक्षा हेतु निम्नलिखित चीजों का निर्माण आवश्यक माना जाता था—

(३) परिखा—आक्रामक शत्रु से बचने के लिए परिखा का निर्माण किया जाता था। परिखा बनाने के पूर्व जितनी भूमि में इसे बनाना होता था, उस पर चिन्ह लगा दिया जाता था। इसको 'परिखेयी भूमि' कहते थे[३]। भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध नगरों एवं दुर्गों के चतुर्दिक परिखा के विद्यमान होने की सूचना मिलती है। अयोध्या, लंका, मथुरा, मदुरा, इन्द्रप्रस्थ आदि परिखा द्वारा परिवेष्टि किये गये थे। नगर की चाहरदीवरी से बाहर, उसी से लगी हुई, पानी और जलचर जीवों से युक्त परिखा (खाई) रहती थी। खाई इतनी गहरी और चौड़ी होती थी कि आक्रमण के समय शत्रु के लिए वह पर्याप्त बाधक सिद्ध हो सके। जहाँ तक सम्भव होता, प्राकृतिक रक्षा-साधनों से लाभ उठाया जाता और अधिकांश नगर और दुर्ग नदी-तट पर (जैसे अयोध्या), समुद्रतट पर या द्वीप पर (जैसे लंका) तथा दुर्गम पर्वत पर (जैसे कलिंग) स्थित होते थे। कंबन् के अनुसार लंका नगर भी तीन प्राचीरों एव परिखाओं से वेष्ठित था। वाह्य प्राचीर आकाश-चुम्वी था[४]। लंका को आवेष्टित करने वाला महासागर ही इस प्राचीर की परिखा का कार्य करता था। इसके बाद दूसरा प्राचीर और उसे घेरने वाली परिखा थी[५]। इसके बाद तीसरी प्राचीर एवं परिखा थी[६]। महाउम्मग जातक में भी मिथिला की परिखाओं की संख्या तीन बताई गयी है[७]। बालकाण्ड के पाचवें सर्ग में उल्लेख किया गया है कि अयोध्या दुर्गम खाइयों से युक्त थी।

परिखाओं में भयंकर मगर पाले जाते थे। वाल्मीकि ने भी लिखा है—अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः (६।३।१६)। अर्थात् लंका की अगाध खाइयाँ मगरमच्छों से युक्त हैं। कम्बन् ने एक स्थान पर इनका बड़ा सजीव चित्रण किया है। वे कहते हैं, "धरती को भेदकर (अयोध्या के चारों ओर) जो परिखा बनाई गई है उसके भीतर बड़े-बड़े मगर निवास करते हैं, जो ऊपर उठ-उठकर डुबकियाँ लगाते हुए ऐसे लगते हैं मानों अति गम्भीर समुद्र के बीच उदम्य मद में डूबे हाथी हों। वे मगर तीक्ष्ण करवालों जैसी अपनी पूँछें हिलाते हुए अर्धचन्द्र-सदृश मुड़े हुए दाँतों के कारण चमकते हुए मुखों को खोलकर नेत्रों से चिगारियाँ उगलते हुए, एक दूसरे के साथ होड़ा-होड़ी

१ देखिये : गोपाल कृष्णमाचार्य के संस्करण में दी हुई टिप्पणी।
२ देखिये-अयोध्याकाण्ड। १००।६८
३ द्रष्टव्य, अष्टाध्यायी, ३।१।१७।
४ कम्बरामायण ५।२।२२
५ कं० ५।२।१५६
६ कं० ५।२।१६६
७ जातक, संख्या ५४६।

करते हुए, आगे बढ़ते हैं तो ऐसा लगता है मानो युद्ध-भूमि में (एक दूसरे से भिड़ने को) क्रोधान्त राक्षस टूट पड़े हों" ।[१] महाभारत में भी कहा गया है कि परिखाओं में जल भरवाकर उसमें त्रिशूल युक्त खम्भे गड़वा दिये जाते थे तथा मगरमच्छ और बड़े-बड़े मत्स्य डलवा दिये जाते थे[२] । तिलकमंजरी में भी अयोध्या की परिखा के वर्णन-प्रसंग में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है ।[३]

महर्षि वाल्मीकि ने लंका की परिखा के सम्बन्ध में और अधिक विवरण इस प्रकार दिया है—"आवागमन के लिए खाई के ऊपर चारों द्वारों तक पहुँचने के लिए चार संक्रम (लकड़ी के पुल) बने थे । आक्रामकों को खाई में फेंकने के लिये इन संक्रमों पर भीषण यन्त्र लगे थे[४] । वहाँ (दुर्ग में) रखी कलों (यन्त्रों) को घुमाते ही खाई का जल चारों ओर से बढ़ने लगता था और उस जल की बाढ़ से शत्रुसेना डूब जाती थी' । युद्ध के समय आक्रामक शत्रु इन परिखाओं को पाट देते थे[५] । हनुमान् ने लंका दहन के दौरान लंका की परिखाओं के ऊपर निर्मित पुलों को तोड़ डाला था तथा खाइयों को पाट दिया था (यु. का. ३।२९) ।

रामायण में परिखा की गहराई आदि पर महर्षि वाल्मीकि ने प्रकाश नहीं डाला है । वैसे जो माप अन्य स्थलों पर मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि यह परिखा की चौड़ाई के माप से बहुत कम था । उदाहरणार्थ मेगस्थनीज ने पाटिलपुत्र की परिखा को जहाँ ६०० फुट चौड़ी बताया है वहाँ उसकी गहराई केवल १५ फीट ही कहा है । शुक्रनीति (१।२४०) में कहा गया है कि परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई की केवल आधी हो । ऐसा प्रतीत होता है कि परिखा की आदर्श गहराई १५ फीट मानी जाती थी, क्योंकि, पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में काशिका में परिखा की गहराई (त्रिपुरुषी) तीन पुरुषा बताई गई है । इससे स्पष्ट है कि परिखा की गहराई को नापने में पुरुष अर्थात् पुरुषा का प्रयोग किया जाता था । अर्थशास्त्र में परिखा की गहराई को नापने वाले इसी माप को 'खातपौरुष' कहा गया है । इस खातपौरुष को अर्थशास्त्र में ८४ अंगुल (५ फुट ३ इंच) चौड़ा माना गया है । इस प्रकार त्रिपुरुषी परिखा की गहराई १५ फुट ९ इंच आती है[६] । अधिक सम्भव है कि यह परिखा की प्रमाणिक गहराई रही हो । कौटिल्य का चौड़ाई के सम्बन्ध में कहना है कि एक-एक दण्ड (६ फुट) की दूरी पर तीन खाइयाँ खुदवा देनी चाहिए, जो क्रमशः चौदह, बारह और दस दण्ड चौड़ी होनी चाहिए[७] ।

परिखा तीन प्रकार की होती थी—जल परिखा, पङ्क परिखा तथा रिक्त-परिखा । जल परिखा को अर्थशास्त्र में 'तोयपूर्ण परिखा' कहा गया है । इसका जल कभी-कभी स्थिर तथा कभी-कभी प्रवाहपूर्ण हुआ करता था । प्रवाहपूर्ण उस दशा में होता था जब कि इस परिखा के अगभाग को नदी से मिला दिया जाता था । वायुपुराण (८।२०९) में कहा गया है कि परिखा के मुख को नदी से मिला दिया जाय । लंका दुर्ग की परिखा को समुद्र से मिला दिया गया था और अग्रभाग में ऐसा यंत्र लगा दिया गया था जिसके घुमाते ही खाई का जल बढ़ने लगता था (यु. का. ३।१८) । दूसरे प्रकार की परिखा दलदल से भरी हुई होती थी, जिसको पार करना

---

१ कंबरामायण १।३।१७-१८
२ महाभारत, शान्तिपर्व । ६९।४३
३ धलपाल, तिलकमंजरी, पृ० ७
४ वाल्मीकि रामायण ६।३।१६-१८
५ दे० वा० रा०—६।३।१८ पर चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा का टीका ।
६ पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४४ ।
७ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ३, पृ० ५५ ।

शत्रु के लिए असम्भव होता था[1]। तीसरे प्रकार की परिखा को जातकों में 'सुक्खपरिखा' (सूखी हुई) कहा गया है[2]।

(४) **वप्र भित्ति**—परिखा के निर्माण के बाद वप्र (रैम्पर्ट) का निर्माण किया जाता था। परिखा को बनाते समय जो मिट्टी खोदी जाती थी, उसी के द्वारा वप्र का निर्माण किया जाता था। वप्र-भित्ति का निर्माण परिखा से ४ दण्ड (२४ फुट) दूरी पर किया जाता था। मिट्टी को चौकोर बनाकर हाथियों और बैलों द्वारा कुचलवाया जाता था। बन जाने के बाद उस पर कंटीली और विषैली झाड़ियाँ उगा दी जाती थीं। इस प्रकार जो वप्र तैयार होता था वह ६ दण्ड (३६) ऊँचा तथा १२ दण्ड (७२ फुट) चौड़ा होता था[3]।

(५) **प्राकार**—वप्र के ऊपर प्राकार अर्थात् परकोटे का निर्माण ईंट से किया जाता था। रामायण में परकोटों को दुर्ग तथा नगर की सुरक्षा का अभिन्न साधन समझा जाता था। सांकाश्य और वाराणसी की नगरियाँ ऊँचे-ऊँचे प्राकारों से घिरी थीं (वार्यफलकपर्यन्तां, १।७०।३; सुप्रकारा, ७।३८।१७)। सांकाश्या नगर के चारों ओर परकोटों की सुरक्षा के लिये शत्रुओं के निवारण में समर्थ बड़े-बड़े यन्त्र लगाये थे (बालकाण्ड। ७०।२-३)। प्राकार की दीवालें एक दूसरे से १२ से लेकर २४ हाथ की दूरी पर होती थीं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार प्राकार को २० हाथ (३० फुट) ऊँचा उठाया जाय[4]। कहीं-कहीं पर प्राकार की ऊँचाई केवल ९ हाथ रखी जाती थी[5]। आचार्य कौटिल्य का कहना है कि 'प्राकार के बाहर की भूमि में शत्रु को आने से रोकने के लिये गहरे गड्ढे बनाये जायँ, लताजाल एवं कंटीली झाड़ियों का आरोपण किया जाय[6]। इसका समर्थन समराङ्गण सूत्रधार ने किया है[7]। प्राकारों के ऊपर शत्रु का सफाया करने के लिये विध्वंसकारी यंत्र लगे होते थे। रामायण से विदित होता है कि अयोध्या नगर के परकोटे पर 'शतघ्नी'[8] और लंका दुर्ग की दीवारों पर इषपल नामक यंत्र लगे हुए थे (६।३।१२)। इसके द्वारा शत्रु सैन्य पर तीरों और पत्थरों की वर्षा की जाती थी। लंका का परकोटा सुवर्णमय दुर्धर्ष था, जिसके ऊपर पैनी और लोहे की बनी सैकड़ों शतघ्नी राक्षसों ने सजा रखा था (६।३।१३-१४)। नगर के प्राकार या परकोटे में मजबूत किवाड़ों वाले विशाल द्वार लगे रहते थे।

(६) **अट्टालक (बुर्ज)**—प्राकारों में स्थान-स्थान पर 'गोपुराट्टालक' बने रहते थे। 'अट्ट' या 'अट्टालक' बुर्ज को कहते थे, प्रत्येक द्वार पर ऐसे बुर्ज सुरक्षा तथा पर्यवेक्षण के लिये बने रहते थे रामायण में बुर्जवाले नगर-द्वार को 'गोपुर' (६।४२।१८) की संज्ञा दी गई है। साट्ट-गोपुर (५।५८।१५८) का अर्थ बुर्जवाला शहर का फाटक है। बुर्ज की चोटी पर सैनिक नियुक्त होते थे, जिनका कार्य आक्रामक शत्रु को देखना तथा उसका संहार करना था[9]। आचार्य कौटिल्य के अनुसार दो अट्टालकों के बीच ३० दण्ड (१८० फुट) की दूरी होती थी[10]। बुर्ज के ऊपर पहुँचने के लिये सोपान (सीढ़ी) का निर्माण किया जाता था। नगर-द्वार कभी-कभी अलंकृत तोरण-

१ पाणिनि कालीन भारत वर्ष, पृ० १४४।
२ वही ,, ,, ,, ,,
३ अर्थशास्त्र, पृ० ५१ (शास्त्री); समराङ्गण सूत्रधार (पृ० ४०)।
४ ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय १०३; पंक्ति १२०।
५ अपराजितपृच्छा, पृ० १७३।
६ अर्थशास्त्र पृ० ५२ (शास्त्री)
७ समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, श्लोक २४, पृ० ४०।
८ बालकाण्ड, ५ सर्ग।
९ देखिये—अय्यर, टाउन प्लैनिंग इन ऐंशेन्ट डकन् पृ० २६।
१० अर्थशास्त्र, पृ० ५२ (शास्त्री)

युक्त भी होता था। रामायण में अट्ट प्राकार तोरण का उल्लेख प्रायः साथ-साथ हुआ है क्योंकि ये साथ-साथ ही बने होते थे।

(ङ) युद्धों के प्रकार एवं दूत-प्रथा

सामाजिक विज्ञानों के विश्व-कोष में युद्ध को परिभाषित करते हुए लिखा गया है "युद्ध राष्ट्र का प्रयोग साधारणतः ऐसे शस्त्रात्मक संघर्ष के लिए किया जाता है जो प्रजातियों और जनरीतियों, राज्यों और अपेक्षाकृत छोटी भौगोलिक इकाइयों और धार्मिक एवं राजनैतिक दलों या आर्थिक वर्गों जैसे सावयवी इकाइयों के रूप में जाने माने जाने वाले जनसंख्यात्मक समूहों के बीच होता है"। किम्बल यंग के अनुसार "प्रक्रियाओं की दृष्टि से युद्ध का चक्र इस प्रकार चलता है–युद्ध, शान्ति और पुनः युद्ध"। इससे स्पष्ट होता है कि युद्ध का चक्र एक विलक्षण स्वरूप का होता है। युद्ध की प्रक्रिया या चक्र का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि चूंकि आदि काल से ही मानव-इतिहास मानव युद्ध का कारण रहा है' अतः इस इतिहास से भविष्य में भी युद्ध को निकाला नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्य मूल प्रवृत्तियों के समान मानव में युयुत्सा व लड़ने की भी जन्मजात प्रवृत्ति पाई जाती है जिससे वह कभी भी छुटकारा नहीं पा सकता। इस तर्क के समर्थक बिलियम जेम्स के अनुसार डार्विन का यह सिद्धान्त बिल्कुल सत्य है कि प्राणी को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना जरूरी है। संक्षेप में दो या दो से अधिक राष्ट्रीय समुदायों के बीच होने वाले महाविनासकारी संघर्ष को युद्ध कहते हैं।

रामायणकालीन सेना और युद्ध में एकाकी वीर की विशेषता प्रत्यक्ष है। रामायण में राम अकेले ही वीरता का प्रदर्शन करके विजयश्री प्राप्त करते हैं। युद्ध-भूमि में लड़ते हुए वीरों की पारस्परिक बातजीत होती थी। कभी-कभी यह बातचीत पूरे व्याख्यान के रूप में भी होतीं थी, जिसके द्वारा शत्रुपक्ष की दुष्प्रवृत्तियों के कारण, उसके पराभव की दैवी योजना का आकलन किया जा सकता है। रामायण में जिन युद्धों का वर्णन है, वे प्रायः वैदिकयुगीन वातावरण में सम्पन्न हुए थे। युद्ध के कारण प्रायः सांस्कृतिक विचारधारायी विषमतायें हैं, जिनके कारण आर्य और आर्येतर पक्षों का पारस्परिक मनोमालिन्य था। राम के युद्ध प्रायः देवताओं और ऋषियों के विरोधी आर्येतर लोगों को मारने के लिए हुए जो स्वतः राम से लड़ने के लिए आ भिड़ते थे। रक्ष-संस्कृति के प्रतिष्ठाता रावण के शरीर में शुद्ध आर्य और दैत्यवंश का रक्त था। उसका पिता पौलस्त्य विश्रवा आर्य ऋषि था और माता दैत्यराज-पुत्री थी। उसका पालन-पोषण आर्य विश्रवा के आश्रम में उसी के तत्त्वावधान में हुआ। उस समय के वेद का जो स्वरूप था, उसे उसने अपने बाल्यकाल में पिता से ही पढ़ लिया था। उस काल तक वेद ही आर्यों का एकमात्र साहित्य और और कर्म-वचन था जो केवल मौखिक था—लेखबद्ध न था। वह दुर्मद रावण अजेय योद्धा और नीतिविशारद था, जिसने स्वर्ण-लंका में अपना महाराज्य स्थापित करके तथा सम्पूर्ण दक्षिणवर्ती द्वीपसमूहों को अधिकृत करके अब भारत की ओर ध्यान लगा रखा था। देवों और आर्यों का संगठन उस काल में अत्युत्तम था। अतः रावण ने देवों और आर्यों के इस संगठन को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार के विप्लवों का सूत्रपात किया। अपने प्रभुत्व की धाक जमाने के लिए उसने दण्डकारण्य[1] और नैमिषारण्य[2] में सबल सैनिक-सन्निवेश स्थापित कर समूचे भरतखण्ड और आर्यावर्त एवं देवभूमि में अपने राक्षसों का जाल फैला दिया।

---

१ आजकल जहाँ नासिक का सुन्दर नगर है वही उस समय दण्डकारण्य कहलाता था।
२ आजकल जहाँ बिहार प्रान्त का शाहाबाद शहर वसा हुआ है उसे उस काल में नैमिषारण्य कहा जाता था।

यदि विस्तृत रूप से विचार करके देखा जाय तो राक्षसों और आर्यों की इस शत्रुता का प्रधान कारण रहन-सहन एवं विचार-व्यवहार का अन्तर तथा उनका एक दूसरे के क्षेत्रों में घुसने का प्रयास था। जहाँ रक्ष संस्कृति के समर्थक अपना राजनीतिक प्रभाव आर्यों के प्रदेशों पर फैलाना चाहते थे वहाँ आर्य भी दक्षिण भारत में अपना विस्तार करने पर तुले हुए थे। दक्षिण की ओर आर्यों के प्रसार में एक बड़ी बाधा दुर्गम विंध्य-पर्वतमाला थी। उसे पार करने का श्रेय अगस्त्य मुनि को मिला, जो दक्षिण में आर्यों की बस्तियाँ स्थापित करने में अग्रगामी थे। विंध्य के बीहड़ बनों में होते हुए वह दक्षिण में दूर तक चले गये, जनस्थान के निकट गोदावरी के ऊपरी तटों के पास, दण्डकारण्य में उन्होंने आर्यों के आश्रम-मण्डल की स्थापना की महर्षि अगस्त्य बड़े प्रतापी ऋषि थे। अगस्त्य के आश्रम के पास ही कुछ दूरी पर उनके भाई का भी उपनिवेश था। वहाँ के सभी जन उनकी अगस्त्य के समान प्रतिष्ठा करते थे। यों तो दण्डकारण्य के सभी ऋषी राक्षसों से लड़ते-झगडते रहते थे, पर अगस्त्य ने वीरतापूर्वक अनेक राक्षसों का वध कर डाला था। इससे अगस्त्य का आतंक राक्षसों पर भी था। अगस्त्य एक तपस्वी होने के साथ-साथ शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न थे। उन्होंने स्वयं राक्षसों से मोर्चा लिया और दक्षिण प्रदेश को राक्षसों के आतंक से मुक्त कर दिया—

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥ अ० का०। ११।८१

अर्थात जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्य ने समस्त लोकों की हितकामना से मृत्युस्वरूप राक्षसों को वेग पूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशा को शरण लेने के योग्य बना दिया।

अगस्त्य का अनुसरण करके अनेक ऋषि-महर्षियों ने दक्षिण में जाकर अपना आश्रम स्थापित किया। अतः राम के समय में गोदावरी के उत्तर में, आर्यों के अनेक समृद्धिशाली आश्रम बन चुके थे। सम्भवतः ये आश्रम एक प्रकार से दक्षिण में आर्य-प्रसार के अग्रिम सन्निवेश ही थे। यों तो आर्यों और राक्षसों के बीच छुटछुप झगड़े देश के कई भागों में होते रहते थे, पर गोदावरी नदी का निकटवर्ती क्षेत्र, जहाँ आर्यों की बस्ती दण्डकारण्य और राक्षसों की चौकी जनस्थान पास-पास थी, उनके आपसी संघर्ष का प्रमुख रंगमंच था। महाराज दशरथ भी कई बार इस मोर्चे पर लड़ने आये थे। मंदाकिनी (चित्रकूट) से लेकर पम्पा तक के समस्त प्रदेश में राक्षसों ने भीषण उत्पात मचा रखा था। इन्द्र की पराजय के बाद राक्षसों से लोहा लेने का भार अगस्त्य पर आ पड़ा लेकिन, उन्होंने इस उत्तरदायित्व को राम के ऊपर सौंप दिया। वास्तव में राम राक्षसों से लोहा लेने वालों में अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आर्य योद्धा थे।

उधर रक्षपति रावण ने सार्वभौमसत्ता की महत्वाकांक्षा से भूमण्डल के समस्त सात भागों में लूटमार का भयंकर आतंक मचा रखा था। एक अजेय धनुर्धर के रूप में चारों तरफ उसका लोहा माने जाने लगा था। दिग्दिगन्त में घूम-फिर कर रावण ने पृथ्वी की राजनीतिक और सामरिक सत्ताओं को अपने मन में तोल लिया। कहाँ कैसे किससे लोहा लिया जायेगा, इसकी योजना उसने मन ही मन बना ली थी। इन्द्र की पराजय के बाद उसकी प्रभुता की धाक समस्त भूमण्डल पर जम गई। यहाँ तक कि स्वयं दशरथ ने यह स्वीकार किया था कि मैं रावण से लड़ने में असमर्थ हूँ (१।२०।२०)। इस प्रकार आर्य प्रभुत्व का गौरवशाली सूर्य रावण के सम्मुख अस्तप्राय हो चुका था। रावण की उपस्थिति में समस्त प्रकृति भय के मारे कुंठित सी हो जाती थी। किसी व्यक्ति के आतंक का इससे बढ़कर और क्या प्रभाव हो सकता है।

युद्धों के प्रकार

युद्ध अनेक कारणों से लड़ा जाता है। अतः प्रत्येक युद्ध में उद्देश्य भिन्न होता है। पर यदि गहराई से देखा जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि युद्ध के कारणों की यह भिन्नता केवल बाह्य है। आन्तरिक दृष्टि से युद्ध का कारण सदैव एक ही होता है। तत्कालीन युद्धों में वीरता और युद्ध-कला दोनों का प्रदर्शन होता था। रामायण-युग में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नियमों का निर्माण हो चुका था। भारत में आर्यों और अनार्यों के निरन्तर सम्पर्क से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। उत्तरी भारत का आर्य साम्राज्य तथा लंका का राक्षस साम्राज्य, दोनों अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगे थे। जहाँ आर्यावर्त में राक्षसों ने लवणासुर, ताड़का तथा खर-दूषण को तैनात कर अपने प्रभाव-क्षेत्र की वृद्धि की, वहाँ आर्यों ने भी वानर-जाति से मित्रता कर दक्षिण में अपनी संस्कृति एवं प्रभुत्व का विस्तार किया। इस प्रकार तत्कालीन राजनीति में सन्धि-विग्रह के अनेक अवसर उपस्थित थे, जिनके अध्ययन से रामायण युगीन युद्धों के प्रकार की विशद् व्याख्या की जा सकती है।

युद्ध विद्या के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य कौटिल्य ने युद्ध के तीन प्रकारों—प्रकाश (धर्म युद्ध) युद्ध, कूट युद्ध और तूष्णीम् युद्ध का स्पष्ट निरूपण किया है[१]। उनके मतानुसार अमुक देश और अमुक समय पर हमारा तुम्हारा युद्ध होगा, इस प्रकार कह कर लड़ा जाने वाला युद्ध प्रकाश (धर्म) युद्ध कहलाता था। थोड़ी सेना को चतुराई से अधिक दिखाकर शत्रु में आतंक उत्पन्न कर देने, किले आदि को जलाने व लूटने, प्रमाद तथा व्यसनों से पीड़ित समय पर आक्रमण करने, एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर आक्रमण करने वाले युद्ध को कूट युद्ध कहा जाता था। विष एवं औषधि के प्रयोग तथा गूढ़ पुरुषों द्वारा उपजाप (बहकाना) अर्थात् असत्य प्रचार से शत्रु के मनोबल को डिगाना या शत्रु की क्रियाओं में परिवर्तन कराने वाला युद्ध तुष्णीम युद्ध कहलाता था[२]। धर्म युद्ध का उद्देश्य धर्म की संस्थापना करना था जबकि कूट युद्ध का उद्देश्य अपनी स्वार्थ सिद्धि करना ही था। कौटिल्य ने कूट युद्ध का समर्थन किया है।

आचार्य शुक्ल ने युद्ध नियम के आधार पर युद्ध के दो भेद बताये हैं—(i) धर्म युद्ध (ii) कूट युद्ध। किन्तु, युद्ध प्रणाली के आधार पर उनके मतानुसार युद्ध तीन प्रकार के होते हैं—दैविक, आसुर तथा मानवीय। मानवीय युद्ध भी दो प्रकार का बताया है—शस्त्र युद्ध एवं बाहु युद्ध[३]। मन्त्रों से प्रेरित करके महाशक्तिशाली बाण आदि के द्वारा किये जाने वाला युद्ध दैविक तथा आग्नेयास्त्रों से लड़ा जाने वाला युद्ध आसुर कहलाता था और उपरोक्त युद्धों में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य शस्त्रादि से लड़ा जाने वाला शस्त्र युद्ध तथा शस्त्रविहीन गुत्थम-गुत्था का युद्ध बाहु युद्ध कहलाता था[४]।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार एवं रामायण कालीन युद्ध नियमों के आधार पर तत्कालीन युद्ध के दो भेद किये जा सकते हैं—(i) धर्म युद्ध (ii) कूट युद्ध। जिन युद्धों में नियम का पूर्णतः पालन किया जाता था वे धर्म युद्ध कहलाते थे और जो युद्ध नियम विरुद्ध लड़े जाते थे वे कूट युद्ध कहलाते थे। इन दोनों की व्याख्या अलग-अलग निम्न प्रकार से की गई है—

१ धर्म युद्ध—रामायणयुगीन भारत में निर्धारित नियमानुसार संचालित युद्ध को 'धर्म युद्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती थी। तत्कालीन युग में युद्ध के कतिपय नियम निर्धारित होते थे।

---

१ अर्थशास्त्र ७।६।२१
२ ,, ७।६।४६-४७
३ शुक्रनीति ४।१०५२-१०५३
४ ,, ४।१०५३, १०५४, ११५६, ११६०, ११६१, ११६२, ११६३।

शिष्ट समाज तथा वीर व्यक्ति की शोभा इस बात में मानी जाती थी कि वह उन नियमों के अनुसार 'युद्धानुशासन' में बँध कर स्वपौरुष एवं पराक्रम का प्रदर्शन करे। जो व्यक्ति युद्ध से सम्बन्धित नियमों का उल्लंघन करता था, वह समाज द्वारा हीन समझा जाता था और वह अधर्म का पात्र माना जाता था। राम ने जो युद्ध किया—वह धर्म युद्ध था। उन्होंने अनेकों व्यभिचारी राक्षसों, दुष्टों और आततायियों को मारा। कोई उन्हें भले ही कुछ भी कह ले, परन्तु, ईश्वरीय, पूर्ण अच्छाई का सदैव सम्मान और अनुकरण होगा। वे महापुरुष थे—उन्होंने हमारे लिए सद्गुणों एवं सद्व्यवहार के स्तर स्थापित किया। महान् विधि-नियम-निर्माता मनु ने पहले ही लिख दिया "दुष्ट आततायी को मारने का पाप दुष्ट के अपने सिर पर ही लगता है"। ठीक ही तो है—जो मारने, व्यभिचार करने, लूटने या आपके मकान को आग लगाने आता है यदि आप और किसी प्रकार उसे ऐसा करने से रोक पायें, तो वह जान से मार दिये जाने के काबिल है।

रामायणकालीन युद्ध धार्मिक और सामुदायिक दोनों ही था। प्रश्न यह है कि तत्कालीन युद्ध धर्म युद्ध कैसे था। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, राम ने जो विस्तृत पैमाने पर अभियान शुरू किया, वह धार्मिक कहा जा सकता है, क्योंकि, इन्द्र की पराजय के बाद राक्षसों से जूझने का जो पूर्णदायित्व अगस्त्य मुनि पर पड़ा था, उसे उन्होंने राम को सौंप दिया, और इसमें कोई संदेह नहीं कि अनार्यों से लड़ाई करने वालों में राम अपने जमाने के सर्वश्रेष्ठ एवं लोकप्रिय सेनानी थे। बचपन से ही उन्होंने अपने बल-वीर्य और शस्त्रास्त्रों का उपयोग राक्षसी आक्रमणों से आर्य-ऋषियों की रक्षा करने में किया। राम की शस्त्रास्त्र -निपुणता का प्रथम परिचय सुबाहु और ताड़का के वध के अवसर पर होता है, जहाँ वे गुरु विश्वामित्र के द्वारा दी गयी शिक्षा का सफल प्रयोग करते हैं। ताड़का-वध का मुख्य कारण यह था कि जहाँ ताड़का-वन था, वहाँ पहले 'मलद' और 'कुरुष' नामों से प्रसिद्ध दो बड़े नगर थे। इन देशों के निर्माता इन्द्र थे। कुछ दिनों बाद ताड़का नाम की यक्षिणी सुन्द की स्त्री हुई। उसका पुत्र मारीच इन्द्र के समान महाबली था। ये दोनों विचारों की भिन्नता एवं रहन-सहन के अन्तर के कारण इन दोनों नगरों के विनाश में जुट गये। इस इसका मुख्य कारण यह भी था कि जब अगस्त्य मुनि के 'शाप से सुन्द मारा गया, तब ताड़का ने क्रोधित होकर पुत्र सहित अगस्त्य पर आक्रमण किया। उसको दौड़ती हुई आती देख अगस्त्य ने 'शाप' दिया कि—"हे मारीच तू राक्षस हो जा" और ताड़का से कहा कि तू मनुष्यों को खाया कर"। इस शाप से ताड़का क्रोधित थी और इसीलिए अगस्त्य मुनि के इस स्थान के विनाश में रत थी। अगस्त्य और ताड़का यक्षिणी का मूल झगड़ा संस्कृति एवं आचार-विचारों की विभिन्नता के कारण ही सम्भव हुआ। विश्वामित्र के आदेश के परिपालन में राम ने स्वयं कहा था—'देश, गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए मैं ताड़का का वध अवश्य करूँगा" (१।२६।४-५)। इस प्रकार ताड़का और राम का युद्ध धार्मिक विचारधारायी युद्ध था।

धर्म की रक्षा और ऋषियों की सुरक्षा के लिए ही राम ने ताड़का का वध किया, क्योंकि, अपने वनवास-काल में जब राम ने दण्डकारण्य में प्रवेश किया तब राक्षसों से त्रस्त वहाँ के ऋषि-मुनियों ने उनके आगमन का एक वरदान के रूप में स्वागत किया, क्योंकि, वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे राक्षसादि उसी प्रकार सहन नहीं सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता। राक्षस विराध में बध के बाद जब राम शरभङ्ग ऋषि के आश्रम में पहुँचे, तब ऋषि ने बहुत दुःखद भाव से कहा—"हे राम ! ये वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, आप जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं। आप इधर आइये और इन बहुत से आत्मदर्शी

मुनियों के मृत शरीरों को देखिये जिनको राक्षसों ने भालों की नोकों से छेद कर तलवारों से काट डाला है" (३।६।१६)। ऋषियों ने राम को अवगत कराया कि पम्पा नदी के तटवर्ती तथा मंदाकिनी नदी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही अधिकांशतः मारे जाते हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि संघर्ष का वास्तविक स्थल उक्त क्षेत्र ही था।

मुनियों के वचन सुन कर राम ने कहा—"मुनिवरों! आप लोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें। मैं तो तपस्वी महात्माओं का आज्ञापालक हूँ। मुझे केवल अपने ही कार्य से वन में तो प्रवेश करना ही है। इसके साथ ही आप लोगों की सेवा का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो जायेगा। यद्यपि. मैं पिता की आज्ञा का पालन करने आया हूँ, तथापि, आप लोगों के दुःख का नाश करना भी मेरा अपना ही कर्त्तव्य है। इसीलिये वन में आया हूँ" (३।६।२२-२३)।

सुतीक्ष्ण मुनि से परिचय प्राप्त कर राम अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं और मुनि को अपना परिचय देते हैं। वहीं राम राक्षसों के वध का विधिवत् संकल्प लेते हैं। राम को इस कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ जान अगस्त्य उन्हें शस्त्रास्त्र प्रदान करते हैं। राम की रण चातुरी का श्रेष्ठतम परिचय खर, दूषण, त्रिशिरा एवं उनकी १४ हजार रण बांकुरी अपार सेना के साथ मिलता है (३।३०।३५)।

किष्किधानृपति बालि का वध भी राम ने धर्मानुसार किया क्योंकि बालि के धर्मयुक्त बचनों को सुन राम अपने कर्म को धर्मानुसार प्रमाणित करते हुए कहते हैं—"हे नृपति! तुम धर्म, अर्थ, काम और लोकाचार को जाने बिना क्यों मुझे धिक्कारते हो? सुनो, यह सम्पूर्ण पर्वत और जंगलों सहित पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशवालों की है। इस भूमि पर रहने वाले मृग, पक्षी और मनुष्यों को दण्ड देने और उन पर शासन करने का अधिकार केवल इक्ष्वाकुवंश वालों को ही है। धर्मानुरागी भरत आजकल पृथ्वी का शासन कर रहे हैं, उन्हीं के धर्माज्ञापालक हम तथा अन्य राजा लोग धर्मवृद्धि की कामना से सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमा करते हैं। उन राजसिंह और धर्मवत्सल राजा भरत के राज्यकाल में किस मनुष्य मे सामर्थ्य है जो धर्म विरुद्ध कोई कार्य कर सके"। मैंने जो तुम्हें मारा है उसका कारण सुनो—

"देखो तुम सनातन धर्म छोड़कर अपने भाई की पत्नी रूमा का, जो तुम्हारी पुत्रवधू के सामन है, कामवश उपभोग करते हो। यही कारण है कि मैंने तुम्हारा वध किया है। जो पुरुष अपनी कन्या, बहन अथवा छोटे भाई की स्त्री के पास कामवश जाता है, उसका वध करना ही उसके लिए उपयुक्त दण्ड है। हे हरियूथप! धर्म की मर्यादा को उल्लंघन करने वाले और लोक व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले को मारने के सिवाय मुझे और कोई दण्ड नहीं दीख पड़ता—

न हि धर्मविरुद्धस्य लोकवृता दपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामी निग्रह हग्यिूथप ॥ ४।१८।२१

राम-रावण युद्ध का प्रत्यक्ष कारण लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण ही था, जिसमें रावण द्वारा सीता को अपहरण ने मानों आग में घी का काम किया। वास्तव में यह युद्ध धार्मिक युद्ध ही था क्योंकि राम ने राज्य-विस्तार हेतु युद्ध नहीं किया। रावण के अत्याचार का आतंक सम्पूर्ण भूमण्डल पर छा गया था। उसने भूमण्डल के समस्त भागों में लूटमार का भयंकर आतंक मचा दिया था। सीता की मुक्ति के लिए राम ने रावण के विरुद्ध सैन्य अभियान किया। लंका-दुर्ग पर घेरा डालने के बाद राम ने धर्मानुसार युवराज अंगद को दूत बना कर रावण के पास यह संदेश देकर भेजा था कि बिना शर्त आत्मसमर्पण करके सीता को लौटा दो लड़ाई के मैदान से उतर आओ! लंकेश रावण ने राम की चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया।

(क) धर्म युद्ध के नियम— बाल्मीकि-रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण काल में युद्ध एवं शान्ति कालीन नियम थे जिनका आदर किया जाता था। युद्ध धर्म क्या हो, इसका निर्णय दो विरोधी दलों की सम्मिनित राय से होता था। परस्पर लड़ने वाले व्यक्तियों या राष्ट्रों के बौद्धिक और नैतिक स्तरों के अनुसार ही युद्ध-धर्म का निरुपण होता था। जब युयुत्सु दो दल किसी सन्धि-स्थल पर इक्ट्ठे होकर कोई नियम बनाते थे, तब वे नियम ही युद्ध धर्म बन जाते थे। इन नियमों का मूल उद्देश्य यह था कि दोनों दल शक्ति की परीक्षा में पीछे न हटकर क्रूरता एवं छल-कपट का परिहार करें। युद्ध-नियमों को निर्धारित करने का कार्य आचार्य करते थे। आचार्य समाज के सच्चे नियामक होते थे। धर्म-युद्ध के नियमों का उल्लेख करने वालों में मनु, कौटिल्य तथा शुक्र आदि प्रमुख हैं।

मनु का मत है कि युद्ध छल, प्रवंचना, अनृत आदि से परे वीरता प्रदर्शन-सम्बन्धी साहस से अनुप्राणित, सद्‌बुद्धि से समर्पित कृत्य है समर्थ एवं शक्तिशाली राजा को समान रूप से समर्थ एवं सम्पन्न राजा से युद्ध करना चाहिए। आयुध से रहित रथ से विहीन व्यक्ति वाध्य नहीं है। भूमि पर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और मैं 'तुम्हारा हूँ' ऐसा कहते हुए (शरणागत) योद्धा को न मारे ७।९१)।

धर्म युद्ध का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि जो युद्ध में प्रवृत नहीं है, वह वध्य नहीं है। युद्ध का दर्शक अथवा इसी श्रेणी के अन्य व्यक्ति का वध नहीं होना चाहिए। पराजय को स्वीकार कर लेने वाला विजेता योद्धा की शरण में आ जाने वाला सैनिक भी अवध्य है। मनु ने लिखा है कि सोये हुए कवच से रहित, नंगा, शस्त्र से रहित, युद्ध नहीं करते हुए (केवल युद्ध को) देखते हुए (जैसे युद्ध-संवाददाता आदि) और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े हुए योद्धा को न मारे (७।९२)।

मनु ने धर्म-युद्ध के अन्तर्गत यह भी लिखा है कि उन आयुधों से शत्रु का बध नहीं करना चाहिए जिनके आघात से पीड़ा एवं कष्ट पहुँचता है। शत्रु के साथ वीरता का प्रदर्शन करना चाहिए। युद्ध करता हुआ (राजा या कोई योद्धा) कूटशास्त्र कर्णि के आकार वाला फल, विषादि में बुझाये, अग्नि से प्रज्ज्वलित अग्रभाग वाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे (७।९०)।

आचार्य कौटिल्य ने भी उभयपक्षों द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार युद्ध करने की सम्मति दी है। मनु एवं भीष्म की तुलना में कौटिल्य द्वारा उल्लिखित नियम अल्प हैं। औटिल्य का मत है कि युद्ध क्षेत्र में गिरे हुए, युद्ध से विमुख, शरणागत, निःशस्त्र, खुले बाल वाले, भयभीत युद्ध करने की भावना से विहीन प्राणी का वध नहीं करना चाहिए (अर्थ० ४।१३।२७)।

शुक्र ने कौटिल्य की तुलना में धर्म-युद्ध के अधिक नियमों का उल्लेख किया है। शुक्र के अनुसार-युद्ध में प्रत्येक प्राणी को अपने स्तर, पद या ओहदा के आदमी के साथ युद्ध करना चाहिए। पैदल सिपाही पैदल के साथ, रथी—रथी के साथ, अश्वारोही—अश्वारोही के साथ तथा शस्त्रधारी को शस्त्रधारी के साथ युद्ध करना चाहिए (शुक्रनीति ४।१२।७४-७५)। इसके अनन्तर शुक्र ने अवध्य प्राणियों के विषय में उल्लेख किया है कि अवध्य प्राणी वही हैं जिनका उल्लेख मनु ने किया है। शुक्र की सूची में अत्यन्त थके हुए बालक, वृद्ध, स्त्री अकेला राजा भी सम्मिलित हैं। इन्हें नहीं मारना चाहिए।

हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस तरह ये नीतियाँ उच्छृंखल योद्धाओं को संयमित कर उनके चरित्र को उच्च और उज्ज्वल बनाती थीं। रामायण भी धर्म-युद्ध के नियमों पर विधिवत् प्रकाश डालता है जो निम्नलिखित हैं—

(१) यदि कोई राजा किसी अन्य राज्य के राजा से अपनी बात मनवाना चाहे अथवा अपने अधीन करना चाहे अथवा युद्ध करना चाहे, तो उसे पहले अपना दूत भेजकर सूचित कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ राम ने धर्मानुसार युवराज अंगद को राजदूत बनाकर रावण के पास भेजा था, जिसके द्वारा युद्ध की अन्तिम चेतावनी दी गई थी (६।४१।५६)।

(२) जो व्यक्ति युद्ध में भाग नहीं लेते, जो भय से अपने को छुपाते हैं अथवा जो केवल युद्ध क्षेत्र में दर्शक के रूप में ही जाते हैं, उनसे युद्ध नहीं करना चाहिए (६।८०।३९)।

(३) अपने साथ न लड़ने वाले, हाथ जोड़ शरण में आये हुए, रण छोड़कर भागे हुए अथवा उन्मत्त को नहीं मारना चाहिए (६।८०।३९)।

(४) सोते हुए शस्त्रास्त्रों से हीन, थके हुए या स्त्रियों से घिरे हुए शत्रु पर आक्रमण करना अनुचित था (७।३२।२८-९)। जब लंकेश रावण राम से लड़ते-लड़ते काफी थक गया, तब राम ने उस पर वार करना उचित न समझा और रावण को घर लौट जाने के लिए एवं विश्राम के पश्चात् नये रथ में नया धनुष लेकर आने के लिए कहा था (६।५९।१४०-१)।

(५) योद्धा का धर्म यह भी था कि शत्रु द्वारा युद्ध-हेतु आवाहन करने पर वह चुप बैठ नहीं सकता था, अगर वह ऐसा करे तो वह अपने धर्म से च्युत हो जाता था। उदाहरणार्थ सुग्रीव ने वालि को युद्ध हेतु ललकारा था जिस पर तारा ने बालि को जाने से रोका था, किन्तु बालि ने पत्नी के निवेदन को ठुकराते हुए कहा था—वह मेरा भाई शत्रु है। फिर जब इस प्रकार गर्व सहित ललकार रहा है तब मैं उसके इस गर्जन-तर्जन को कैसे सह सकता हूँ (४।१६।२-३)।

(६) समुचित कारण के बिना लड़ाई ठान लेना राजाओं के लिए अनुचित था। शत्रु को यह पूर्व सूचना देनी चाहिए कि निर्धारित माँगे पूरी न होने पर युद्ध घोषित कर दिया जायेगा। बालि ने राम से कहा था कि अकारण ही किसी पर आक्रमण कर देना अशोभनीय है तथा उदासीन (तटस्थ) के प्रति प्रयुद्ध छेड़ना अनुचित है (४।१७।१६।४६)। रावण ने मारीच से शिकायत की थी कि राम ने जनस्थान स्थित हमारी सेना को सूचना दिये बिना ही मौत के घाट उतार दिया है (४।३६।७-८) और उत्तेजित न किये जाने पर भी, मेरी भगिनी को विरूप कर दिया (३।६।१२-३)।

(७) किसी अन्य से लड़ते हुए योद्धा पर आक्रमण करना अनुचित माना जाता था। था। नील के साथ लड़ते हुए रावण पर हमला करना हनुमान् ने अनुचित माना था (६।५९।७२)।

(८) युद्ध से पराङ्मुख होकर भाग जाना अपनी कीर्ति में बट्टा लगाना था[1] और स्वामी के हितार्थ युद्ध-भूमि में प्राण-त्याग करना पुण्योत्पादक माना जाता था[2]।

(९) किसी एक व्यक्ति के अपराध के कारण असंख्य लोगों को मौत के घाट उतार देना[3] तथा शरणागत को शरण न देना निन्दनीय था।

(१०) युद्ध काण्ड के अध्ययन से हमें आभास मिलता है कि भागते हुए को मारना, संधि की याचना करने वालों तथा शरणागतों को मारना पाप का काम था।

(११) शस्त्र रहित शत्रु का वध अनुचित था। जब सेना सहित राम समुद्र पार करके लंका में उतर आये, तब रावण ने दो गुप्तचरों को बानर सेना में प्रवेश करके उनके बल आदि

---

१ देखिये ६।८२।३-४; ३-७।२३
२ देखिये ६।१३।४
३ देखिये ६।८०।३८

का ज्ञान प्राप्त करने का आदेश दिया। किन्तु, वे पकड़ लिये गए। जब वे राम के पास लाए गए, तब राम ने कहा—"तुम लोग मारे जाने या कैद किये जाने का भय न करो क्योंकि शस्त्र-रहित मनुष्य तथा दूत मारे जाने योग्य नहीं है।"

(१२) तत्कालीन युग में सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द कर देने का विधान था। दिन भर युद्ध करने के बाद सैनिक सूर्यास्त की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते थे।

(ख) धर्म युद्ध की प्रणाली—

अब धार्मिक युद्ध की प्रणालियों की व्याख्या आगे की जा रही है। तत्कालीन युग में निम्नलिखित युद्ध प्रणालियों को काम में लाया जाता था—

(i) **मल्ल युद्ध**—रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि वानर और राक्षस ही मल्ल युद्ध का आश्रय लिया करते थे, शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में निपुण आर्य-योद्धा नहीं। मल्ल या कुश्ती-बाज भिड़ जाने से पहले कसकर लँगोटी पहन लेते, खूब गरजते और एक दूसरे को ललकारते थे। लड़ते समय बीच-बीच में वे एक दूसरे को डाँटते भी जाते थे। रामायण में सबसे रोमांचकारी मल्ल युद्ध रावण और सुग्रीव के बीच हुआ है। उस समय वानरी सेना सुवेल पर्वत पर डेरा डाले पड़ी थी और नगर के गोपुर की छत पर रावण बैठा हुआ था। उसके माथे पर विजय सूचक छत्र तना हुआ था, उसके अगल-बगल दो सफेद चँवर डुलाए जा रहे थे। उसके शरीर में लाल चन्दन लगा हुआ था और वह रत्नजटित आभूषण पहिने हुए था। उसे देखते ही सुग्रीव क्रोध से उबलकर सुवेल के शिखर पर से ही गोपुर की छत पर कूद पड़े, जहाँ रावण बैठा हुआ था। रावण का तिरस्कार करते हुए उन्होंने कठोर बचनों का प्रहार किया और छलांग मार कर रावण के ऊपर पहुँचे तथा रावण के मुकुट को खींचकर जमीन पर गिरा दिया (६।४०।११)।

इस पर रावण ने सुग्रीव को कठोर वचन कहते हुए, अपनी भुजाओं में उठाकर जमीन पर दे मारा। झट सुग्रीव ने भी गेंद की तरह उछलकर रावण को पटक लगाई—६।४०।१३)। अब वे दोनों आपस में गुंथ गये। दोनों के ही शरीर पसीने से तर और खून से लथपथ हो गये। वे दोनों एक दूसरे से लिपट जाते थे और कुछ समय के लिए चेष्टारहित हो जाते थे। महाबली वानरराज और राक्षसराज दोनों में घूँसे, थप्पड़, कोहनी और पंजों की मार से घोर युद्ध होने लगा (६।४०।१५)।

गोपुर की छत पर इस तरह वे दोनों उग्र पराक्रमी बहुत देर तक युद्ध करते रहे। हाथा-पाई करते-करते यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि, कभी रावण सुग्रीव को और कभी सुग्रीव रावण को पकड़ कर, ऊपर उछाल देता था। कभी-कभी पैंतरे बदलते हुए दोनों कुछ देर के लिए, एक दूसरे की घात में खड़े हो जाते थे। एक दूसरे को उछालते हुए वे आपस में गुंथकर इतने झुक गये कि उस चबूतरे से ही जा लगे। लड़ते-लड़ते वे किले की खाई में गिर गये; वहाँ कुछ देर पृथ्वी-तल का स्पर्श किये पड़े रहे, फिर सांस लेते हुए खड़े हो गये और फिर एक दूसरे को बाहु-पाश में जकड़ कर आपस में बंध गये। कभी-कभी आवेश में भर वे अपने-अपने (मल्लयुद्ध के) अभ्यास और (शारीरिक) शक्ति को दिखाते हुए एक दूसरे को पकड़ने की घात में लगे हुए घूमने लगते थे। एक दूसरे को उठाकर पटक देते थे और पुनः दोनों ही उठ-उठ कर वहाँ चक्कर लगाने लगते थे क्योंकि दोनों ही मल्लयुद्ध विद्या में अभ्यस्त होने के कारण पर्याप्त बल सम्पन्न थे। इसी से वे दोनों वीर शीघ्र थके भी नहीं थे। मतवाले हाथियों की सूँडो की तरह अपने हाथों से एक दूसरे को रोकते हुए वे बहुत देर तक मण्डलाकार हो लड़ रहे थे—(६।४०।२१)। वे कभी विचित्र रीति से चक्कर काट, कभी पैरों को तिरछे रखकर, कभी टेढ़ी-मेढ़ी चाल से, कभी बैंड़े होकर, कभी चक्कर काट कर, कभी लात मारने के लिए उछल कर घूम-घूम कर लड़

रहे थे । इतने में रावण ने कुछ माया जाल रचना चाहा, जिसे वानरराज सुग्रीब ताड़ गए । और फौरन सुवेल पर्वत पर राम के पास पहुँच गये (६।४०।२७) ।

मल्ल युद्ध के समय—सुग्रीव और रावण ने निम्नलिखित दाव-पेंचों का प्रयोग किया था[1]—

१. मार्जार अवस्थान—अपने शिकार की ओर ध्यान लगाकर निश्चल भाव से खड़ी दो बिल्लियों की-सी मुद्रा में मल्लों का वार करने लिए खड़ा रहना[2] ।—

२. मंडल— मंडल चार प्रकार के होते हैं—'चारि' 'करण' 'खंड' और 'महामंडल । एक पैर आगे करके बढ़ना 'चारि' कहलाता है । दोनों पैर एक साथ बढ़ाकर आगे-आगे को 'करण' कहते हैं । करण की शैली में कई वार आगे बढ़ने को 'खंड' कहते हैं जबकि तीन-चार प्रकार से खड़ों का प्रयोग करना 'महामंडल कहलाता है । उक्त सभी मण्डल दायें या बांये या दायें-बायें प्रयुक्त होने पर क्रमशः 'सव्य' 'अपसव्य' और 'सव्यापसव्य' कहलाते थे ।

३. गोमूत्रक—बहते हुए गोमूत्र के समान टेढ़ी-मेढ़ी गति ।

४. गत-प्रत्यागत—आगे बढ़ना और पीछे हटना ।

५. तिरश्चीनगत —उल्लू, बाज आदि शिकारी पक्षियों की तरह तिरछी चाल से झपटना ।

६. वक्रगत—दायें-बायें होकर झपटना ।

७. प्रहार-वर्जन—शीघ्रता से हटकर शत्रु के बार को व्यर्थ कर देना ।

८. वर्जन—शत्रु के वार को अपने बार से रोकना ।

९. परिधावन—हमला करने की नीयत से प्रतिपक्षी के चारों ओर दौड़ना ।

१०. अभिद्रवण—प्रतिपक्षी का तेजी के साथ सामना करना ।

११. आप्लाव—मेंढक की तरह रुक-रुककर प्रतिपक्षी की ओर बढ़ना ।

१२. सविग्रह अवस्थान—आक्रमणात्मक मुद्रा में निर्भय खड़े रहना ।

१३. अपन्यस्त—विरोधी की पकड़ से बचने के लिए बाँहों को इधर-उधर फेंकना ।

१४. अवप्लुत—प्रतिपक्षी को लात मारने के लिए नीचा मुंह करके कूदना ।

१५. परावृत—प्रतिपक्षी के वार से बचने के लिए सामने न आना ।

१६. उपन्यस्त—विरोधी की भुजाएँ पकड़ने के लिए छाती तानकर बाहें फेंकना ।

१७. अपद्रुत—प्रतिपक्षी की जांघ आदि पकड़ने के इरादे से शरीर को सिकोड़कर झुकते हुऐ आगे बढ़ना ।

इनमें से बहुत से दाँव-पेंच आज भी किसी न किसी रूप में भारतीय पहलवानों द्वारा अपनाये जाते हैं ।

(ii) द्वन्द्व-युद्ध—तत्कालीन समय में द्वन्द्व-युद्ध प्रचलित था । राम-रावण युद्ध से पहले भी आर्य और अनार्य के बीच संघर्ष की अनेक घटनाएँ घटित हो चुकी थीं । रावण ने अपने साम्राज्य-वादी अभियान का आरम्भ यक्षो पर प्रबल आक्रमण करके किया । उन्हें जीत कर उसने कुबेर को द्वन्द्व युद्ध में परास्त किया और युद्ध की लूट के रूप में उनका विख्यात पुष्पक विमान हथिया लिया । बलि दुंदुभि से द्वन्द्व-युद्ध करते-करते दीर्घकाल तक गुफा से बाहर नहीं निकला, और बाद में उसे परास्त करके लौटा था । राम और ताड़का का युद्ध द्वन्द्व कोटि का था, यद्यपि राम के सहायक उनके भाई लक्ष्मण और आचार्य विश्वामित्र साथ ही थे । ताड़का राम की ओर दौड़ी ।

---

१ रामायणकालीन समाजः शान्ति कुमार नानूराम व्यांस, पृष्ठ २९६

२ देखिये ६।४०।२२

उसने धूल उडाकर सब को मोहित कर दिया और राम तथा लक्ष्मण पर शिला की वर्षा की (१।२६।१५-१६)।

राम ने शिलावृष्टि को बाणों द्वारा वन्द किया और बाणों से ही उसकी दोनों बाहों को काट लिया। जब वह गिर पड़ी तो लक्ष्मण ने उसका कान, नाक आदि काटी। राम ने उसके पुनः युद्ध करने पर उसे बाणों से हृदय में मारा और वह मर गई।

द्वन्द्व युद्ध का दूसरा प्रसंग किष्किधाकाण्ड में बालि सुग्रीव-युद्ध से प्राप्त होता है। जब सुग्रीव ने बलि को युद्ध-हेतु ललकार तब बालि क्रुद्ध सर्प की तहर फुफंकारता हुआ अन्तः पुर से बाहर निकला। किष्किधा से बाहर निकलने पर उसने देखा कि सुग्रीव कमर कसे खड़े हैं। इस प्रकार लड़ने के लिए तैयार सुग्रीव को देख, बलि ने भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर, कपड़े से अपनी कमर कस कर बाँधी—

सतं दृष्ट्रा महावीर्यं सुग्रीव पर्यवस्थितम्।
गाढं परिदधे वासो वाली परमरोषणः॥ ३।१६।१६

पराक्रमी बालि कमर कस और घूंसा तान सुग्रीव से लड़ने के लिए अवसर खोजता हुआ चला। उधर सुग्रीव भी मुक्का तान अत्यन्त क्रुद्ध हो; बलि की तरफ अग्रसर हुए। दोनों एक दूसरे पर वाक्यों का प्रहार करते हुए आपस में भिड़ गये। बालि ने क्रुद्ध होकर सुग्रीव को घूंसा मारा जिससे सुग्रीव के मुंह से खून प्रवाहित होने लगा। इसका बदला चुकाने के लिए सुग्रीव ने भी एक वृक्ष द्वारा बालि के ऊपर प्रहार शिया। इस तरह भयङ्कर बल-विक्रमशाली तथा गरुड़ के समान वेगवान् और विशालकाय बलि और सुग्रीव ऐसे लड़ने लगे, मानों आकाश में चन्द्र और सूर्य लड़ रहे हों। वे दोनों आपस में एक दूसरे की घात देख रहे थे। इस बीच में बालि का बल एवं पराक्रम बढ़ता जा रहा था और सुग्रीव का घटता जा रहा था। परन्तु राम को दिखाने के लिए सुग्रीव के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो, वृक्षों, शिलाओं, वज्रसम धार वाले नाखूनों, घूंसो से, लातो से और भुजाओं से बराबर प्रहार करते जा रहे थे। उन दोनों का युद्ध वैसा ही हुआ, जैसा कि वृभासुर के साथ इन्द्र का हुआ था (३।१६।२८-२६)। वे दोनों वनचर बन्दर युद्ध करते हुए रुधिर से तखतर हो मेघ की तरह घोर शब्द कर, परस्पर तर्जन-गर्जन कर रहे थे—

तौ शोणिताक्तों युध्येतां वानरौ वनन्यारिणौ।
मेघाविन महाशब्दैस्तर्जयानौ परस्परम्॥ ३।१६।३०

राम ने देखा कि सुग्रीव का पराक्रम घटता ही जा रहा है, तब बालि का वध करने की इच्छा से उन्होंने बाण द्वारा उसकी छाती में मारा। बाण के लगते ही बालि घायल हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

युद्धकाण्ड के ४२ वें और ४३ वें सर्ग में आदि कवि ने थोड़ा सा द्वन्द्व युद्ध का उल्लेख किया है। ज्यों ही सर्वोच्च सेना अधिनायक राम ने युद्ध-प्रारम्भ की घोषणा की, त्यों ही बानर यूथपति अपनी अपनी सेनासहित लंका दुर्ग पर टूट पड़े। वे वृक्षों शिखरों, और मुक्कों से अटारियों और तोरणों को तोड़ने लगे। सुबाहु, बीरबाहु, नल और पनस ये महाबली यूथपति लंका की चाहरदीवारी को तोड़कर नगर के भीतर चले गये। वहाँ पर वे व्यूह-रचना को नियत करने लगे। पूर्ण द्वार पर दस करोड़बीर वानरों को साथ लेकर कुमुद यूथपति; द्वार पर शतबलि यूथपति २० करोड़ वानरों को लेकर पश्चिम द्वार पर यूथपति सुषेण करोड़ों वानरों को लेकर उत्तर राम लक्ष्मण और सुग्रीव के साथ खड़े हुए। उत्तर द्वार की सुरक्षा का पूर्णदायित्व गवाक्ष, धूम्र, गोलांमूल यूथपति करोड़ों वानर ओर भालुओं के साथ वहन कर रहे थे। निरीक्षण-कार्य का उत्तरदायित्व गज, गवय, तरभ और गन्धमादन के ऊपर था।

इसकी सूचना पाकर उधर रावण ने सम्पूर्ण सेना को रण क्षेत्र में जाने का आदेश दिया। आदेश पाते ही राक्षस वानरी सेना पर टूट पड़े। शङ्खों और दुन्दुभियों की ध्वनि से वीरों के सिंहनाद से, हाथियों की चिंघाड़ से, घोड़ों की हिनहिनाहट से, रथो की गड़गड़ाहट और राक्षसों के पैरों की धमधमाहट से पूरा वायुमण्डल गूंज उठा।[1]

अब देवासुर-संग्राम की तरह वानरों और राक्षसों का महाघोर संग्राम प्रारम्भ हुआ। इधर-राक्षस जलती हुई गदा, शक्ति, शूल और फरसा आदि से वानरों को मारने और अपने-अपने पराक्रम का वर्णन करने लगे। उधर वानर भी वृक्षों और शिला खण्डों नाखूनों दाँतों से राक्षसों के ऊपर प्रहार करने लगे। परकोटे की दीवालों पर खड़े हुए राक्षसों के पास वानर छलांगें मारकर पहुँच जाते और पकड़-पकड़ कर वहां से राक्षसों को नीचे पटक देते थे—

वानराश्चापि संक्रुद्धाः प्राकारस्थान् महीगताः।
राक्षसान् पातयामासुः समाप्लुत्य प्लवंगमाः ॥६।४२।४७

लड़ते-लड़ते राक्षसों और वानरों की सेना में बड़ा रोष फैला तब कुछ राक्षस कवच धारण कर, सूर्य के तुल्य चमकते हुए रथों पर चढ़कर दशों दिशाओं को गुंजाते हुए, रावण की विजय-कामना से युद्ध हेतु निकले। इनको निकलते ही देख वानरी सेना उन पर टूट पड़ी। अब राक्षसों और वानरों की सेनाओं में घोर युद्ध होने लगा।[2]

वालिपुत्र अङ्गद के साथ इन्द्रजीत का, सम्पाति वानर के साथ प्रजङ्घ का, हनुमान् का अम्बुमाली के साथ, विभीषण का शत्रुघ्न राक्षस के साथ, गज का तपन के साथ, नील कपिवीर का निकुम्भ के साथ और वानरराज सुग्रीव का प्रघस के साथ द्वन्द्व युद्ध होने लगा। इसी प्रकार लक्ष्मण का विरूपाक्ष के साथ, अग्निकेतु, रश्मिकेतु और यज्ञकोप का राम के साथ, द्विविद वानर का अशनिप्रभ के साथ, महाबली सुषेण का विद्युन्माली के साथ और अन्य वानर दूसरे-दूसरे राक्षसों के साथ द्वन्द्व युद्ध करने लगे (३।४३।६-१४)।

वानराश्चापरे भीमा राक्षसैरपरैः सह।
द्वन्द्वं समीयुबहुधा युद्धाय बहुभिः सह ॥६।४३।१५

एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखने वाले वीर राक्षसों और वानरों का यह महान् रोमांचकारी द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। युद्ध के दौरान ही इन्द्रजीत ने क्रोध में आकर अङ्गद के ऊपर एक गदा मारी, जैसे इन्द्र दैत्यों को वज्र मारते हैं। तदनन्तर अङ्गद ने भी गदा से मेघनाद के घोड़ों और सारथी सहित सुवर्णभूषित रथ को नष्ट कर डाला। उधर प्रजंघ ने सम्पति के ऊपर बाणों की बौछार की, तब सम्पाति ने वृक्ष के प्रहार से प्रजङ्घ को मौत के घाट उतार दिया। जम्बुमाली ने क्रोध में आकर एक 'शक्ति' द्वारा हनुमान् की छाती को घायल किया, तब हनुमान् क्रुद्ध होकर उसके रथ पर चढ़ गए और केवल थप्पड़ों के प्रहार से उसे मौत के घाट उतारते हुए, उसके रथ को चकनाचूर कर डाला—

तस्य तं रथमास्थाय हनुमान् मारुतात्मजः।
प्रममाथ तलेनाशु सह तेनैव रक्षसा ॥६।४३।२२

प्रघस नामक राक्षस ने ज्यों ही सुग्रीव के ऊपर बाण वर्षा प्रारम्भ की, त्यों ही सुग्रीव ने एक वृक्ष से उस पर प्रहार किया और जान से मार डाला। लक्ष्मण ने बाणों से विरूपाक्ष को, राम ने अपने विपक्षी के सिर को अपने अग्निशिखा के तुल्य बाणों से काट डाला। महाबली मैन्द

---

१ देखिये युद्धकाण्ड। ४२-४३
१ देखिये ६।४३।५

ने मुक्कों के प्रहार से वज्रमुष्टि की जान ले ली (६।४३।२५-२८)। उधर रथ पर सवार विद्युन्माली सुवर्णभूषित वाणों से सुषेण को मार कर बार-बार गरज रहा था, तब कपिश्रेष्ठ ने उसकी ललकार को सहन न कर उसको रथ पर सवार देख, झट एक शिलाखण्ड खींचकर उसके रथ पर दे मारा, किन्तु विद्युन्माली बड़ी फुर्ती के साथ हाथ में गदा लेकर रथ से कूद कर, जमीन पर खड़ा हो गया। उसकी वीरता को सहन न कर सुषेण बहुत क्रुद्ध हुए और एक शिलाखण्ड लेकर विद्युन्माली पर ज्योंही झपटे, त्योंही विद्युन्माली ने वानरोत्तम सुषेण की छाती पर गदा का प्रहार किया, किन्तु सुषेण ने उस गदा की परवाह न करते हुए एक बहुत बड़ा शैल खण्ड खींचकर विद्युन्माली की छाती पर दे मारा उसकी चोट से विद्युन्माली का हृदय चूर्ण हो गया और वह निर्जीव हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।[1]

इस प्रकार शूर-वीर वानरों ने उन वीर राक्षसों को द्वन्द्व में वैसे ही परास्त किया जैसे देवताओं ने दैत्यों को हराया था।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट पता चलता है कि आर्येतर जातियों के द्वन्द्व युद्ध में मुट्ठी, घुटना, पैर, शिला, नख तथा वृक्ष और अन्य शस्त्रास्त्रों जैसे गदा, शक्ति, बाण आदि का उपयोग एक दूसरे को मारने के लिए होता था। शत्रु के गिर जाने पर उसे पीस ही देने का भरसक प्रयास किया जाता था और उसके मर जाने पर उसके शरीर को दूर फेंक दिया जाता था[2]।

युद्धारम्भ के अवसर पर आक्रमणकारी वीर सिंहनाद करते थे और नगर में प्रवेश करने के लिए प्राकार का अग्रभाग, तोरण, गोपुर आदि तोड़ने का प्रयत्न करते थे। नगर के बाहर की परिखा को पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि से भरने का प्रयत्न किया जाता था सर्वोच्च सेना अधिनायकों, सेनापतियों आदि के नाम लेकर जय-जयकार के नारे लगाये जाते थे। नगर के द्वारों पर सेना भिड़ जाती थी। नगर-ग्रहण के लिए शत्रु राजा अपनी सेना के प्रयाण का आदेश जारी करता था। भेरी, दुन्दुभि, चन्द्रमाण्डर पुष्कर, शंख आदि सहस्रों बाजे बज उठते थे। फिर लड़ाई आरम्भ होती थी।

महायुद्धों में भी द्वन्द्व-युद्ध का आयोजन होता था। राक्षस रथ पर बैठे हुए भी रथ रहित शत्रुओं से लड़ते थे। द्वन्द्व युद्ध में गदा, बाण, वृक्ष, शिलाखण्ड, सप्तपर्ण, खड्ग, तोमर, शक्ति, पट्टिस आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग होता था। सैनिक हाथी, घोड़े और रथ पर आसीन होते थे।[3] रात्रि में भी युद्ध होता था[4]। अन्धकार में 'तू राक्षस है' और तू वानर, मारो-काटो, क्यों भागते हो आदि कोलाहल सुनाई पड़ता था (६।४४।३-४)।

शब्दभेदी वाण चलते थे। रक्त की नदी वह चलती थी। इधर मरते हुए वीरों का कराहना, उधर शंख, वेणु मृदंग, भेरी आदि वाद्यों का संगीत—दोनों मिश्रित हो जाते थे[5]। वीर नागपाश में बाँध लिये जाते थे। घायल वीरों की चिकित्सा के लिए उचित औषधियाँ युद्ध-भूमि में प्राप्त की जाती थी।[6]

---

१ किष्किन्धाकाण्ड ११।४५
२ देखिये ६।४३।४५
३ युद्धकाण्ड ४३वें सर्ग से
४ अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्।
संप्रवृत्तं निशायुद्धं तदा वानररक्षसाम्॥६।४४।२
५ युद्धकाण्ड ४४।१२-१३
६ युद्धकाण्ड ५०।२९-३१; ९२-२०-२६।

(२) कूट युद्ध—जहाँ आर्य लोग युद्ध में उचित और निष्कपट साधनों का सहारा लेते थे, वहाँ राक्षस शत्रु को परास्त करने में धोखे धड़ी का आश्रय लेने के लिए कुख्यात थे। इसीलिए उन्हें रामायणमें स्थल-स्थल पर कूटयोधिनः (छिपकर युद्ध करने वाले, ६।५०।१५) कहा गया है। आग, विष और जादू-टोनों के प्रयोग द्वारा वे अपने मायाबल को प्रकट करते थे। मारीच 'महामाया विशारद था। रावण युद्ध में छलकपट करने के लिए प्रसिद्ध था (मायास्भष्टारमाध्वे, ६।११।५३)। इस युद्ध में भी इन्द्रजीत अतिशय निष्णात था। लंका-युद्ध वर्णन में राक्षसों के कपट-युद्ध के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

जब राम ने जनस्थान में रावण की चौकी का विध्वंस किया तो शूर्पणखा अपने विरूपीकरण से खीझ कर लंकेश रावण के पास पहुँची और अपनी गाथा का सुनाते हुए १४००० सैनिकों के वध से भी अवगत कराया। तब रावण इसका बदला लेने के लिए सीताहरण के उद्देश्य से मारीच के पास गया क्योंकि मारीच 'माया' का बहुत बड़ा जानकार था। रावण के कार्य में मारीच अपनी असमर्थता प्रकट करता, किन्तु रावण ने कहा कि हे महाबल! तुम मेरी सहायता करो क्योंकि तुम माया में 'विशारद' की उपाधि लिए हुए हो; इसीलिए मारीच को 'सर्वमायाविशारद: (३।३६।१६) कहा गया है। बहुत समझाने के बाद भी मारीच इस कार्य के लिए सहमत नहीं होता। परन्तु रावण की धमकी से 'सीताहरण' कार्य को सफल बनाने के लिए उसे तैयार होना पड़ा।

मारीच अपने मायाबल से बनावटी मृग का वेश धारण कर रामाश्रम के सामने विचरने लगा (३।४२।१४)। उसकी अद्वितीय छवि को देखकर सीता मोहित हो गयीं और उसे पकड़ने के लिए राम से हठ कर बैठीं, परन्तु, लक्ष्मण उसे देखकर ताड़ गये तथा कहा कि हे अग्रज बन्धु! मुझे तो मृग रूप धारी यह निशाचर मारीच जान पड़ता है (२।४३।४)। राम भी लक्ष्मण की तुम से सहमत होते हुए मृग रूप धारी मारीच के वध के लिए तैयार हो गये राम को लुभाते-लुभाते मारीच आश्रम से दूर ले गया। राम ने परेशान होकर शब्द भेदी वाण चलाया। वाण लगते ही मारीच ने बनावटी हिरन वाले शरीर को त्याग दिया" म्रियमाणस्तु मारीचा जहौ तां कृत्रिमा ततुम् (३।४४।१७) और मरते समय "हा सीते! हा लक्ष्मण!" की आवाज लगायी उधर इस शब्द को सुनकर सीता ने लक्ष्मण को पता लगाने के लिए भेजा तब तक रावण एकान्त अवसर पाकर संन्यासी भेष में सीता के पास जा पहुँचा (३।४६।२)।

और सीता को देखकर कामासक्त हो संन्यासियों के पढ़ने योग्य वेद के मंत्रों को पढ़ने लगा। महात्मा जानकर सीता ने उसका विधिवत् सत्कार किया (३।४६ ३४)। किन्तु उस रूप में सफलता न मिलते देख, अपना परिचय देते हुए रावण ने सीता का बलपूर्वक हरण किया।

महायुद्धों में कपट युद्ध के प्रयोग का प्रथम उदाहरण हमें युद्धकाण्ड के ४४वें और ४५ वें सर्ग से मिलता है। जब वानरों और राक्षसों का घोर द्वन्द युद्ध रात्रि में भी प्रारम्भ हुआ तब राक्षसों के नाद से और वानरों के गर्जन से वह भयंकर रात और भी भयंकर हो गयी। चारों ओर उस महान् कोलाहल के होने से त्रिकूट पर्वत की कन्दराएँ ऐसी प्रतिध्वनित हुईं, मानो वे बोल रही हों। घोर युद्ध करते-करते मेघनाद (इन्द्रजित) रथ को त्याग कर अन्तर्धान हो गया—"इन्द्रजित तंरथं त्यक्त्वा हतश्वो हतसारथिः (६।४४।३०)।" मायाबल से भयकर सर्पमय वाणों से राम और लक्ष्मण के समस्त शरीर को, क्रुद्ध हो, उस राक्षस ने क्षतविक्षत कर डाला। उस समय माया द्वारा बलवान् हो, युद्ध में राम को मोहित करना, उस कपट योद्धा इन्द्रजित ने सबकी आंख बचा वाणों के बन्धनों से दोनों भाइयों को बाध लिया :—

अदृश्यः सर्वभूतानां कूटयोधी निशाचरः ।
बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ६।४४।४१

वाणों के बन्धनों में जकड़े हुए राम ने दस वानरमूथपतियों को मेघनाद को ढूंढने के लिए आज्ञा दी। आदेश पाते ही सभी यूथपतियों ने समस्त युद्ध क्षेत्र छान डाला। अस्त्रविद्यावेत्ता रावण पुत्र मेघनाद ने इन वेगवान वानरों के वेग को परमास्त्रों से रोका। वे भयंकर वानर यूथपति वाणों की चोट से आहत होकर अन्धकार में मेघनाद को वैसे ही न देख सके, जैसे मेघों से आच्छादित सूर्य को कोई नहीं देख सकता। समर विजयी मेघनाद और राम और लक्ष्मण के अंगों में पैने-पैने बाण मारकर गर्जन भी करने लगा। अन्त में मर्मस्थलों के विंध जाने से व्याकुल हो महाधनुर्धारी दोनों भाई पृथ्वी पर गिर पड़े। दोनों भाइयों को शरजाल में फँसा देख विभीषण सहित सभी वानर यूथपति व्यथित हुए। आकाश तथा समस्त दिशाओं की ओर देखते हुए भी, इन वानरों को माया के बल से छिपा हुआ मेघनाद युद्ध क्षेत्र में कहीं भी न दीख पड़ा[1]। किन्तु माया के वल से छिपे हुए अपने भतीजे को, माया के बल से विभीषण ने देख लिया[2]।

महाबली इन्द्रजीत अट्टहास करता हुआ यह बोला 'हे राक्षसो ! देखो मैंने युद्ध में, वाण बन्धन से इन दोनों भाइयों सहित वानरी सेना को बांध लिया है।' उसके ये वचन सुन, कपट युद्ध करने वाले (कूटयोधिन, ६।४६।२५) वे समस्त राक्षस उसकी वीरता से हर्षित हुए। मायावी इन्द्रजीत ने अपनी समस्त राक्षसी सेना को साथ ले लंका में पहुँच रावण को राम-लक्ष्मण के मारे जाने का प्रिय संवाद सुनाया। रावण ने हर्षित हो अपने पुत्र को गले से लगा लिया और सारे नगर में राक्षस राज ने प्रसन्न हो यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि, समर में दोनों राजकुमारों को इन्द्रजीत ने मार डाला, (६।४७।१६)। अन्त में गरुड़ ने दोनों राजकुमारों को बंधनों से मुक्त कर दिया (६।५०।३६)।

कूट युद्ध का दूसरा प्रसंग हमें युद्ध काण्ड के ७३ वें सर्ग से प्राप्त होता है। राम-लक्ष्मण की वाण वृष्टि से जब दशानन की चतुरंगिणी सेना के पैर उखड़ गये तथा उसके गिने चुने वीर पुत्रों तथा सेनानियों का विनाश हो गया तो दुरभिमानी दशानन के शोक की सीमा नहीं रही, किन्तु, अभी उसे अपने अखिल लोक विजयी पुत्र मेघनाद पर अडिग विश्वास था। उसने पूर्वापर की अनेक उक्तियां सुनाकर मेघनाद को उत्तेजित किया। मेघनाद सचमुच त्रैलोक्य विजेता था। शत्रु विजयी मेघनाद ने रणभूमि मे पहुँचकर अपने रथ के चारों ओर राक्षसों को खड़ा किया अर्थात् एक प्रकार का व्यूह बनाया और वहाँ आग जला कर अच्छे मन्त्रों से आहुति देने लगा अग्निदेव ने दाहिनी ओर घूमती हुई ज्वाला के साथ, अग्निकुण्ड में प्रकट हो, मेघनाद की दी हुई आहुति स्वयं ग्रहण की। इन्द्रजीत ने ब्रह्मास्त्र के मन्त्र से हवन किया और अपने धनुषादि अस्त्रों को तथा रथ और कवच को भी मन्त्रों से अभिमंत्रित कर युद्ध प्रारम्भ किया। थोड़ी देर तक अन्य राक्षसों के साथ मिलकर वानरों से लोहा लेता रहा। किन्तु कुछ देर बाद वानरों की सेना में घुसकर अन्तर्धान हो गया और छिपकर वह वानरों के ऊपर प्रचण्ड बाणों की वर्षा वैसे ही करने लगा जैसे बादल जल की वृष्टि करते हैं[3]। इन्द्रजीत की माया से मोहित हो पर्वताकार वानरों के शरीर उसके बाणों से घायल हो गए। वे समरभूमि में आर्तनाद करते हुए वैसे ही गिर पड़े जैसे इन्द्र के बज्र के प्रहार से पर्वत गिरे थे। माया-बल से अपने को छिपाये हुए इन्द्र शत्रु मेघनाद ने मायानिगूढं तु सुरेन्द्र शत्रुं न चावृतं राक्षसमभ्यपश्यन, (६।७३।५७) उस दिन अदभुत युद्ध किया और थोड़ी ही देर में वानरों तथा भालुओं की उस विशाल बाहिनी को छिन्न-भिन्न कर दिया। लाखों वानर

१ देखिये ६।४६।८
२ ,, ६।४६।६
३ देखिये ६।७३।५५

मौत के घाट उतार दिये गये, किन्तु राम-लक्ष्मण, हनुमान, जाम्बवान्, अङ्गद, नल-नीलादि सुग्रीव, अब भी अविजित थे। मेघनाद यह जानता था कि इन महान् पराक्रमी वीरों को साधारण शास्त्र-स्त्रों द्वारा वश्य करना असम्भव है अत ब्रह्मास्त्र को पुनः स्मरण किया और अपनी चतुरंगिणी सेवा का संग छोड़ आगे बढ़ गया।

ब्रह्मास्त्र के प्रभाव विचित्र थे। मेघनाद आकाशचारी बनकर प्रच्छन्न तो था ही। फिर फिर वहीं से ब्रह्मास्त्र के मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित ऐसे वाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी कि स्वयं राम, लक्ष्मण अचेत होकर रण-भूमि मे मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट होकर गिर पड़े। उन्होंने देखा कि समूची सेना में अब एक भी वीर नहीं बचा है, जो किसी को एक चुल्लू पानी भी पिला सके। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव उस दिन बड़ा भयङ्कर था। दसों दिशाएं ढंक गयी थीं। वायु का चलना भी कठिन हो गया था और चतुर्दिश कालिमा छा गयी थी। जिधर दृष्टि जाती थी, उधर वानरी सेना का हाहाकार मचा था। मेघनाद ने ही नहीं, सम्पूर्ण राक्षस सैनिकों ने भी समझ लिया कि इस अमोघ वाण ने ही सारा काम तमाम कर दिया और अब राम की विभीषिका सदा के लिए बीत गई। मेघनाद सुप्रसन्न होकर सेना के संग जब अपनी पुरी में प्रविष्ट हुआ तो दशानन ने उसकी विजय का हार्दिक अभिनन्दन किया।

कपट युद्ध का तीसरा उदाहरण हमें युद्धकाण्ड के ८० वें सर्ग से प्राप्त होता है। जब कम्पन निकुम्भ, मकराक्ष आदि युद्ध क्षेत्र में मौत के घाट उतार दिये गये तब पुनः रावण ने अपने पुत्र इन्द्रजीत को मायाबल से युद्ध करने की आज्ञा प्रदान की (६।८०।२-३)। रावण के आदेशानुसार इन्द्रजीत ने लड़ने के लिए जाना स्वीकार किया और यज्ञशाला में जाकर विधिवत् हवन करने लगा। वह समर विजयी इन्द्रजीत नगरी से निकल कर पृथ्वी का अन्तर्धान होने की शक्ति प्राप्त कर कहने लगा—"आज मैं पृथ्वी को वानरहीन कर तथा राम लक्ष्मण को मार कर अपने पिता को अत्यानन्दित करूंगा।" यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया[1]। मेघनाद फिर वानरी सेना में जा पहुँचा। वहाँ वानरों के बीच राम-लक्ष्मण को देख, उसने उन दोनों के ऊपर अदृश्य होकर वाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी[2]। वे दोनों भाई वाणों से विध गये, तब उन्होंने मंत्रों से अभिमंत्रित वाणों को छोड़ना आरम्भ किया। यद्यपि उन दोनों महाबलवानों ने इतने वाण छोड़े कि आकाश ढंक गया, तथापि, सूर्य की तरह वे अस्त्र मेघनाद के शरीर को छू तक न सके। मायावी इन्द्रजीत माया के बल से धुआँ प्रकट कर आकाश को अन्धकार मय बना कर, छिपा हुआ था। उस समय दिशाएँ ऐसी दीख पड़ती थी मानो कुहरे से भर गई हों —

सहि धूमान्धाकारं च चक्रे प्रच्छादयन्नमः।
दिशश्चान्तर्दधे श्रीमान्नीहारतमसावृत:॥ ६।८०।२५

उस समय न तो इन्द्रजीत की प्रत्यञ्चा का शब्द सुनाई देता था, न रथ के पहियों का, न घोड़ों की टाप का और न उसके घूमने-फिरने का ही शब्द सुन पड़ता था और न ही उसका रूप दिखाई पडता था[3]। उस निबिड अन्धकार में अद्भुत ओलों की वर्षा की तरह महाबली इन्द्रजीत वाणों की वर्षा कर रहा था। जिस तरह पहाड़ जलवृष्टि को शान्ति पूर्वक सहन करते हैं, उसी तरह राम और लक्ष्मण उसके वाणों की चोट को सहते हुए अपने स्वर्ण-भूषित वाण चला रहे थे। वे रुधिर में भीगे समस्त कङ्कपत्रयुक्त वाण आकाश में जा और मेघनाद के शरीर को घायल कर, भूमि पर गिर रहे थे। बहुत से वाणों की चोट से व्यथित, वे दोनों, पुरुषसिंह, उन ऊपर से आते हुए आकाश में घूम-घूम कर दोनों को मार रहा था। मेघों में छिपे हुए सूर्य की

---

१ देखिये ६।८०।१८
२ „ ३।८०।२२
३ „ ६।८०।२६

तदह मेघनाद की चाल, उसका रूप, उसका धनुष और वाण कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। ज्यों ही राम ने उसके वध के बारे में सोचना प्रारम्भ किया, त्यों ही उनके मन की बात को ताड़ कर (अर्थात् राम मेरे मारने के लिए कोई न कोई अमोघ शस्त्र छोड़ेंगे) मेघनाद झटपट युद्ध बन्द कर लंका में प्रवेश कर गया।

विज्ञान तु मानस्तस्य राघवस्य महात्मनः।
सन्निवृत्त्याहवात्तस्मात् संविवेश पुरं ततः॥ ६।८१।१

थोड़ी देर में उसने यह विचारा कि रणभूमि से चले आने पर बेचारे राक्षस मार डाले जायेंगे, तब क्रोध से लाल नेत्र कर वह महाद्युतिमान् वीर राक्षसों को साथ लिए लंका पुरी के पश्चिम द्वार से निकला। जब उसने राम-लक्ष्मण को युद्ध क्षेत्र में लड़ने के लिए उद्यत देखा तब (यह समझा कि प्रत्यक्ष लड़कर इनसे जीतना संभव नहीं) उसने माया रची। उसने मायाबल से एक बनावटी सीता को रथ में बिठाया और उस रथ को राक्षसी सेना से घिरवा कर, उस सीता को मारने के लिए तैयार हुआ[1]। उसने यह कपट चाल इसलिए चली थी जिससे सबकी बुद्धि मोहित हो जाय। अतः वह उस मायामयी सीता का वध करने के लिए वानरी सेना के सामने जा पहुँचा—

मोहनार्थं तु सर्वेषां बुद्धिं कृत्वा सुदुर्मतिः।
हन्तु सीता व्यवसितो वानराभिमुखो ययौ॥ ६।८१।६

उसे देख हनुमान वानरों सहित उसका सामना करने के लिए दौड़ पड़े। हनुमान ने देखा कि इन्द्रजीत के रथ पर सीता बैठी हुई हैं। सीता की बुरी हालत देख हनुमान व्यथित हो गए और उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा वह चली। अन्ततोगत्वा शत्रु सेना का मनोबल ध्वस्त करने के लिए इन्द्रजीत ने स्वयं तेज तलवार से हनुमान के सामने माया सीता का अंग-भंग कर दिया। इस प्रकार मायावी सीता हा राम! हा राम कह कर पृथ्वी पर जा गिरी। अपने विशाल खड्ग से उस बनावटी सीता का स्वयं बध कर इन्द्रजीत प्रसन्न हो रथ पर सवार हुआ और बड़े जोर से सिंहनाद किया। उसका भयङ्कर सिंहनाद सुन वानरी सेना में भगदड़ मच गयी। किन्तु हनुमान ने समझा बुझाकर भागते हुए वानरों को युद्ध के लिए तैयार किया। विविध प्रकार से सिंहनाद करते हुए भयंकर वानरों के राक्षसों का बड़ा संहार किया। लेकिन वानरों के गिरते हुए मनोबल को देख हनुमान स्वयं (बनावटी सीता वध से) मनोबल खो बैठे और अन्त में इसकी सूचना वानरों सहित जाकर उन्होंने राम को दी। उधर इन्द्रजीत निकुम्भिला देवी के मन्दिर में पहुँच कर होम करने लगा।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट पता चलता है कि युद्ध में राक्षस कपट अर्थात् धोखा धड़ी का भरपूर प्रयोग करते थे। राक्षसी सेना में नकाब पहनकर लड़ने वाले सैनिक भी होते थे। जब रावण पहले-पहले रण-भूमि में गया, तब उसके साथ बाघ, घोड़ा, ऊँट, हरिण और दूसरे पशुओं के मुखवाले प्राणी भी चले थे[2]। ये लोग वे राक्षस सैनिक थे, जिन्होंने जंगली जानवरों के नकाब लगा रखे थे। शत्रु पक्ष को भयभीत करने की उनकी यह युक्ति थी; युद्ध में धोखाधड़ी का प्रयोग करने की उनकी नीति का यह एक अंग था। इसके अतिरिक्त वे ऐसे छद्म रूपों का भी आश्रय लेते थे, जिनसे असली और नकली में अन्तर करना कठिन हो जाता था।

---

१ देखिये ६।८१।५
२ ,, ६।५६।२३

(३) राजदूत प्रथा

(क) राजदूत पद की उपयोगिता –राजदूत-पद का निर्माण सर्वप्रथम कब, कहाँ और किसके द्वारा हुआ, यह प्रश्न अभी तक शोध का विषय बना हुआ है। जहाँ तक मानव-स्मृति का सम्बन्ध है। यह निश्चत एवं निर्विवाद है कि दूत-पद नूतन नहीं है। राजदूत-पद पुरातन काल से चला आ रहा है। लोक में राज्य-व्यवस्था के निर्माण के साथ ही दूत की आवश्यकता अनुभव की गई होगी। प्राचीन भारत में राज्य के सुसंचालन हेतु राजदूत और चर के सहयोग की आवश्यकता स्वीकार की गई है। ये दोनों राजकर्मचारी उपयोगी और आवश्यक बतलाये गये हैं। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के कर्तव्य-पालन के लिए राजदूत और गुप्तचर की उपयोगिता प्रमाणित की है। उन्होंने इन दोनों को क्रमशः राजा का मुख ओर उसके नेत्र बतलाया है।[१] राजा अपने राजदूत-मुख द्वारा बात किया करते हैं और अपने गुप्तचर-चक्षु द्वारा देखा करते हैं। राजा के सो जाने पर भी उसकी ये दोनों इन्द्रियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं।[२] परराष्ट्र-नीति राजदूत के द्वारा ही परिपूर्ण होती है तथा राजदूत ही दूसरे राज्यों के समाचार प्राप्त करने में सफल होते हैं। उन्हीं के द्वारा सन्धि अथा युद्ध का सन्देश दूसर राज्यों का पहुँचाया जाता है।

महर्षि वाल्मीकि ने राजाओं में परस्पर बात करने का प्रधान साधन राजदूत ही बताया है। इसलिए प्रत्येक काल और राज्य में राजदूत-पद महान् उपयोगी एवं आवश्यक समझा जाता है। यहाँ तक कि वैदिक संहिताओं में भी राजदूत-पद की उपयोगिता एवं आवश्यकता के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में राजदूत को यशस्वी कहकर सम्मानित किया गया है।[३] रामायणकाल में राजदूतों की बहुत बड़ी उपयोगिता स्पष्ट परिलक्षित होती है, क्योंकि राजदूत असाध्य कार्यों को भी साध्य बनाने में सफल हो जाते थे। राजदूतों द्वारा राजाओं में परस्पर संदेश के आदान-प्रदान की यह प्रणाली तत्कालीन समय में प्रचलित थी। महाराज दशरथ ने अपने यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, सत्यपराक्रमी, शूरशिरोमणि, वेद और सब शास्त्रों ने निष्णत महाभाग मिथलाधिपति जनक, दवतुल्य काशीनरेश, केकयराज, अङ्गदेशाधियति रोमपाद इनके अतिरिक्त पूर्व देश सिन्धु देश सौवीर दक्षिण देश के राजाओं तथा पृथ्वीमण्डल के अन्य उच्च कोटि के राजाओं को तथा ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को राजदूतों द्वारा ही परस्पर उच्चस्तरीय बातचीत करके बुलवाया था।[४]

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में सफल दूत की उपयोगिता को लक्षित करने के लिए कुछ उपाख्यान दिए हुए हैं। उनमें एक इस प्रकार है देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान है। दोनों एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उनके मध्य गायत्री रूप पृथ्वी उपस्थित हुई। देव और असुर दोनों जानते थे कि पृथ्वी जिस पक्ष में रहेगी, वह ही विजयी होगा। दोनों ने पृथ्वी को अपनी ओर करने के लिए पृथ्वी के पास अपने-अपने राजदूत भेजे। देवों का राजदूत अग्नि और असुरों का राजदूत सह-राक्षस हुआ। अग्नि अपना कार्य सम्पादित करने मे सफल हुआ। फलस्वरूप पृथ्वी दवों के पक्ष मे आगयी। इस प्रकार देव विजयी हुए।[५]

ऋग्वेद के एक प्रसंग मे सूर्य का राजदूत अग्नि बताया गया है।[६] अन्य वैदिक साहित्यों

---

१ अर्थशास्त्र—१६।१६।१, २८ से ३०।१२ कामन्दकनीति
२ ऋग्वेद—२।१०६।१०
३ ऋग्वद
४ वा० रा० १।१३।२० से २६
५ शतपथ ब्राह्मण —१।३।३।३४
६ ऋग्वेद—१।५८।१

में अग्नि को दूत की उपाधि प्रदान की गई है। कतिपय पक्षियों को भी राजदूत बनाये जाने की ओर वदों मे सकेत किया गया है। ऋग्वेद में यम के ऐसे कुछ दूतों का उल्लेख है। कपात और उलूक पक्षी यम देव के विशेष दूत बतलाये गये हैं।[1] अथर्ववेद म कपातों और उलूकों को नऋति देव के दूत की संज्ञा दी गई है।[2]

वैदिक साहित्य के इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि रामायण काल से पूर्व वैदिक युग में देवों में राजदूत-व्यवस्था की कल्पना वैदिक ऋषियों के द्वारा की जा चुकी थी। इतना ही नहीं इसस यह भी स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राजदूत-व्यवस्था के सम्यक् संगठन एवं उसक विधिवत सचालन की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव कर चुके थे। इससे यह भी ध्वनित होता है कि रामायणकाल में राजदूत का स्थान राजनैतिक एवं सैनिक दृष्टि स वैदिक युग की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और सम्मानित हो गया था। राजदूत प्रकट रूप में कार्य करत थे। इसलिये उन्हें 'प्रकाशचर' कहा जाता था। अग्नि पुराण न इसका समर्थन किया है।[3]

(ख) राजदूत बनने की अर्हताएँ—जिन गुणों एवं अर्हताओं से राजदूत को सम्पन्न होना चाहिए, उन सभी गुणों का रामायण में स्पष्ट वर्णन किया गया है। मनुस्मृति म कहा गया है। कि राजा सब शास्त्रों का विद्वान; इङ्गित (वचन तथा स्वर अर्थात् व्याकु आदि अभिप्राय सूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनता का सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता, और चेष्टा (क्रोधादिका सूचक नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि) को जानन वाले, शुद्ध हृदय, चतुर तथा कुलीन को राजदूत नियुक्त करे (७।६३)। राजदूत के श्रेष्ठ लक्षणों के बारे में कहा गया है—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
व पुष्मान्वतिभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ।। (मनुस्मृति १७।६४)

—अर्थात् अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरण शक्तिवाला, देश और काल का जानकार, सुरूप, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है।

ऋग्वेद के एक प्रसंग में यह संकेत किया गया है कि राजदूत मित्र, वरुण और अर्यमा के समान होना चाहिए। इससे ध्वनित होता है कि राजदूत मित्र देव के समान प्राणी मात्र का हितैषी, वरुण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायकारी होना चाहिए। ऋग्वेद के इसी प्रसंग में उल्लेख किया गया है कि जो पुरुष इन गुणों से युक्त अपने दूत रखते हैं, वे विजयी होते हैं। इन गुणों से युक्त राजदूत सफल श्रेणी में परिगणित होते थे। ऋग्वेद के अन्य प्रसंग मे संकेत किया गया है कि दूत अग्नि के समान गृहपतियों एवं राष्ट्रवासियों (विश) में आनन्द की वृद्धि करने वाला होना चाहिए[4]। इस संकेत के आधार पर दूत का आचरण एवं व्यवहार राष्ट्रवासियों एवं शासक वर्ग, दोनों को आनन्दित करने वाला होना चाहिए[5]। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर दूत के विशेष गुणों की ओर संकेत किया गया है। वे हैं—यथोक्त कथन और संदेश करने एवं उसके प्रस्तुत करने में बिलम्ब न करना[6]।

इस प्रकार ऋग्वेद में राजदूत पद के लिए उच्च कोटि की योजनाएँ निर्धारित की गई

---

१ ऋग्वेद ४।१६५।१०
२ ऋग्वेद—२।२६।६
३ हिन्दू राज्यशास्त्र पृ० ३०० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी।
४ ऋग्वेद ४।२६।१
५ ऋग्वेद ५।३६।१
६ ऋग्वेद ८।४३।५

हैं। ये गुण अथवा आर्हताएँ मुख्य तीन श्रेणियों में परिगणित की जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी की योग्यता के अन्तर्गत कुछ की श्रेष्ठता बतलाई गई है। इस योग्यता के अनुसार राजदूत का वरण श्रेष्ठ (उच्च) कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में से किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में श्रेष्ठ कुल से ऋग्वेद का क्या तात्पर्य है, स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः श्रेष्ठ कुल का तात्पर्य आचरणवान् कुल से समझा गया हो, अर्थात् वह कुल अथवा परिवार जो शुद्ध एवं शिष्ट आचरण के लिए ख्याति प्राप्त कर चुका हो।

दूसरी श्रेणी में दूत की वे योग्यताएँ आती हैं, जिनका सम्बन्ध राजदूत के व्यक्तित्व से होता है। इस श्रेणी की योग्यताओं के अनुसार राजदूत बल सम्पन्न, प्रसन्न मुद्रा में रहने वाला एवं निर्मल चरित्रवान् व्यक्ति होना चाहिए। उसे प्राणी मात्र का हितैषी, उदार, न्यायप्रिय और भ्राता के समान दूसरों की सहायता करने वाला होना चाहिए। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत राजदूत पद के लिए विशेष रूप में वांछनीय जो गुण एवं अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं वे हैं—यथोक्तवादिता, शीघ्र कार्य कर देने की क्षमता और भ्राता तुल्य सहायक होना चाहिए। वास्तव में दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठ व्यक्ति होना अनिवार्य है।

इन गुणों एवं योग्यताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अनुसार दूत पद के लिए परम उपयोगी एवं आवश्यक गुण कार्यपटुता है, अर्थात् राजदूत की विशेष सफलता इसमें है कि इसमें चरित्रबल, व्यवहार पटुता एवं बुद्धिकौशल इस मात्रा में होना चाहिए जिसका आश्रय लेकर वह अपने स्वामी के कष्टसाध्य कार्य को भी सरल साध्य बना दे। उदाहरण के लिए ऋग्वद में इन्द्र की राजदूती 'सरमा' और शतपथ ब्राह्मण में देवों के राजदूत अग्नि को सफल कोटि के दूतों में परिगणित किया गया है। उनकी सफलता का प्रमुख कारण उनमें इन्हीं गुणों एवं योग्यताओं का विशेष रूप में होना था। इन्हीं गुणों एवं योग्यताओं का आश्रम लेकर 'सरमा' और अग्नि ने क्रमशः इन्द्र और देवों के कष्ट साध्य कार्य को सरल साध्य बना दिया था।

महाभारत[1] में राजदूत की अधोलिखित सात आर्हताओं पर प्रकाश डाला गया है—कुलीनता, उच्च कुलोत्पन्नता, वाग्मिता, दक्षता, प्रियभाषिता, निर्देशानुसार संदेश वाहिता तथा स्मृति सम्पन्नता।

आचार्य कौटिल्य ने राजदूत के गुण अमात्य के समान बताये हैं। अमात्य को हृदय का पवित्र, कार्य करने में समर्थ, प्राणों के भय को उत्पन्न करने वाली आपत्ति में भी राजा की सहा-करने वाला बुद्धिमान् जिसके पिता व पितामह भी इसी पद पर कार्य कर चुके हों, नीतिशास्त्र में निपुण, वीर योद्धा होना चाहिए[2]। इन सभी गुणों से युक्त व्यक्ति राजदूत होता था। शुक्र के अनुसार भी राजदूत को राजभक्त, सभी विद्याओं का ज्ञाता, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा विपक्षियों के मनोभावों को जान लेने वाला होना चाहिए।

कामन्दक ने भी दूत के विषय में कहा है कि जो निडर होकर बोल सके, स्मरण शक्ति वाला हो, स्पष्ट वक्ता हो, शस्त्र और नीति-शास्त्र में निपुण हो तथा जिसे दौत्य कर्म का आभास हो, वही दूत बनाया जाय—

प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शास्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः।
अभ्यस्कर्मा नृपतेर्दूतो तु भवितुमर्हति ॥ नीतिसार १३।१८

अर्थशास्त्र और महाभारत की ही भाँति रामायण में दूत के गुण अमात्य के समान बताये गये हैं। आदि कवि बालमीकि का कहना है कि यदि एक अमात्य बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचार

---

१ कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियम्वदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः॥ —महाभारत, शान्तिपर्व, ८।५।२८

२ अर्थशास्त्र १।८

कुशल और नीति-शास्त्र में अभ्यस्त हो तो राजा को विजयलक्ष्मी प्राप्त करा सकता है। उसी प्रकार दूत भी ईमानदार, कुलपरम्परागत, शुद्ध हृदय, श्रेष्ठ स्वभाव, यथोक्तवादी आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। राम द्वारा भरत से चित्रकूट पर पूछे गये राजनीतिक प्रश्नों से भी दूत सम्बन्धी योग्यताओं का अभास होता है—

कच्चिज्जानपदो विद्वान्दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ अयो० ।१।१००।३५

अर्थात् हे भरत ! अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाजिर जवाब (प्रत्युन्नमति) यथोक्तवादी और दूसरे की कही हुई बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुष को तुम अपना राजदूत बनाये हो अथवा नहीं।

रामायण में राम के यहाँ सुग्रीव के दूत के रूप में हनुमान के गुणों का बखान करने के माध्यम ने भी दूतों की योग्यता का वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार दूत को त्रयीज्ञान सम्पन्न, सुरुचिपूर्ण व्यक्तित्व वाला, मृदुभाषी, अपने दोषों को छिपाने में पटु, संस्कार सम्पन्न तथा दूसरे के हृदय को जीतने में सक्षम होना चाहिए। (४।३।२८-३२)।

हनुमान में एक कुशल दूत के सभी गुण मौजूद थे। इसी कारण उनको दूत के कर्त्तव्यों की पूरी जानकारी थी।

उपर्युक्त तमाम विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि दूत के पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता था, जो विद्वान्, साहसी, वीर, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञाता, राजभक्त तथा स्पष्ट एवं मधुरभाषी होता था। चूँकि यह पद महान् उत्तरदायित्व वाला होता था, इसलिए योग्यतम व्यक्ति का ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था।

(ग) राजदूतों के भेद—रामायण में तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख किया गया है—उत्तम, मध्यम और अधम। जो दूत अपने मालिक द्वारा किसी कठिन काम को करने के लिए नियुक्त किये जाने पर, उस काम को जी लगाकर पूरा करता है, वह उत्तम भृत्य अथवा दूत कहलाता है। स्वयं सब बातों को समझकर विवेकपूर्वक अवसरानुकूल वाणी बोलने वाले को कम्बन् ने 'नीति-वित्तहन्' (नीतिज्ञ) अथवा उत्तम दूत कहा है[१]। आचार्य कौटिल्य ने इसे 'निसृष्टार्थ' कहा है। निसृष्टार्थ, अमात्य के समान गुणवान होते हैं और जिन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं कि वे राजा की तरफ से किसी निश्चय को कर लें। राजा उन पर अपना। सब उत्तरदायित्व छोड़ देता है। हनुमान ऐसे ही दूत थे। हनुमान ने सुग्रीव द्वारा सौंपे गये सीतान्वेषण कार्य को विधिवत पूरा किया है—"तन्नियोगे नियुक्तेन कृतं कृत्य हनुमतां ६।१।११)"। निश्चय ही इस प्रकार अपने विक्रम के योग्यबल प्रदर्शन कर, हनुमान ने सुग्रीव का बड़ा भारी कार्य सम्पन्न किया है (६।१।७)।

कम्बन् ने बताया है कि किस प्रकार सभा में रावण को सामने देखकर क्रुद्ध हुए हनुमान ने बड़ी नीतिमत्ता एवं चिन्तनशीलता का परिचय देते हुए अपने रोष का संवरण किया, जिससे कि वे अपने स्वामी का अधिकतम हितसाधन कर सकें। इसीलिए वे हनुमान को 'नीतिज्ञ' कहते हैं[३]। सच्चे सेवक का लक्षण बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—"करई स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देह किन कोई ॥२।१८५।५' अर्थात् सेवक वही है जो दूसरों के भला-बुरा कहने की चिन्ता न करता हुआ स्वामी के हित को ही सर्वोपरि मानकर आचरण करता है। इसी कारण

१ देखिये यु. का. १८,६,१०
२ कम्बरामायण ६।३६।२५
३ वही ६।३६।२५

गोस्वामी जी ने हनुमान के लिए ज्ञानघन[१], ज्ञानिनामग्रगण्य, सकलगुणनिधान[२], बल-बह्नि-निधान[३] आदि विशेषणों का प्रयोग करते हुए उन्हें 'रघुपतिवर दूत'[४] की उपाधि से विभूषित करते हैं। रावण की सभा में अंगद का दौत्य भी ऐसा ही था। इस दृष्टि से हनुमान के बाद दूसरा स्थान उन्हें ही प्राप्त था। दूत का एक अन्य अत्यधिक आवश्यक गुण यह है कि वह शत्रु द्वारा दिखाये प्रलोभन या उसकी भेद-नीति से विचलित न होकर अपने स्वामी के प्रति अडिग निष्ठा बनाये रखे। रावण ने अंगद पर इन नीतियों का प्रयोग करके देख लिया पर वह सफल न हुआ[५]। इसीलिए अंगद भी उत्तम दूत की कोटि में परिगणित हैं। गोस्वामी जी ने अंगद के लिए भी बुद्धि-बल-गुण-धाम, परम चतुर आदि विशेषणों का प्रयोग किया है[६]।

रामायण (६।११६) के अनुसार जो भृत्य किसी एक कार्य के लिए नियुक्त किये जाने पर अपने राजा के हित कर अन्य कार्यों के उपस्थित होने पर अपनी सामर्थ्यानुसार उन्हें पूरा नहीं करता, वह मध्यम श्रेणी का दूत कहलाता है। कम्बन के अनुसार बिना अपनी ओर से कुछ मिलाए यथोचित रीति से कह देने वाले को मध्यम दूत कहा जाता है[७]। दशरथ को राम विवाह का संवाद वाले जनक के दूत ऐसे ही थे[८]। आचार्य कौटिल्य ने इसे 'परिमितार्थ' कहा है। जिस दूत को राज अथवा महासन्धि बिग्रहिक (परराष्ट्र मंत्री) के आदेशानुसार ही कार्य करने का अधिकार होता था, स्वयं निर्णय करने का अधिकार नहीं रखता था, वह परिमितार्थ कहलाता था। जो भृत्य सामर्थ्यवान् होकर भी राजा द्वारा निर्दिष्ट कार्य को यत्नपूर्वक पूरा नहीं करता, वह अधम दूत कहते हैं जबकि कौटिल्य ने कहा है कि जो दूसरे देश के राजा तक केवल संदेश मात्र पहुँचाने का कार्य पूरा करते हैं, वे अपनी तरफ से कोई बात कह नहीं सकते, वे 'शासनहर' कहलाते हैं[९]।

राजदूतों के कर्त्तव्यः— मानव धर्मशास्त्र[१०] में दूत के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जहाँ यह स्पष्ट रूप से अंकित है कि युद्ध और शान्ति दूत के अधीन होते हैं। मनुस्मृति के अनुसार दूत के निम्नलिखित कार्य होते हैं—मैत्री सम्बन्धों की स्थापना तथा उनकी समाप्ति, शत्रु सैन्य के नष्ट करने का उपाय ढूढ़ना, शत्रु पक्ष के राजकर्मचारियों की निष्ठा तथा स्वामिभक्ति का उनके व्यवहार, संकेत तथा चेष्टा से पता लगा लेना तथा शत्रु पक्ष की गतिविधियों की ठीक जानकारी अपने स्वामी को देना आदि।

अर्थशास्त्र (१,१६,५) में भी धर्मशास्त्र की परम्परा अनुसार दूत के निम्नलिखित कर्त्तव्य बताये गये हैं—संदेश निवेदन करना; संधियों को कायम रखना; शक्ति-प्रदर्शन करना; मित्र संग्रह; शत्रु के मित्रों के बीच भेद उत्पन्न करना; गुप्त शक्ति-संग्रह करना; शत्रु के रत्नों और सम्बन्धियों का अपहरण; चरों की गतिविधियों की सूचना प्राप्ति संधि-भंग करना तथा शत्रु-पक्ष के उच्च पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की कृपा प्राप्त करना आदि।

---

१ खिलवनपावक ज्ञानघन ।१।१७।११
२ रामचरित मानस—५ । मंगलाचरण, ३
३ मानस ५।२।१३
४ मानस—५ मंगलाचरण ३
५ कंबरामायण ६।१३।२६
६ मानस ६।१७।६-७
७ कम्बरामायण १।१३।१-३
८ वही ६।३६।२५
९ अर्थशास्त्र १।१६।२-४
१० मनुस्मृति । ७। ६६-६८

रामायण के अनुसार दूत का परम कर्त्तव्य है कि वह वनपाल, सीमापाल, नगर तथा राष्ट्र में निवास करने वाले अन्य प्रधान व्यक्तियों से मित्रता स्थापित करे शत्रु देश में पहुँचे हुए दूत को अपनी और शत्रु की सेनाओं के ठहरने तथा युद्ध करने योग्य स्थान का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए। शत्रु राजा के दुर्गों की संख्या, राज्य की सीमा-विस्तार, धन-धान्य की उत्पत्ति, नागरिकों की जीविका तथा राजा के व उनकी सेना के दोषों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। गुढ़ पुरुषों तथा सेना को भगा देना, पुरानी संधि की रक्षा करना, गुप्त रहस्यों को जानने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति करना, अपने स्वामी का संदेश शत्रु के पास पहुँचाना और इसका उत्तर अपने राजा के पास भेजना, अवसर आने पर बल प्रदर्शन करना गुप्तचरों के संवादों का समुचित संग्रह करना आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करे। मनु, कामन्दक ने भी उक्त कर्त्तव्यों को विधिवत् समर्थन किया है।

उक्त जितने भी दूत के कर्त्तव्य हैं, ये सभी राम और रावण के दूतों में वर्तमान थे। जैसे हनुमान् ने समय आने पर अपना बल प्रदर्शन किया। लंका के गुप्त रहस्यों की खोज, सैन्य शक्ति, खाई, दुर्ग परकोटे, सीमा-विस्तार इत्यादि सबके बारे में पता लगाकर किष्किंधा लौटकर सुग्रीव और राम को अवगत कराया था। बाल्मीकि ने इनका बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन अपने काव्य में किया है। जब लंका से हनुमान लौटते हैं तो राम ने जो उनसे राजनीतिक प्रश्न पूछा, उससे दूत के कर्त्तव्यों का स्पष्ट पता चलता है (युद्धकाण्ड।३ सर्ग)।

स्वयं हनुमान सीता की खोज करने के बाद रावण के बारे में पता लगाना चाहते थे। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने अशोक वाटिका का विध्वंस करना प्रारम्भ किया था, क्योंकि हनुमान कहते हैं—

कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत्।
पूर्व कार्याविरोधेन स कार्यं कर्तमर्हति ॥ ५। ४१। ५

अर्थात् मुख्य कार्य को प्रथम करके और मुख्य कार्य को हानि न पहुँचाते हुए, जो दूत और भी कई एक कार्य पूरे कर डाले, तो वही दूत वास्तव में कार्य करने के योग्य कहा जा सकता है।

हनुमान बल-प्रदर्शन की चर्चा करते हुए राम से कहते हैं कि-"मैंने लंका जला डाली है और लंका का परकोटा गिरा दिया है तथा लंका की चौथाई सेना को विध्वंस कर दिया है—

दग्धा च नगरी लङ्का प्राकाराश्चाव सादिताः।
बलैक देशः क्षपितो राक्षसानां महात्मनाम् ॥ ६। ३। ३०

युवराज अङ्गद ने भी दूत के कर्त्तव्यों का विधिवत निर्वाह किया है। अन्तिम शान्ति का संदेश लेकर लंकेश रावण के पास जाते हैं और राम के संदेश को बहुत ही अच्छे ढंग से लंकेश के सामने प्रस्तुत करते हैं। समझौते को अस्वीकार कर रावण अङ्गद को मार डालने की आज्ञा प्रदान करता है, तब अङ्गद अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हैं (६। ४१। ८८-८९)।

(ङ) राजदूत की आचरण संहिता—रामायण-काल में दूतों की मान्य आचरण संहिता के स्वीकृति-प्राप्त नियम विद्यमान थे। दूत के लिए यह आवश्यक था कि वह दूसरे पक्ष के राजा की आज्ञा प्राप्त कर राजधानी में प्रवेश करे तथा शिष्टता और विनम्र भाव से अपने को उसके सम्मुख प्रस्तुत करे[1]। उसके पश्चात् वह प्राण का संकट उत्पन्न होने पर भी अपने स्वामी के संदेश को यथावत् निवेदन करे[2] दूसरे राज्य में सत्कार प्राप्त होने पर भी गर्व न करे और जब

---

१ पारांगुलीर भिप्रेक्षन्प्रय तो उह कृतांजलिः।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्तारव्यांतु नरदेवयोः ॥—महाभारत उद्योगपर्व; ५९।२

२ अर्थशास्त्र १।१६।२

तक आज्ञा न मिले शत्रु देश के नगर को नहीं छोड़े। विदेश के प्रवास-काल में सुरा कोसुरा तथा सुन्दरी से दूर होना चाहिए और एकान्त में अकेले सोना चाहिए। उसके कार्य में विलम्ब होने पर उस शीघ्रता की प्रार्थना करनी चाहिए। ठेठ रूप से आज्ञा प्राप्त होने तक चले जाने या ठहरने का निर्णय करने में स्वविवेक से काम लेना चाहिए। दूत का व्यवहार नम्र होना चाहिए तथा किसी अपमान जनक स्थिति को भी सहन कर लेना चाहिए।

जिससे विरोधी को क्रुद्ध होने का मौका न मिले। अपने दायित्वों का ध्यान रखते हुए दूत को शत्रु देश के नागरिकों तथा अधिकारियों से खुलकर मिलना चाहिए, जिससे उनकी निष्ठा और स्वामीभक्ति का अन्दाज लगाया जा सके। उसे शत्रु की शक्ति से भयभीत नहीं होना चाहिए, वरन् अपने स्वामी के हित की दृष्टि से उसका आकलन करना चाहिए।

महाभारत[1] में दूत को अपना कार्य सफल होने के पूर्व शत्रु से किसी वस्तु को स्वीकार करने से मना किया गया है। रामायण[2] में दूत की पूर्ण आचरण-संहिता का सारांश सुरक्षित है, जहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि दौत्य-कार्य की सफलता अथवा असफलता दूतों की बुद्धि, विवेक तथा समय और देश के उनके ज्ञान पर अवलम्बित होती है। महाभारत[3] में दूत के रूप में कृष्ण वासुदेव की बुद्धिमत्ता का उदाहरण उपलब्ध है जहाँ उन्होंने अन्य राजकुलों के मुकाबले कुरुओं के गुणों का बखान कर धृतराष्ट्र को जीतने का प्रयास किया था।

दूत की आचरण संहिता से यह स्पष्ट है कि वह संदेश को यथावत् निवेदन करने के लिए कर्त्तव्य-बद्ध होता था और इस कारण यदि संदेश अपमान जनक तथा अवज्ञापूर्ण होता तो शत्रु क्रुद्ध हो सकता था। रामायण[4] में इसे कोटि के दूत के रूप में हनुमान का उल्लेख है जिन्होंने लंका में अपने शरारतपूर्ण आचरण से लंकेश रावण को क्रुद्ध कर दिया। रामायण में अनुचित आचरण करने वाले दूत को भी अवध्य बतलाया गया है (४।५२।५-१३)। यहाँ तक कि महाभारत में दूत के प्रति कड़े शब्दों का भी निषेध किया गया है क्योंकि वह यथानिर्दिष्ट ही निवेदन करता है (उद्योगपर्व। १६२।३८-३६)। उदाहरण स्वरूप दुर्योधन पाण्डवों के दूत कृष्ण को मारने के लिए उद्यत हो गया था और रावण ने राम के दूत हनुमान की प्राण रक्षा का ध्यान रखते हुए उन्हें अन्य प्रकार से दण्डित किया। फिर भी अनुचित आचरण के लिए दूत को हल्के दंड देने की प्रथा का प्रचलन था।

(च) युद्ध भूमि का चयन एवं सैन्य प्रस्थान

युद्ध भूमि का चयन

आक्रमण और अवरोध युद्ध के दो पक्ष होते हैं। आक्रामक जब किसी भूमि पर आक्रमण करना चाहता है तो वह आक्रमण से पूर्व उस भूमि का भौगोलिक अध्ययन करता है। चयन करते समय भूमि की उन रुकावटों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो पहाड़, जंगल, नदी, दलदल और रेगिस्तान के रूप में होती हैं। इन अवरोधों पर आक्रामक यदि युद्ध का मोर्चा कायम करता है तो उसे नाकों चने चबाने पड़ते हैं, असंख्य सैनिकों का बलिदान करना पड़ता है। ऐसी अवरोध भूमि आक्रामक के लिए लाभदायक नहीं होती, वरन् अपनी सुरक्षा करने वाले प्रतिपक्षी के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है। आक्रामक को आक्रमण से पूर्व उस भूमि का जिस पर

---

१ कृतार्था भुंजते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत॥—महाभारत उद्योग पर्व। ६१।१८

२ वा. रा सुन्दरकाण्ड। २। ३७. ३८

३ महाभारत उद्योगपर्व; ६५।६

४ वा. रा. सुन्दरकाण्ड। १८

वह आक्रमण करना चाहता है सर्वेक्षण करना पड़ता है। सर्वेक्षण में प्राकृतिक अप्राकृतिक सभी प्रकार के युद्धोपयोगी भौगोलिक अनुकूल-प्रतिकूल साधनों बाधाओं का परिचय प्राप्त करना पड़ता है। साथ ही उस भूमि के मैदानी भागों, बस्तियों, नगरों, राजपथों, का सही अध्ययन करना पड़ता है।

युद्ध के लिए यह आवश्यक है कि भूमि का चयन इस ढंग से किया जाय कि अपनी सेना हर प्रकार से लाभ प्राप्त कर सके। आचार्य कौटिल्य का मत है कि युद्ध-स्थल सैनिक पड़ाव से पाँच सौ धनुष के फासले पर होना चाहिए। भूमि के अनुसार यह पास और दूर भी हो सकता है[1]। आचार्य शुक्र ने इस विषय में तीन प्रकार के क्षेत्रों का वर्णन किया है--- उत्तम मध्यम और अधम : उनके विचार से जो भूमि अपनी सेना के लिए पूर्ण सुविधाजनक हो और शत्रु के हित में न हो वह भूमि युद्ध के लिए उत्तम होती है। जो वह क्षेत्र दोनों ओर की सेनाओं के लिए समान रूप में हितकर होता है, वह मध्यम है। किन्तु शत्रु के हित में होने वाली एवं अपनी सैनिक क्रियाओं के उपयुक्त न होने वाली भूमि अधम मानी गयी है[2]। अग्नि पुराण के अनुसार युद्ध जंगल तथा नदी युक्त प्रदेश में करना चाहिए। उनका विचार है कि आक्रमण खुले (आड़ रहित) क्षेत्र में सदैव कठिन होते है।[3] इससे स्पष्ट है कि युद्ध क्षेत्र में सैनिक क्रियाओं को शत्रु की दृष्टि से छुपाने तथा उस पर अचानक आक्रमण करने की सुविधाओं पर विचार करना चाहिए। धनुर्वेद के अनुसार तर, कठोर, कंकणों युक्त, जलमग्न तथा झाड़-झखाड़ों युक्त क्षेत्र का युद्ध के लिए नहीं चुनना चाहिए। सम्भवतः यह विचार पैदल सेना की दृष्टि से प्रकट किया गया है। रामायण भी इन्हीं मतों से सहमत है[4]। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन या प्राचीन भारत में युद्ध के लिए सभी समर-तंत्रीय सिद्धान्तों के आधार पर उपयुक्त भूमि का चयन किया जाता था।

(२) सैन्य काल

(क) यात्रा काल विजिगीषु राजा को अपनी यात्रा का समय, अपनी तथा शत्रु की शक्ति, मौसम, भूप्रदेश, सेना की उन्नति का समय, जन-क्षय, धन-व्यय, लाभ-हानि, बाह्य तथा आभ्यन्तर विपत्तियों के प्रतिकार आदि का तुलनात्मक विचार कर निश्चय करना चाहिए। इस समय राजा को उत्साह, प्रभाव और मन्त्र तीनों शक्तियों से सुसम्पन्न होना चाहिए। आचार्य कौटिल्य के मत के अनुसार विजिगीषु राजा को उत्साहयुक्त अर्थात् शूरवीर, बलवान्, रोगरहित, अस्त्र-विद्या में कुशल और अपनी सेना का स्वयं नायक होना चाहिए क्योंकि, इस शक्ति द्वारा वह अन्य राजाओं को अपनी सहायता के लिए एकत्र कर सकता है और वीर पुरुषों से धन-धान्य इकट्ठा करके, उन्हें अपने अधीन रखकर अपना कार्य सम्पन्न कर सकता है। राजा का मन्त्र शक्ति सम्पन्न होना भी आवश्यक है, क्योंकि, मन्त्र-शक्ति द्वारा थोड़े ही प्रयत्न से शत्रु को वश में किया जा सकता है। विजिगीषु राम उत्साह, प्रभाव और मंत्र तीनों महाशक्तियों से सुसम्पन्न थे। अस्त्र-विद्या में निपुण और लंका अभियान में स्वयं अपनी सेना के नायक थे। राम के शरीर—बल का पता सर्वप्रथम विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के अवसर पर तब मिलता है जब वह वाण से मारीच को सौ योजन (१ योजन लगभग ८ मील दूर फेंक देते हैं (१।३०।१८) और दुन्दुभि राक्षस की अस्थियों के पहाड़ को पैर के अंगूठे से गिरा देते हैं (कि. क. ११।८४)। इसी शौर्य के प्रदर्शन द्वारा राम ने सुग्रीव को अपने वश में कर लिया था (४।१२।८)।

---

१ अर्थशास्त्र १०।५।१
२ शुक्रनीति ४।१०६०-१०६२
३ अग्नि पुराण २३६।५९ व ६०
४ रामायण-किष्किधाकाण्ड

कुछ विद्वानों के मतानुसार शक्ति-प्रबलता होने पर कभी भी यात्रा की जा सकती है, क्योंकि, शक्तिसम्पन्न राजा ऊबड़-खाबड़ तथा पथरीले, प्रतिकूल भू-प्रदेश के तथा सर्दी, गर्मी तथा वर्षा के प्रभाव के प्रतिकार करने में पूर्णतः समर्थ होता है, जबकि कुछ आचार्यों ने यात्रा-काल भूपदेश के आधार पर निश्चत करने का मत प्रकट किया है। कुछ विद्वान् मौसम को अधिक प्रधानता देते हैं। आचार्य कौटिल्य शक्ति, देश और मौसम तीनों को ही एक दूसरे का साधक मानते हैं। उनके अनुसार तीन यात्रा-काल हो सकते हैं। प्रथम यात्रा-काल के लिए मार्ग शीर्ष (अगहन) को प्रधान बताया है क्योंकि इस समय शत्रु का पुराना अन्न-संग्रह समाप्त हो जाता है, नये अन्न का संग्रह नहीं हो पाता है। साथ ही वर्षा के अनन्तर दुर्गों की मरम्मत भी नहीं हो पाती है। वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुए धान्य को तथा हेमन्त ऋतु में उत्पन्न होने वाली फसल का नष्ट किया जा सकता है। अतः इस समय विजयेच्छुक राजा, शक्ति, देश और काल से समन्वित होकर सेना के तिहाई या चौथाई भाग का राजधानी, पृष्ठभाग और सीमान्त प्रदेशों पर नियुक्त करके, अपनी सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण कर सकता है। दूसरा यात्रा-काल चैत्र के माह में बताया है। इस समय हेमन्त ऋतु मे उत्पन्न धान्य तथा बसन्त ऋतु मे होने वाली फसल को नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार बसन्त की फसल से प्राप्त धान्य को तथा वर्षा ऋतु की फसल को समाप्त करने के लिए ज्येष्ठ माह में तीसरा यात्रा का समय बताया है।

कौटिल्य ने तो यहां तक बताया है कि अत्यन्त गरम जलहीन प्रदेश में हेमन्त ऋतु में, बर्फीले तथा अधिक वर्षायुक्त प्रदेश में तथा घने जंगलों वाले प्रदेश मे ग्रीष्म ऋतु मे, अपनी सेना को युद्धोपयोगी तथा शत्रु सेना को हानिप्रद प्रदेश में वर्षा ऋतु में यात्रा करनी चाहिए। दूर देश की यात्रा मार्गशीर्ष में थोड़ी दूरी के लिए ज्येष्ठ अषाढ़ में तथा मध्यम दूरी के लिए चैत्र में यात्रा करनी चाहिए। यदि शत्रु को किसी प्रकार की आपत्ति में फँसा देखें तथा शक्ति को शत्रु से प्रबल जाने तो कभी भी यात्रा की जा सकती है[1]।

मनुस्मृति (७।१९२) के अनुसार चतुरंगिणी सेना से युक्त जो राजा मन्द चलने वाले हाथियों तथा रथों से गमन कर बिलम्ब में पहुँचने वाला हो तथा हेमन्त सम्बन्धी धान्य से परिपूर्ण शत्रु राजा पर चढ़ाई करना चाहे, वह मार्गशीर्ष में तथा शीघ्रगामी घोड़ों की सेना से गमन कर शीघ्र पहुँचने वाला हो तथा सर्वविधि धान्यपूर्ण शत्रु देश पर चढ़ाई करना चाहे, तो वह अपने बल (सैन्य शक्ति) के अनुसार फाल्गुन या चैत्र मास में चढ़ाई करे। इसी प्रकार महाभारत में भी मार्गशीर्ष तथा चैत्र का समय ही अधिक उपयुक्त माना गया है। उद्योगपर्व (८३।७) के अनुसार पाण्डव सेना ने कुरुक्षेत्र के लिए मार्गशीर्ष में ही प्रस्थान किया था। रघुवंश के अनुसार चैत्र में की जाने वाली यात्रा उत्तम होती थी। इसके बावजूद शत्रु से प्रबल होने पर किसी भी माह में सैन्य यात्रा की जा सकती थी।

रामायण के अध्ययन से यह पता चलता है कि तत्कालीन समय में वर्षा-काल में सामरिक तैयारियाँ स्थगित कर दी जाती थी—'स्थिता हि यात्रा वसुधाधियानां ४।२८।१५।" राम को निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते देख उनके दुःख में समान रूप से भाग लेने वाले भाई लक्ष्मण ने उनसे विनयपूर्वक कहा—

> "शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः।
> ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं त्वं वधिष्यासि॥ कि का. २७।३९

---

१ अर्थशास्त्र ९।१

अर्थात् हे राम ! यह वर्षा काल आ गया है । अब शरद् ऋतु की प्रतीक्षा कीजिये । फिर राज्य और सेना सहित रावण का वध कीजियेगा ।

राम, लक्ष्मण के कथन से सहमत होते हुए स्वयं कह उठते हैं—"लो सब तरह के काम बिगाड़ने वाले शोक को मैंने त्याग दिया । अब मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ । सुग्रीव की सहायता और नदियों की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए शरदकाल की प्रतीक्षा करूँगा ।")४।२७।४४ । मार्गों की दुर्गमता देख और यात्रा के लिए काल को अनुकूल न समझकर ही राम ने प्रस्रवण पर्वत पर वर्षा के चार मास शरत्-काल की प्रतीक्षा मे बिताया था (४ २७।७) शरद् ऋतु में सामरिक अभियान किये जाते थे । राम ने सुग्रीव से कहा था—"कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावण वधे यतः (४।२७।१६)" अर्थात् जब कार्तिक मास लगे, तब तुम रावण के वध के लिए यत्न करना। शरद् ऋतु का के आगमन पर राम ने लक्ष्मण से कहा था कि परस्पर वैर रखने वाले राजाओं के लिए युद्ध के निमित्त उद्योग करने का समय अब आ गया है" (४।३०।३८।६० । हे सौम्य ! राजाओं की विजय-यात्रा का यह प्रथम अवसर है, किन्तु, न तो मैं सुग्रीव को यहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगोचर होता है' । तब लक्ष्मण ने किष्किंधा जाकर सुग्रीव को धमकाया । तबसे सीता की खोज का कार्य प्रारम्भ हुआ । एक महीने की अवधि देकर वानरों को चारों दिशाओं मे भेजा गया । अवधि की समाप्ति के बाद हनुमान ने लंका से लौट सीता सम्बन्धी सूचना राम सहित सुग्रीव को दी । इसके बाद समुचित सैन्य दल सहित राम ने लंका को प्रस्थान किया इन प्रसंगों से स्पष्ट पता चलता है कि तत्कालीन समय में फाल्गुन और चैत्र मास मे ही चढ़ाइ की जाती थी । राम ने द्वितीय आश्विन में लंका पर चढ़ाई की थी । जिस तिथि को सेना सुवेल पर्वत पर अपना सैन्य शिविर स्थापित की वह द्वितीय आश्विन की पूर्णिमा थी । (६।३८।१६) ।

उत्तर काण्ड के अध्ययन से पता चलता है कि कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु के अन्त और वर्षा ऋतु के प्रारम्भ के पहले शत्रु पर चढ़ाई की जाती थी क्योंकि शत्रुघ्न ने मधुपुरी (मथुरा) पर लवणासुर पर अकस्मिक आक्रमण करने के लिए वर्षा ऋतु के पहले अभियान किया था (७।६४।१०) सम्भवतः इस ऋतु में शत्रुघ्न के आक्रमण का महत्वपूर्ण कारण यह था कि वर्षा ऋतु में नदी का पानी बढ़ जाने के कारण सेना को पार उतारना कठिन था ।

(ख) सैन्य-यात्रा की तैयारी—मौसम एवं महीने का निर्धारण नहीं होता था, वरन् निश्चत तिथि तथा घण्टा का भी विचार आवश्यक समझा जाता था । इस कार्य के लिए राजा ज्योतिषियों पर आधारित रहते थे । उनके द्वारा शुभ मुहूर्त निश्चित करने पर सैन्य यात्रा की तैयारी होती थी । महाभारत (शान्तिपर्व १००।२६) में भीष्म ने कहा है कि "जो राजा शुभ मुहूर्त में नक्षत्र एवं चन्द्रमा का विचार कर यात्रा करते हैं, उनकी विजय निश्चित होती है ।" बाण ने भी हर्ष की सैन्य यात्रा का वर्णन करते समय ज्योतिषियों द्वारा शुभ नक्षत्रों के निश्चय करने का वर्णन किया है । तत्कालीन समय में भी इस पर विधिवत् ध्यान दिया जाता था । राम ने शुभ मुहूर्त, नक्षत्र आदि का विचार कर सुग्रीव से कहा—"हे किष्किन्धा-नरेश । इसी मुहूर्त में युद्ध-यात्रा करना मुझे अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि, सूर्य मध्य आकाश में आ गया है, इसलिए अभिजित नामक विजय का मुहूर्त है । आज उत्तराफल्गुनी नामक नक्षत्र है । कल चन्द्रमा का हस्त नक्षत्र से योग होगा । इसलिए सुग्रीव ! हम लोग आज ही सारी सेना सहित प्रस्थान कर दें" (६।४।३-५) ।

दिन में दोपहर के समय अभिजित् मुहूर्त होता है, इसी को विजय मुहूर्त भी कहते हैं । वह यात्रा के लिए बहुत उत्तम माना गया है । यद्यपि—"मुक्तौ दक्षिणयात्रायां प्रतिष्ठायां

द्विजन्मनि । अधाने च ध्वजारोहे मृत्युदः स्याद् सदाभिजित् ॥" इस ज्योतिषरत्नाकर के बचन के अनुसार उक्त मुहूर्त में दक्षिणयात्रा निषिद्ध है, तथापि, किष्किंधा से लंका दक्षिणपूर्व के कोण में होने के कारण वह दोष यहाँ नहीं प्राप्त होता है।

शुभ मुहूर्त नक्षत्र आदि तय करने के बाद सर्वप्रथम विभिन्न प्रकार की सेना का संगठन व शस्त्रास्त्रों का संग्रह आदि किया जाता था। इसके लिए शत्रु की सैनिक स्थिति पर भी विचार अपेक्षित था। साथ ही अपने पश्चात्कोप, अभ्यान्तर एवं बाह्य कोप पर भी विचार किया जाता था कि कहीं ऐसा न हो कि राजा और सेना के बाहर जाने के बाद राज्य में पदाधिकारी आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न कर दें अथवा बाहर से शत्रु आक्रमण कर दे। इसलिए राज्य में भी उपयुक्त सेना को छोड़ देना और अपने मुख्य आधार की रक्षा करना आवश्यक होता था। सम्भवतः इसीलिए राम ने अपनी आक्रमण योजना बनाने के पूर्व ही शत्रु प्रदेश के दुर्गों, प्रवेश-मार्गों, नगर-द्वारों की स्थिति, शत्रु सेना की संख्या, गतिविधि, शत्रु के प्रति रक्षात्मक साधन आदि की पूरी जानकारी हनुमान से प्राप्त कर ली थी (६।३)। प्रस्थान करने से पूर्व राम ने सेना के निर्बल और अनावश्यक अंगों को किष्किंधा में ही रह जाने का आदेश दे दिया था,[1] जिससे वे स्वदेश पर किसी आकस्मिक आक्रमण का सामना कर सकें।

सेना के अतिरिक्त खाद्य-पदार्थ वस्त्र, आवागमन के साधन आदि को जुटाया जाता था। यात्रा-मार्ग का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता था। राम ने हनुमान द्वारा लंका जाने के मार्ग को जान लिया था। इतना ही नहीं लंका की समृद्धि कितनी उत्तम है समुद्र कितना भयंकर है, पैदल सैनिकों का विभाग करके कहाँ कितने सैनिक रखे गये हैं और वहाँ के वाहनों की कितनी संख्या है—इन सब बातों की जानकारी प्राप्त कर ली (६।४।७६)। विभिन्न मौसम तथा प्रदेश के अनुसार सैनिक बलों को तैयार किया जाता था जैसे जलपूर्ण, वर्षा वाले प्रदेश के लिए गज सेना उत्तम थी और गरम रेगिस्तानी प्रदेश के लिए ऊँट तथा घोड़े।

सेना के प्रमाण के लिए शुभ निमित्त और शकुन भी देखे जाते थे। दक्षिण भुजा का बारम्बार स्पन्दन, सैनिकों को मुख प्रसन्न दीखना, शस्त्रों का चम-चम करना, हाथी-घोड़े का उत्तेजित होना आदि शुभ लक्षण माने जाते थे। स्वयं राम ने शुभ शकुनों को देखकर कहा था "हे सुग्रीव ! इस समय जो शकुन प्रकट हो रहे हैं और जिन्हें मैं देख रहा हूँ, उनसे यह विश्वास होता है कि मैं अवश्य ही रावण का वध करके जनकनन्दिनी सीता को ले आऊँगा। इसके सिवा मेरी दाहिनी आँख का ऊपरी भाग भड़क रहा है। वह भी मानो मेरी विजय-प्राप्ति और मनोरम सिद्धि को सूचित कर रहा है (६।४।६-७)

सैन्य यात्रा के समय आकाश में धूसर वर्णमेघ का छा जाना, रथ के घोड़े का अपने-आप गिर पड़ना, सूर्य के चारों ओर एक श्याम घेरा बन जाना, गिद्ध का रथ की ध्वजा पर बैठना, मांसाहारी पक्षियों का भयंकर शब्द करना, गीदड़ का पूर्व दिशा में फें-फें करना, कंक, गौसायु तथा गिद्ध का रोने लगना, प्रचण्ड वायु का बहना, बिना रात के उल्कापात होना जुगनू का चमकना, पृथ्वी का काँपना, योद्धा की बाम भुजा का फड़कना आदि पराजय सूचक थे[2]।

शाल्व जब परशुराम से लड़ने जा रहे थे तब निम्नलिखित पराजय सूचन दुर्लक्षणों से उनका साक्षात हुआ था। हृदय की धड़कन बाम-बाहु, नेत्र तथा पाठ का स्पन्दन, हाथी का बाम पद से दक्षिण पद को आघात पहुँचाना और बायें दाँत का सूँड से लपेटना, घोड़े का थोथुन से बायें का छूना, वृक, शृगाल, गर्दभ, शशक का बायी ओर से दाहिनी ओर जाना, वराह और हिरण का दाहिनी ओर से बायीं ओर जाना आदि।

---

१ यत्र फल्गुबलं किंचित् तदत्रैवोपपद्यताम्। ६।४।१३

२ देखिये ६।१०।१६-२२, ६।५५,१०-१२, ६।५७।३५-४०, ६।९ ६।३४-३९।

(ग) सैन्य-यात्रा का प्रारम्भ—सारी तैयारियों के बाद सैन्य प्रस्थान निश्चित समय पर देव-पूजा के उपरान्त होता था। कामन्दक का कथन है कि यात्रा से पूर्व राजा को ईश्वर तथा द्विज (ब्राह्मण) की पूजा करनी चाहिए[1]। वाण के अनुसार हर्ष ने भी दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने व पूर्व देव-पूजा की थी। मेघनाद ने युद्ध क्षेत्र में जाने से पूर्व निकुम्भिला यज्ञशाला में जाकर विधिवत् देवी की पूजा की थी (६।८) देव-पूजा के बाद प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में कूच का डंका बजाया जाता था। जिस दिन जितने कोस की यात्रा करनी होती थी, उतनी ही चोटें नगाड़े पर कूच का डंका बजाते समय लगाई जाती थीं ताकि सभी सैनिकों को उस दिन की यात्रा-दूरी का ज्ञान हो जाय। आचार्य कौटिल्य का मत है कि एक दिन में ज्यादा से ज्यादा दो योजन (१ योजन= लगभग ८ मील) की यात्रा की जानी चाहिए।

(घ) यात्रा में सैनिक क्रम—सैन्य यात्रा के समय सेना के विभिन्न अंग व पदाधिकारी किस क्रम से चलते थे, इस विषय में 'रामायण' 'महाभारत' 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र,' 'कामन्दक नीतिसार' आदि से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण के अनुसार सेना के अग्रभाग को 'मूर्धन' कहते थे जबकि दायें-वायें के भाग 'पार्श्व' और मध्य भाग को 'कुक्षि' या उरस कहते थे। किष्किधा से लंका तक मार्ग बीहड़ वनों, दुर्लंघ्य पहाड़ों और समुद्र में से होकर जाता था, इसलिए राम ने सुरक्षात्मक दृष्टि से सेनापति नील को अपनी सेना सहित, सेना के शीर्ष-भाग में चलने का आदेश दिया (६।४।१०) इस अग्रगामी टुकड़ी का यह भी दायित्व था कि वह पीछे आने वाली सेना के लिए ऐसे ही मार्गों का चयन करे जो अन्न, फल एवं जल आदि से परिपूर्ण हो (६।४।११) पैदल सेना के दाहिने पार्श्व का नेतृत्व गज, गवय और गवाक्ष सेनाधिकारी अपनी सेना सहित कर रहे थे। बाम पक्ष का नेतृत्व गन्धमादन नामक बलाध्यक्ष के हाथ में था। सर्वोच्च सेना अधिनायक राम, लक्ष्मण और सुग्रीव सहित सेना के मध्य भाग (उरस) में वर्तमान थे (६।४।३२) सैन्य यात्रा-क्रम में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि वानरराज सुग्रीव और राम खतरों से भली भांति सुरक्षित रहें, क्योंकि अभियान की सफलता उन्हीं की कुशल-क्षेम पर निर्भर थी। सेना के पृष्ठ भाग में ऋक्षराज जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शी यूथपति चल रहे थे। पृष्ठ भाग की सुरक्षा सम्बन्धी सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं यूथपतियों के ऊपर था। इस सभी सैन्य-पदाधिकारियों का यह कर्तव्य था कि वे सैनिकों को निरन्तर सचेष्ट रखें और इन्हें कूच करते रहने का प्रोत्साहन देते रहें (६।४।३७)।

इसके समर्थन में महाभारत[2] के अनुसार आगे कुछ महारथी, मध्य में राजा और आवश्यक सामग्री से पूर्ण वाहन तथा पीछे प्रमुख सेनाध्यक्षों के अधीन मुख्य सेना चलती थी। आचार्य कौटिल्य[3] का मत है कि सर्व प्रथम सेनानायक (दस सेनापतियों का प्रधान अधिकारी) अपनी सेना सहित चलता था। मध्य में अन्तः पुर के साथ राजा पीछे अन्य सेना चलती थी। सभी सेनाओं के सेनापति अपनी सेना के पिछले भाग में रहते थे। कामन्दक भी इसी प्रकार के क्रम का समर्थन करते हैं, किन्तु उन्होंने मध्य में राजा तथा अन्तः पुर के साथ कोष एवं कमजोर सैनिकों को भी स्थान दिया है। पार्श्व में अश्व सेना के साथ रथ सेना का भी प्रतिपादन किया है। रथ सेना को अश्व सेना के पीछे रखने का आदेश दिया है। उसके अनुसार गज सेना के पीछे जंगली जाति के सैनिकों की सेना तथा प्रधान सेनापति रहता था, जो घबड़ाये हुए सैनिकों को साहस बंधाता चलता था[4]। वाण ने सबसे पहले ध्वजारोहियों के चलने का विवरण प्रस्तुत किया है।

---

१ देखिये कामन्दक नीतिसार २९.२
२ उद्योग पर्व, अध्याय १
३ अर्थशास्त्र १०।२
४ कामन्दक नीतिसार, अध्याय १९।

(ङ) यात्रा के समय सैन्य-व्यूह—यात्रा के समय सेना विभिन्न प्रकार की भूमि तथा शत्रु-भय के विचार से विभिन्न प्रकार की व्यूह-रचना अपनाती थी। मनुस्मृति (७।१८७-१८८) के अनुसार चारों ओर से भय होने के कारण दण्ड-व्यूह, यदि पार्श्व मे भय हो तो वराह-व्यूह या गरुड़-व्यूह, यदि आगे-पीछे से भय हो तो मकर-व्यूह और आगे से ही केवल भय हो तो सेना को सूचीमुख-व्यूह के आकार में सजा कर यात्रा करनी चाहिए। लंका-अभियान के समय राम की पदाति सेना गरुड़ व्यूह में रची गई थी।

(च) यात्रा, गति तथा मार्ग के नदी-नालों को पार करना—महाभारत के अनुसार युद्ध-सामग्री अपर्याप्त होती या शत्रु राजा से सन्धि की आशा होती थी तो यात्रा गति धीमी रहती थी अन्यथा तीव्र गति अपनाई जाती थी। आचार्य कौटिल्य[1] का मत है कि विजिगीषु जब किसी को अपनी उन्नति का आश्रय बनाना चाहता हो, धन्य-धान्य से समृद्ध शत्रु को नष्ट करना चाहता हो तो धीमी गति से यात्रा करे। साथ ही ऊबड़-खाबड़ भूमि पर तथा कोश दण्ड, मित्र सेना, शत्रु सेना, आटविक सेना और अपनी सेना के अनुकूल ऋतु के होने पर भी धीमी गति अपनाना ही लाभकर होता है। इन अवस्थाओं के विपरीत स्थिति में तीव्र गति से यात्रा करे। सम्भवतः इसी कारण राम की सेना किष्किंधा से रात और दिन जंगलों में से कूच करती हुई समुद्र-तट पर विद्युत्-गति से जा पहुँची। महेन्द्र पर्वत की चढ़ाई को पार करके वह उसके दक्षिण ढाल से नीचे की ओर उतरी और शीघ्रता से हिन्द महासागर के तट पर पड़ाव डाल दिया। सेतु का निर्माण होते ही राम ने द्रुतवेग से सेना को समुद्र पार कराया और सुवेल पर्वत के आस-पास अपनी सघन मोर्चाबन्दी कर ली (६।२२।८३)।

रामायण के अनुसार मार्ग के नदी-नालों को पार करने के लिए हाथी, पुल, नौका, काष्ठ के बेड़े तथा चमड़े के मशक आदि साधनों का प्रयोग किया जाता था। कौटिल्य भी इसी का समर्थन करते हैं। कौटिल्य का कहना है कि यदि पार उतरने के घाटों को शत्रु ने रोक रखा हो, तो हाथी और अश्वों से रात्रि के समय किसी अन्य मार्ग से सेना को पार उतार दे। जल-रहित प्रदेश में यात्रा के समय गाड़ी या चौपायों पर मार्ग की आवश्यकता के अनुसार जल को भी साथ ले जाये।[2] रघुवंश में हाथियों द्वारा नदी पार करने का उल्लेख मिलता है।

(छ) व्यूह-रचना (युद्धकला एवं वाद्य-यंत्र)

(क) अर्थ-प्रवेश—युद्ध-क्षेत्र में लड़ने के लिए सेना की जो सजावट और व्यवस्था की जाती है, उसे व्यूह कहते हैं। व्यूह-रचना युद्ध का बहुत बड़ा कौशल माना जाता है। कभी-कभी व्यूह-रचना के कारण ही छोटी सी सेना महती सेना को पराजित कर देती है। युद्ध क्षेत्र के लिए उपयुक्त क्षेत्र का चयन कर लेने के उपरान्त दूसरी समस्या सेना को संघर्ष के लिए प्रतिरक्षात्मक स्थिति में खड़ा करने तथा आक्रमण करने के लिए उचित रूप में आगे बढ़ाने की आती है। इसके लिए प्राचीन भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार के व्यूहों का वर्णन किया है। संक्षेप में, रण क्षेत्र में युद्ध करने के लिए सेना को जब किसी एक विशेष क्रम से खड़ा किया जाता है तो उसे व्यूह-रचना कहा जाता है। व्यूह-रचना पर ही जय एवं पराजय के अधिकतर परिणाम निर्भर रहते हैं।

रामायण तथा महाभारत में व्यूहों के प्रयोग का बहुत ही सुन्दर विवरण मिलता है। इतना ही नहीं मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, अग्निपुराण तथा शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में व्यूह की

---

१ अर्थशास्त्र १०।२

२ कौटिल्य अर्थशास्त्र अनुवाद प्रो० इन्द्र पृ० १६७।

संद्धान्तिक व्याख्या मिलती है। सूत्र साहित्य[1] में लिखा है कि राजा को आदित्य और उशनस् द्वारा बताये हुए व्यूहों के अनुसार लड़ाई आरम्भ करनी चाहिए। कौरव-पांडवों के महाभारत युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से नित्य नये व्यूह बनाये जाते थे। द्रोणाचार्य का बनाया हुआ प्रसिद्ध चक्रव्यूह अभेद्य था। व्यूहों की रचना भूमि की बनावट, शत्रु की सैन्य शक्ति, निजी सैन्य शक्ति, तथासुरक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक योजना के आधार पर की जाती थी। इसकी पुष्टि हमें रामायण से होती है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार व्यूह-रचना दो अवसरों पर करनी चाहिए। एक तो उस समय जब सेना युद्ध क्षेत्र में युद्ध के लिए प्रवृत्त होती है और दूसरा उस समय, जब मुख्य सेना को शत्रु की दृष्टि से छिपाकर रख दिया जाये और छोटी सी सेना को रण-भूमि में लड़ने के लिए उतार लिया जाये। व्यूह-रचना सदा, सर्वकाल युद्धोपयोगी कला है। इसकी उपयोगिता सभी युग के युद्धों के लिए अनिवार्य है।

(ख) **व्यूह के अंग**—प्राचीन समय में सामान्यतया प्रत्येक व्यूह के दो पक्ष, दो कक्ष और एक उरस्य, इस तरह पाँच अंग होते हैं। सेना के आगे के दोनों भागों को पक्ष (विंग्स) और पीछे के दोनों भागों को कक्ष (रिअर) तथा मध्य को उरस्य (क्राफ्ट) कहा जाता है। वृहस्पति ने व्यूह के ६: अंग बताये, दो पक्ष, (सेना के अग्रभाग के दोनों पार्श्व), दो कक्ष (सेना के पृष्ठ भाग के दोनों शार्श्व) उरस्य तथा पृष्ठ भाग। व्यूह-रचना की अनेक विधियाँ हैं। आचार्य कौटिल्य[2] का कहना है कि युद्ध-स्थल से पाँच सौ धनुष दूरवर्ती स्थान पर स्कन्धावर स्थापित करके विजिगीषु युद्ध-स्थल के निर्माण की स्वीकृति प्रदान करे अथवा भूमि के परिमाणनुसार युद्ध स्थल और भी कम या अधिक दूरी पर रखा जा सकता है। सेना के मुख्य सैनिकों को पक्ष-कक्ष आदि स्थानों पर स्थाथित करके सेना को शत्रु की आँखों से ओझल स्थान पर रखकर सेनापति एवं नायक सेना की व्यूह-रचना करे।

पदाति के व्यूह में एक पैदल सैनिक दूसरे से एक राम (चौदह अंगुल) की दूरी पर खड़ा किया जाता था। पदाति धनुर्धर सैनिक पाँच-पाँच धनुष के अन्तर पर अश्वारूढ़ धर्नुधर ३-३ धनुष के अन्तर पर और ध्यारूढ़ धनुर्धर पाँच-पाँच धनुष के अन्तर पर नियत किये जाते थे। अश्व सेना के दो घोड़ों के बीच में तीन राम (४२ अंगुल), एक रथ से दूसरे रथ के बीच में तथा एक हाथी से दूसरे हाथी के बीच में ५ राम (७० अंगुल) का अन्तर होता था। अथवा भूमि के परिमाणानुसार उपर्युक्त अन्तर दूना और तिगुना करके विभिन्न सेनाओं का व्यूह-निर्माण किया जाता था।

सेना के दोनों के दोनों पक्षों, दोनों कक्षों और उरस्य में परस्पर ५-५ धनुषों (१ धनुष = २७० अंगुल) का अन्तर रखा जाता था। इस अन्तर पर खड़ी की गई सेना के व्यूह को अनीक-सन्धि कहा जाता था। व्यूह-रचना करते समय चारों अंगों की सांग्रमिक क्षमता का भी अनुमान का सामना करने के लिए १५ पैदल सैनिक नियत किये जाते थे और यदि पदातियों के स्थान पर अश्वारूढ़ सैनिक रखने की आवश्यकता समझी जाती थी, तो ५ सवार नियुक्त किये थे। युद्ध क्षेत्र में हाथियों के हौदे और घोड़ों की काठी ढीली पड़ जाने पर उन्हें तुरन्त कसने अथवा हाथी घोड़ा बदलने के लिए पादगोप (सईस) रहते थे। एक रथ, एक घोड़े और हाथी के पीछे १५ पादगोप नियत किये जाते थे।

---

१ आश्वलायन गृह्यसूत्र III, १२
२ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, पृ० ६६६

(ग) **व्यूह-भेद**—वाल्मीकि-रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन युद्धों में सेना विभिन्न प्रकार के व्यूहों में रची जाती थी। इसलिए हमें निम्नलिखित प्रकार के व्यूह-रचना के अस्तित्व का पता चलता है—

(१) दण्ड-व्यूह—आगे बलाध्यक्ष, बीच में राजा, पीछे सेनापति दोनों पार्श्वों पर हाथी, उनके पास घोड़े और उन घोड़ों के पास में पैदल सैनिक; इस प्रकार दण्ड के समान बराबर तथा लम्बी सेना की रचना दण्ड-व्यूह है।

(२) वराह व्यूह—आगे तथा पीछे के भागों में पतली तथा मध्य भाग में फैली हुई सेना की रचना 'वराह व्यूह' है।

(३) शकट व्यूह—आगे के भाग में पतली तथा पीछे के भाग में फैली हुई अतएव गाड़ी के समान सेना की रचना शकट व्यूह है।

(४) मकर व्यूह—वराह व्यूह के विपरीत अर्थात् आगे तथा पीछे के भागों में फैली हुई और मध्य भाग में पतली सेना की रचना मकर व्यूह है।

(५) सूची व्यूह—चींटियों की पंक्ति के समान आगे-पीछे सटी (मिली) हुई तथा प्रत्येक सैनिक स्थिति में मुख्य एवं शीघ्र शूरवीर से युक्त सेना की रचना सूची व्यूह है। लंकेश रावण को यह व्यूह बहुत ही प्रिय था।

(६) गरुड़-व्यूह—वराह व्यूह के समान किन्तु बीच में अधिक फैली हुई सेना की रचना गरुड़ व्यूह है।

(७) पद्म व्यूह—जिसमें सब ओर से समान रूप से सेना फैलायी गई हो और बीच में विजयाभिलाषी राजा बैठा हो, वैसी सेना की रचना 'पद्म व्यूह' है।

(८) वज्र व्यूह—तीन ओर से सेना को फैलाना 'वज्र व्यूह' कहा जाता है।

उपर्युक्त व्यूहों की पुष्टि मनुस्मृति (७।१८७) भी करता है। राम को गरुड़ व्यूह विशेष प्रिय था—

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवान्ति च।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण ।। ६।२३।२

अर्थात् हे लक्ष्मण ! जिस समय शीतल जल समीप हो और फल वाले वृक्ष हो, वहीं पर सेना को विभाजित कर और गरुड़ाकार व्यूह की रचना कर ठहरना उचित है।

रावण का गुप्तचर शार्दूल सुवेल पर्वत के निकट स्थित राम की सेना का अवलोकन कर लंकेश से कहता है—

गरुडव्यूह मास्थाय सर्वतो हरिभिर्वृतः।
मां विसृज्य महातेजा लङ्कामेवातिवर्तते ।। यु. का ३०।१२

अर्थात् वे महातेजस्वी राम गरुड़ व्यूह का आश्रय ले सेना के बीच में विराजमान हैं और मुझे विदा करके वे लंका पर चढ़े चले आ रहे हैं।

इससे स्पष्ट पता चलता है कि लंका युद्ध में राम अपनी सेना को गरुड़ व्यूह में रचा कर ही लड़ रहे थे। बिखरे हुए दुर्ग में से जो-जो विपक्षी सैनिक द्वार बाहर निकलने की चेष्टा करते, उनसे वानर योद्धा जूझ जाते थे। इस प्रकार जब शत्रु के अधिकांश सेनाध्यक्ष और सैनिक मारे गए, तब सुग्रीव ने सर्वोच्च सेना अधिनायक राम की अनुमति से लंका में आग लगा दी। परिणाम यह हुआ कि लंका-दुर्ग में छिपी हुई सेना बाहर निकलने को बाध्य हो गई।

तत्कालीन समय में नियम यह था कि अभियान के समय चारों ओर से शत्रु आक्रमण का भय हो तो सेना **चक्र व्यूह** में, पीछे से भय की आशंका होने पर शकट व्यूह में, दो ओर से भय

हो तो वराह व्यूह या मकर व्यूह में तथा आगे और पीछे भय हो तो गरुड़ व्यूह में और केवल सामने से भय रहता था तो सूची व्यूह की रचना का कूच किया जाता था। राम ने गरुड़ व्यूह का चयन सम्भवतः इसीलिये किया था कि आगे और पीछे दोनों तरफ से शत्रु आक्रमण का भय था। रावण ने सूची व्यूह का चयन इसलिये किया था कि केवल उसे सामने (भारत की ओर) से राम के आक्रमण का डर था। मनुस्मृति (७।१८८) में उल्लेख किया गया है कि राजा जिधर से भय की आशङ्का हो, उधर ही सेना का विस्तार करे और स्वयं सर्वदा 'पद्म व्यूह' से। (नगर से निकल कर कपटपूर्वक) शत्रु देश में प्रवेश करे। रामायण में निम्न प्रकार के सैन्य-विन्यास का आभास मिलता है—

(i) व्यूह के मध्य—राम ने दुर्जेय एवं पराक्रमी वीर अङ्गद और नील को गरुड़ व्यूह के वक्षः स्थल (मध्य में) पर खड़ा होने का आदेश दिया (६।२४।१४)।

(ii) दक्षिण पार्श्व—यूथपति ऋषभ को अपनी अधीनस्थ सेना के साथ वानरवाहिनी के दाहिने पार्श्व पर खड़ा हो का आदेश दिया (६।२४।१५)।

(iii) वाम पार्श्व—मतवाले हाथी की तरह अजेय और वेगवान गन्धमाप्ल को वानरी सेना के बायें पार्श्व पर खड़ा किया (६।२४।१६)।

(iv) शिरः स्थान—स्वयं सर्वोच्च सेना अधिनायक राम लक्ष्मण सहित व्यूह के मस्तक स्थान पर खड़े हुए (६।२४।१७)।

(v) कुक्षिस्थान—जाम्बवान्, सुषेणा और वानर वेगदर्शी – ये तीन महामनस्वी वीर जो रीछों की सेना के प्रधान हैं, वे सैन्य-व्यूह के कुक्षिभाग (उदर भाग) पर खड़े रहें (६।२४।१७।६)

(vi) जंघा भाग—वानरराज सुग्रीव वानरवाहिनी के पृष्ठ भाग (जंघा भाग) की रक्षा में उसी प्रकार लगे रहें, जैसे तेजस्वी वरुण इस जगत की पश्चिम दिशा का संरक्षण करते हैं (६।२४।१८)।

इस तरह व्यूह से रची गई राम की सेना ऐसी शोभित हुई जैसे मेघों से आकाश शोभित होता है। प्रथम शत्रु का सामना करते समय व्यूह के रूप में सैन्य संस्थापन की कुशलता पर ही बहुत हद तक सफलता निर्भर करती थी। कभी-कभी घमासान युद्ध होने पर व्यूह रचनाएँ छिन्न-भिन्न भी हो जाती थीं और उस स्थिति में किसी प्रकार के भी व्यूह की रचना सम्भव नहीं हो पाती थी।

संग्राम-भूमि के अन्तर्गत आचार्य कौटिल्य[1], शुक्र तथा बृहस्पति ने चार व्यूहों को अपनाने का निर्देश दिया है—

(i) दण्ड व्यूह—जिसमें सैनिक एक कतार में खड़े हों, अर्थात्, दण्ड व्यूह उस व्यूह को कहते थे, जिसमें पूरी शक्ति एक साथ समक्ष खड़ी होती हो।

(ii) भोग व्यूह—जिसमें सैनिक एक पंक्ति में सर्प की गति अथवा गोमूत्र द्वारा भूमि पर बनी आकृति की भाँति खड़े होते थे।

(iii) मण्डल व्यूह—जिसमें सैनिक गोलार्द्ध में खड़े होते थे।

(iv) असंहत व्यूह—जिसमें अलग-अलग टुकड़ियों में विभक्त होकर सैनिक खड़े हों।

उपर्युक्त चारों व्यूह भूमि की बनावट के अनुसार भी रचे जाते थे[2]। समतल भूमि पर दण्ड व्यूह तथा मण्डल व्यूह, उबड़-खाबड़ भूमि पर भोग व्यूह तथा असंहत व्यूह की रचना की जाति थी।

---

१ अर्थशास्त्र १०।६।३-७।

२ दीक्षितार: वार इन ऐशियेन्ट इण्डिया, पृ० २६८।

(घ) युद्ध-संगीत (वाद्य यंत्र)

विजय-प्राप्ति हेतु अपनी सेना को सदैव उत्साहित रखने और शत्रु सेना को निरुत्साहित करने के लिए युद्ध क्षेत्र में वाद्य यंत्रों का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है, क्योंकि युद्ध काल में सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करना परमाश्यक होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विविध प्रकार के वाद्यों का आश्रय लिया जाना भी एक प्रमुख साधन समझा जाता है। इन वाद्यों की वीर ध्वनि से उत्साहित एवं उत्तेजित होकर सैनिक अपने स्वामी एवं अपने राज्य की रक्षा हेतु अपने प्राणों पर सहर्ष खेल जाता है। रामायण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। रामायण में युद्ध सम्बन्धी कई ऐसे वर्णन हैं जिनमें सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करने के लिए विविध प्रकार के वाद्यों का उपयोग किया गया था। तत्कालीन समय के युद्धों में वाद्ययंत्र युद्ध का पाँचवाँ प्रमुख अंग माना जाता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रामायण युग में युद्ध स्थल पर योद्धाओं द्वारा अपने सैनिकों में उत्साह, आशा एवं प्रेरणा का संचार भरने तथा शत्रुओं के मन में आतंक जमाने के लिए शंखनाद किये जाने की व्यापक परम्परा थी। तत्कालीन 'युद्ध संगीत' को 'युद्ध गन्धर्वम्' कहते थे (६।५२।२५)। युद्ध एवं शान्ति दोनों कालो में सेनायें गाने, बाजे के साथ कूच करती थी (३।८१।२)। भेदी-वाहन सैनिकों के लिए रण-निमत्रंण का सूचक था—

शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन मे।
समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं च न कारणम् ।। यु. का. ३२।४३

तुम सब लोग शीघ्र ही डंडे से पीट-पीट कर धौंसा बजाते हुए समस्त सैनिकों को एकत्र करो; परन्तु उन्हें इसका कारण नहीं बताना चाहिए।

तब दूतों ने 'तथास्तु' कहकर रावण की आज्ञा स्वीकार की और उसी समय सहसा विशाल सेना को एकत्र कर दिया; फिर युद्ध की अभिलाषा रखने वाले अपने स्वामी को यह सूचना दी कि 'सारी सेना आ गयी (६।३२।४४)। रामायण युगीन युद्धों में-दुन्दुभि, शंख, भेरी, तुरही, मृदंग आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता था, जिसका विवरण इस प्रकार है—

दुन्दुभि

तत्कालीन समय में दुन्दुभि नाम के वाद्य का विशेष महत्व था। उसकी महिमा का जो यत्र-तत्र वर्णन रामायण में उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता कि दुन्दुभि युद्ध का प्रमुख वाद्य था। ऋग्वेद में दुन्दुभि की महिमा का वर्णन कुछ इस प्रकार अति रोचक है—हे दुन्दुभि! तू अपनी ध्वनि से पृथ्वी और गुलोक को भर दे, जिससे लोक तेरी महिमा स्वीकार कर ले। इन्द्र तथा अन्य देवों द्वारा सेवित हे दुन्दुभि! तू दूर से, अति दूर से शत्रुओं को भगा दे। दुन्दुभि! तू इन्द्र की मुष्टि है। हमें बल और ओज की प्राप्ति करा[1]। एक अन्य प्रसंग में उल्लेख है कि—हे इन्द्र! शत्रु सेना को भली प्रकार खदेड दीजिये और विजयध्वजयुक्त अपने इन सैनिकों को लौटा लीजिए। दुन्दुभि घोर गर्जन कर रही है। हमारे रथारोही योद्धा निर्भय एवं निर्विघ्न होकर रणभूमि में स्वच्छन्द विचर रहे हैं। हे इन्द्र! हमारे रथारोही वीर योद्धा विजय प्राप्त करें[2]। एक अन्य प्रसंग में ओखली की ध्वनि की समता दुन्दुभि-ध्वनि से करते हुए इस प्रकार वर्णन किया गया है[3]—हे ओखली! यद्यपि तुझसे घर-घर काम लिया जाता है, तो भी इस यज्ञ में विजयी वीरों

---

१ ऋग्वेद २६।४७।६।
२ ऋग्वेद ३०।४७।६।
३ ऋग्वेद ५।२८।१।

की दुन्दुभि ध्वनि के समान तू ध्वनि करती है। ऋग्वेद के तीनों प्रसंग दुन्दुभि वाद्य के महत्व को वास्तव में प्रमाणित करते हैं।

दुन्दुभि एक प्रकार का नगाड़ा होता था, जो सम्भवतः आधुनिक नगाड़े का पूर्व रूप रहा होगा। प्राचीनतम दुन्दुभि के विषय में विद्वानों का मत है कि पृथ्वी में गड्ढा खोदकर उसके मुख पर चर्म मढ़ दिया जाता था और फिर उसे डण्डे से पीटकर ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। किन्तु, समय के साथ-साथ दुन्दुभि के आकार-प्रकार एवं स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। कुछ समय के उपरान्त गड्ढे का स्थान मिट्टी अथवा धातु के पात्र ने ग्रहण कर लिया और उस पात्र के मुख पर चर्म चढ़ा कर दुन्दुभि को नयारूप दिया गया। तब से एक विशेष स्थान मात्र पर ही वह स्थाई न रही अपितु वादक की इच्छानुसार प्रत्येक स्थान पर पहुँचने योग्य हो गई। युद्ध के अवसर पर सैनिकों को उत्साहित करने के लिए जो व्यक्ति दुन्दुभि बजाते थे और बजाने की कला में कुशल होते थे, उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया जाता था।

दुन्दुभि वाद्य का प्रयोग तत्कालीन युद्धों में किया जाता था। रण-भूमि में विजय-घोष करने के निमित्ति दुन्दुभि बड़े चाव और घनघोर गर्जन के साथ बजाई जाती थी, इस तथ्य की पुष्टि के भी प्रमाण संकेत रूप में रामायण में प्राप्त हैं। इस विषय के एक प्रसंग में इस प्रकार वर्णन है—

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः पर्जन्यनिनादोयमः।
वादित्राणां च निनदः पूरयन्निव मेदिनीम्॥ यु. का. ५७।२८

रावण सेनापति प्रहस्त के निकलते ही मेघ की गम्भीर गर्जना के समान नगाड़े (दुन्दुभि) बजने लगे और अन्य रण वाद्यों का निनाद भी पृथ्वी को परिपूर्ण करता-सा प्रतीत होने लगा।

एक अन्य प्रसंग में वर्णन किया गया है कि महाबली कुम्भकर्ण भाई को हृदय से लगाकर उसकी परिक्रमा करके उस वीर ने उसे मस्तक झुका कर प्रणाम कर, मंगल सूचक आशीर्वादों को को लेकर रण क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया, तब यात्रा के समय सुसज्जित सेनाओं में उत्साह-संचार हेतु लंकेश ने दुन्दुभि, शंख इत्यादि वाद्यों को बजाने का आदेश किया था (शङ्ख दुन्दुभिनिर्घोषैः सैन्यश्चापि वरायुधैः ६।६५।३३)।

दुन्दुभि-प्रयोग की पुष्टि कम्बरामायण भी करता है। सैन्य शिविरों में सेना का आवाहन करने के लिए हाथियों पर नगाड़े (दुन्दुभि) रखकर बजाये जाते थे[१]। इसी प्रकार युद्धारम्भ भी नगाड़ों से ही होता था[२]। युद्ध जय की सूचना भी नगाड़ा बजा कर दी जाती थी[३]। दुन्दुभि बजाने की कला में कुशल व्यक्तियों के लिए सम्मान प्रदर्शन होना चाहिए, इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद में स्पष्ट शब्दों में की गई है[४]।

शंख—

शंख भी रामायण काल का लोकप्रिय वाद्य बतलाया गया है। अनेक रामायण के प्रसंगों से ज्ञात होता है कि कूच करने, शत्रु को भयभीत एवं निरुत्साहित करने और अपने सैनिकों को प्रोत्साहित एवं उत्साहित करने के लिए शंख का भरपूर उपयोग किया जाता था। यजुर्वेद

---

१ कम्बरामायण ३।६।२३
२ कं० रा० ६।१४।१
३ कं० रा० ६।२२।१
४ यजुर्वेद ३५।१६

(१९।३०) के एक मंत्र में संकेत किया गया है कि शत्रु को भयभीत करने के लिए शंख बजाने वाले पुरुष के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए। अथर्ववेद[1] में शंख की उत्पत्ति समुद्र से और उसकी ध्वनि की उत्पत्ति वायु से हुई, बताई गयी है। एक दूसरे प्रसंग में इस ओर संकेत किया गया है कि युद्ध के अवसर पर योद्धा गण अपने रथों में शंख रखते थे। कुछ योद्धा अपने तूणीर के पास पीठ पर शंख भी लटकाये रखते थे। योद्धाओं की आयु, उनके तेज, बल और उनके लिए सौ वर्ष लम्बी आयु की प्राप्ति व शुभ कामना हेतु सेनानायक के शरीर पर पुरोहित द्वारा शंख बाँधा जाता था।[2] इन प्रसंगों से यह ज्ञात होता है आर्य जनता में शंख नाम के वाद्य का बड़ा महत्त्व था।

रामायण के अध्ययन से यह पता चलता है कि तत्कालीन युद्धों में शंखध्वनि की जाती थी और विजय के उपरान्त विशेषरूप में शंखनाद किया जाता था।

जब राम की सेना ने लंका को घेर लिया तब लंकेश रावण दुर्ग को घिरा हुआ सुन बहुत ही क्रुद्ध हुआ और उसने अपनी समस्त सेना को युद्धार्थ सन्नद्ध हो जाने की आज्ञा प्रदान की। आदेश सुनते ही राक्षस सैनिकों ने सहसा बड़ी भयानक गर्जना की और नगाड़ों को चन्द्रमा के समान उज्जवल चोबों से बजाया। साथ ही भयानक सैनिकों के मुख की वायु से पूरित हो लाखों गम्भीर घोष वाले शंख बजने लगे—

विनेदुश्च महाघोषाः शङ्खा शतसहस्रशः।
राक्षसानां सुघोराणां मुखमारुतपूरिताः।। यु. का. ४२।३५

मेघनाद के बाणों से घायल राम और लक्ष्मण को गरुड़ के उपचार से नीरोग हुआ देख वानर-यूथपतियों ने अपनी निरुत्साहित सेना को पुनः शंखनाद से उत्साहित किया था—

ततो भेरीः समाजघ्नुर्मृदङ्गश्चाप्यवादयन्।
दध्युः शङ्खान् सम्प्रहृष्टाः क्ष्वेलन्त्यपि यथापुरम्।। यु. का. ५०/६२

अर्थात् फिर तो वानरों ने डंके पीटे, मृदंग बजाये, शंखनाद किये और हर्षोल्लास से भर कर पहले की भाँति वे गर्जने और ताल ठोंकने लगे।

जिस समय सेनापति प्रहस्त ने युद्ध क्षेत्र के लिए सेना सहित प्रस्थान किया, उस समय शंखों की तीव्र ध्वनि से पूरा वातावरण गूँज उठा था (६।५७।३०)। युद्ध में प्रहस्त का मारा जाना सुन क्रुद्ध होकर राम की सेना को मौत के घाट उतारने के लिए स्वरूपतः दीप्तमान इन्द्र के शत्रु रावण ने, उत्तम घोड़ों से युक्त तथा अग्नि के समान चमचमाते रथ पर सवार होकर जब रण क्षेत्र के कूच किया तब शंखों की ध्वनि से सम्पूर्ण सेना उत्तेजित हो उठी (६.५९।८)। लंकापुरी को जीतने के लिए सर्वोच्च सेना-अधिनायक राम ने शंख और तुरही बजवाते हुए चढ़ाई की थी (६।३५।१)।

उपर्युक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है तत्कालीन युद्धों में शंख वाद्य का प्रयोग दीर्घ पैमाने पर सैनिकों को उत्साहित करने लिए होता था।

उपर्युक्त दो महत्वपूर्ण वाद्यों के अतिरिक्त रामायणयुगीन युद्धों में तथा अभियान के अवसर पर मृदंग, भेरी जय घण्टा, ताल इत्यादि वाद्यों का भरपूर उपयोग किया जाता था। वानरी सेना ने स्वयं लंकापर चढ़ाई करने से पूर्व लंका में भेरी,मृदंगों आदि के मिश्रित भयंकर

---

१ अथर्ववेद ४।१०।६
१ अथर्ववेद ४।१०।४; ६।१०।४।

रोमांचकारी ध्वनि को सुना था (६।२४।३)। वज्रदंष्ट्र और वानरों की घमासान लड़ाई में शंख, भेरी, और मृदंगों के बजने से दशों दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं (६।५३।२२)।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में युद्धस्थल पर योद्धाओं द्वारा अपने सैनिकों में उत्साह, आशा एवं प्रेरणा तथा नवीन चेतना का संचार करने और शत्रु सेना को निरुत्साहित कर विजय प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन वाद्य यंत्र था।

(ङ) युद्ध-ध्वज

मानव-जाति जिस समय अनेक गिरोहों में विभक्त हुई, सम्भवतः उसी समय गिरोह विशेष के चिह्न स्वरूप ध्वज का आविर्भाव हुआ। एक गिरोह जब अन्य गिरोहों पर अपना अधिकार जमाने और उनसे अपनी रक्षा की बात सोचने लगा, तो उसी समय उसे एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसकी छाया में वह अपने दल के साथ चल सके। बस यही वस्तु ध्वज बनी। असभ्य जातियों में आज भी प्रत्येक दल का अपना-अपना ध्वज है।

'ध्वजा' का शाब्दिक अर्थ हैं फहराने वाला। अर्थात् जो फहराता है, वह ध्वजा है। ध्वज की भावना को प्रवुद्ध करने में समाज की युद्ध-प्रवृति एवं सुरक्षा की भावना का प्रमुख हाथ है। युद्ध करने अथवा कूच करते समय यह आत्मिक शाक्ति को प्रेरित कर मानव को उत्साहित करता है। प्रत्येक युद्ध में जहाँ अनुशासन आदि की आवश्यरता घेती हैं, ध्वज''परभावश्क होता है। ध्वज में विचार ही नहीं सेना शिविर तथा राज्य आदि का भी पता चलता है। शान्तिकाल में ध्वज के नीचे दल-विशेष के कल्याण पर विचार किया जाता है। अतएव स्पष्ट है कि मानव-समाज के विकास के साथ-साथ ध्वज का विकास हुआ।

यदि विचार करके देखा जाय, तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि युद्ध-ध्वज युद्ध का आन्तिम प्रमुख अंग है। मानव-मस्तिष्क में ध्वज की भावना को जागृत करने का पूर्ण श्रेय रक्षा करने वाली मनोवृति को है जिसे अंग्रेजी में ऐग्रैसिव इनस्टिक्ट' कहा जाता है। ध्वज युद्ध एवं शान्ति दोनों का सूचक है। प्रत्येक युद्ध में अपने ध्वज का स्वरूप सर्वत्र अनिवार्य है। ध्वज को युद्ध के प्रमुख अंग के रूप में अधुनापर्यन्त ग्रहण किया गया है। यह अंग कभी भी खण्डित होकर नहीं रह सकता।

युद्ध काल में सेनानायक अपना पृथक-पृथक ध्वज रखते थे। ऋग्वेद में भी इस तथ्य की ओर संकेत है। आर्यों के राजा इन्द्र का अपना ध्वज था, जिसे वह युद्ध में फहराया करता था[१]। यजुर्वेद में ऋग्वेद के एक मंत्र की पुनरावृत्ति कर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है[२]। यह भी सम्भव है, इन ध्वजों पर राजाओं, सेनाओं, सेनानायकों आदि के पूर्वनिर्धारित अपने-अपने चिह्न अंकित रहते होगें जिससे वे सरलता पूर्वक पहचाने जा सके। भारतीय इतिहास का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से माना जाता है। उस काल के आदि भारतीयों की प्रायः आर्योत्तर जातियों से लड़ना पड़ता था। अतएव ध्वज का प्रचलन इतना अधिक था कि केतु शब्द रूपक और विशेषता के रूप में प्रयुक्त होने लगा। अग्नि के लिए 'धूमकेतु' शब्द का प्रचलन कम न था। आर्यों के हर 'धार्मिक' कृत्य में सर्वप्रथम अग्नि की पूजा का विधान है। अतः वैदिक ध्वज धूमकेतु ही रहा होगा।

युद्ध के अवसर पर प्रमुख सेना नायकों द्वारा अपना-अपना पृथक ध्वज रखने का यह प्रच-

---

१ ऋग्वेद २।८३।७

२ यजुर्वेद ४३।१७

लन भारत में निरन्तर बना रहा। रामायण में इह तथ्य की पुष्टि-हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। राम और रावण-सेनाओं के विविध सेनानायकों के पृथक-पृथक ध्वजों का उल्लेख है। सेनापति प्रहस्त ने जब रण क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया तो उसके सजे हुए दिव्य रथ पर सर्पाकार या सर्पचिह्नित ध्वज फहरा रहा था (उरगध्वज दुर्धर्षं सुवरूथं स्वपस्करम् ६।५७।२६)। अर्थात् सर्पचिह्नित ध्वज के कारण वह दुर्धर्ष प्रतीत होता था। इन्द्रशत्रु अतिकाय ने जब राम के साथ युद्ध करने के लिए कूच किया, तो उसके रथ के ऊपर ध्वजा फहरा रही थी, जिसमें राहु का चिह्न अंकित था (६।१७।१७)। विशिष्ट वीरों की विशिष्ट चिन्हों वाली ध्वजाएँ होती थीं। रावण की ध्वजा वीणाङ्कित[1], कुम्भकर्ण की सिंहाङ्कित[2] एवं इन्द्रजित की पिशाचाङ्कित थी[3]। सैनिक शिविर में अपना आवास भूले भट के सैनिक भेरी और शंख के नाद को सुनकर तथा ध्वजाओं को देख-कर अपने आवास को पहचान लेते थे[4]।

ध्वजा से ही रण क्षेत्र में पहचान अपेक्षित थी। इसकी पुष्टि हमें महाभारत से भी होती है। युद्ध-भूमि में कृष्ण और अर्जुन की पहचान गरुड़ध्वज और कपिध्वज से हो जाती थी। सम्भवतः इसीलिए कृष्ण स्वयं गरुड़ध्वज और अर्जुन कपिध्वज कह जाते थे। जयद्रथ के ध्वज में वराह का चित्र था। इसी प्रकार महाभारत में अन्य सेना नायकों के ध्वज भी पृथक-पृथक विशेष चिन्हों से अंकित वर्णित हैं। गुप्त शिलालेख के प्रयाग-स्तम्भ में गरुड़ध्वज, मंदसौर के प्रस्तर लेखों में ध्वजों के लहराने और आदित्यसेन-कालीन शिलालेख में रेशमी ध्वजों विवरण है। कवि कल्हण ने राज तरंगिणी' में ध्वजों का अच्छा विवरण दिया है। ये झंडे प्रासादों में फहराये जाते तथा युद्ध, शिविर, रण यात्रा और अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर इनका व्यवहार आवश्यक माना जाता था। युद्ध ध्वज की एक अनिवार्यता का उदाहरण वाल्मीकि ने इस प्रकार दिया है—

पताकाभिश्च चित्राभिः सुमनोभिश्च चित्रिताम्।
उत्क्षिप्य शिबिकां तां तु विभीषणपुरोगमाः ॥ यु का. १११।१०६

अर्थात् उस शिविका को विचित्र पताकाओं तथा फूलों से सजाया गया था। जिससे वह विचित्र शोभा धारण करती थी। विभीषण आदि राक्षस उसे कंधे पर उठाकर चल रहे थे। सेना में युद्ध-ध्वज के प्रयोग की एक और अनिवार्यता का उदाहरण देखिये—

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम्।
निर्जगाम जनस्थानात्महादं महाजवम् ॥ ३।२२।१७

अर्थात् कूच करने की आज्ञा प्राप्त होते ही भयंकर ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजा से युक्त वह विशाल राक्षस सेना जोर-जोर से गर्जना करती हुई जनस्थान से बड़े वेग के साथ निकली।

ध्वजों के विभिन्न भेद और विभिन्न रंग मिलते हैं। रंगों में प्राचीन कालीन युद्धों में रक्त, श्वेत, अरुण, पीत, चित्र, नील, कुर्बर तथा कृष्ण को लिया गया है। युद्ध क्षेत्र में अवसरानुकूल प्राचीन भारत में आठ प्रकार के ध्वजों का प्रयोग होता था—जय, विजय, भीम, चपल, वैज-यन्तिक, दीर्घ, विशाल और लोल। कुछ विशिष्ट प्राचीन भारती ध्वजों के नाम अधोलिखित हैं—

---

१ कम्बरामायण ३।८।१०७; १६७; ६।१४।१०१
२ ,, ६।१५।११०
३ ,, ६।१८।१२१
४ ,, १।१४।१५
५ महाभारत द्रोणपर्व ४।८५; २६।७; ३।४३

धूमकेतुध्वज, सिंहत्यांगूलध्वज, सीरध्वज, सिंहलांगूलयुक्तवानरध्वज, इन्द्र ध्वज, तालध्वज, धूम्रध्वज, सीता-ध्वज, वराहध्वज, कलशध्वज, सिंहध्वज, वृषध्वज, रक्षः पतिध्वज, इत्यादि[1]।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ध्वज की बनावट, रूप रेखा तथा रंग कैसा भी क्यों न हो, वे एक विशिष्ट उद्देश्य के द्योतक तथा उसकी पूर्ति करते थे। इन ध्वजों का उद्देश्य राष्ट्र, जाति और सम्प्रदाय में सामूहिक शक्ति एवं एकता की भावना का प्रसार करना था। वस्तुतः ध्वज संघशक्ति, राज्य और नेतृत्व का प्रतीक रहा है। ध्वज में नेतृत्व और अनुशासन निहित होता है। ये राष्ट्र और जाति को अतीत का स्मरण कराते, मनुष्यों में प्राणों का संचार करते और कर्त्तव्य-पथ का बोध कराते हैं। वस्तुतः रामायण-कालीन भारत का सर्वस्व ध्वज ही माना जाता था। ध्वज में ही राष्ट्र, राज्य, सम्पत्ति, धर्म और जीवन सभी का समावेश था। ध्वज के उत्थान में राष्ट्र का उत्थान और पतन में राष्ट्र का पतन माना जाता था।

————

१ प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, पृ० ८।

अध्याय—५

रामायण के पात्रों का सेनानी एवं सैनिक रूप।

रामायण के पात्रों का सेनानी तथा सैनिक रूप

(क) राम-कक्ष

(१) राम—यों तो राम-रावण युद्ध के पूर्व भी राम को कई लड़ाइयों का सेनानायकत्व सम्भालना पड़ा है, तथापि राम-रावण युद्ध में राम पूर्णतया एक योग्य सेनापति तथा अद्वितीय योद्धा के रूप में उभर कर आये हैं। आरम्भ में समुद्र देख कर राम का उत्साह मन्द हो जाता है। दुस्तर 'महाम्भस' की वेगवती लहरें राम को शंकित-हृदय बना देती हैं—

कथं नाम समुद्रस्य दुष्पारस्य महाम्भसः।
हरयो दक्षिणां पारं गमिष्यन्ति समाहिताः॥ युद्धकाण्ड। १।१८

अर्थात् बड़ी कठिनाई से पार होने योग्य महासागर के दक्षिण तट पर, ये वानरगण क्यों कर जा सकेंगे।

किन्तु बाद में सुग्रीव द्वारा प्रबोधित होकर उनमें उत्साह एवं स्वाभिमान का संचार हो जाता है और वे कह उठते हैं—"सर्वथा सुसमर्थोऽस्मि सागरस्यास्य लङ्घने" ३/२ अर्थात् मैं तो हर प्रकार से समुद्र के पार जाने में समर्थ हूँ।

जब व्यक्ति रण के लिए कृतप्रतिज्ञ हो जाये, तो सर्वप्रथम यह आवश्यक होता है कि अपने प्रतिपक्षी के बलाबल का, उसकी रक्षा व्यवस्था का तथा उसकी नगरी की स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। राम के हृदय में भी यह जिज्ञासा उठी है और हनुमान् से वे पूछ उठे हैं—

कति दुर्गाणी दुर्गाया लङ्काया ब्रूहि तानि मे।
ज्ञातुमिच्छामि तत्सर्वं दर्शनादिव वानर॥ युद्धकाण्ड। ३।३

हनुमान् से पूरी जानकारी प्राप्त कर ही राम ने सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी है। कुशल सेनानायक सदैव अपने पक्ष की सुरक्षा के लिए सर्तक रहता है। उसकी छोटी से छोटी भूल बड़ी से बड़ी आपदा का बीज बन सकती है। इसीलिए राम ने आरम्भ में ही अपनी सेना को चेतावनी दे दी है कि वे सावधान रहें। कहीं दुष्ट राक्षसों ने रास्ते के जलाशयों आदि को विष युक्त न बना दिया हो (४।१२)। कहीं गढ़ों में, गिरि दुर्गों में और वनों में शत्रु-सेना घात तो लगाये नहीं बैठी है।

इसी प्रकार युद्धविशारद राम ने सेना के चयन तथा संगठन में पर्याप्त सावधानी बरती है। 'वाजिवारणसम्पूर्णा' परम दुर्जया' लंका पर आक्रमण करना कोई सरल काम नहीं है। इसलिए राम ने अपनी सेना के चुनाव के समय बालक, वृद्ध और दुर्बल योद्धाओं को अलग हटा दिया है। स्वयं राम हनुमान् के कन्धे पर, लक्ष्मण अङ्गद पर सवार हुए हैं। ऋक्षराज जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शी सेना के पिछले भाग की रक्षा में नियुक्त हुए हैं तो गवय, गवाक्षादि सेना के अगले भाग की रक्षा में।

व्यूह-रचना में राम ने पर्याप्त सावधानी बरती है। उन्होंने अपनी सेना को गरुण व्यूह में रखा है। गरुण-व्यूह आगे तथा पीछे के भागों में पतली तथा बीच में अधिक फैली हुई सेना की

रचना है। (मनुस्मृति ७।) इस व्यूह के वक्षस्थल पर नीलसहित अंगद, दाहिनी ओर कपिश्रेष्ठ ऋषभ, बाईं ओर गन्धमादन जंघा भाग पर सुग्रीव, कुक्षिस्थान पर जाम्बवान् तथा सुषेणा एवं शिरोभाग पर स्वयं अपने तथा लक्ष्मण के रहने की व्यवस्था की है।

समुद्र लंघन के पूर्व हनुमान् ने राम से लंका के द्वारों का वर्णन किया था जिसके अनुसार लंका के उत्तर द्वार पर एक अरब, पश्चिम द्वार पर दस लाख दक्षिण द्वार पर एक लाख तथा पूर्व द्वार पर दस हजार राक्षसों की सेना रहती है। विभीषण से रावण की नगर-व्यवस्था का वृत्तान्त जान कर राम ने महत्ता की दृष्टि से उन द्वारों पर अपने सैन्य प्रमुखों को नियुक्त किया। लंका का उत्तर द्वार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ऐसा वहाँ नियुक्त एक अरब राक्षस सेना तथा स्वयं रावण की उपस्थिति सूचित करती है। अतएव लंका के उत्तर द्वार को लक्ष्मण सहित राम ने स्वयं सम्भालने का निर्णय किया। महत्ता की दृष्टि से द्वितीय स्थान पर लंका का पश्चिम द्वार है जिसकी रक्षा का भार महान् शक्तिशाली मेघनाद पर था। इस द्वार पर राम ने हनुमान् की नियुक्ति की है। दक्षिण द्वार पर महापार्श्व और महोदर के साथ युद्ध करने हेतु अंगद तथा पूर्व द्वार पर प्रहस्त के लिए नील की नियुक्ति सम्पन्न हुई है। सेना के परिचालन का भार वानरेन्द्र सुग्रीव ऋक्षराज जाम्ववान् तथा विभीषण पर राम ने सौंपा है। कहना न होगा कि कार्य का यह वितरण सर्वथा सुसंगत है।

युद्धारम्भ के पूर्व अपनी सेना-को उचित निर्देशादि दे देना आवश्यक होता है। ये निर्देश सेना-विशेष तथा परिस्थिति-विशेष में अलग-अलग हुआ करते हैं। राम की सेना में वानर, रीछ, राक्षस (विभीषण तथा उसके चार मंत्री) तथा मनुष्य (राम-लक्ष्मण) सभी थे। इससे युद्ध-भूमि में कठिनाई उपस्थित हो सकती थी। अतएव राम ने अपनी बुद्धिमत्ता से सेना का एक प्रतीक बनाया—वानर वेष। पूरी सेना वानर के रूप में लड़े, केवल सात व्यक्ति (राम-लक्ष्मण, विभीषण तथा उनके चार मंत्री) मनुष्य के रूप में रहें।

> वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान्।
> अहमेष सह भ्राता लक्ष्मणेन महौजसा॥ ६।३७।३५
> आत्मना पञ्चमश्चायं सखा मंम विभीषणः।
> स रामः कृत्यसिद्ध्यर्थमेवयुक्त्वा विभीषणम्॥ ६।३७।३६

यद्यपि सेना में राम का स्थान निरतिशयरूपेण सर्व प्रमुख है, तथापि, राम बिना सबकी सलाह लिये कोई निर्णय नहीं लेते। जब-जब ऐसे स्थल आये हैं, राम ने सबसे राय मांगी है, भले बाद में अपना विचार बता कर, उन्हें हिताहित समझा कर अपने ही मन का किया हो। विभीषण को अपनी शरण में लेने के विषय पर राम ने सबकी सम्मति माँगी है। सुग्रीव, अंगद, हनुमान्, जाम्बवान् आदि सबकी राय जानने के बाद भलीभाँति समझा कर उन्हें शरण में लेने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार जब विभीषण ने समुद्र की शरण में जाने की इच्छा प्रकट की, तो यह सलाह उन्हें रुचिकर प्रतीत हुई, किन्तु लक्ष्मण और सुग्रीव से भी उन्होंने राय ली। यह सेनानायक का प्रशंसनीय गुण है अथवा नेतृत्व की कुशलता का परिचायक है।

राम धर्मयुद्ध के सेनानी हैं। प्रतिपक्षी रावण के कपटी होने के बावजूद वे धोखे से युद्ध करना नहीं जानते। आक्रमण करने की सारी तैयारी पूर्ण जाने के बाद भी वे तब तक युद्ध आरम्भ की घोषणा नहीं करते, जब तक कि अंगद द्वारा इसकी सूचना नहीं भिजवा देते, क्योंकि युद्धारम्भ के पूर्व दूत द्वारा शत्रु को युद्ध के लिए आमन्त्रित करना राजधर्म है।

साधारणतः अपने प्रतिपक्षी के सारथी, रथ, घोड़ों आदि को मार डालने के बाद कोई भी योद्धा उसकी असमर्थता का फायदा उठा कर उसकी इहलीला समाप्त कर सकता है, किन्तु, राम

धर्म युद्ध के इतने पक्के अनुयायी हैं कि रावण के सारथी, रथ, घोड़ों के नष्ट हो जाने पर उसे अपने तीर का लक्ष्य नहीं बनाते, अपितु, उसे वापस लौटकर थकान दूर करने के पश्चात् नया रथ तथा अस्त्र-शस्त्र लाने का आदेश देते हैं—

गच्छानुजानामि रणार्दितस्त्वं प्रविश्य रात्रिचरणजलङ्काम्।
आश्वास्य निर्याहि रथी च धन्वी तदा बलं द्रक्ष्यसि में रथस्थः ।। ६।५६।१४३

इसी प्रकार जब रावण घबड़ाहट के कारण न तो कोई शस्त्र ही चला सकता था, न धनुष तान कर बाण ही छोड़ सकता था, तब भी राम ने उसके वध के लिए अपना पराक्रम नहीं प्रकट किया—

यदा च शस्त्रं नारेभे न व्यकर्षच्छरासनम्।
नास्य प्रत्यकरोद्वीर्यं विक्रवेनान्तरात्मना ।।

मेघनाद से युद्ध करते समय राम के सम्मुख भयावह परिस्थिति आ गई थी। कपट का आश्रय लिये हुए अदृश्य मेघनाद ने पूरी सेना को अस्त-व्यस्त कर डाला। स्वयं राम-लक्ष्मण के अंग-प्रत्यंग तीर से बिंधे एवं रक्त से लथपथ हो गये। कुपित हो लक्ष्मण ने ब्रह्मास्त्र छोड़ने का निर्णय किया, किन्तु, राम ने उन्हें इससे विरत किया, क्योंकि वह अस्त्र कई लोगों के प्राण ले लेता, जबकि उनमें से कितने डर से छिपे हुए थे, कुछ केवल खड़े थे। अतः राम का विचार था कि—

नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि ।। ६।८०।३८
×× ×× ×× ××
अयुध्यमानं प्रच्छन्न प्राञ्जलिं शरणागतम्।
पलायन्तं प्रमत्तं वा नत्वं हन्तुमिहार्हसि ।। ६।८०।३९

अर्थात् अपने साथ न लड़ने वाले, युद्ध के डर से छिपे हुए, हाथ जोड़ शरण में आये हुए, रण छोड कर भागे हुए अथवा उन्मत्त को मारना उचित नहीं है।

राम ने केवल युद्ध ही की ओर नहीं, अपितु, अपनी सेना के वानरो, रीछों आदि की ओर भी पर्याप्त ध्यान देकर उन्हें अपना महत्वपूर्ण संरक्षण सौंपा है। युद्ध समाप्त होने के बाद उन्होंने स्वयं घूम-घूम कर ओषधोपचार से सबकी व्यथा दूर की है।

इस प्रकार वाल्मीकि के राम सेनानी रूप में नितान्त सफल हैं, जो एक ओर परम दुर्जेय रावण को भी भूमिशायी बनाने की शक्ति रखते हैं और दूसरी ओर अपनी सेना का कुशलता से संचालन भी करते हैं।

लक्ष्मण

लक्ष्मण एक महान् पराक्रमी, शौर्य सम्पन्न योद्धा के रूप में राम-रावण-युद्ध में उभरे हैं। वैसे तो राम के साथ लंका-युद्ध से पूर्व अन्य लड़ाइयों मे लक्ष्मण ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका एक सफल योद्धा के रूप में अदा की है, जो सराहनीय है। वास्तव में लक्ष्मण ने अपने अस्तित्व को राम के अस्तित्व में इस प्रकार विलीन कर दिया है कि वे राम की केवल छाया मात्र रह गये हैं, जिसका उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। संक्षेप में हम तो यही कह सकते हैं कि लक्ष्मण राम के पूरक हैं। राम के चरित्र-चित्रण में हमने देखा है कि राम 'अनन्त शक्ति' सौन्दर्य और शील के प्रतीक है, किन्तु लक्ष्मण में यदा-कदा शील की कमी खटकने लगती है। मात्र इसलिए कि लक्ष्मण के अन्दर क्षत्रियत्व था। लक्ष्मण ने कभी अन्याय सहना नहीं जाना, यदि कहीं किसी अन्याय के अवसर पर लक्ष्मण शान्त दिखाई देते हैं तो वह अपने भ्राता राम के भय के कारण।

समुद्र तट पर सैन्य पड़ाव डालने के बाद राम युद्ध-विषयक चिन्ता और सीता के शोक में अधीर हो जाते हैं (एवं विलपतस्तस्य तब रामस्य धीमतः, ६।५।२२)। तब लक्ष्मण उन्हें धैर्य धारण कराते हैं—

आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत ।
स्मरन् कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुलीकृतः ।। ६।५।२३ ।

लक्ष्मण एक कुशल योद्धा के रूप में तब उभरते हैं, जब रावण नीलादि को मूर्च्छित कर युद्ध की कामना से लक्ष्मण की ओर बढ़ता है और अपने अपार बल से वानरी सेना को धनुष के टंङ्कोर से कम्पायमान करने लगता है। तब उसे देख प्रबल प्रतापी लक्ष्मण बोलते हैं—"हे राक्षसेन्द्र ! मेरे पास आओ और मुझे लड़ो, क्योंकि तुम उन वानरों से लड़ने योग्य नहीं हो। मैं तुम्हारे वीर्य, बल, प्रताप और पराक्रम से भलीभाँति परिचित हूँ। मैं तेरे लिए धनुष तान बाण लिए, तेरे पास ही खड़ा हूँ। मुझसे लड़ो। व्यर्थ की बकवास करने से लाभ ही क्या है ?" लक्ष्मण के वचन से क्रुद्ध होकर सेनापति रावण सात बाणों की बौछार दनादन लक्ष्मण के ऊपर करता है, लेकिन लक्ष्मण तुरन्त ही अपने बाणों द्वारा रावण के बाणों को मार्ग में ही काट गिराते हैं (६।५६।१००)। लक्ष्मण के पराक्रम को देख कर लंकेश और क्रुद्ध हो जाता है और लक्ष्मण पर बाण-वृष्टि करने लगता है, परन्तु, लक्ष्मण उन बाणों को काट, उसे बाण-वर्षा द्वार आतंकित कर देते हैं।

रावण अपने अमोघ बाणों को व्यर्थ जाते देख तथा लक्ष्मण की वीरता को देख बहुत ही चकित होता है और तब ब्रह्मप्रदत्त एवं प्रलयाग्नि तुल्य प्रचण्ड बाण लक्ष्मण के माथे को लक्ष्य बना मारत है, जिससे लक्ष्मण कुछ देर के लिए चाट से छटपटा जाते हैं, लेकिन पुनः सचेत होकर रावण का विशाल धनुष काट डालते हैं (पुनश्च संज्ञा प्रतिलभ्य कृच्छ्रात चिच्छेद चापं त्रिदशेन्द्रशत्रोः, ६।५६।१०५)। और लगातार तीन पैने बाणों को रावण पर छोड़ते हैं, जिनके आघात से रावण मूर्च्छित हो जाता है[1]—

जब कुम्भकर्ण वानरी सेना का संहार करने लगता है, तब लक्ष्मण पुनः क्रोधित होकर रण क्षेत्र में पहुँच कुम्भकर्ण के साथ युद्ध रत हो जाते हैं। लक्ष्मण द्वारा छोड़े गये बाणों को कुम्भकर्ण अपने शरीर से निकाल तोड़-तोड़ कर फेंकने लगता है। इस पर लक्ष्मण क्रुद्ध होकर कुम्भकर्ण के चमचमाते कवच को बाणों से मेघ की तरह ढक देते हैं--

नीलाज्जनचयप्रख्यैः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
आपीडचमानः शुशुभे मेघैः सूर्य इवांशुमान् ।। ६।६७।१०६

अर्थात् काजल के ढेर की तरह कुम्भकर्ण के काले शरीर में ऊपर से नीचे तक भिदे हुए सुवर्ण भूषित तीर वैसे ही शोभित जान पड़ते थे, जैसे बादलों से ढँका सूर्य।

लक्ष्मण के शौर्य को देख कुम्भकर्ण बोल उठता है—

अन्तकस्यापि क्रुद्धल्य भयदातारमाहवे ।
युध्यता मामभीतेन ख्यापिता वीरता त्वया ।। ६।६७।१०८

युद्ध में क्रुद्ध काल तक को भयभीत करने वाले मुझ निर्भीक के साथ युद्ध कर तुमने अपनी वीरता प्रसिद्ध कर दी। जब मैं आयुध हाथ में ले साक्षात काल की तरह समर भूमि में आता हूँ, तब मेरे सामने जो खड़ा भी रहे, वह भी प्रशंसा का पात्र है, मेरे साथ लड़ने वाले की तो बात ही क्या है ? इन्द्र भी आज तक कभी युद्ध में मेरे सामने खड़े नहीं रह सके (नैव शक्रोऽपि समरे

१ देखिये ६।५६।१०६

स्थिति पूर्वं कदाचन । ६।६७।११०) । पर हे लक्ष्मण ! तुमने बालक होने पर भी आज अपने बल एवं पराक्रम से (अद्य त्वयांऽह सौमित्रे बालेनापि पराक्रमैः, ६।६७।१११), मुझे सन्तुष्ट कर दिया है, तेरा पराक्रम, स्तुत्य है । अतः मैं तुम्हारी अनुमति लेकर राम के पास जाना चाहता हूँ ।

इसी तरह मेघनाद रण क्षेत्र में पहुँच वानरी सेना को त्रस्त कर अपने निकुम्भला यज्ञागार में पहुँच, कुशासन पर बैठ हवनादि में व्यस्त हो जाता है । विभीषण आते हैं और राम से कहते हैं कि—हे आर्य । मेघनाद के वध का उचित अवसर आ गया है । यह सुनते ही लक्ष्मण उछलकर खड़े हो जाते हैं और बोल उठते हैं—'तो आर्य, अब बिलम्ब मत कीजिए, अनुमति दीजिए ।

परन्तु राम मेघनाद की वीरता से शंकित हो बोल उठते हैं—"भाई जिसे देखकर देव-दैत्य सभी भयभीत होते हैं, जिसने देखते ही वानर-कटक से रक्षित हमें बात की बात में शरविद्ध कर कर दो-दो बार भूपतित किया, उसके सम्मुख तुम्हें कैसे जाने दूँ ? जिस विषधर के विष से देव-नर तुरन्त भस्म हो जाते हैं, कैसे मैं उसकी बांबी में तुम्हें अकेला जाने दूँ ! अरे सौमित्रि, सीता के उद्धार का अब कुछ प्रयोजन नहीं है । मैंने व्यर्थ ही समुद्र पर सेतु बांध शत्रु-मित्र के रक्त से पृथ्वी को रंगा । भाग्य-दोष से मैंने राज्यपाट, माता-पिता, बन्धु-बान्धव सभी को खोया । इस मेरे अन्धकारावृत जीवन में एक जनक-सुता सीता ही दीपशिखा थी, सो अदृष्ट ने उसे भी बुझा दिया । अब एक तुम्हीं मेरी आशा के आधार हो, तुम्हें मैं नहीं खो सकता । चलो लक्ष्मण, वन को लौट चलें ।"

आर्द्रनयन राम के वचन को सुनकर लक्ष्मण ने कहा—"हे आर्य भ्राता, ये कैसे वचन मैं आपके मुँह से सुन रहा हूँ । लंका का सौभाग्य-सूर्य डूब गया । लंका के जगज्जयी शुभटों के शवों को गिद्ध और शृंगाल खा रहे हैं । लाइए देवास्त्र मैं अभी इसी क्षण नराधम मेघनाद का हनन करता हूँ ।" विभीषण ने अब धीर स्वर में कहा—"राघव, लक्ष्मण वीर कहते हैं, मैं उनके साथ हूँ, आप चिन्ता न करें ।" तब राम अनुमति दे देते हैं ।

लक्ष्मण निकुम्भला यज्ञशाला पहुँच जाते हैं और उसे सावधान कर धनुष तान बाण छोड़ने लगते हैं । मेघनाद तब हवनादि छोड़ धनुष उठा लक्ष्मण पर बाणों की बौछार करने लगता है । लक्ष्मण अपने हाथ की सफाई प्रस्तुत करते हुए मेघनाद के विशाल धनुष को बाणों से चकनाचूर कर डालते हैं । मेघनाद दूसरा धनुष उठाता है, पर उसे भी काट, विषधर सर्प की तरह विषैले पाँच बाण मेघनाद के वक्ष को लक्ष्य बना छोड़ते हैं, जिससे मेघनाद का कवच टूट जाता है और उसके मुख से रक्त बह चलता है—

> निपेतुर्धरणी बाणा रक्ता इव महोरगाः ।
> स भिन्नवर्मा रुधिरं वमन् वक्त्रेण रावणिः ॥६।९१।२१

युद्ध-विद्या में निपुण दोनों विजय की अभिलाषा कर वे एक दूसरे को बाणों से घायल करने लगे । दोनों के बाण' आकाश में टकरा कर भूमि पर गिर पड़ते थे । तब लक्ष्मण ने भयङ्कर आसुरास्त्र का प्रयोग किया जिसे कोई रोक नहीं सकता, पर उसे भी मेघनाद ने निष्फल बना दिया । अन्त में लक्ष्मण लाचार हो ऐन्द्रास्त्र नामक उत्तम बाण का प्रयोग करते हैं, जिसने मेघनाद के सिर को काट गिराया—

> ऐन्द्रास्त्रेण समायोज्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
> सशिरः सशिरस्त्राण श्रीमज्ज्वलित कुण्डलम् ॥६।९१।७५
> प्रमथ्येन्द्रजितः कायात् पातयामास भूतले ।६।९१।७६

मेघनाद की मृत्यु के उपरान्त समस्त वानरी सेना को भस्म करने की कामना से रावण संग्राम-क्षेत्र में पहुँचता है और अपने अपार शौर्य से वानरी सेना में हाहाकार मचा देता है । इसे

देख क्रुद्ध होकर लक्ष्मण अपने विकराल शौर्य को प्रदर्शित करते हैं और तुरन्त ही रावण के सारथी का सिर काट गिराते हैं तथा रावण के समस्त बाणों को निष्फल बना देते हैं। इसी बीच विभीषण युद्ध में कूद पड़ते हैं। विभीषण के इस कार्य ने अग्नि में घी का काम किया, तब रावण क्रोधित होकर युद्ध भूमि में विभीषण पर शक्ति (बर्छी) का प्रयोग करता है। लक्ष्मण ने देखा और यह सोचकर कि विभीषण तो राम की शरण में आ चुका है, राजधर्मानुसार वह स्वयं आगे बढ़ जाते हैं और बर्छी की चोट को सहन कर मूर्छित हो जाते हैं। लक्ष्मण की यही मूर्च्छा थी जिसने धैर्य-शाली राम के धैर्य को भी हिला दिया था और जिसके लिए हनुमान् को हिमालय तक दौड़ लगानी पड़ी थी।

इस प्रकार दाशरथि लक्ष्मण योद्धा रूप में अवश्य ही सफल हैं, जो एक ओर मेघनाद, अतिराय जैसे वीरों को धराशायी बनाने की पूर्ण क्षमता रखते हैं तो दूसरी ओर सेनापति राम को उचित सलाह देते हुए धैर्य भी धारण कराते हैं।

(३) सुग्रीव

किष्किधा-नरेश सुग्रीव एक योग्य, वीर सेनापति हैं। सम्पूर्ण वानरवाहिनी का संगठन कोई आसान काम नहीं है। असंख्य वानरों का एकबद्ध होकर राम के लिए लड़ना सुग्रीव के सफल नायकत्व का ही फल है। सर्वप्रथम हतोत्साहित राम को इन्होंने ही उत्साह दिलाया है कि हे राम ! हम लोग 'महानृक्रसमाकुल' समुद्र को लाँघ कर लंका पर चढ़ जायेंगे और तुम्हारे शत्रु को मार डालेंगे।

पूरे युद्ध के दौरान सुग्रीव की वीरता के साथ-साथ उनकी बुद्धिमत्ता, अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य, साम, दाम, दण्ड आदि का प्रयोग आदि बातें दिखाई पड़ती हैं। जब राम की सेना ने कुम्भकर्ण आदि को मार डाला तब रावण का मनोबल ध्वस्त हो गया होगा, इस बात का अनुभव सुग्रीव ने किया और अवसर का फायदा उठाने के लिए रात में अपने सैनिकों को मशालें लेकर लंका में प्रवेश करने का आदेश दिया। कहना न होगा कि सुग्रीव की यह बड़ी भारी सूझ थी। सचमुच उस समय लंका में कोई भी युद्ध के लिए तैयार न था। बाद में राक्षसों के भी तैयार कर लेने पर सेना के मनोज्ञान को समझाने वाले सुग्रीव ने पहले ही धमकी भरा आदेश सुना दिया—

'तुममें से जो वानर जिस द्वार पर हो, वह उसी द्वार पर युद्ध करे। जो वानर मोर्चे पर रह कर मेरी इस आज्ञा के विरुद्ध कार्य करेगा, वह वानर राजाज्ञा की अवहेलना करने के अपराध में पकड़कर मार डाला जायेगा—

> आसन्नद्वारमासाद्य युध्यध्वं प्लवगर्षभाः।
> यश्च वो वितथं कुर्यात्तत्र यत्र ह्युपस्थितः ।।७५।४२
> स हन्तव्यो हि संप्लुत्य राजशासनदूषकः ।७५।४३

वस्तुतः सेनापति के रूप में सुग्रीव बहुत सफल हैं। कुशल सेनापति अपने सैनिकों की सबलता-दुर्बलता दोनों को भली-भाँति जानकर उसी के अनुसार शासन करता है। इसीलिये कभी स्नेह से और कभी (आवश्यकतानुसार) डाँट कर उन्हें युद्धार्थ प्रेरित करता है। इस दृष्टि से इतना होते हुए भी आतिगत स्वभाव के कारण सुग्रीव चंचल हैं तथा धीरज शीघ्र खो देते हैं। पहाड़ी पर घूमते हुए जैसे ही उन्होंने लंका में रावण को देखा, बिना इस बात का विचार किये कि शत्रुपक्ष में अकेले जाना खतरे से खाली नहीं है, लंका की ओर छलांग लगा दी तथा रावण से मल्ल-युद्ध करने लगे। युद्धकला की दृष्टि से यह कुछ असंगत प्रतीत होता है।

लौटकर आने पर राम ने सुग्रीव को छाती से लगाकर कहा—"हे वीरशिरोमणि, तूने यह कैसा दुस्साहस किया, मुझसे बिना ही परामर्श किये ? राजा को ऐसा साहस नहीं करना चाहिए। भविष्य में ऐसा न करना। तेरे विपत्ति में पड़ जाने से तो मैं सिद्धि से विमुख हो जाऊँगा। यद्यपि तेरा बल अप्रमेय है फिर भी तुझे प्राण-संकट हो जाता तो तेरे अभाव में स्वयं मैं भी जीवित न रहता।"

सुग्रीव ने लज्जित होकर कहा—'राघव, दुरात्मा रावण को सम्मुख देख, मैं संयत न रह सका—

दर्शनाद्राक्षसेन्द्रस्य सुग्रीवः सहसोत्थितः ।।४०।७

योद्धा के रूप में सुग्रीव अत्यन्त बलशाली हैं। कुम्भकर्ण ऐसे वीर का जिसकी मार से एक-एक बार में हजार-हजार वानरों के दल गिर पड़ते थे, जो तीस-तीस वानरों को हाथों में पकड़कर खाने लगता था, नाक-कान काटना, उससे मल्लयुद्ध करना उनकी वीरता का परिचायक है। विरुपाक्ष, महोदर, रावण आदि के साथ मल्ल युद्धों से इसका ज्ञान होता है।

(४) हनुमान्

हनुमान् सेनापति, सुग्रीव की सेना के प्रमुख योद्धा हैं, जिन्होंने एक साथ सन्देशवाहक, योद्धा तथा सेना के प्रमुख वीरों की भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

राजदूत के रूप में रावण के पास जाकर स्पष्ट वाणी में राम का सन्देश सुनाने से लेकर राम से लंका का वृत्तान्त सुनाने तक की भूमिका सम्पन्न करने के बाद हनुमान् का बिम्ब महान् शक्तिशाली योद्धा के रूप में उभरा है। अक्षयकुमार की मृत्यु के बाद इन्द्रजीत को दूत हनुमान के साथ युद्धार्थ जाने के लिए उद्यत देखकर स्वयं रावण ने सावधान करते हुए कहा—"बेटा ! उस वानर की गति अथवा शक्ति का कोई माप-तौल या सीमा नहीं है। वह अग्नि-तुल्य तेजस्वी वानर किसी साधन विशेष से मारा नहीं जा सकता (५।४८।११)।"

समर युद्ध में महापराक्रमी एवं महाबली पवन पुत्र तो राक्षसों के लिए साक्षात् काल-तुल्य ही प्रतीत होते हैं। उन्होंने अकेले ही लंका के मनोरम प्रमदावन को तहस-नहस करके कितने ही शूरवीर राक्षसों का संहार किया। आकाश को विदीर्ण करने वाला हनुमान् का सिंहनाद उन्हें क्षणार्ध के लिए भी विस्मृत नहीं हुआ है, अतएव उनके हतोत्साह होने के लिए मर्कटाधीश का नाम ही पर्याप्त था। जहाँ प्रज्वलित अग्नि के समान दुर्धर्ष हनुमान् स्वयं हाथों में विशाल शिला धारण कर मेघ-गर्जन करते हुए दीख जाएँ, वहाँ तो राक्षसों के प्राण पखेरू ही उड़ जाते हैं। ओज तेज एवं स्फूर्ति के साकार विग्रह हनुमान् जहाँ पहुँचते, वहाँ राक्षस सैन्य का सामूहिक संहार हो जाता। अधिकांश राक्षस उनकी चपेट से रक्त-वमन करते हुए प्राण त्याग देते और कुछ भाग कर लंका में प्रवेश कर जाते हैं।

हनुमान् एक ही स्थान पर युद्ध करते हों, ऐसी बात नहीं, वे जब जहाँ वानरी सेना पर राक्षसों का विशेष हमला देखते, वहीं 'जय श्रीराम' का गगन-भेदी घोष करते हुए सीधे राक्षसों के मध्य उनके ऊपर कूद पड़ते हैं। राक्षस-समूह का दलन हो जाता है। वे अश्व, सारथी एवं रथ सहित राक्षस वीरों को आकाश में इतने वेग से फेंक देते हैं, जिसे वे चक्कर काटते हुए समुद्र के जल में गिरकर समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार हनुमान् त्वरित गति से राक्षसों का संहार करते हैं। इतना ही नहीं वे छोटे-छोटे वृक्षों को तो स्पर्श ही नहीं करते, सीधे छलाँग मारते और समीप का भारी शिलाखण्ड उठाकर विद्युत-गति से लौटते और राक्षसी सेना पर फेंक देते हैं। पवन पुत्र हनुमान् अविश्रान्त युद्ध-क्षेत्र में राक्षसों का इतना भयंकर संहार करते कि रण में उपस्थित राक्षस

सैनिकों के मन में रावण के सर्वनाश का निश्चय हो ही जाता है। उनमें इतनी स्फूर्ति दिखाई देती है कि एक होते हुए भी वे सभी वानरों को अपने ही समीप एवं राक्षसों को अपने ही सम्मुख दीखते हैं।

धूम्राक्ष-वध के बाद रावण-पक्ष की ओर से लड़ने आये अकम्पन के साथ हुए युद्ध में हनुमान् ने अकेले ही उसे मार गिराया। अकम्पन को देवता भी युद्ध में कँपा नहीं सके थे, इसीलिये इसकी अकम्पन अन्वर्थ संज्ञा हुई थी। रण क्षेत्र में अकम्पन ने ऐसी मार-काट मचायी कि उसके बाणों की मार से सब वानर भाग खड़े हुए। युद्ध करना तो दूर, सेना उसके सामने खड़ी भी नहीं रह सकी—

न स्थातुं वानराः शेकुः किं पुनर्योद्धुमाहवे।
अकम्पनशरैर्भग्नाः सर्व एव विदुद्रवुः ॥६।५६।७

हनुमान् इसे सहन न कर सके तथा अकेले ही थोड़ी देर के संघर्ष के उपरान्त उसे मार डाला। इसी प्रकार रावण के साथ हुए इनके मुकाबले में इनकी वीरता के दर्शन होते हैं। अक्षय शक्ति के स्रोत, देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस से भी पराजित न होने वाले रावण को उन्होंने ऐसा थप्पड़ लगाया कि रावण उसी प्रकार चलायमान हो गया, जिस प्रकार पृथ्वी के कम्पायमान होने पर पहाड़ चलायमान हो जाते हैं। हनुमान् की वीरता देखकर रावण को भी कहना पड़ा—

"साधु वानर वीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः।६।५९।६५

(शाबाश वानर श्रेष्ठ ! पराक्रम की दृष्टि से तुम मेरे प्रशंसनीय प्रतिद्वन्द्वी हो' अथाह बल-सम्पत्ति के स्वामी हनुमान् धर्मयुद्ध के योद्धा हैं। रावण द्वारा आघात पाकर वे तुरन्त सावधान होकर उस पर टूट पड़ना चाहते हैं, किन्तु उसे नील के साथ युद्ध करते देख रुक जाते हैं, क्योंकि दूसरे के साथ युद्ध करते समय आक्रमण करना संगत नहीं है—

"अनेन युध्यमानस्य न युक्तमभिधावनम् ।५९।७४ उत्तरार्द्ध

एक योग्य सेना प्रमुख अनुशासित रह कर अपने स्वामी की मर्यादा की रक्षा करता है। हनुमान् सुग्रीव के अनुगत हैं। उन्हें सुग्रीव के मानापमान की पूर्ण चिन्ता है। जब कुम्भकर्ण सुग्रीव को आहत करके अपनी भुजाओं में उन्हें उठाकर लंका की ओर ले चला, तो हनुमान् उन्हें सरलता से छुड़ा सकते थे, लेकिन उन्होंने सुग्रीव को नहीं छुड़ाया। कारण यह था कि हनुमान् सुग्रीव के अनुगत थे। अतएव सुग्रीव के बल विक्रम के लिए यह एक अपमान जनक घटना होती। अतः सेनापति के मनोविज्ञान को समझने वाले हनुमान् बलवान् होते हुए भी अनुशासित योद्धा हैं।

युद्ध के समय सेना प्रमुख का कर्त्तव्य सैनिकों में व्यक्तिगत भावना का निरोध कर समष्टिगत या समूहगत भावना का जागरण करना होता है। हनुमान् के हाथों जब अकम्पन का वध हुआ, तो पूरी सेना हनुमान् का 'जयघोष' करने लगी, किन्तु, हनुमान् ने इस विजय का कारण पूरी सेना को बताया तथा सबको गले लगाकर प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार राम-लक्ष्मण के दुबारा मूर्च्छित होने पर, आहत तथा ध्वस्त मनोबल वाली वानर-वाहिनी को सान्त्वना देने के लिए हनुमान् रात में मशाल लेकर घूमे।

विजयोपरान्त राम ने अगस्त्य ऋषि से हनुमान् की वीरता का इस प्रकार वर्णन किया है—"बालि और रावण का बल निस्सन्देह अतुलनीय था, परन्तु मेरी यह धारणा है कि इन दोनों का बल भी हनुमान् के बल की तुलना में नगण्य-सा ही था। शौर्य, दक्षता, बल, धैर्य,

बुद्धिमत्ता, राजनीतिज्ञता, पराक्रम और प्रभाव—इन सभी गुणों ने हनुमान् को अलंकृत कर रखा है। युद्ध में हनुमान् के जो पराक्रम देखे गये हैं, वैसे वीरतापूर्ण कर्म न तो इन्द्र के, न विष्णु के और न कुबेर के ही सुने जाते हैं। इन्हीं के बाहु-वीर्य से लंका, सीता, लक्ष्मण, विजय तथा मित्र-बन्धुजन मुझे पुनः प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार हनुमान् पराक्रमशाली तथा अप्रतिम बुद्धि वाले योद्धा हैं।

(५) जाम्बवान्

राम की सेना के सेनानी जाम्बवान् धूम्राक्ष के अनुज रीछ-वाहिनी के अधिपति हैं। सारण के अनुसार—'जाम्बवान् पराक्रमी, भयंकर एवं गुरुवर्ती हैं। देवासुर संग्राम में इन्होंने इन्द्र की सहायता करके कई वर प्राप्त किये थे, किन्तु राम-रावण युद्ध के सन्दर्भ में युद्धकाण्ड में जाम्बवान् का उल्लेख बहुत ही कम बार हुआ है।

विभीषण के आगमन पर सुग्रीवादि जहाँ बार-बार अपनी-अपनी राय पेश करते हैं, वहाँ जाम्बवान् ने केवल एक वाक्य में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी है—

बद्धवैराच्च पापाच्च राक्षसेन्द्राद्विभीषणः।
अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वथा शङ्क्यतामयम् ॥६।१७।४६

(हमारे कट्टर शत्रु और पापी रावण के पास से विभीषण ऐसे समय में आया है, जिस समय उसे आना उचित नहीं था, फिर यह स्थान भी इस कार्य के उपयुक्त नहीं है। अतएव इससे सर्वथा सशंकित रहना ही उचित है।)

राम ने न तो विशेष रूप से उनसे पूछा ही है और न ही उनकी प्रतिक्रिया को कोई महत्व दिया है। इसी प्रकार समुद्र की शरण में जाने के प्रस्ताव पर लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीव से परामर्श करते समय भी जाम्बवान् का नामोल्लेख नहीं हुआ है।

युद्धारम्भ के समय राम ने अवश्य सेना-संचालन का भार सुग्रीव और विभीषण के साथ-साथ जाम्बवान् को भी सौंपा था, लेकिन कहीं भी मुखर रूप में जाम्बवान् का चित्र नहीं उभरा है।

स्वभावजरया जाम्बवान् का जो थोड़ा-बहुत चित्र उभरा है, वह वीर सेनानी का कम, वृद्ध-अनुभवी सरदार का ही अधिक है। जब मेघनाद के वाणों से पूरी सेना विह्वल हो गयी, राम-लक्ष्मण भी संज्ञा शून्य-से थे, तब वाणों से कराहते हुए जाम्बवान् ने ही हनुमान को औषधि-पर्वत लाने की आज्ञा दी।

इस प्रकार जाम्बवान् का योद्धा रूप में कोई उल्लेखनीय बिम्ब उभर नहीं सका है।

(६) विभीषण

विभीषण बुद्धिमान, अतएव उचित सलाह देने वाले मनोविज्ञान वेत्ता सेनानी के रूप में सामने आये हैं। विभीषण का योद्धा रूप उतना प्रस्फुटित नहीं हुआ है। उन्होंने केवल दो ही स्थलों पर युद्ध किया है। जब लक्ष्मण के साथ मेघनाद का निर्णायक युद्ध चल रहा था, उस समय विभीषण ने पाँच वाण चलाये थे। दूसरी बार रावण के घोड़ों को मारा। इसके अलावा उन्होंने कहीं युद्ध नहीं किया। विचित्र स्थिति है, इस सेनानी की भी। जब वे तीर चलाना चाहते हैं, आँखों में अश्रु भर आते हैं। पुरानी ममता सजीव हो उठती है और धनुष की प्रत्यञ्चा ढीली हो जाती है। इसीलिए उन्होंने युद्ध न कर केवल अपनी सेना को उत्तेजित किया है।

अपनी बुद्धिमत्ता से इन्होंने सहज ही में राम के प्रमुख सलाहकार का पद (अनौपचारिक रूप में) ग्रहण कर लिया है। समुद्र की शरण में जाना, युद्धारम्भ से पूर्व दूत भेजना आदि सम्मतियाँ विभीषण की ही दी हुई हैं।

युद्ध में सेना के मनोबल पर विजय आश्रित रहती है। विजय का यह एक बहुत बड़ा तत्व है। विभीषण इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। इसीलिए वे सैनिकों की शारीरिक सुरक्षा से अधिक मानसिक सुरक्षा के लिए जागरूक रहते हैं। जब मेघनाद द्वारा राम-लक्ष्मण मूच्छित बना दिये गये थे, तब किसी का ध्यान सेना की ओर नहीं था। सेना की चिन्ता छोड़कर सुग्रीवादि राम के लिए आँसू बहा रहे थे। विभीषण को अचानक ध्यान आया कि सेनापति को मूर्च्छावस्था में देखकर तो सैनिकों का मनोबल आमूलचूल ध्वस्त हो जायेगा और तब बहुत प्रयत्न करने के बाद भी उन्हें युद्ध के लिए तैयार नहीं कराया जा सकेगा। इसीलिए उनके मनोबल को पूर्ववत् बनाये रखने के लिए वे सेना के बीच में प्रसन्न मन से घूमने लगे ताकि सेना समझे कि रामादि को कोई गम्भीर आघात नहीं लगा है।

इसी प्रकार जब सौ धनुष की चौड़ाई वाले, ६ सौ धनुष की ऊँचाई वाले, अंजन के पर्वत के समान वर्ण वाले कुम्भकर्ण को युद्ध क्षेत्र में राम की सेना ने देखा तो डर कर भागने लगी। विभीषण ने तत्काल अपनी सूझ से काम लिया और कहा कि यह वानरों को डराने के लिए रावण ने 'हौआ' बनवाया है—

"उच्यन्तां वानराः सर्वे यन्त्रयेतत्समुच्छ्रितम् ।
इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भयाः ।। ६।६१।३३

इस प्रकार विभीषण एक बुद्धिमान सेनापति के रूप में प्रकट हुए हैं।

(७) अङ्गद

युवराज अङ्गद वानरी सेना के यूथपति हैं, जिन्होंने एक साथ संदेश वाहक, योद्धा तथा सेना प्रमुख-वीरों महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने में काफी सफल हुए हैं। राम-रावण युद्ध में उनके सच्चे पुरुषार्थ के दर्शन होते हैं। वे हनुमान के समान शूरवीर हैं। वास्तव में हनुमान् और अंगद दो ऐसे वानर योद्धा हैं जिनके नाम से राक्षसों की नींद हराम हो जाती है। हनुमान ने यदि रावण पुत्र अक्षयकुमार को मारा था तो अंगद ने भी मार्ग में ही रावण के एक पुत्र को मौत के घाट उतार फेंका था। हनुमान ने यदि लंका जलाई तो अंगद ने भी रावण के दरबार में अपना पांव रोपकर राक्षसों सहित रावण का मान मर्दन कर दिया और अवसरानुकूल रावण के चार मुकुट भी रामदल की ओर फेंक दिये। हनुमान ने यदि वाक् युद्ध में रावण को परास्त किया तो अगद ने वाक् चातुर्य से रावण की सम्पूर्ण भेदनीति का दिवाला ही निकाल दिया।

एक महान् योद्धा के साथ ही अंगद बुद्धिमान् और वाक्य पटु भी थे, तभी राम दूत के रूप में रावण के दरबार में भेजे गये हैं। निर्भीकता के साथ लंका में प्रवेश करते हैं तथा सीधी सपाट भाषा में राम का संदेश सुनाते हैं। साथ ही रावण की सभी चालाकियों को बड़ी सुन्दरता से समझ कर उत्तर देते हैं और अपने युवराज के गौरव को बनाये रखते हैं। इस महत्वपूर्ण भूमिका के बाद अंगद का बिम्ब एक शक्तिशाली योद्धा के रूप में उभरा है। सेनापति वज्रदंष्ट्र अपनी सेना लेकर लंका के दक्षिणी द्वार से उसी प्रकार निकला जिस प्रकार वर्षा ऋतु में बिजली की कड़कड़ाहट के साथ गरजते हुए बादलों की जैसी शोभा है, जहाँ पर सेनापति अंगद अपनी सेना सहित उपस्थित थे (६।५४।१२)। निकलते ही वानरी सेना के साथ घनघोर युद्ध होने लगा। रथों के पहियों की घरघराहट का, धनुष की टंकार का और शंख भेरी तथा मृदंगों के बजने से पूरा संग्राम क्षेत्र गूँज उठा। युद्धदुर्मद वानर राक्षसों का संहार करने लगे. तब अपनी सेना की दुर्दशा देख वज्रदंष्ट्र ने युद्ध में बहुत से बाण चला वानरों को त्रस्त कर डाला और पाशधारी यम की भाँति रणक्षेत्र में घूमने लगा। वानरी सेना का संहार होते देख अंगद का क्रोध प्रलयकालीन

अग्नि की तरह धधक उठा। तुरन्त ही एक वृक्ष उखाड़ कर उससे राक्षसों को वैसे ही मारने लगे, जैसे सिंह क्षुद्र मृगों को मारता है। तब वज्रदंष्ट्र और जल उठा। नजदीक से ही एक शिलाखण्ड उठाकर अंगद ने वज्रदंष्ट्र को लक्ष्य बना फेंका कि जिससे घोड़ों सहित रथ चूर-चूर हो गया। पुनः दूसरा शिला खण्ड वज्रदंष्ट्र को लक्ष्य बना कर फेंका जिसके लगते ही रक्त वमन कर वज्रदंष्ट्रा मूच्छित हो गया (६।५४।२४-२५)।

पुनः थोड़ी देर बाद सचेत होकर वज्रदंष्ट्र अंगद से भिड़ गया और वे दोनों विजय की अभिलाषा से दया छोड़, एक दूसरे पर वार करने लगे। लड़ते-लड़ते वे दोनों थक कर घुटने टेक भूमि पर बैठ गये। पल भर विश्राम करने के बाद वे दोनों पुनः युद्धरत हो गये। अन्त में उसी की तलवार से अंगद ने वज्रदंष्ट्र का सिर काट गिराया (६।५४।३३-३४)।

अंगद के एक सफल एवं कुशल योद्धा का परिचय एक अन्य स्थल पर भी मिलता है। नरान्तक राक्षसी सेना सहित वानरी सेना का संहार करने लगता है। सुग्रीव के आदेशनुसार अंगद निःशस्त्र रणक्षेत्र में जाते हैं और नरान्तक के साथ युद्धरत हो जाते हैं। अंगद की वीरता को देख करान्तक अपने भाले का प्रहार अंगद के वक्षस्थल पर करता है, लेकिन, वज्र समान वक्ष पर उसका भाला निष्फल हो जाता है। यह देख अंगद ने नरान्तक के घोड़ों पर ऐसी लात जमाई कि खून फेंक कर वे मर गये (६।६९।९३)। नरान्तक अपने क्रोध को रोक न सका और अंगद को लक्ष्य बना ऐसा मुष्टिप्रहार किया कि वे कुछ देर के लिए अचेत हो गये। किन्तु, थोड़ी देर बाद ही सचेत होकर अंगद ने भी ऐसा मुष्टिप्रहार किया जिसके लगते ही नरान्तक का कलेजा फट गया (६।६९।९७)।

अंगद एक दक्ष योद्धा के साथ ही मनोविज्ञानवेत्ता भी हैं और वे सेना के मनोबल को यथावत् बनाये रखने के लिए भरसक प्रयास करते हैं, क्योंकि मनोबल युद्ध में जीवन और मृत्यु का प्रश्न होता है। कुम्भकर्ण ज्यों ही रणक्षेत्र में पहुँचता है त्यों ही नल नीलादि वानर भयभीत होकर भागने लगते हैं। वानरी सेना के मनोबल को बनाये रखने के लिए अंगद बोल उठते हैं— हे वानरो ! तुम अपने पराक्रम और उच्च कुलों को भूलकर और भयभीत हों, साधारण वानरों की तरह कहाँ भागे जा रहे हो। हे सौम्य स्वभाव वालों ! लौटो ! लौटो ! क्या अपने प्राण बचाना चाहते हो ? यह कोई लड़ने वाला राक्षस नहीं, बल्कि तुम लोगों को डराने के लिए यह एक बड़ा भारी बनावटी पुरुष खड़ा किया गया है—

साधु सौम्या निवर्तध्वं किं प्राणान् परिरक्षथ।
नालं युद्धाय वै रक्षो महतीयं विभीषिका ॥ ६।६६।६

इस प्रकार अंगद ने वानरों का काफी उत्साहवर्द्धन किया तब सब वानर अपने-अपने युद्धास्त्रों को ले राक्षसी सेना पर टूट पड़े और कुम्भकर्ण पर वैसे ही प्रहार करने लगे जैसे अत्यन्त क्रुद्ध हो पागल हाथी चोट करता है। कुम्भकर्ण क्रोधित होकर वानरी सेना का संहार करने लगा। तब पुनः वानरी सेना का मनोबल धराशायी हो जाता है और वे रणक्षेत्र छोड़ भाग चलते हैं। यह देख यूथपति अंगद बोल पड़ते हैं—हे वानरो ! अच्छा अब तुम ठहरो ! हम लड़ेंगे ! तुम लोग लौट तो आओ; तुम लोग भाग कर जा ही कहाँ सकते हो ? सारी पृथ्वी की परिक्रमा लगाने पर भी तुम्हें रक्षित स्थान मिलना कठिन है (६।६६।१९)। इस प्रकार प्राण बचाने से क्या होगा। यदि तुम लोग अपने युद्धास्त्रों को पटक कर इस तरह भाग अपने प्राण बचाओगे तो तुम्हारी स्त्रियाँ इस कायरता पर हँसेगी और उनका वह हँसना ही तुम्हारे लिए मृत्यु के समान होगा—

दारा ह्यपहसिष्यन्ति स वै घातस्तु जीविनाम्।
कुलेषु जाताः सर्वेस्म विस्तीर्णेषु महत्सु च ॥ ६६।२०

तुम लोग वास्तव में बहुत नीच हो। उस समय तुम लोगों ने अपनी-अपनी बहादुरी प्रदर्शित करने के लिए बड़ी-बड़ी डींगे हाँकी थीं, वे सब इस समय कहाँ चली गईं। लड़ाई में डरपोक योद्धा की बड़ी निंदा सुनी जाती है। युद्ध क्षेत्र से जो वीर भाग कर अपने प्राण बचाता है, उसके जीने का धिक्कार है। अतएव तुम भी भय को त्याग कर, उस मार्ग का अनुसरण करो, जिसका शूरवीर योद्धा अनुसरण करते हैं (६।६६।२४)। यदि हम लोग शत्रु को पराजित करेंगे तो संसार में हम लोगों का नाम होगा और यदि शत्रु के हाथों मारे गये तो वीरों को प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगेंगे—

सम्प्राप्नुयामः कीर्तिं वा निहत्वा शत्रुमाहवे।
जीवितं वीरलोकस्य भोक्ष्यामों वस्तु वानराः॥ ६।६६।२६

यूथपति अंगद ने मनोवैज्ञानिक तरीके से बहुत समझाबुझा कर वानरों को लौटाया और युद्ध स्थिति में खड़ाकर दिया। वानरी सेना में अंगद ने इतना मनोबल का संचार कर दिया कि वे पुनः अपने-अपने पराक्रम का बखाना करते हुए घोर युद्ध करने लगे (६।६७।२-३)।

ऐसी थी अंगद की वीरता, धीरता और बुद्धि-चातुरी जिसका लोहा प्रायः सभी ने माना है। इस प्रकार अंगद एक सफल सेनानी और योद्धा के रूप में उभरे हैं।

(ख) रावण-पक्ष

(१) रावण

राम-रावण-युद्ध में रावण अप्रतिम योद्धा के रूप में सामने आया है। उसकी कुशल युद्ध कला एक ओर एक साथ १००० बाण छोड़कर रामादि को घायल करती है, दूसरी ओर गदा, मूसल, परिघ, आदि की वृष्टि कर सातों समुद्रों में खलबलाहट मचा देती है, देखने वालों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कुछ क्षणों के लिए राम भी ऐसे शिथिल पड़ जाते हैं कि उनसे धनुष पर बाण भी नहीं रखा जा सका है—

"निरस्यमानो रामस्तु दशग्रीवेण रक्षसा।,,
नाशक्नोदभिसन्धांतु सायकान् रणमूर्धनि॥ ६।१०५।३५

लेकिन, वीर होते हुए भी वह धर्म युद्ध का योद्धा नहीं है। अन्याय, पाप, झूठ, सबका आश्रय लेकर येन-केन प्रकारेण वह विजयी होना चाहता है। इसीलिए उसकी वीरता प्रशंसित नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए अपनी पराजय सुन कर उसे औचित्यानौचित्य का भी विचार नहीं रह जाता और अपनी समस्त (गज, अश्व, रथ तथा पदाति) सेना को आज्ञा देता है कि अकेले राम को ही घेर कर आप सब वर्षा काल के मेघों की तरह बाण-वृष्टि कर उसे मार डालने का प्रयत्न कीजिये—

"एकं रामं परिक्षिप्य समरे हन्तुमर्हथ।
वर्षन्तः शरवर्षेण प्रावृढ़काल इवाम्बुदाः॥ ६।९४।४

इसी प्रकार पराजित होने पर सीता को प्रवांचित करने के लिए राम-लक्ष्मण के माया शीर्ष दिखाना तथा सीता को मारने दौड़ना आदि कार्य एक अप्रतिम वीर की गरिमा के प्रतिकूल है। सच्चा शूरवीर अपनी पराजय सुनकर और भी क्रुद्ध तथा उत्साहित होकर युद्धार्थ सन्नद्ध हो जाता है, न कि छल-बल का सहारा लेता है।

सेनापति-रूप में रावण बहुत सफल रहा है। युद्धकाण्ड के आरम्भ में ही हनुमान् से यह जानकरी मिलती है कि रावण ने अपने नगर में आधुनिकतम सुरक्षा व्यवस्था सम्पन्न की थी। लंका नगरी के चार द्वारों पर चार बड़े-बड़े इषूपल नामक यंत्र लगे थे, जिनके भीतर से शत्रु सेना पर तीरों और पत्थरों की वर्षा की जाती थी। नगरी के चारों ओर बड़ी भयंकर और

शीत-स्वच्छ जल से युक्त परिखाएँ थीं, जिसके चारों द्वारों पर स्थित चार पुलों के ऊपर बड़ी-बड़ी कल लगी हुई थी। उनको घुमाते ही खाई का जल चारों ओर बढ़ने लगता था और इस जल की बाढ़ से शत्रु सेना डूब जाती थी (यु. का. ३।१७-१८)।

एक बुद्धिमान् सेनानायक के रूप में युद्ध काल में वह अपने परम्परागत द्यूतादि व्यसनों से मुँह मोड़कर सदैव जागरूक रहा है। युद्धकाण्ड के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शत्रु पक्ष के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त करने के लिए वह सदैव उत्सुक रहता था। इसीलिए उसने समय-समय पर शुक, सारण, शार्दूल आदि अपने गुप्तचरों को राम की सेना में भेजा था।

कुशल सेनानायक कोई कार्य करते समय अपनी सेना से भी विचार-विमर्श करता है, तदनुसार कोई निर्णय लेता है। रावण ने भी विपत्ति की घड़ियों में अपने सेना-प्रमुखों से विचार विनियम किया है तथा यह प्रदर्शित किया है कि पहले के सभी युद्धों में अपनी सेना के ही कारण उसने विजय पाई थी (६।१२।२३)। किन्तु, विचार विनिमय करने के बावजूद रावण में सबसे बड़ी कमी यह है कि वह नेक से नेक सलाह को भी स्वीकारता नहीं। कुम्भकर्ण, विभीषण, माल्यवान् आदि प्रमुखों की भी सलाह उसने नहीं मानी है। यह उसके सेनानायकत्व को एक बहुत बड़ी दुर्बलता कही जा सकती है।

युद्ध में सेना की विजय या पराजय सैनिकों के प्रबल या क्षीण मनोबल पर निर्भर करती है। यदि प्रतिपक्षी प्रबल है तथा उसके द्वारा मारे गये अपने पक्ष के समस्त योद्धाओं के शवों को सैनिकों ने अपनी आँख से देखा है, तो मनोबल के क्षीण होने में देर नहीं लगती है, साथ ही उन शवों को यदि वह प्रबल प्रतिपक्षी देखे तो उसका मनोबल और भी ऊँचा हो जायेगा। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से रावण भलीभाँति परिचित है। इसलिए वह राम की सेना के मृत राक्षसों का शव रणभूमि में ही नहीं पड़े रहने देता, अपितु, उन्हें तुरन्त समुद्र में फिकवा देता है (६।७४।७६)। यह सेनानायक की उत्तम सूझ-बूझ का परिचायक है।

इस प्रकार रावण में एक समर्थ योद्धा तथा सेनानायक के दर्शन होते हैं। इसलिए उसकी मृत्यु के उपरान्त राम ने विभीषण को समझाते हुए कहा कि सदा किसी की जीत नहीं हुआ करती। वीर समरभूमि में या तो अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार डालता है, या स्वयं उसके हाथ से मारा जाता था। यह प्रचण्ड पराक्रमी रावण सामर्थ्यहीन होकर नहीं मारा गया है कि तुम दुःख कर रहे हो, बल्कि, यह तो भवितव्यतावश मारा गया है।

(२) मेघनाद

रावण की सेना में मेघनाद महान पराक्रमी, प्रचण्ड शौर्य-सम्पन्न वीर है जिसने माहेश्वर यज्ञ द्वारा अपने दुर्जेयत्व का वर प्राप्त किया है। उसने अपनी वास्तविक वीरता से अधिक छल-छद्म का आश्रय लिया है।

रावण की सभा में जब पहली बार लंका पर मँडराते हुए युद्ध के बादलों पर चिन्ता प्रकट की गई तो सबने एक स्वर से पहली इसी 'समितिञ्जय' का नाम प्रस्तावित किया, क्योंकि इसने इन्द्र तक को अपनी कुशल युद्धकला से परास्त कर दिया था।

रावण पुत्र इन्द्रजित् ने अधिकांश स्थलों पर अपनी शक्ति को माया का आश्रय लेकर व्यय किया है। पहली ही बार युद्ध-क्षेत्र में आने पर अंगद ने उसके रथ-अश्वादि को आहत कर दिया, तभी वह अन्तर्धान हो गया और अदृश्य रूप से बाण चलाकर राम-लक्ष्मण को शरबन्धन में बाँध लिया। इसी प्रकार कम्पन प्रजङ्घ, शोणिताक्ष आदि के मार डाले जाने पर पुनः उसने पूरी युद्ध-भूमि में अपनी माया के बल पर धुआँ कर दिया और धुएँ की कालिमा में प्रतिपक्षी बाण चला ही नहीं सके। ऐसी माया का सहारा उसने हरेक स्थान पर लिया है।

इन्द्रजीत के लिए धर्म युद्ध का एक भी नियम पालनीय नहीं है। लक्ष्मण से युद्ध करते-करते हनुमान् और विभीषण को भी उसने तीरों से आहत किया, जबकि यह धर्मानुमोदित नहीं है। युद्ध में पराजित होने पर उसने माया सीता की रचना की तथा युद्ध क्षेत्र में उस सीता को हनुमानादि के सम्मुख ही मार डाला जिससे वानरी सेना का मनोबल ध्वस्त हो गया। इस योद्धा ने १२ घड़ी में ६७ करोड़ वानरों को मार डाला, किन्तु अपने प्राणों को बचाने के प्रयास में यह अपनी सेना के प्रति अपने स्वयं के कर्त्तव्यों को भी भूल गया। युद्ध क्षेत्र में धुआँ करने के बाद जब वह जान गया कि अब राम बहुत क्रुद्ध हो गये हैं और अब कोई न कोई अमोघ अस्त्र छोड़ेंगे, तो बिना अपनी सेना की चिन्ता किये झटपट युद्ध बन्द कर लंका में घुस गया। बाद में उसे अपनी सेना का ध्यान आया, तब वह पुनः युद्ध-भूमि में लौटा।

किन्तु छली होने के बावजूद मेघनाद की अप्रतिम शूरता की प्रशंसा करनी आवश्यक है। उसकी समर्थ युद्धकला का प्रमाण तो इसी से मिलता है कि धुआँधार लड़ाई में सारथी के मृत होने के बाद भी उसने हिम्मत नहीं हारी और एक ही साथ रथ भी हाँकता था और तीर भी चलाता था। अन्त में लक्ष्मण ने अपने ऐन्द्रास्त्र से इसका वध कर डाला। अन्त में हम तो यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार लक्ष्मण राम के अनन्य सहायक रहे हैं उसी प्रकार रावण पुत्र इन्द्रजीत उसकी हठवादिता में सदैव उसका सहायक रहा है। जिस प्रकार राम को लक्ष्मण की वीरता पर गर्व है उसी प्रकार रावण को मेघनाद की वीरता का भरोसा है। मेघनाद वास्तव में एक कर्मठ योद्धा है। असीम शक्ति सम्पन्न एवं अनेक दैवी वरों से युक्त उसका चरित्र एक वीर का चरित्र है, जिसने झुकना नहीं सीखा, जिसने सदैव बाण की नोंक से बात करना सीखा है। यदि वह रावण की हर हठ में साथ न देता होता तो उसका चरित्र कहीं महान् होता। फिर भी, मरते-मरते भी वह अपने यश की गाथा पृथ्वी पर छोड़ गया।

(३) प्रहस्त

प्रहस्त रावण के प्रमुख विश्वासपात्र सेना पतियों में अन्यतम है। इसने कैलाश पर्वत पर युद्ध में मणिभद्र को पराजित किया था। लंका की सुरक्षा का सम्पूर्ण भार रावण ने इसी पर छोड़ रखा है। रावण के अधीन जितनी सेना है, उसमें से एक तिहाई सेना पूर्ण रूप से इसके अधीन है (६।५८।४)। आरम्भ में इसने रावण को सीता के लौटाने का सुझाव दिया था, किन्तु रावण ने अस्वीकार कर दिया। तथापि, जब रावण पर युद्ध के बादल मँडराने लगे हैं, वह अपनी पूरी शक्ति से युद्ध में तत्पर हो गया है। उसे न तो अपनी चिन्ता है और न ही पुत्र-कलत्रादि की। इस वीर योद्धा ने यह घोषणा कर दी है—'हे स्वामी! तुम देखो कि मैं किस प्रकार तुम्हारे लिए इस युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देता हूँ'—

> त्वं पश्य मा जुहूषन्तं त्वदर्थं जीवितं युधि।
> एवमुक्त्वा तु भर्तारं रावणं वाहिनीपतिः ॥६।५७।१७

रणक्षेत्र में प्रहस्त का प्रमुख मुकाबला वानर नील से हुआ है। इसके 'दुरासद' 'सुदारुण' बाणों की वृष्टि से व्याकुल होकर नील ने नेत्र बन्द कर लिये सेना भँवर की तरह चक्कर काटने लगी। नील के द्वारा तथा धनुष अश्वों को छीन लिये जाने पर भी प्रहस्त हतोत्साहित नहीं हुआ और एक मूसल के सहारे ही रथ से कूद पड़ा तथा उसी से युद्ध करने लगा (प्रगृह्य मुसलं घोरं स्यन्दनादव पुप्लुवे ५८।४६)।

अन्त में नील द्वारा चलाई गई एक भारी शिला से उसका सिर चकना-चूर हो गया।

(४) कुम्भकर्ण

कुम्भकर्ण एक शौर्य सम्पन्न वीर योद्धा है। यों तो राम-रावण युद्ध से पूर्व उसे अनेकों संग्रामों में सेनानी और एक योद्धा के रूप में भाग लेना पड़ा है, जिसमें अपनी महत्वपूर्ण भूमि अदा करने में सफल रहा है, किन्तु, राम-रावण युद्ध में कुम्भकर्ण उतना किसी भी रूप में सफल नहीं हो सका है। इसके पूर्व के संग्रामों में कुम्भकर्ण ने यमराज और इन्द्र को भी परास्त कर दिया था। प्रारम्भ में तो वह अपने भाई रावण को सीता लौटाने की सम्मति देता है और युद्ध का विरोध करता है। परन्तु रावण के समझाने पर अपने भाई की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए रणक्षेत्र में प्रस्थान करता है। जब मतवाले हाथी की भाँति विशालकाय शरीर वाला कुम्भकर्ण रण क्षेत्र में पहुँचा तब उसकी हुँकृति से समुद्र खलबलाने लगा और वानरी सेना काँपने लगी। वज्राग्नि की भाँति उसके धनुष की टंकार सुनकर शत्रु भागने लगे। साथ ही कुम्भकर्ण के गजयूथ और हाथीदल के पदाघात से जो घनाकार धूल उड़ी, उससे आकाश आच्छादित हो गया और देखते ही देखते कुम्भकर्ण ने बाण और शूल से समरांगण को छा दिया। यहाँ तक कि अपने चरणों के आघात से पृथ्वी को कम्पायमान करते हुए समरांगण में शस्त्रास्त्र लेकर सात दिन विचरण किया तो वानर दल हाहाकार कर भाग चले। यम और वरुण से भी अवध्य महाबल कुम्भकर्ण को इस प्रकार अचल-अटल देख सातवें दिन अङ्गद ने सेना-नेतृत्व ले सेना को धैर्य दिया। समाश्वस्त किया।

अंगद द्वारा मनोवैज्ञानिक तरीके से समझाने पर शत-सहस्र वानर-यूथ विविध शस्त्रास्त्र ले कुम्भकर्ण पर पिल पड़े। परन्तु दुर्मद कुम्भकर्ण ने उन सहस्रों वानरों को इस प्रकार मसल दिया जैसे हाथी फूलों को कुचल डालता है। उनमें से बहुतों को समुद्र में फेंक दिया, बहुतों को आकाश में उछाल दिया और बहुतों के खण्ड-खण्ड कर डाले तथा बहुतों का हृदय विदीर्ण कर उनका रक्तपान किया (६७।७) यहाँ तक कुम्भकर्ण की मार से एक-एक बार में हजार-हजार वानरों के दल बेकाम हो धराशायी होने लगे--

शतानि सप्त चाष्टौ च सहस्राणि च वानराः।
प्रकीर्णाः शेरते भूमौ कुम्भकर्णेन पोथिताः ॥६७।६

पुनः वानर प्राण ले भाग खड़े हुए। वानरों का ऐसा भयानक क्षय देख क्षोभ से हतप्रभ हो वानरेन्द्र अङ्गद ने ललकारा—'अरे ठहरो ! ठहरो ! भागते क्यों हो ? चलो आज या तो समरांगण में शत्रु का हनन करेंगे या स्वयं क्षुद्र प्राणों को त्याग स्वर्गारोहण करेंगे।'

यूथपति अङ्गद के ऐसे वचन सुन, मरने की ठान, जीवन की आशा छोड़ वानरों के यूथों ने फिर महातेजस्वी कुम्भकर्ण को अपने युद्धास्तों सहित घेर लिया, परन्तु कुम्भकर्ण ने सभी को मसल डाला और प्रबल प्रतापी अंगद के वक्षस्थल में शूल का प्रहार किया, जिससे अंगद मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। यह देख सुग्रीव ने कुम्भकर्ण को आक्रान्त किया। मुहूर्त भर दोनों का परम क्षोभकारी युद्ध हुआ। उसी बीच एक शिखाखण्ड का प्रहार सुग्रीव पर किया जिससे सुग्रीव तुरन्त ही मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े और सुग्रीव को पकड़ लंका की ओर चल पड़ा, जिससे वानरी सेना में हहाकार मच गया। थोड़ी देर में ही सुग्रीव सचेत हो गये और अपने दन्त और नाखून से उसे घायल कर निकल भागे। सुग्रीव के प्रहार से कुम्भकर्ण व्यथित होकर पुनः क्रोधित हो रणक्षेत्र में प्रवेश किया और लातों, घूसों आदि से वानरी सेना का विध्वंश करने लगा।

तब लक्ष्मण ने घोर संग्राम हेतु अनेक पैने बाणों का कुम्भकर्ण पर प्रयोग किया, लेकिन इसकी परवाह न करते हुए लक्ष्मण पर अपने आयुधों का प्रयोग करता रहा, किन्तु, लक्ष्मण उसके

शस्त्रास्त्रों को रास्ते में काट डालते हैं यह देख कुम्भकर्ण धन्य-धन्य कह कर बोला—"अरे रामानुज तेरा पराक्रम स्तुत्य है, पर तू बालक है मैं अभी राम से युद्ध चाहता हूँ। (६।६७।११३,"।

लक्ष्मण स्वयं कुम्भकर्ण की वीरता से प्रभावित होकर बोल उठे—"हे वीर ! तुम्हारा यह कथन कि तुममें ऐसा पुरुषार्थ है कि समस्त देवताओं सहित इन्द्र भी तुम्हारा सामना नहीं कर सके—सत्य है, झूठ नहीं, क्योंकि आज मैंने स्वयं तुम्हारा पराक्रम देख लिया है (६।६७।१०५-१०६)।"

धमानुसार लक्ष्मण से अनुमति माँग कुम्भकर्ण राम की ओर युद्ध की कामना से चल पड़ता है। राम का हस्तलाघव देख कुम्भकर्ण विस्मित हो जाता है। क्षतविक्षत हो वानरों को मारकर वहीं भक्षण करने लगा। इस वीभत्स व्यवहार से संत्रस्त हो वानर 'त्राहिमाम् त्राहिमाम्' करने और भागने लगे। फिर तो ऐसा युद्ध हुआ कि देव-दैत्य स्तम्भित हो गये। इसी बीच विभीषण युद्ध में कूद पड़ते हैं। विभीषण को सामने देख कुम्भकर्ण ने कहा—'हे भ्राता ! तुम मेरे ऊपर प्रहार का क्षात्रधर्म का पालन करो, भ्रातृ-स्नेह को त्याग दो, तुम्हीं जीवित रहोगे और सब राक्षस मारे जायेंगे। अतः तुम तुरन्त मार्ग छोड़ दो क्योंकि इस समय मारे क्रोध के मैं अपने आप में नहीं हूँ, किन्तु हे भाई ! मैं चाहता हूँ कि तुम बचे रहो। यह मुँह देखी बात नहीं कहता, बल्कि सच्ची बात कह रहा हूँ—

रक्षणीयोऽसि मे वत्ससत्यमेतद्ब्रवीतामि ते।
एवमुक्तो वचस्तेन कुम्भकर्णेन धीमता ॥६।६७।१५२

विभीषण भ्रातृ स्नेह मार्ग छोड़ देते हैं और कुम्भकर्ण राम पर टूट पड़ता है। राम से कह उठता है—हे राम ! तुम मुझे विराध कहीं मत समझ लेना। मैं न तो कबन्ध हूँ, न खर, न बालि और न मारीच ही हूँ। मैं हूँ कुम्भकर्ण ! इस मेरे विशाल मुद्गर को जरा देख लो। यह लोहे का बना हुआ है, इसी से मैंने अनेकों संग्रामों में देवताओं और दानवों को परास्त किया है। कहीं नाक, कान कट जाने से मेरा तिरस्कार न करना।"

अन्त में, दोनों में घनघोर युद्ध होता है, किन्तु राम के हाथों उसका वध हो जाता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कुम्भकर्ण एक सफल वीर, शौर्य सम्पन्न, विवेकशील बुद्धिवाला महापराक्रमी योद्धा है।

———

अध्याय—६

युद्ध एवं श्रृंगार का सम्मिश्रण।

युद्ध एवं श्रृंगार का सम्मिश्रण

मनोविज्ञान मान्यता के अनुसार मनुष्य में अन्य वृत्तियों के साथ-साथ काम तथा युयुत्सा की प्रवृत्तियाँ भी वर्तमान रहती हैं। विकास के विभिन्न चरणों में विभिन्न रूपों में इनका प्रकाशन और मार्गान्तरीकरण होता रहता है। जहाँ इन दोनों प्रवृत्तियों की मानव-मन में वर्तमानता सत्य है, वहीं यह भी सत्य है कि प्रायः इन दोनों प्रवृत्तियों में समन्वय नहीं हो पाता। किसी के काम का अतिरेक तो किसी में युयुत्सा तत्सम्बद्ध वीरत्व का अतिरेक देखा जाता है, किन्तु प्राचीन युग श्रृंगारिकता तथा वीरता की प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण का युग था। युद्ध उस युग की उसी प्रकार एक ज्वलन्त वास्तविकता थी, जिस प्रकार विषयों का उपभोग। एक ओर आँखों की खुमारी में उद्दाम यौवन की अँगड़ाइयाँ होती थीं, तो दूसरी ओर युद्ध का भैरवगान प्रारम्भ होता था। उद्दाम यौन भावना से अनुप्रेरित होने के कारण प्रायशः युद्धों के मूल में नारी हो रही है। होमर के ग्रन्थ 'इलियड' की नायिका हेलन तथा 'रामायण' की सीता इसी प्रकार की कारण बनी हैं।

रामायणकालीन युद्धों में युद्ध और श्रृंगार दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। सैनिकों के रग-रग में सौन्दर्य-चेतना व्याप्त थी। सुन्दरता के पारखी तो वे थे ही, स्वयं अपने सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने में भी वे सचेष्ट रहते थे। सांसारिक विषयों में आर्य और अनार्य योद्धा कितना रस लेते थे, अपने क्षणभंगुर जीवन से अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने में, उसे सामाजिक और सुविधापूर्ण बनाने में कितना उत्साह रखते थे—इसकी प्रचुर सामग्री आदि कवि ने अपने काव्य में प्रस्तुत की है। वाल्मीकि ने एक ओर सुरुचिपूर्ण, सात्विक और संयत मनोविनोद तथा दूसरी ओर वैषयिक, ऐन्द्रिक और लोलुप कामादिक-क्रीड़ाओं या वासनाओं के बीच एक स्पष्ट पार्थक्य एवं वैषम्य दिखलाया है। दोनों प्रकार के विनोद अयोध्या, किष्किन्धा और लंका की सैनिक सभ्यताओं में स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। सुरा-पान और भोग-विलास तो निरे 'ग्राम्य-सुख' हैं। उस समृद्ध युग में नारी और नारी के प्रति प्रेम, पुरुषों के जीवन के अंगीभूत थे। युद्ध की तरह प्रेम भी रामायण के वीरों का उद्दाम व्यापार था, दोनों में कूद पड़ने को वे तत्पर रहते थे। भरद्वाज-आश्रम में रक्त चन्दन से भूषित और सुन्दरी अप्सराओं से संयुक्त होकर भरत के सैनिकों को अयोध्या लौटने की कोई चाह नहीं रह गई (२।९१।५८-९) थी। अनेक सुन्दर एवं तरुण रमणीयों के प्रणय का आस्वादन करना तत्कालीन योद्धाओं की दृष्टि में सुखी जीवन का एक मापदण्ड था[१]। यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में वीर-गति पाने वाले सैनिकों का स्वर्ग में अप्सराएँ प्रेमपूर्वक स्वागत करती हैं। मृत बालि को सम्बोधित करते हुए तारा ने कहा था कि अब तो आप रूप और यौवन के इठलाती एवं काम-कला में प्रवीण अप्सराओं के चित्त को लुभाया करेंगे।[२]

'रामायण' हमारी जातीय संस्कृति का दर्पण-ग्रन्थ है। इसमें भी तत्कालीन प्रवृत्तियों का समन्वय सम्पन्न हुआ है जिसमें निविड़ श्रृंगारिक चेतना के साथ-साथ युद्ध की दुन्दुभियाँ मुखरित हो रही हैं। सर्वप्रथम बालि और सुग्रीव को ही लें। बालि ने कामाभिभूत होकर अपने अनुज

१ तुलना कीजिये—स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः संरंस्यसे वीतभयः कृतार्थः। ५।२८।१४।
२ देखिये—किष्किन्धा काण्ड। २०।१३।

सुग्रीव की प्रिया रूमा का अपहरण किया था। इसके साथ ही तारा सहित अपनी अन्य रानियों में भी अनुरक्त था। सुग्रीव द्वारा युद्ध के लिए दुबारा आह्वान किये जाने के समय वह अपनी रानियों के बीच मनोविनोद में तल्लीन था, लेकिन, सुग्रीव के सिंहनाद को सुनते ही काम खुमार रोष की लपटों में प्रज्ज्वलित हो उठा और क्रोध में वह अपने कराल दाँत पीसने लगा; दोनों आँखे दहकते हुए अंगारे की तरह लाल हो गईं (कि. का. १५।४)। कान्ता तारा मनुहार करके थक गई, उसका आश्लेष बालि को नितरां प्रिय रहा होगा, किन्तु तारा का वह मधुर परिरम्भण भी युद्ध की चुनौती के सम्मुख काम न आया और बालि युद्ध के लिए तैयार हो गया।

राम द्वारा राज्याभिषेक करवाये जाने के बाद सुग्रीव सुरा और सुन्दुरी के मन्दिर आकर्षण में आकंठ डूब चुके थे। जिस समय राम ने लक्ष्मण को उसके पास भेजा उस समय सुग्रीव प्रणय के अत्यन्त मदिर, बेसुध कर देने वाले आसव का पान करने में लीन थे। उनके नेत्र नशे में लाल हो रहे थे। प्रणय की मदिरा प्राणों को इस तरह बेसुध बना गई थी कि लक्ष्मण के आने पर भी वे पूर्ववत् अपनी रानी रूमा के आश्लेष में बँधे रहे।[1] साधारणतः इस प्रकार की दुर्द्धर्ष वासना पुरुष की शक्ति क्षीण कर उसे स्त्रैण बना जाती है। कालिदास के रघुवंश का नायक अग्निवर्ण इसी प्रकार का पुरुष है जिसे वासना ने क्षय का रोगी बना दिया है, लेकिन, रामायण के पात्रों में श्रृंगार एवं वीरत्व का उचित सम्मिश्रण है। इसीलिए लक्ष्मण द्वारा भर्त्सित सुग्रीव तुरन्त सुकुमार श्रृंगारिक आकांक्षाओं, कल्पनाओं को तिलांजलि देकर अपनी शक्ति को प्रलय का गर्जन प्रदान करते हैं। वानरी सेना को एकत्र होने की आज्ञा के साथ-साथ वह राजाज्ञा भी प्रसारित होती है कि जो वानर १० दिन के भीतर नहीं आ जायेंगे, वे जान से मार डाले जायेंगे। ये ही सुग्रीव रावण के साथ मल्लयुद्ध करते समय और भी अधिक शक्तिशाली हो गये हैं। त्रैलोक्य-विजेता रावण के साथ मल्लयुद्ध करने मे उन्हें थोड़ी सी भी हिचकिचाहट नहीं होती, और वे गेंद की तरह उछल कर रावण को पकड़ कर उसे पृथ्वी पर पटक देते हैं। इसी प्रकार दुर्द्धर्षपराक्रमी कुम्भकर्ण के कान-नाक काटना तथा दोनों पार्श्वों को विदीर्ण कर देना भी उनकी वीरता का निदर्शक है।

युद्ध एवं श्रृंगार के सम्मिश्रण का सुन्दर नमूना है रावण। एक ओर नारी के मांसल आकर्षण में खोकर अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार है। सीता का पूर्ण विकसित यौवन देखकर उसकी आँखों में सुरूर छा जाता है, शिराएँ झुनझना उठती हैं और वही लंकेश जिसकी आज्ञाएं देवता दानव सभी मौनभावेन स्वीकार करते हैं, यह कह उठता है कि सीते! तू मुझको निस्संकोच भाव से आज्ञा दिया करो[2]। मैं तेरे ऊपर आसक्त हूँ। यह आसक्ति ही सबसे बड़ा बन्धन हैं, क्योंकि यह जिसके प्रति उभर आती है, निश्चय ही उसके ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न कर देती है।[3]

रावण काम से इतना अभिभूत है कि सिर पर युद्ध की विभीषिका मड़राने के बावजूद वह सीता का रूप-वर्णन करने में नहीं थकता 'तनुमध्या' सीता की देहयष्टि के दुर्गम पार्वत्य तथा घाटीय प्रदेशों की यात्रा कर उसकी आँखें तत्तत प्रदेशों में जाकर अँटक जा रही हैं और निरन्तर की कामपीड़ा से वह वैसे ही श्रान्त हो गया है जैसे बहुत दूर चलता हुआ घोड़ा थक जाता है। 'स्त्रीरत्न शतसंकुलम्' रावण का भवन मद्य और आसव से पंकिल हो गया है। जब सीता-अन्वेषण के लिए गये हनुमान् ने रावण के भवन में प्रवेश किया तो देखा कि रावण के आस-पास सैकड़ों रूपयौवन-सम्पन्ना मदोन्मत्ता नारियों अस्त-व्यस्त अवस्था में सो रहीं थीं। रंग-बिरंगे वस्त्रों और

---

१ रूमां तु वीरः परिरभ्य गांढ़ वरासनस्थो वरहेमवर्णः। कि. का. ।३३।६६।
२ देखियेः सुन्दरकाण्ड २०।२४
३ देखियेः सु. का. २२।४

पुष्पहारों से सज्जित अनेक सुन्दरियाँ सुरापान, काम-क्रीड़ा और नृत्यादि-जन्य परिश्रम के कारण उस ढलती रात में नींद से अचेत हो रही थीं। तारों से सुशोभित शरत्कालीन अमावस्या के समान प्रतीत होती थी। रमणी-रत्नों से जगमगाती रावण का वह नाश-शाला। अस्तव्यवस्तता ने उनकी चारुता को द्विगुणित कर दिया था। किसी के केश बिखर गये थे, किसी के फूलों के गजरे टेढ़े-मेढ़े हो गये थे, तो किसी के आभूषण छितरा गये थे। किसी का वस्त्र खिसक गया था तो किसी की करधनी। किसी का चन्द्र-किरण के समान घर सिमटकर कूचों के बीच ऐसे पड़ा था मानो कोई हंस सोया हो। कुछ तो रावण की भुजाओं के बीच तथा गोद में पड़ी हुई थी जिनके मुख से निकलती सुगन्धित साँसें उसे सुखी बना रही थी। कोई किसी को बांह पर, कोई किसी की गोद में या कमर के सहारे तो कोई किसी से लिपटी-लिपटाई, अंग-स्पर्श से पुलकित गात, मद्य और मदन के वश में पड़ी सो रही थी। भुजाओं-रूपी धागों से गुंथी वह स्त्रियों की माला ऐसी सोह रही थी, मानो वृक्षों की कुसुमित शाखाएँ वायु-वेग से लिपट गई हों। ऐसे रूप, ऐसे लावण्य को महल के स्वर्ण-दीप भी एकटक निहार रहे थे।[१]

रूप और यौवन का ऐसा उन्मत्त प्रणयी युद्ध क्षेत्र में भी इसी प्रकार उन्मत्त हो जाता है। उसके बाणों की चोट से घायल हो पहली ही बार में बहुत से प्रसिद्ध वीर-वानर, यहाँ तक कि बाद में लक्ष्मण भी धरती पर लोट गये। स्वयं राम भी उससे बहुत सतर्क रहने की चेतावनी अपनी सेना को देते हैं, क्योंकि—

रावणो हि महावीर्यो रणे उद्भुत पराक्रमः।
त्रैलोक्येनापि संक्रुद्धो दुष्प्रसह्यो न संशयः ॥६।५६।४६

अर्थात् रावण महा बलवान है और युद्ध में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित करने वाला है। यदि वह क्रुद्ध हो जाय तो समस्त तीनों लोक वासी भी इसके पराक्रम को नहीं सम्हाल सकते। यह निस्सन्देह बात है।

रावण के युद्ध करते समय पर्वतों और वनों समेत सम्पूर्ण पृथ्वी काँपने लगी। सूर्य का प्रकाश धुँधला पड़ गया, पवन का चलना बन्द हो गया। श्रृंगार के समय की 'उत्तमस्त्रीविमृदित गन्धोत्तमविषेवित' भुजाएँ युद्ध के समय भयंकर हो उठी और रावण उन्हीं हाथों में भयंकर धनुष लेकर बाणों की घनघोर वर्षा से वानरों की सेना को ढकने लगा।

इन सबसे बहुत अलग कोटि की श्रृंगारिक भावना राम में वर्तमान है जिसमें भारतीय के एकनिष्ठ, मधुर दाम्पत्य प्रेम का सुन्दर निदर्शन है। प्रियाविहरहित राम सदैव सीता की स्मृति में विह्वल रहते हैं। कभी मन्द सुरभित पवन का स्पर्श उनमें प्रिया के शरीर की भूख जगा देता है तो कभी-कभी धीरे-धीरे सीता के गतयौवना होते जाने की दुःख साल जाता है। प्रकृति के सभी प्रकरणों को सुखी देखा उनकी विह्वलता और भो जाती है। प्रिया के अरुणिम अधरों के मदिर आकर्षण की स्मृति उन्हें उन्मत्त बना देती है[२] और वे समुद्र में गोता मारकर अपनी कामाग्नि शान्त करना चाहते हैं। सीता के प्रति यही स्नेह भावना युद्ध-क्षेत्र में उन्हें अनुप्रेरित करती है।

---

१ देखिए : सु० का० ९-१०।

२ कदा नु चारु बिम्बोष्ठं तस्याः पद्ममिवाननम्।
ईषदुन्नाम्य पास्यामि रसायनमिवातरः ॥ यु० का० ५।१३

उनकी यही इच्छा है कि रावण की छाती को तीरों से चीर कर सीता को कब फिर पाऊँगा। युद्ध क्षेत्र में सीता की स्मृति आते ही वे दुगुने उत्साह एवं क्रोध से अपने सैनिकों को लड़ने की आज्ञा देते हैं।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण के प्रमुख पात्रों में शृंगार एवं वीरत्व का सम्मिश्रण है। उनमें मूर्तिमान आकर्षण के प्रति शृंगारिक भावना भी वर्तमान है और दूसरी ओर युद्ध के प्रति भी निष्ठा के साथ समर्पित हैं।

———

१ देखिये : यु० का० ४२।९

अध्याय—७

रामायण-काल में अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर-राज्य सम्बन्धों का स्वरूप

रामायण काल में अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्राज्य सम्बन्धों का स्वरूप

रामायण कालीन भारत एक राजनैतिक सूत्र में संगठित नहीं था, यद्यपि वे सभी राज्य एक ही देश की विभिन्न इकाइयाँ थे और वे एक दूसरे को विदेशी राज्य नहीं मानते थे। इस देश के निवासियों में भारत को अपनी मातृ-भूमि और कर्म-भूमि मानने की भावना विद्यमान थी और उनमें सांस्कृतिक एकता की भी सत्ता थी। पर कतिपय राजवंशों के शासन के अतिरिक्त अन्य समयों में इस देश में शासन सम्बन्धी एकता का प्रायः अभाव खटकता रहा है। यहाँ बहुत से छोटे-बड़े जनपद और राज्य विद्यमान रहे, जो प्रायः पारस्परिक संघर्ष में व्याप्त रहते थे। अतः यह प्रश्न भी महत्त्व का है कि इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का क्या स्वरूप था और वे परस्पर व्यवहार करते हुए किन नियमों का अनुसरण करते थे।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का दिग्दर्शन रामायण होता है। तत्कालीन समय में भारत का अन्य देशों से सम्बन्ध रहा है। यहां तक कि उत्तर वैदिक काल में ही भारत का मिस्र, सीरिया, ईरान, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सिंगापुर, मारीशस तथा लंका आदि देशों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। यदि मेकमिलन[1] के अनुसार वैदिक शब्द 'मन' का सम्बन्ध बेबीलोनिया के शब्द 'मनह' से स्थापित किया जाय तो इस बात में कोइ सन्देह नहीं रहता कि भारत का वैदिक काल में दूर-दूर के अन्य देशों से सम्बन्ध रहता था। रामायण तथा पुराणों के रचना काल से पूर्व वैदिक काल में भी प्राचीन भारतीयों का प्रभाव पश्चिमी एशिया में भी था। इसकी पुष्टि मैसोपोटामिया में प्राप्त हुए बेगाजक्काई के उत्कीर्ण लेखों से होती है, जिनमें वैदिक देवताओं के नाम खुदे हैं। इनमें यह स्पष्ट होता है कि ईसा से लगभग १७०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्य और उनका वैदिक धर्म वहाँ पहुँच चुके थे[2]। वहाँ पर व्यापारिक वस्तुओं के नाम भारतीय भाषा के हैं, जिससे प्रकट होता है कि बहुत पुराने समय से सुमेरिया, बेबीलोनिया, सीरिया और मिस्र से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था।

रामायण में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की झलक कुछ प्रसंगों से होती है। अयोध्या नृपति दशरथ ने राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के सम्बन्ध में अनेक नगरों और राष्ट्रों के रहने वाले प्रधान राजाओं को बुलाया था—

नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन्॥ अयो० का० १।४६

सीता-अन्वेषण हेतु किष्किन्धा-नरेश सुग्रीव ने विनत यूथपति को पूर्व दिशा जाने के लिए आदेश देते हुए, जम्बूद्वीप (यूरेशिया) का भी उल्लेख किया। साथ ही पामीर पर्वत श्रेणियों का

---

१ मेकमिलन : एंशियेन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ३५।
२ राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, पृ० ६६२, ३८५।

भी विधिवत् वर्णन किया। दक्षिण दिशा का उल्लेख करते हुए सुग्रीव ने छोटे-छोटे द्वीपों पर भी प्रकाश डाला है जहाँ पर रेशम के कीड़े उत्पन्न होते हैं (५।४०।२३)। एक तरह से दक्षिण पूर्वी एशिया के समस्त देशों के बारे में जानकारी दी। पश्चिम दिशा के वर्णन में उन्होंने अफगानिस्तान तक का उल्लेख किया (५।४०-४३ सर्ग)।

उपर्युक्त प्रसंग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के प्रतीक हैं। द० पूर्वी एशिया के विविध देशों के साथ तत्कालीन समय में भारत का सम्बन्ध पहले व्यापार द्वारा हुआ था. अतः सुवर्णद्वीप का उल्लेख सबसे पूर्व व्यापार के सिलसिले में ही आया है ऐसा लगता है। महाजनक जातक (कावेल ६, २२) के अनुसार मिथिला के राजकुमार जनक ने धन कमाने के उद्देश्य से एक ऐसे जहाज द्वारा सुवर्ण भूमि की यात्रा की थी, जिस पर सात सार्थवाह अपने पण्य के साथ व्यापार के लिए जा रहे थे। वर्मा, मलाया और सुमात्रा के समान जावा (यवद्वीप में भी भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी। रामायण में दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों का उल्लेख हुआ है—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम् ॥ कि० का० ४०।३०

[अर्थात् तुम लोग यत्नशील होकर सात राज्यों से सुशोभित यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा रूप्यकद्वीप में भी जो सुवर्ण की खानों से सुशोभित हैं, ढूंढ़ने का प्रयत्न करो।]

रामायण काल में भारत का भौगोलिक व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, मध्य-एशिया, चीन, पूर्वी द्वीप समूह, ब्रह्मा और लंका आदि से रहा है। इस तथ्य की पुष्टि मत्स्य पुराण भी करता है[1]। मत्स्य पुराण में भारत के नौ उप निवेशों (नौ भेद) का उल्लेख किया गया है, ये भारतीय उपनिवेश समुद्र द्वारा एक दूसरे से अलग थे और भारत उनका केन्द्र देश था। सम्बन्धों की पुष्टि हमें शिव पुराण (७।६०।१६) से भी होती है। इसमें वर्णन आता है कि मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर दर्रों को पार करके उत्तर दिशा में गये थे, और वहाँ शक आदि जातियों के पूर्वज हुए थे। इक्ष्वाकु के बड़े पुत्र विकुक्षि के पन्द्रह वंशजों ने सुमेरु (पामीर) के उत्तरी प्रदेश में अपने उपनिवेश बनाये थे। वायु पुराण पुष्टि करता है, जिसमें उल्लेख किया गया है कि चन्द्रवंशी आर्यों में से द्रुह्यु वंश के राजा प्रचेतस के सौ वंशजों ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से निकल कर, उत्तर व मध्य एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

तत्कालीन समय में विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध होने के संकेत मिलते हैं, यद्यपि इस विषय में निःसंदिग्ध प्रमाणों का अभाव-सा है। सुशासित भारतीय नगरों की सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए देशान्तर से व्यापारी आते रहे होंगे। अयोध्या के वर्णन में बाल्मीकि कहते हैं कि वह नाना देशवासी व्यापारियों से शोभित थी (१।५।१४)। उत्तर काण्ड में मधुपुरी, लवणासुर के अत्याचारों से मुक्त होने पर, नाना देशों के व्यापारियों से समृद्ध हो गई थी (७।७१।१४)। रामायण में ऐसे व्यापारियों का वर्णन हुआ है जो समुद्र-पार के देशों से व्यापार करते और अयोध्या के सम्राट को रत्नों के उपहार लाकर प्रदान करते थे (२।८२।८)।

उपर्युक्त विवरणों से रामायण काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की पुष्टि विधिवत् होती जा रही है।

(ख) अन्तर्राज्य सम्बन्ध

रामायण में अन्तर्राज्य सम्बन्धों की भी झलक मिलती है। तत्कालीन भारत में एकच्छत्र

---

१ मत्स्य पुराण १२३-३५।११७-३६-५५।१२०-७१।

साम्राज्य नहीं था। सम्पूर्ण विशाल भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था। अतः इन राज्यों में परस्पर युद्ध होना व मैत्री सम्बन्ध स्थापित होना स्वाभाविक ही था। युद्ध सदैव अन्तर्राज्य सम्बन्धों के ही परिणाम होते हैं। ये राजनीति के साधन हैं। राजनीति अन्तर्राज्य राजनीति की वास्तविक दशा तथा इस क्षेत्र में प्रचलित विचारधाराओं पर निर्धारित होती है। जनपद युग में पारस्परिक संघर्षों के बावजूद राज्यो में अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध परिलक्षित होता है। उनके मध्य पारस्परिक सम्बन्ध होते थे—युद्ध एवं शान्ति काल दोनों में ही। इस विषय में हमें प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों व सामन्त राज्यों के सम्बन्धों का विचार करना होगा।

रामायण काल के पहले वैदिक काल में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता विद्यमान थी, जिन्हें 'राष्ट्र' कहते थे। इन राष्ट्रों के राजाओं में प्रायः संघर्ष जारी रहता था, और शक्तिशाली राजा अन्य राष्ट्रों को जीत कर एकराट्, सम्राट् व अधिराज पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र की सम्राट के रूप में प्रार्थना की गई है। 'केवल इन्द्र ही वैदिक युग में सम्राट के रूप में प्रसिद्ध नहीं था, त्रसदस्यु को भी एक मन्त्र में सम्राट कहा गया है। एक मन्त्र में कहा गया है कि जो हमारे शत्रु हैं, उन्हें हम इन्द्र और अग्नि की सहायता से पराभूत करते हैं, वसवः, रुद्र, आदित्य आदि देवता हमारे सर्वोपरि, उग्र 'अधिराज' का अतिक्रमण न करे''[1]।

वैदिक साहित्य के ये निर्देश स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि वैदिक काल में ही अन्य राजाओं को वशवर्ती बनाकर अधिराज, सम्राट व एकराट् बनने का विचार विकसित होना प्रारम्भ हो चुका था। वेदों में त्रसदस्यु, दिवोदास, सुदास आदि अनेक राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि अन्य राजाओं को परास्त कर अधिराज आदि की स्थिति प्राप्त कर ली थी। ये आर्य विजेता अनार्य जातियों के साथ युद्ध करते समय किन्हीं ऐसे नियमों का पालन नहीं करते थे, जिन्हें वर्तमान समय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल समझा जा सके।

उत्तर वैदिक एवं रामायणकाल में आर्य जाति के विविध जनपद पारस्परिक संघर्ष में तत्पर रहे, और इसके कारण अनेक शक्तिशाली राजा सम्राट, चक्रवर्ती या सार्वभौम का पद प्राप्त करने में समर्थ हुए। अन्य राजाओं को जीतकर ये राजा—वाजपेय और अश्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, और सम्राट का पद प्राप्त करते थे। पर ये प्राचीन राजा अन्य राजाओं को परास्त कर उनका मूलोच्छेद नहीं करते थे। वे अन्य राजाओं के 'राजपितर' (राजाओं के पालक या श्रेष्ठ) बन कर ही संतुष्ट हो जाते थे। उस युग की आर्य मर्यादा थी कि विजित राजा का उच्छेद न किया जाये, केवल उससे अधीनता स्वीकार करा ली जाय[2]। महाराज दशरथ ने चक्रवर्ती का पद प्राप्त करने के लिए अन्य राज्यों को जोतकर अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया था और उन राजाओं को पराजित कर बिना मूलोच्छेद किये केवल उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करा ली थी। दूसरी तरफ लंका दुर्ग को हस्तगत करके त्रैलोक्य-विजय अर्थात् राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा से रावण अपनी सेना लेकर निकल पड़ा और उसने भूमण्डल के समस्त ज्ञात भागों में भयंकर आतंक मचा दिया। एक अजेय धनुर्धर सम्राट के रूप में सर्वत्र उसका लोहा माने जाने लगा। एक राज्य से दूसरे को वह कूच करता हुआ और वहाँ के राजाओं को चुनौती देता कि या तो मुझसे युद्ध करो अथवा मेरी अधीनता स्वीकार करो। यहाँ तक कि सभी देवताओं तक को अपने अधीन कर लिया था। जो उसकी अधीनता नहीं स्वीकार करते थे उनका मूलोच्छेद कर

१ ऋग्वेद १०।१२८।६।
२ देखिये : कालिदास का रघुवंश महाकाव्य ९ सर्ग; रामायण और ऐतरेय ८।१२

देता था। अयोध्या नृपति अनरण्य ने रावण की अधीनता स्वीकार नहीं की, जिसके फलस्वरूप रावण ने उनका युद्ध में मूलोच्छेद कर दिया[1]। इसी तरह से बाली द्वीप[2] के नागपति वज्रनाभ का का मूलोच्छेद किया था।

(१) राज्यों के स्तर—

प्राचीन अथवा रामायण कालीन भारत में राज्य तीन प्रकार के थे—सम, हीन और बलवान्। बलवान् राज्य पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होते थे उनके शासक सम्राट, अधिराज, एकराट् आदि कहलाते थे। उदाहरण के लिए उत्तर कौसल, लंका आदि। समराज्य वे थे जो स्वतन्त्र थे और जिन्हें पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त थी। इसके अन्तर्गत मिथिला, केकय, और किष्किधा इत्यादि राज्य आ सकते हैं। हीन राज्य वे थे जो आंशिक प्रभुसत्ता को भोगते थे। सामन्त व करद (१।५।१४) राजा इसी श्रेणी में आते थे। कर के बदले में शक्तिशाली राजा उनकी रक्षा करता था। हीन राज्य के अन्तर्गत तत्कालीन द्राविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, बंगाल, अंग, मगध, मत्स्य, काशी इत्यादि आंशिक प्रभुसत्ताधारी राज्यों को रखा जा सकता है[3] क्योंकि ये सभी कौसल सम्राट दशरथ के अधीन थे। दशरथ ने कैकेई के समक्ष अपने को सारी वसुन्धरा का स्वामी बताया था—"यावदावर्तते चक्रंतावती मे वसुन्धरा" २।१०।३६। राम ने किष्किधा नरेश बालि से विवाद करते समय समस्त भारत पर उयोध्यापति भरत की प्रभुसत्ता का दावा किया था। महाराज दशरथ छाटे राजाओं से सम्मानित होकर इन्द्र की तरह राज्य करते थे (१।७।२२)। विश्वामित्र ने भी दशरथ से पूछा था—अपि ते सन्नताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः १।१८।४५ अर्थात् आपने सामन्त राजाओं को अपने वश में कर रखा है।

(२) अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के क्षेत्र में दो मूल धारणायें :

प्राचीन भारत में अन्तर-राज्य सम्बन्ध निम्न दो मूल धारणाओं पर आधारित होते थे—

(क) दिग्विजय आदि की विचारधारा (Concept of Conqueror)—तत्कालीन भारत में अन्तर-राज्य सम्बन्ध दिग्विजय, विजेता तथा विजिगीषु की धारणा पर आधारित होते थे। दिग्विजय की अथवा चक्रवर्ती बनने की इच्छा रखने वाला राजा अपनी शक्ति के बल पर अनेक राज्यों को अपने अधीन कर लेता था। अधीन राज्यों के शासक स्वयं राजा बने रहते थे और अपने आन्तरिक कार्यों में पूर्णतः स्वतन्त्र होते थे, किन्तु चक्रवर्ती सम्राट को कर के रूप में धन देते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर अपने धन और सेना से सहायता करने को तत्पर रहते थे। अनेक समान शक्ति वाले राज्य एक दूसरे के मित्र बन जाते थे। दिग्विजय की भावना से प्रेरित

---

१ देखिये : उत्तरकाण्ड ७६ २२-२८।

२ बाली द्वीप जावा (यवद्वीप) के पूर्व में स्थित छोटा सा द्वीप है जिसका क्षेत्रफल कुल २०९५ वर्गमील है।

३ प्राचीनाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणायथाः।
बंगांगमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः॥ २।१०।३७
देखिये : २।१०।३८; कि० का० १८।६

किष्किधा नरेश सुग्रीव ने भी राम की सहायतार्थ अपने अधीनस्थ राज्यों के सामन्त राजाओं को सेना सहित नील द्वारा बुलवाया था। साथ ही उसने नील से संदेश दिया था कि जो राजा सेना सहित १५ दिन के अन्दर नहीं आ जायेंगे उन्हें प्राण दण्ड दे दिया जायेगा (४।२९।३०-३३)।

इससे ध्वनित होता है कि किष्किधा के अधीन भी बहुत से आंशिक प्रभुसत्ताधारी राज्य विद्यमान थे। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—६।२६।२७-२८; २६।३२; २६।३७; २६।३८; २६।४०-४१; ६।२७।६-१०; ६।२७।२८-२९।

होकर राजा रघु सम्पूर्ण सेना सहित निकल पड़े थे और सम्पूर्ण भारत के राजाओं को अधीन कर हिमालय पर अपना झंडा फहराकर लौट आये। दिग्विजय से लौटकर रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दक्षिणा में दे दी[1]।

चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ ने भी समुद्र तक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली थी, अर्थात् समस्त राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। ये सामन्त राजा अपने आन्तरिक कार्यों में पूर्णतः स्वतन्त्र थे। जिस समय धनुषधारी दशरथ राजाओं को परास्त करते चलते थे, उस समय बादल के समान गरजता हुआ समुद्र उनकी विजय दुन्दुभी बजाता था और जैसे देवता लोग इन्द्र के चरण छूते हैं वैसे ही सैकड़ों राजाओं ने पराक्रमी दशरथ के चरणों पर अपने वे मुकुट वाले सिर रख दिये। यहाँ तक कि चारों ओर के राजाओं का मण्डल उनके हाथों में आ गया जिससे वे अग्नि और चन्द्रमा के समान तेजस्वी लगने लगे (रघुवंश ९ सर्ग)। राम ने राज्य विस्तार हेतु दिग्विजय को विचार धारा से ही अश्वमेध यज्ञ किया था (७।९२।१)। किष्किधा नरेश वालि ने भी समस्त वानर-राज्य को अपने अधीन कर लिया था (कि० का० २९।२८-३०)।

(ख) राज्य मण्डल की विचारधारा(Concept of Circle of States)—

राज्य मण्डल की विचारधारा के अनुसार कोई भी दिया हुआ राज्य समूह एक काल्पनिक राज्य वृत्त अथवा राज्य-मण्डल को निर्धारित करता था जिसके केन्द्र में विजेता का राज्य होता था। अन्य राजाओं से उसके किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए। यह इस वृत्त में उसकी स्थिति तथा तुलनात्मक शक्ति के आधार पर निश्चित किये जाते थे। वास्तव में मण्डल-सिद्धान्त के अनुसार सामान्यतः एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पड़ोसी का मित्र होता था। प्राचीन भारत में अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आधार मण्डल सिद्धान्त था। कौटिल्य ने एक प्रकार के 'शक्ति सन्तुलन' को प्राप्त करने के लिए ही मन्त्रिमण्डल सिद्धान्त को अर्थशास्त्र में प्रतिपादित किया है। वस्तुतः मण्डल सिद्धान्त का प्रेरणास्रोत शुक्राचार्य को माना जा सकता है। प्रो० अल्तेकर इस विषय में लिखते हैं कि स्मृति और नीति-ग्रंथकारों की प्रख्यात 'मण्डल' नीति शक्ति-संतुलन के सिन्द्धात पर ही आधारित थी। स्मृतिओं का मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध देखे और सेना बलवान हो, शत्रु की स्थिति कमजोर हो तो वह बेहिचक आक्रमण कर सकता है। इस प्रकार के आक्रमण के बचाव-हेतु मण्डल-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। मण्डल सिद्धान्त आवश्यक रूप में विजिगीषु-विजय की इच्छा का सिद्धान्त है। यह एक प्रकार से विस्तारवाद का सिद्धान्त(Cult of Expansion) है। कामन्दक कहता है कि शासक की जीवन-शक्ति विजय की अभिलाषा में पाई जाती है। उसके अनुसार राजा को एक पद्धति का(केन्द्र) 'नाभि' बनाना चाहिए। उसे मण्डल का स्वामी होना चाहिए।

मंडल सिद्धान्त के मूल तत्त्व

राज्य मंडल के अन्तर्गत विजिगीषु अर्थात् विषयाकांक्षी के सन्दर्भ में निम्नलिखित प्रकार के राज्यों[2] की कल्पना की गई है—

१. विजिगीषु अर्थात् विजयाकांक्षी,
२. अरि अर्थात् आसन्न विपक्षी,
३. मित्र अर्थात् आक्रामक का पक्षधर,
४. अरि मित्र अर्थात् विपक्षी का मित्र,

---

१ रघुवंश ४ सर्ग।
२ अर्थशास्त्र; ६, २, १६-३१।

५. मित्र मित्र अर्थात् आक्रामक के मित्र का मित्र,

६. अरि-मित्र-मित्र अर्थात् विपक्षी के मित्र का मित्र,

७. पार्ष्णिग्राह अर्थात् पृष्ठदेशीय विपक्षी,

८. आक्रन्द अर्थात् पृष्ठदेशीय मित्र,

९. पार्ष्णिग्राहासार अर्थात् पृष्ठदेशीय विपक्षी का मित्र,

१०. आक्रन्दासार अर्थात् पृष्ठदेशीय मित्र का मित्र,

११. मध्यम[1] अर्थात् विजिगीषु तथा अरि के बीच सन्धि या विग्रह कराने में समर्थ,

१२. उदासीन[2] अर्थात् विजिगीषु, अरि तथा मध्यम तीनों से शक्तिशाली और उनके बीच सन्धि या विग्रह कराने में समर्थ।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जो राजा अधिक उत्साह, गुण एवं प्रकृति (स्वभाव या मंत्री सेनापति आदि) से समर्थ तथा विजयाभिलाषी हो, वह राजा विजीगीषु है (मनु० ७।१५५)। कौटिल्य द्वारा वर्णित मण्डल सिद्धान्त के तत्व को मनु ने भी समर्थन किया है और कहा है कि राजमण्डल की चार (मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु[3] मूल प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डल की १२ (कौटिल्ल की भाँति) प्रकृतियाँ हुई—

एताः प्रकृतयों मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तुताः स्मृताः ॥ (मनु० ७।१५६)।

शाखा प्रकृतियाँ आठ हैं—१. मित्र २. अरिमित्र ३. मित्र-मित्र ४. अरि मित्र मित्र ये चारों शत्रु की भूमि से आगे की ओर तथा ५. पार्ष्णिग्राह ६. आक्रन्द ७. पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार ये चारों शत्रु की भूमि से पीछे की ओर। इस प्रकार ये आठ शाखा प्रकृतियाँ तथा पूर्व कथित चार प्रकृतियाँ मिलकर राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ होती हैं।

मण्डल को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—विजिगीषु मण्डल—विजिगीषु, मित्र, मित्र-मित्र, आक्रन्द और आक्रन्दासार।

२—अरिमण्डल—अरि, अरिमित्र, अरि मित्र-मित्र, पार्ष्णिग्राह, और पार्ष्णिग्राहासार।

३—मध्यम मण्डल

४—उदासीन मण्डल

राज्य मण्डल की पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियों में से प्रत्येक की १—अमात्य २—राष्ट्र ३—दुर्ग ४—कोष ५—दण्ड ये पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ हैं अतः १२ × ५ = ६० द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं) तथा पुर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियों को सम्मिलित कर (६० + १२ = ७२) राजमण्डल की कुल ७२ प्रकृतियाँ होती हैं—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थ दण्डाख्याः पंच चापराः।
प्रत्येक कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ मनु० ७।१५७

मनु ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि मित्र, अरि, मध्यम तथा उदासीन शक्तियों का समुचित मूल्यांकन करने के पश्चात् षड्गुण्य तथा कूटनीतिक उपायों का अवलम्बन करना चाहिए[4]।

---

१ वही ६, २, २९।
२ वही ६, २, ३०।
३ शत्रु के तीन भेद हैं—(क) सहज शत्रु (चचेरा भाई आदि) (ख) कृत्रिम (बुराई आदि के कारण बना हुआ शत्रु) और (ग) राज्य की भूमि (सीमा) का पार्श्ववती शत्रु (मनु० ७।१५५)
४ मनुस्मृति ७।१५५, ७।१६१; ७।१७७

(३) परराष्ट्र नीति
(Foreign Policy)

विजिगीषु राजा के लिए केवल युद्ध ही एक मात्र हल नहीं था, अपितु षाड्गुण्य नीति की सहायता से वह उसे हल करने की कोशिश करता था। युद्ध करना अथवा शान्ति का अनुगमन करना—यह स्थाई निर्णय नहीं समझे जाते थे। ये नीतियाँ एक महान उद्देश्य का साधन मात्र होती थीं। वह उद्देश्य राज्य की रक्षा एवं राज्य का विस्तार करना होता था। राज्य की परराष्ट्र नीति का संचालन षाड्गुण्य के छः अंग[१]—सधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय द्वैधी भाव होता था। रामायण में उल्लेख किया गया है कि अन्तर-राज्य क्षेत्र में इन्हीं नीतियों का अनुगमन किया जाता था। कोई भी राज्य अपने तथा शत्रु के बलाबल की तुलना करते हुए इनमें से जिस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करके अपना दुर्गकर्म सेतुकर्म वाणिज्य पथ, शून्य निवेशन खान द्रव्य वन तथा हस्तिवन कर्म अर्थात् अपने राज्य की समृद्धि में वृद्धि करने समर्थ हो सके उसी को अपनाये ऐसा वाल्मीकि का मत है। इसकी पुष्टि चित्रकूट पर राम द्वारा भरत से पूछे राजनीतिक प्रश्नों के दौरान भी होती है।[२] परराष्ट्र नीति का संचालन निम्नलिखित षाड्गुण्य, नीतियों द्वारा किया जाता था—

(i) **सन्धि**—जब शत्रु राजा का बल समान हो और उसके साथ सन्धि-सम्बन्ध के अलावे किसी अन्य नीति का अनुगमन करने से अपने दुर्ग-निर्माण और अन्य रचनात्मक कार्यों की वृद्धि न होकर क्षय होने की आशंका हो तो उससे सन्धि कर लेनी चाहिए। मनु ने कहा है कि दोनों के सुख-चैन के लिये हाथी, घोड़ा आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धन के द्वारा परस्पर में एक दूसरे की सहायता करने का निश्चय करना ही सन्धि है।[३] सन्धि यदि इस उद्देश्य से की जाय जिससे राज्य को अपनी शक्ति के बढ़ाने का समय मिल जाय और उसके पश्चात् सन्धि सम्बन्ध तोड़ कर शत्रु पर आक्रमण कर सके तो ऐसी सन्धि को 'चल-सन्धि' कहते थे। जब सन्धि स्थाई रूप से दोनों देशों में मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से होती थी तो वह सन्धि 'स्थावर-सन्धि' कही जाती थी। यदि सन्धि करने वाले दोनों राज्य एक से ही लाभ के उद्देश्य से मैत्री करते हैं तो वह 'सम-सन्धि' कहलाती थी जैसे राम और विभीषण की सन्धि और जब भिन्न-भिन्न लाभ की शर्त पर सन्धि की जाती थी तो वह 'विषम-सन्धि' कहलाती थी। राम और सुग्रीव की सन्धि अग्नि की साक्षी देकर हुई[४] जिसे 'विषम-सन्धि' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

(ii) **विग्रह**—जब विभिन्न राज्यों के बीच द्रोह, वैर, वैमनस्य की स्थिति होती है तब वह विग्रह की स्थिति होती है। प्रोफेसर दीक्षितार ने इसे एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध माना है।[५] वास्तव में यह दो राजाओं के बीच शीत-युद्ध की स्थिति है। जब राज्य शस्त्रोपजीवी क्षत्रियों की संख्या अधिक हो और कारीगरों व किसानों की भी अधिकता हो, साथ ही शैल दुर्ग एवं नदी दुर्ग सुरक्षित हों और राज्य में शत्रु के आक्रमण को रोकने की सामर्थ्य हो तथा जब प्रचार बल से शत्रु राज्य के निवासियों को उनके राजा के विरुद्ध भड़काया जा सकता हो कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को जब ऐसा आत्म-विश्वास हो जाये तो वह विग्रह की नीति अपना सकता है।

इस प्रकार की नीति का अनुगमन करके एक राजा अपने दुश्मन के अमात्य तथा अन्य अधिकारियों को भड़काकर उन्हें तोड़कर तथा शत्रु राजा को आक्रमण का

---

१ अयोध्याकाण्ड ।१००।६६।
२ अयोध्याकाण्ड ।१००।६५-७०।
३ मनुस्मृति ।७।१६०।
४ किष्किधा काण्ड ।५।११-१६।
५ वार इन ऐंशियेंट इण्डिया, पृ० ३१८-३१९।

भय दिखा कर अपना उद्देश्य पूरा करने का प्रयत्न कर सकता है। युद्धार्थ समस्त सेना को सन्नद्ध करने के उपरान्त, आक्रमण का भय दिखाने के लिये युवराज अङ्गद को रावण के यहाँ राजदूत[1] के रूप में भेजना तथा विभीषण सहित रावण के चार मंत्रियों को अपने आश्रय[2] में ले लेना इसका प्रमाण है।

(iii) **आसन**—जब किसी राज्य का अन्य किसी राज्य से शत्रुता का भाव न हो और न उस राज्य के राजा की चढ़ाई करने की इच्छा हो और न हो उसे किसी अन्य राजा का अपने राज्य पर अक्रमण कर देने का भय हो, तो ऐसे राज्य की स्थिति आसन' कही जाती थी। एक प्रकार से यह तटस्थ नीति होती है। आसन नीति पर चलने वाला राज्य दो प्रकार का हो सकता है—मध्यम और उदासीन। ऐसा राज्य जो दो शत्रु राज्यों के बीच स्थित हो और जो दोनों में से किसी को भी सहायता देने की सामर्थ्य रखता हो, साथ ही उनमें से किसी भी राज्य के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना कर सकता हो, 'मध्यम' राज्य होता है। जो राज्य दो परस्पर शत्रु राज्यों के बीच में स्थित न हों और जो बहुत शक्तिशाली हो तथा उनमें से किसी भी राज्य को सहायता देने तथा उनका सामना करने की शक्ति रखता हो उसे 'उदासीन' राज्य कहते थे जैसे मिथिला।

मनु के अनुसार, इस नीति का अवलम्बन उस समय करना चाहिए जबकि वह अपनी सेना एवं वाहन की दृष्टि से क्षीण हो जाये। शत्रु की उपेक्षा कर चुप मारकर किले आदि सुरक्षित स्थान में बैठ जाना ही 'आसन' है[3]।

(iv) **यान**—राम के अनुसार शत्रु राज्य पर सशस्त्र चढ़ाई कर देने की स्थिति को 'यान' कहते हैं (२।१००।६६) इसमें दो राज्यों के बीच सशस्त्र युद्ध का श्रीगणेश हो जाता था। यदि विजयाभिलाषी राजा यह सोचे कि शत्रु के दुर्ग और जनपद आदि का विनाश एक मात्र चढ़ाई करने से ही सम्भ्व हो सकता और मेरा दुर्ग तथा जनपद पूर्णतः सुरक्षित है तो 'यान' की नीति का अवलम्बन करना चाहिए। इसके समर्थन में कौटिल्य का कहना है कि जब विजिगीषु यह देखे कि शत्रु के अमात्यादि अधिकारी वर्ग तिरस्कृत और अपमानित हैं; दुर्भिक्ष आदि के कारण क्षीण तथा लोभी, उसकी सेना चोरों एवं जंगली लोगों द्वारा सताई जाकर अथवा मेरे गुप्तचरों के तोड़-फोड़ से फूटकर मुझसे आ मिलेगी और शत्रु के मन्त्री आदि अधिकारी भी मेरी शरण में आ जायेंगे तथा वह शत्रु पर चढ़ाई कर दे।

जब अंगद के द्वारा युद्ध का भय दिखलाने पर भी रावण सीता को लौटाने को तैयार नहीं हुआ तथा रावण द्वारा तिरस्कृत विभीषण और उनके चार मन्त्री राम की शरण में आ गये, तब राम ने यह समझ लिया कि उनके उद्देश्य की पूर्ति एक मात्र चढ़ाई करने से ही सम्भव है। अतएव उन्होंने अपनी सेना को लंका पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी।

(v) **संश्रय**—राम के अनुसार अपने से बलवान् राजा की शरण लेना समाश्रय कहलाता है (२।१००।६६) संश्रय का भावार्थ है 'सहारा'। जब कोई राजा किसी अन्य राजा का सहारा चाहता है तब उसकी नीति संश्रय नीति कहलाने लगती है। किसी राज्य के कमजोर होने पर अर्थात् जब उसमें अपने राज्य की रक्षा स्वतः करने की शक्ति न हो और न ही वह किसी विधि से शत्रु को निर्बल बनाने की सामर्थ्य रखता हो तब उसे अपनी रक्षा हेतु किसी शक्तिशाली राजा का सहारा

---

१ युद्धकाण्ड ४१।५६
२ यु०का० १८ ३८-३९।
३ मनुस्मृति ६।१६०-१६६।

लेना पड़ता है। प्रतिपक्षी बालि के सम्मुख अपने को निर्बल समझ कर सुग्रीव ने राम का संश्रय ग्रहण किया था।

(vi) **द्वैधीभाव**—राम के अनुसार दुरंगी नीति बरतना द्वैधीभाव कहलाता है (२।१००।६६)। शुक्र के अनुसार अपने कार्य का उपाय निश्चित न हो उस समय वह काग के नेत्र के समान द्वैधीभाव का व्यवहार करे और किसी को प्रतीत न होने दे। वास्तव में इस नीति के अनुसार एक राजा से सन्धि करके दूसरे राजा पर आक्रमण करना होता है। जब कोई राजा यह समझें कि एक के साथ सन्धि करके अपनी शक्ति बढ़ाने के रचनात्मक कार्य विधिवत सम्पन्न किये जा सकते हैं तथा दूसरे पर आक्रमण करके उसे अवश्य ही नष्ट किया जा सकता है, तो उसे इस प्रकार की द्वैधीभाव नीति अपनानी चाहिए।

जब राम को यह विश्वास हो गया कि सुग्रीव के साथ सन्धि करने से न केवल सीता का पता ही लग सकेगा, अपितु अपनी शक्ति बढ़ाकर रावण को पराजित करने का अवसर भी मिलेगा तब उन्होंने अग्नि के सम्मुख सुग्रीव के साथ सन्धि करके रावण पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

(४) परराष्ट्र नीति को कार्यान्वित करने के उपाय

अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक आधार षड्गुण्य नीति थी और दूसरा चार मान्य उपाय—साम, दाम, दण्ड और भेद। इन चार कूटनीतिक उपायों (नीति) को चतुर्वर्ग कहते थे (२।१००।६८) इसकी पुष्टि हमें मनुस्मृति से भी होती है[1]। परराष्ट्र नीति को कार्यान्वित करने के लिए इन्हीं चार उपायों को काम में लाया जाता था।

(i) **साम**—अपनी नीति को कार्यान्वित करने के लिये जब अन्य राजाओं के साथ बातचीत करके तथा समझा-बुझाकर उसे अपने अनुसार कार्य करने के लिए तैयार किया जाता है तो वह तरीका 'साम नीति' कहलाता है। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व राम ने अपने दूत के माध्यम से तथा रावण के गुप्तचरों (शुक्र-सारण) के माध्यम से रावण को समझा-बुझाकर सीता को लौटाने का आग्रह किया था। मनु ने पराजित राजा की प्रजा को अपनी ओर आकृष्ट करने के निमित्त उसके प्रतिशालीन व्यवहार का जोरदार परामर्श दिया है[२]। साम का प्रयोग प्रतिपक्षी राजा के चरित्र को ध्यान में रखकर सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए। सम्भवतः इसी कारण मत्स्य पुराण (२२२।२-३) में साम के दो भेद किये गये हैं—सत्य साम तथा असत्य साम। सत्य साम का प्रयोग विश्वासपात्र राजा के प्रति तथा असत्य साम का प्रयोग धूर्त्त शत्रु के प्रति किया जाना चाहिए।

(ii) **दाम**—जब बातचीत व अनुनय-विनय से काम न चल सके तो प्रलोभन का सहारा लेने अर्थात् धन या भूमि आदि देकर अपनी परराष्ट्र नीति को कार्यान्वित करने की विधि को 'दाम' कहते हैं। कूटनीतिक उपायों के रूप में दाम की संस्तुति करते हुए मनु[३] ने इसे साम तथा दण्ड की अपेक्षा निम्नकोटिक बतलाया है। कौटिल्य[४] ने इस उपाय का प्रयोग छोटे राजाओं को नियन्त्रित करने तथा अविश्वासी सामन्तों को सन्तुष्ट करने के निमित्त करने का परामर्श दिया है। रावण द्वारा तिरस्कृत विभीषण को लंका की राजगद्दी दिलाने का प्रलोभन देकर राम ने उनको अपने पक्ष में कर लिया।

---

१ सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये॥ मनु० ७।१०६

२ मनुस्मृति ७।१०८-६

३ ,, ७।१०८

४ अर्थशास्त्र ७, १६, ४

वैवाहिक सम्बन्ध को भी दाम की कोटि में रखा जा सकता है, क्योंकि, धर्मशास्त्रों (मनु०।३।२९-३०) के अनुसार दूसरे राजा से कन्या का विवाह करना कन्यादान और दान लेने वाले की श्रेष्ठता की औपचारिक स्वीकृति है। कोसलों तथा विदेहों[१], कोसलों तथा केकयों[२] के वैवाहिक सम्बन्ध इस प्रकार के दाम के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(iii) दण्ड—प्राथमिक दृष्टया दण्ड विजेता का शौर्य और उसके शत्रु पर उसका प्रदर्शन है, जिसका स्वरूप अन्तिम अल्टीमेटम अथवा युद्ध की धमकी हो सकता है। कौटिल्य[३] ने दण्ड का प्रयोग शक्तिशाली राजा के विरुद्ध करने का परामर्श दिया है, क्योंकि युद्ध की धमकी प्रतिष्ठा-हानि के प्रति सशंक शक्तिशाली राजा के प्रति कारगर उपाय सिद्ध हो सकती है। युद्ध की धमकी व्यर्थ होने की स्थिति में वास्तविक युद्ध ही एक मात्र विकल्प रह जाता है। वास्तव में जब साम, दाम और भेद यह तीनों विधियाँ असफल हो जायँ तब शत्रु को आक्रमण का तथा उसके राज्य को विध्वंश कर देने का भय दिखाया जाये।

सम्भवतः इसी कारण राम ने साम, दाम आदि नीतियों के विफल होने पर युवराज अंगद द्वारा युद्ध का अन्तिम अल्टीमेटम भिजवाया था।

(iv) **भेद**—इस उपाय का प्रयोग शत्रु को कमजोर बनाने के लिए किया जाता है। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को भेद कहते हैं। भेद आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। भेद का प्रयोग शत्रु तथा उसके मित्रों के बीच मतभेद उत्पन्न करने के लिए किया जाता है, किन्तु, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी सफलता के लिए कठोर परिश्रम, धैर्य तथा दूरदृष्टि अत्यन्त आवश्यक है। शत्रु देश की सामान्य जनता में मतभेद के बीज बोना अपेक्षाकृत सरल तथा अधिक लाभप्रद होता है। मतभेद के बीज शत्रु राजा तथा उसके सामन्तों के बीच, शत्रु राजा तथा राज परिवार के वंशधर के बीच एवं शत्रु राजा और उसके मंत्रियों के बीच बोये जा सकते हैं। भेद के प्रयोग में हर प्रकार के उचित तथा अनुचित साधनों का समावेश होता है। सम्भवतः इसी कारण मनु[४] ने इस उपाय को घटिया बतलाया है। लेकिन, धर्मात्मा और विजेता राजा के लिए भेद एक लाभदायक उपाय था, क्योंकि, छात्र जीवन के आदर्श दुर्बल राजा को भी युद्ध और विनाश से विरत रहने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते थे।

रावण ने समुद्र तट पर स्थित राम की सेना की खबर जान, राम और सुग्रीव में मतभेद पैदा करने के लिए अपने गुप्तचर शुक्र को यह संदेश देकर भेजा था कि "किष्किधा नरेश सुग्रीव का मेरे साथ निष्कारण वैर करना उचित नहीं। राम की सहायता करने से आपको कोई लाभ नहीं, फिर ऋक्षराज के पुत्र और ब्रह्मा के पौत्र होने के कारण आप मेरे भाई तुल्य हो। मैंने राम की पत्नी का हरण किया है, इससे आपको कोई मतलब नहीं अतः आप अपनी राजधानी किष्किधा लौट जाइये" (६।२०।१०-११)। रावण का सुग्रीव के लिए यह संदेश स्पष्ट भेद नीति को प्रमाणित करता है।

उपर्युक्त चार उपायों के अतिरिक्त तत्कालीन समय में दो उपायों—माया और इन्द्रजाल के प्रयोग का उल्लेख रामायण में मिलता है—

---

१ रामायण : सीता मूथा राम का विवाह
२ रामायण : दशरथ तथा कैकयी का विवाह
३ अर्थशास्त्र ७।१६-२
४ मनुस्मृति ७।१०९।

(i) **माया**—इसमें शत्रु को भ्रम में डालने के लिए छल-कपट आदि कूटनीतिक उपायों का प्रयोग किया जाता था । इस संदर्भ में माया का अर्थ विजेता के द्वारा देवता, स्त्री, असुर तथा अन्य प्रकार के छद्मवेश धारण करके शत्रु के समीपस्थ होकर वध करना है । रामायण में असुरों तथा राक्षसों के माया युद्ध के उदाहरण इस उपाय के व्यापक प्रयोग की पुष्टि करते हैं । रावण के द्वारा सीता हरण को सुगम बताने के लिए मारीच द्वारा माया मृग का छद्मवेश धारण करना इस युक्ति के प्रयोग का ही उदाहरण है । इतना ही नहीं महाभारत में भीमसेन के हाथों कीचक का वध, कृष्ण वासुदेव के हाथों जरासन्ध का वध इस उपाय के प्रयोग की विधिवत् पुष्टि करते हैं ।

(ii) **इन्द्रजाल**—इन्द्रजाल में माया की भाँति ही कपट और छल का प्रयोग किया जाता था । वास्तव में इसका प्रयोग भी युद्ध क्षेत्र के अन्दर अथवा बाहर शत्रु को विजित करने के उद्देश्य से किया जाता था । इसमें शत्रु की सेना अथवा सेन्याधिकारियों को लालच देकर उनके शिविरों से बाहर लाकर उनका वध करना सम्मिलित था । रामायण में इस उपाय के प्रयोग का उदाहरण युद्ध क्षेत्र में मेघनाद द्वारा माया सीता को उपस्थित करके राम की सेना के सामने उसका वध करना है,[1] जिससे राम सहित सम्पूर्ण सेना को हतोत्साहित करके विजय प्राप्त की जा सके । इसी युक्ति का प्रयोग राम का सिर सीता के सम्मुख रखकर उनके हृदय को जीतने के लिए रावण द्वारा किया गया प्रयास है जिसे सीता बड़ी कठिनाई से पहचान सकीं (६।३-१।४१-४२) ।

(५) परराष्ट्र विभाग
(Foreign Department)

प्राचीन भारत में अन्य राज्यों से व्यवहार बनाये रखने के लिए परराष्ट्र विभाग भी होता था, क्योंकि, इतना तो निश्चित ही है कि वैदिक काल में ही जब आर्य-जाति भिन्न-भिन्न कबीलों में विभक्त थी और प्रत्येक कबीले का पृथक राज्य था, तब भी इन विभिन्न समुदायों में परस्पर सम्पर्क बना रहता था । इससे निश्चित होता है कि रामायण काल में एक राज्य का दूसरे राज्य अथवा भारत के बाहर के राज्यों से व्यापारिक, सैनिक और राजनीतिक सम्बन्ध थे । एक दूसरे राज्य के प्रति सन्धि, विग्रह, आसन, मान और संश्रय आदि वैदेशिक नीतियों में से किसी एक का व्यवहार करते थे ।

परराष्ट्र विभाग दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने की नीति निर्धारित करता था और अपनी नीति को अन्य राज्यों से मनवाने के लिए राजदूत नियुक्त करता था । लेकिन, आज की भाँति स्थाई दूतावास स्थापित नहीं किये जाते थे । केवल आवश्यकता के समय राजदूत दूसरे राज्यों में जाते थे और कार्य पूर्ति के उपरान्त वापिस आ जाते थे । इस विभाग का महत्व सैनिक कार्यों की दृष्टि से अधिक था । अधिकांशतः दूत युद्ध का निमन्त्रण लेकर ही दूसरे राज्यों में जाते थे । युद्ध-निमन्त्रण के साथ कुछ शर्तें भेजी जाती थीं जिसको स्वीकार कर लेने पर युद्ध नहीं किया जाता था । राजदूत को अपने राज्य की ओर से अनेक अधिकार प्राप्त होते थे । वह दूसरे राज्यों में पहुँचकर अपने राज्य द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्य करता था । आवश्यकता पड़ने पर दूसरे राज्यों की गुप्त सूचनाओं का संग्रह करने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति कर लेता था और कभी-कभी स्वयं भी गुप्त वेश धारण कर लेता था जैसे हनुमान ने लंका में गुप्तवेश धारण कर रखा था । परराष्ट्र विभाग अपनी नीति निर्धारण करने में शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को

---

१ युद्धकाण्ड ८१ सर्ग ।

प्रधानता देता था। एक राज्य दूसरे राज्य का विश्वास नहीं करता था, चाहे वे दोनों घनिष्ट मित्र ही क्यों न हों। विदेश भाग अथवा विदेशों से सम्बन्धित विषय के अधिकारी इस बात की ओर ध्यान दिया करते थे कि कोई भी राज्य इतना अधिक शक्तिशाली न हो जाय कि उससे अपने राज्य को खतरा उत्पन्न हो जाय।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समय में राजकीय सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राजदूत एवं चर नियुक्त करना, उनके द्वारा भेजी जाने वाली सूचनाओं की सत्यता की जाँच करना और फिर अपने राज्य की विदेश नीति निर्धारित करना आदि इस विभाग के अधिकारियों का उत्तरदायित्व होता था।

———

अध्याय ८

रामायणकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप

रामायणकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप

इतिहास के आदिम युग से लेकर आज तक समय-समय पर भीषण युद्धों के बीच भी शान्ति तथा सद्भावना की दिशा में मानव प्रयत्नशील रहा है। किसी न किसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अभिलाषा स्वभावतः मानव के अन्तस्थल में सदा से बनी रही है। ऐसे प्रयत्नों का प्राचीनतम उदाहरण यूनान रोम और भारत की नगर-राज्य-व्यवस्था में मिलता है। समाज में अनेक प्रवृति के व्यक्ति होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रों की मण्डली के सदस्यों तथा राष्ट्रों की प्रवृतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। कोई शांतिप्रिय है तो कुछ युद्ध एवं हिंसा प्रेमी। कुछ समाजवादी नीति को अपना कर परस्पर भाई चारा बढ़ाना चाहते हैं और राष्ट्रों को समृद्धशाली देखना चाहते हैं तो कोई अपनी शक्ति बढ़ाकर दूसरे राष्ट्रों को आतंकित करने की नीति को आदर्श समझते हैं। इन विभिन्न प्रवृतियों एवं आदर्शों वाले राष्ट्रों के एवं दूसरे के प्रति व्यवहार को नियंत्रित करने नियमों को अन्तराष्ट्रीय विधि कहते हैं। जिस प्रकार एक राज्य में रहने वाले व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध और व्यवहार उस देश के राष्ट्रीय कानून से नियंत्रित होते हैं वैसे ही विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा संचालित होने चाहिए। लेकिन हमें यह देखना है कि वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या चीज है तथा प्राचीन स्वतन्त्र राज्यों ने प्रारम्भ में इसकी आवश्यकता का क्यों अनुभव किया ?

अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमों का समूह है जिनके अनुसार सभ्य राज्य शान्तिकाल तथा युद्धकाल में एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। यह विधि देश, जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नहीं करती। उसकी दृष्टि में सभी राज्य समान हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में आचार्यों और विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई तो इसे विधिशास्त्र अथवा न्यायशास्त्र का अंग मानते हैं और उसे भिन्न-भिन्न देशों की साधारण दण्ड-विधि तथा व्यवहार विधि के कक्ष में रखते हैं। तो कुछ अन्य विद्वान उसे नीति शास्त्र से उच्च स्थान देने में हिचकने लगते हैं। परन्तु देखा जाय तो वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि इन दोनों विचारधाराओं के बीच की चीज है। ओपेनहाइम ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करते हुए कहा है –

"अन्तर्राष्ट्रीय विधि अथवा राष्ट्रों का विधान ऐसे रुढ़ि जन तथा परम्परागत नियमों को कहते हैं जिनको कि सभ्य राज्यों द्वारा एक दूसरे के साथ व्यवहार में बन्धकारी माना जाता है।'

लारेन्स ने अन्तराष्ट्रीय विधि की परिभाषा देते हुए कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसे नियमों का समावेश होता है जो सामान्य रूप से सभ्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों को निश्चित करते हैं"।

सर हेनरी मेन ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा देते हुए कहा है कि राष्ट्रों की विधि एक जटिल प्रथा है जिसमें अनेक तत्व सम्मिलित हैं। उसमें औचित्य तथा न्याय के सिद्धान्त सम्मिलित हैं जो व्यक्ति के आचरण के लिए प्राकृतिक समन्याय की अवस्था में समान रूप से अनुकूल होते हैं और राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में भी। इसमें रिवाजों, रीतियों विचारों, सभ्यता और वाणिज्य एवं वास्तविक विधि की संहिता भी सम्मिलित है।'

---

१ ओपेनहाइम—'इण्टरनेशनल लॉ रकण्डव',
१ सर हेनरी मेन—इन्टरनेशनल लॉ १८८१, पृष्ठ ३३

स्टार्क के अनुसार—" अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा कानून समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन सिद्धातों और आचरण के नियमों से हुआ है जिनके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इनका पालन करने के लिए बाध्य है। अतएव वे सामान्य रूप से अपने पारस्परिक सम्बन्धों में इनका पालन करते हैं। इसमें निम्न प्रकार के नियम भी सम्मिलित हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की कार्य-प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाले तथा इन संस्थाओं के राज्यों तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम। (ख) व्यक्तियों तथा राज्येतर सत्ताओं से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम उस अंश तक इसके अन्तर्गत है, जिस अंश तक ऐसे व्यक्ति और राज्येतर सत्ताएँ अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अध्ययन या चिन्तन का विषय है"।[२] इस लक्षण से स्टार्क ने व्यक्ति के मानवीन अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लाने का प्रयास किया। इसमें काई सन्देह नहीं है कि यह लक्षण बहुत व्यापक है, किन्तु जटिल भी हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि ऐसे नियमों का समूह है जिसका उद्देश्य सभ्य राष्ट्रों के पारस्परिक आचरण को नियन्त्रित करना है। वास्तव में हम कानून का पालन केवल दंड के भय से नहीं करते। प्रायः हम कानून का पालन इस कारण करते हैं कि हम ऐसा करना अपना नतिक कर्तव्य समझते हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय विधि को नैतिक कर्तव्य समझकर माना जाता है जो कि भौतिक शक्ति से अधिक प्रभावशाली है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का पालन इस कारण और भी करते हैं कि यदि वे इन सर्वमान्य नियमों का पालन नहीं करेंगें तो उन पर नियमों का पालन नहीं करेंगें तो उन पर नियमों का उल्लंघन किये जाने का लांछन लगेगा। इसी लांछन का भय राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम पालन करने को प्रेरित करता है।

यदि हम यह स्वीकार कर लें कि कानून एक राजनीतिक ज्येष्ठ का अपने राजनीतिक अवरों को ऐसा आदेश है जिसका कि राजनीतिक अवर (Political inferious) दंड के भय से पालन करते है तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि की कोटि में नहीं रखा जा सकेगा। किन्तु, यदि हम यह स्वीकार करें कि भौतिक शक्ति कानून का आवश्यक अंग नहीं है तो हम अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि की कोटि में रख सकेगें। कानून का तात्पर्य अनिवार्यतः यह नहीं है कि वह बल के भय से ही माना जाय। वास्तव में कानून के अधिक आवश्यक तत्व उसकी न्यायशीलता एवं एकरूपता हैं और अन्तर्राष्ट्रीय विधि में यह तत्व विद्यमान है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राविधानों एवं नियमों का प्रायः उल्लंघन होता है। यह ठीक है, किन्तु, यदि किसी कानून का उल्लंघन किया जाय तो तो उसका यह तात्पर्य नहीं होगा कि वह कानून ही नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकतम विकास आधुनिक युग में हुआ है, किन्तु, प्राचीन काल में उसके बीज अवश्य पाये जाते हैं। मानव समाज के आविर्भाव से ही इसमें एकीकरण और पृथक्करण की प्रवृतियाँ दृष्टिगोचर होती है। एक ओर मनुष्य आत्मरक्षा और विकास के लिए नियमों एवं कानूनों के क्षेत्र को विस्तृत करते हुए शनैः शनैः परिवार जन जातियों और एक एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उपर्युक्त प्रवृतियों के संघर्ष से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मौलिक विचारों का उदय मानव-समाज के उषा काल में ही हो गया। कान्बेट ने ठीक ही लिखा है—'पुरातत्व एवं मानव विज्ञान ने हमें यह बताया है कि मनुष्य कई हजार वर्ष पहले ही समूह बनाकर रहने लगा था। यह समूह अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था रखते थे और अन्य समूहों के साथ

२ स्टार्क— एन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टरनेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १

अपना सम्पर्क रखते हुए कुछ निश्चित नियमों का पालन करते थे। यूनान के नगर राज्यों द्वारा अपने संघ से मैत्रीसंधियाँ करने तथा मध्यस्थों को अपने विवाद सौंपने से बहुत पहले राजा अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि मण्डलों द्वारा राजनीतिक चर्चा करने लगे थे, सन्धियों का निर्माण करते थे-युद्धों की घोषणा करते थे तथा कुछ निश्चित नियमों के अनुसार लड़ाई किया करते थे[1] ? हालैण्ड ने भी ठीक ही लिखा है कि प्राचीन काल के राष्ट्र स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रधान रूप से तीन प्रकार के नियम स्वीकार करते थे (i) राजदूतों के विशेषाधिकार (ii) सन्धियाँ (iii) युद्ध की घोषणा तथा उसके संचालन के नियम[2]।

अतः यह स्पष्ट है कि मानव समाज में अन्तर्राष्ट्रीय विधि अत्यन्त प्राचीन काल मे चली आ रही है। विभिन्न देशों के व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्पर्क के तथा युद्धों ने इसके विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

रामायण कालीन भारत में दो प्रकार के युद्ध प्रचलित थे एक तो धर्म तथा दूसरा कूट युद्ध। जिन उद्देश्यों से युद्ध लड़े जाते थे, उनमें से विशेष थे निजी यश प्राप्त करना, दूसरे राज्य पर विजय तथा दुर्बल की रक्षा करना। रामायण में युद्ध सम्बन्धी नियमों का बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है। युद्ध काण्ड के अठारवें सर्ग के २७ और २८ श्लोक में युद्ध विषयक बड़े उदात्त और मानवीय नियमों का प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार है—

श्रृणु गाथां पुरा गीतां धर्मिष्ठां सत्यवादिनीम्।
बद्धाञ्जलिपुरं दीनं याचन्तं शरणागतम्॥
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप।
आर्तो वा यदि वा हृप्तः परेषां शरणागतः॥
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना।
स चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वाऽपि न रक्षति॥

अर्थात् हाथ जोड़े, गिड़गिड़ाते हुए और भाव से शरण में आये हुए शत्रु को भी, दया धर्म की रक्षा करने के लिए न मारना चाहिए। दुखी हो अथवा अहंकारी, परन्तु अन्य सत्रु के भय से विकल होकर, यदि शत्रु भी अपने शरण में आये, तो उत्तम पुरुष को उचित है कि अपने प्राणों को हथेली पर रखकर भी उसकी रक्षा करे। जो भय से, प्रमोद से अथवा अन्य किसी वासना से, शक्ति रहने पर भी, ऐसे की यथावत रक्षा नहीं करता, वह पापी और लोकनिन्दित है।

उपर्युक्त नियमों की तुलना वर्तमान समय में १९०७ के हेग के चतुर्थ समझौते में तय किये गये नियमों से की जा सकती है। हेग समझौते की धारा २३ के अनुसार विषैली गैसों तथा शास्त्रों के प्रयोग का धोखे से मारने या घायल करने का और हथियार डाल देने वाले व्यक्ति को मारने का निषेध किया गया था। इसी प्रकार राजशास्त्र प्रणेता महर्षि मनु ने कहा है -"युद्ध में शत्रु को धोखा देने वाले कूट हथियार। ऊपर से लकड़ी के खोल वाले किन्तु उसके अन्दर गुप्त रूप से लोहे के तेज हथियार रखने वाला से लडाई न करें, यह लड़ाई लोहे की, नोक वाले (कर्णी) विष से बुझे हुए तथा जलती हुई आग वाले बाणों द्वारा नहीं होनी चाहिए। रथ से उतरकर जमीन पर आए, नपुंसक (प्राणदान के लिए) हाथ जोड़ने वाले (प्राण बचाकर भागने में) खुले बालों वाले तथा "मैं तेरा हूँ" ऐसा कहने वाले को, सोते हुए, कवच खोले हुए, नग्न, निःशस्त्र लड़ने वाले तथा लड़ाई देखने के लिए आये दर्शक, टूटे हथियार वाले, पुत्रादि के शोक से पीड़ित, बहुत अधिक घायल, डरे हुए तथा युद्ध से विमुख होकर भागने वाले को नहीं मारना चाहिए।"

---

१ पी० ई० कार्बेट—ला एण्ड सोसाइटी इन दी रिलेशन्स आफ स्टेट्स, पृष्ठ -४

२ हालैण्ड—इन्टरनेशनल लॉ, अष्टम संस्करण, पृष्ठ १०

एक आधुनिक विधिशास्त्री आर्थर नसबौम ने लिखा है कि मनु के यह नियम युद्ध सम्बन्धी विषयों पर अत्यधिक मानवीयता को प्रदर्शित करते हैं[1]। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन नियमों का भारत में सदा पालन हीं होता था। रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण काल में युद्ध एवं शान्ति कालीन नियम थे जिसका समुचित आदर किया जाता था। इतना ही नहीं शस्त्ररहित शत्रु के बध की भी प्रथा न थी। जब सेना रहित राम समुद्र पार करके लंका में उतर आये तब लंकाधिपति रावण ने दो गुप्तचरों (शुरु और सारण) को वानरी सेना में प्रवश करके उनके बल आदि का ज्ञान प्राप्त करन का आदेश दिया था, किन्तु, वे पकड़ लिये गये। जब वे राम के पास लाये गये, तब राम ने कहा—"तुम लोग मारे जाने या कैद किये जाने का भय न करो क्योंकि शस्त्रहीन मनुष्य या दूत मारे जाने के योग्य नहीं होते"—

नाघातयत्तदा रामः श्रुत्वा तत्परिदेवनाम्।
वानरानब्रवीद्रामो मुच्यतां दूत आगतः ।।६।२०।३५

जब एक योद्धा विपक्ष के किसी योद्धा से युद्ध में सलग्न रहता था, तब उस समय सहायता देना अनुचित माना जाता था। नील के साथ लड़ते, हुए रावण पर वार करना हनुमान् ने अनुचित समझते हुए कहा—हे रावण! तू दूसरे के साथ युद्ध कर रहा है, अतः तुम्हारे ऊपर आक्रमण करना उचित नहीं—

नीलेन सह संयुक्त रावण राक्षसेश्वरम्।
अन्येन युध्यमानस्य न युक्तमभिधावनम् ।।६।५९।७४

रामायण काल में सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द कर देने का विधान था। दिन भर युद्ध करने के बाद सैनिक सूर्यास्त की उत्सुकतापूवक प्रतीक्षा करते थे। स्त्रियों, युद्ध में सक्रिय भाग न लेने वालों, संधि की याचना करने वालों तथा शरणागतों को मारना पाप का काम समझा जाता था। किसी व्यक्ति पर अकारण ही वार करना, किसी और से लड़ते हुए सैनिक पर हमला करना, किसी एक व्यक्ति के अपराध के कारण असंख्य लोगों को मौत के घाट उतारना, शरणागत को शरण न देना निन्दनीय था। सोते हुए, शास्त्रास्त्रों से हीन, थके हुए, नशे में चूर या स्त्रियों से घिरे हुए शत्रु पर वार करना अनुचित था। इसी कारण बालि ने राम से कहा था—'अकारण ही किसी पर आक्रमण कर देना अशोभनीय है तथा उदासीन तटस्थ के प्रति युद्ध छेड़ना अनुचित हैं'। जब मेघनाद वानरी सेना का संहार करने लगा, तब लक्ष्मण युद्ध होकर राम से बोले—"मैं ब्रह्मास्त्र चलाकर सब राक्षसों को मार डालूँगा"। इस पर राम ने लक्ष्मण से कहा—"केवल इन्द्रजीत के कारण पृथ्वी के सब राक्षसों को मारना अनुचित है। युद्ध न करने वाले, अदृश्य, शरणागत और विक्षिप्त को भी नहीं मारना चाहिए।"

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्।
ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।। ६।८ ।३७
तमुवाल ततो रामो लक्ष्मण शुभलक्षणाम्।
नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि ।। ६।८।३८
अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलि शरणागतम्।
पलायन्तं प्रमत्तं वा नत्वं हन्तुमिहार्हसि ।। ६।८०।३९

यद्यपि रामायण कालीन भारत मे युद्ध सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का सविस्तार प्रतिपादन किया गया था, तथापि शत्रु की कमजोरियों से लाभ उठाना वर्जित न था। रामायण और महाभारत में अनेक घटनाएं हमारे समक्ष आती हैं। जब इन युद्ध-नियमों का बड़ी क्रूरता पूर्वक

---

१ आर्थर नसबोम—'एक कन्साइज हिस्ट्री ऑफ नेशन्स, पृष्ठ ६

उल्लंघन किया गया है। लक्ष्मण ने यज्ञ-कर्म में व्यस्त युवराज मेघनाद पर बार किया था और राम ने छिपकर बालि पर बाण चलाया था। उत्तरकाण्ड से ज्ञात होता है कि शत्रुघ्न से लवणासुर पर उस समय अकस्मात् आक्रमण किया था, जब उसके पास उसका विख्यात शूल नहीं था।

महाभारत काल में भी शान्ति और युद्ध सम्बन्धी नियम थे, जिनका आदर होता था। उद्योग पर्व में वर्णित परशुराम भीष्म युद्ध के आरम्भ में भीष्म ने कहा था कि—मैं रथ पर बैठा हूं और आप भूमि पर खड़े हैं। ऐसी दशा में मैं आप से युद्ध नहीं कर सकता। यदि आप समूरभूमि में मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथ पर आरुढ़ हो जाइए और कवच भी बांध लीजिए। इस युद्ध में कई बार परशुराम और भीष्म मूर्छित हुए किन्तु मूर्छित अवस्था में न परशुराम ने भीष्म की हत्या की न भीष्म ने परशुराम की। युद्ध चौवीस दिन तक अतवरत चलता रहा। नियमित रूप से प्रतिदिन सूर्योदय होने पर युद्ध आरम्भ होता था और सूर्यास्त होते ही समाप्त हो जाता था। अतः स्पष्ट है कि युद्ध सम्बन्धी नियम महाभारत के युद्ध के पूर्व रामायण काल में प्रचलित थे और उनका आदर बहुत तक होता था।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक नमूना यह है कि जब महाभारत-युद्ध के अन्त में दुर्योधन और भीम लड़ते-लड़ते थक जाते थे तब दोनों घड़ी भर विश्राम कर लेते थे। किन्तु यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लघन भी किया गया है। धर्मयुद्ध में नाभि से नीचे के अंग में गदा का प्रहार करने का विधान नहीं था, तथापि भीम ने दुर्योधन के जांघों पर बड़े वेग से गदा मारी और उस बज्र सरीखी गदा ने दुर्योधन की दोनों जांघों को तोड़ डाला और वह आर्तनाद करता हुआ जमीन पर गिर पड़ा। धर्मयुद्ध के नियम उल्लंघन करने के कारण बलराम को क्रोध हुआ और वे भीम की हत्या करने पर उद्यत हो गये। कृष्ण के रोकने पर वे भीम से संघर्ष करने से विरत हो गए किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि भीम संसार में कपटपूर्ण युद्ध करने वाला कहा जायेगा। इस अनियमित युद्ध से क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा ने रात्रि में सोए हुए पाण्डव पक्ष के अनेक वीरों की अन्यायपूर्ण रीति से हत्या की। एकाकी अभिमन्यु को बहुत से महारथियों ने मिल कर मारा था।

अतः रामायण कालीन और महाभारत कालीन युद्ध घटनाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्य राम और अनार्य लंकेश रावण ने तत्कालीन प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन किया, किन्तु महाभारत-काल में युद्ध के आरम्भ में आपस की राय से युद्ध सम्बन्धी नियम निश्चित हो जाने पर भी उभय पक्ष के वीरों ने समय-समय पर उसकी अवहेलना की जिस कारण वे निन्दित हुए।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा प्राचीन काल की अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी भारतीय धारणा में एक विशेष एवं महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम राष्ट्रों की प्रत्यक्ष अथवा परिलाक्षित सहमति पर निर्भर रहते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उनका जन्म होता है, किन्तु, प्राचीन भारत में ऐसा विश्वास था कि यह नियम धर्म पर आधारित था और उनका पालन भी इसी कारण किया जाता था कि उनकी अवज्ञा करना धर्म की अवज्ञा होगी और यह ईश्वरीय प्रकोप का कारण हो सकता था।

फिर भी सामान्य रूप से इन नियमों का पालन होता था। युद्धों के समय सैनिक मध्य युग को भाँति असैनिक जनता का क्रूरता पूर्वक संहार नहीं करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय भारत आये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने, उसकी पुष्टि करते हुए लिखा था—"निकटवर्ती प्रदेश में लड़ाई होने पर भी भूमि पर खेती करने वाले कृषक किसी प्रकार के भय से आंतरित नहीं होते क्योंकि युद्ध करने वाले कृषि में लगे व्यक्तियों के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते"।[1]

१—मेक्रिण्डल—एन्शेण्ट इण्डिया एज रिकार्डिड बाइ मेगस्थनीज फ्रगमेण्ट, पृष्ठ ३२

रामायणकालीन भारतवर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। सार्वभौम प्रमुसत्ताधारी नरेशों के बीच के सम्बन्ध ऐसी आचार्य-संहिता से अनुशासित होते थे, जो सर्वस्वीकृत सिद्धान्तों पर आधारित थी। इन सिद्धान्तों की कभी अवहेलना नहीं होती थी और यदि कोई व्यक्तिगत प्रभुसत्ताधारी शासक इन्हें भग करने का प्रयत्न करता था, तो उसके अपने परामर्शदाताओं अथवा सचिवों के द्वारा उसकी निन्दा की जाती थी। यही सिद्धान्त आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार बने हैं। पाश्चात्य विधिवेत्ताओं ओपेनटाइम इत्यादि का यह कथन कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्म यूरोप में हुआ और इस प्रकार वह पाश्चात्य सभ्यता की देन है, रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के प्रारम्भिक पाठों (ओरिजनल टेस्ट) के अध्ययन से मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन भारत में रामायण तथा परवर्ती महाभारत काल में राजपूत का पद उच्चतम योग्यता, चरित्र तथा स्टेट्स के व्यक्तियों के लिए उसी प्रकार सुरक्षित रहता था जैसे आज प्राय: है—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकार चेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ मनु०।७।६३

अर्थात राजा को ऐसे व्यक्ति को राजदूत नियुक्त करना चाहिए जो सभी कानूनो का विशेष ज्ञान रखता हो, जो लोगों के कार्यों, प्रतिक्रियाओं तथा अंग भंगियों से उनके उद्देश्यों को पहचानने की योग्यता रखता हो, जो उच्चतम चरित्र तथा चातुर्य का धनी हो।

इस सिद्धान्त के अनुरूप हनुमान् को राम तथा सुग्रीव को संयुक्त सेनाओं का लंका नरेश रावण को अल्टीमेटम देने के लिए दूत चुना गया। हनुमान के गुण, उनकी बौद्धिक क्षमता और चरित्र का रामायण में भी वर्णन हुआ है—

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धि: पराक्रम:।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥ किष्किंधाकाण्ड।४४।७

अर्थात् "हनुमान में व्यक्तित्व-दृढ़ता, ख्याति, चातुर्य, वीरतत्व, विनम्रता, शौर्य तथा उच्चतर बुद्धि वर्तमान है"। इस प्रकार हनुमान पूर्ण मनुष्य के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। बाद को युद्ध प्रारम्भ होने के पहले युवराज अङ्गद अन्तिम अल्टीमेटम देने के लिए राजदूत बनाकर लंका नरेश रावण के पास भेजे गये —

विभीषणस्यानुमते राजधर्ममनुस्मरन्।
अङ्गद बालितनयं समाहूयेदमब्रीत्"। ६।४१।५६
गत्वा सौम्य दशग्रीवं ब्रूहि मद्वचनात्कपे।
लङ्घयित्वा पुरीं लंकां भयं त्वक्त्वा गतव्यथ:॥ ६।४१।६०

इसी महाभारत काल में महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने के ठीक पहले श्री कृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर कौरवों के दरबार में हस्तिनापुर में भेजे गये थे, इस उद्देश्य से कि वे दुर्योधन के समक्ष अन्तिम शान्ति का प्रस्ताव रख सके। श्री कृष्ण ने इस दायित्व को स्वीकार कर लिया और दूत बन कर वहाँ जाने के लिए सहमत हो गए।

ऐतिहासिक काल में रामायण में प्रतिपादित सिद्धान्तो को 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने अपनाया और विकसित किया। कौटिल्य ने लिखा है—जो कोई व्यक्ति राजा के अमात्य बनने की योग्यता तथा पद रखता है वह दूत बन सकता है।

(क) राजनयिकों की कूटनीतिक दण्ड निरपेक्षता
(Diplomatic immunity of Ambassaders)

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक मुख्य स्तम्भ राजदूतों की कूटनीतिक दण्ड निरपेक्षता

है । रामायण में राजदूत के व्यक्तित्व की पवित्रता का सिद्धान्त् अनेक अवसरों पर प्रतिपादित एवं कार्यान्वित हुआ है और इस प्रक्रिया में राजा की इच्छाओं का भी विरोध हुआ है जो राजदूत को इस कारण मार देना चाहता था कि उसने अपने राजा की तरफ से एक अशिष्ट अल्टीमेटम दिया है ।

राजदूत हनुमान और लंका-नरेश रावण का साक्षात्कार रामायण के सुन्दरकाण्ड में विस्तार के साथ वर्णित हुआ है । हनुमान ने लंका-नरेश को किष्किंधा-नरेश की तरफ से एक संदेश जो दिया जो एक प्रकार का अल्टीमेटम ही था। लेकिन अपने राजा की तरफ से अल्टीमेटम देने के पहले उन्होंने लंका-नरेश का शिष्टता पूर्ण शब्दावली तथा कूटनीतिक भाषा में अभिवादन किया, जो अत्यन्त आधुनिक शिष्टाचार के समकक्ष प्रतीत होता है --

अहं सुग्रीव संदेशादिह प्राप्तस्तवालयम् ।
राक्षसेन्द्र हरीशस्त्वां भ्राता कुशलमब्रवीत् ॥ ५।५१।२

अर्थात "हे राक्षसों के नरेश, मैं आपके लिए वानरेन्द्र सुग्रीव से एक संदेश लाया हूँ । वानराधीश आपके भाई नरेश (ब्रदर किंग) हैं, उन्होंने अपना अभिवादन भेजा है"।

राजदूत हनुमान ने तब बिल्कुल सीधी सपाट भाषा में अल्टीमेटम सुनाया—"भाई नरेश सुग्रीव का संदेश धर्म और अर्थ से युक्त होने के कारण इस लोक और परलोक दोनों के लिए हितकारी है । इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथ के पुत्र राम धर्ममार्ग का आश्रय ले अपनी पत्नी सीता और भ्राता लक्ष्मण सहित दण्डकारण्य में आये थे । वहाँ से उनकी पत्नी जनक सुता सीता का कोई दुरात्मा चोर चुरा ले गया । उनकी खोज करते हुए दोनों भाई ऋष्यमूक पर्वत पर आये और उन्होंने वानरों के अधिपति सुग्रीव से मित्रता कर ली । उनके हित के लिए राम ने महाबली बलि का बधकर सुग्रीव को वानरों का अधिपति बनाया । अब हम वानर सीता की खोज में अपने स्वामी की आज्ञा से निकले हैं । मैं उन्हीं की खोज करता हुआ आपको लंका में आया हूँ । मैंने यहाँ अशोक वन में सीता को देखा है । आप महापति हैं । धर्मज्ञ हैं । अर्थकाम को भलीभाँति समझते हैं । अतः पराई स्त्री का इस प्रकार से हरण करके बलात् घर में रखना आपके लिए हर तरह अशोभनीय है । इसलिए हे रक्ष महापति, मेरी धर्मानुकूल बात मान 'सीता को मेरे मित्र राम को सम्मान सहित लौटा दीजिए अथवा सर्वनाश के लिए तैयार हो जाइए"—

तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च ।
मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ।
न सुखं प्राप्नुयादन्यः किं पुनस्त्वद्विधो जनः ।
यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते वशे ॥
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ।

(५।५१।२१-३४-३५)

[अर्थात कृपा मेरी विधि सम्मत सलाह पर ध्यान दें जो आपके भी हित में है और राम को जानकी लौटा दें । यदि आप ऐसा नहीं करते हैं तो मैं आपको चेतावनी (अल्टीमेटम) देता हूँ कि सीता की आपके राज्य में अनवरत उपस्थिति आपकी मृत्यु का कारण और आपके राज्य के सत्यानाश का कारण बनेगी ।]

राजदूत के इस अल्टीमेटम को सुनकर रावण अत्यन्त क्रोधित हुआ और यह आदेश दिया कि उसका वध कर दिया जाए । रावण की ऐसी आज्ञा सुन विभीषण ने हस्तक्षेप किया और कहा कि हे रक्षेन्द्र ! दूत अवध्य है । इसने भली भाँति अपना दूतत्व प्रमाणित किया है । आप धर्मात्मा

तथा प्रतापी सप्तद्वीपपति हैं। दूत-बध से आपका यश कलंकित होगा। इसलिए राजदूत की हत्या नहीं की जा सकती—

क्षमस्व रोषं त्यज राक्षसेन्द्र प्रसीद मद्वाक्यमिदं शृणुष्व।
वध न कुर्वन्ति परावरज्ञा दूतस्य सन्तो वसुधाधियेन्द्राः ॥५।५२।५

[अर्थात् हे राजन ! क्रोध को शान्त कर और क्षमा का ग्रहण कर आप प्रकृतिस्थ हो जाय और मेरी बात कृपा कर सुनें ! वह राजा जो विधि का ज्ञान रखता है, कथमपि दूत के बध का आदेश नहीं देगा। इस राजदूत का वध करना राजधर्म के विरुद्ध ही नहीं है बल्कि लोकाचार से निन्द्य हैं।

विभीषण के कथन पर आपत्ति प्रकट करते हुए रावण ने क्रुद्ध स्वर में कहा—"इस व्यक्ति ने स्वतः आचार संहिता का उल्लंघन किया है। इस पापिष्ठ ने अशोक-वन में बिना हमारी अनुमति के जाकर तथा वहां उपद्रव करके मेरे सैनिकों को मार डाला है और अपने पद का गम्भीर दुरुपयोग किया है। अतः इसका वध ठीक है"।

विभीषण ने उत्तर दिया—महिदेव प्रसन्न हों। इस मूर्ख ने भीषण कर्म किया है। इसका अपराध अतुलनीय है तथापि, यह दूत है। दूत का वध अनुचित है। हे राजन ! केवल उसी प्रकार का दण्ड दूत को दे सकते हैं, जिसका कानून में विधान हो।

तस्मात्प्रसीद शत्रुघ्न राक्षसेन्द्र दुरासद।
युक्तायुक्तं विनिश्चित्य दूते दण्डो विधीयताम् ॥५।५२।९

अर्थात् हे राक्षसराज ! इस बात का निश्चय करने के बाद क्या उचित है और क्या अनुचित है। इस दूत को कुछ ऐसा दण्ड दे जो राजदूत के संदर्भ में उचित होता हो।

लंकेश रावण फिर भी मान नहीं सका और बोला—

न पापानां वधे पापे विद्यते शत्रुसूदन।
तस्मादेनं विधिष्यामि वानरं पापकारिणम ॥५।५२।११

अर्थात जिस राजदूत ने स्वयं आचार्य संहिता का उल्लंघन किया है, उसका वध करना अवैधानिक नहीं है। इस व्यक्ति ने अनेक राक्षस सैनिकों का संहार किया है और इस प्रकार नर हत्या का अपराधी है। मैं उसके इन अपराधों के दण्डस्वरूप उसका वध करवाऊँगा। लेकिन विभीषण ने पुनः आग्रह किया कि उसमे जो भी अपराध किये हों राजदूत का व्यक्तित्व पवित्र होता है और उसकी हत्या नहीं की जा सकती—

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र धर्मार्थयुक्तं वचनं शृणूष्व।
दूतानवध्यान्समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदान्ति सन्तः। ५।५२।१३

अर्थात् हे राक्षसधिराज ! इस मामले में कानून का क्या सारतत्व है, इसे कृपया सुने। बुद्धिमानों ने यह घोषणा की है कि राजदूत के व्यक्तित्व के साथ छेड़खानी नहीं की जा सकती। और सभी अवस्थाओं में उसकी हत्या नहीं की जा सकती।

तदुपरान्त विभीषण ने राजदूत हनूमान के द्वारा किए गये विधि उल्लंघनों के विषय में विचार-विमर्श किया—

असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः कृतं ह्यनेना प्रियम प्रमेयम्।

अर्थात इसमें कोई संदेह नहीं कि यह दूत हम लोगों का शत्रु है और उसने ऐसे अपराध किये हैं जिनके समान्तर उदाहरण नहीं मिलते, तथापि—

न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा वहवोहि दण्डाः ५।५२।१४

अर्थात सन्तों ने यह निर्देश दिया है कि राजदूत की हत्या की अनुमति नहीं दी जा सकती, क्योंकि राजदूत के लिए अन्य अनेक प्रकार के दण्डों का विधान है—

वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्य तथा लक्षणसन्निपातः।
एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्यननः श्रुतोऽपि ॥ ५।५२।१५

अर्थात अंग-भंग, कशाघात (कोड़े से मारना), सिर का मुण्डन, छेदन तप्तशला-कादाह इत्यादि ये ही निर्धारित दण्ड हैं। इस प्रकार राजदूत की हत्या के लिए कोई विधान नहीं है। पुनः विभीषण ने कहा कि आप जैसे धर्मार्थ-शिक्षित बुद्धि वाले तथा अच्छे बुरे को जानकर निर्णय करने वाले लोग भला किस प्रकार क्रोध के वश होते हैं।

व्यवसायवन्तों को तो क्रोध को अपने वश में रखना चाहिए। हे राजन्! धर्मशास्त्र के ज्ञान में, लोकाचार में और शास्त्र के विचार आपकी टक्कर का कोई तो नहीं दीख पड़ता। इस समय तो इन विषयों के ज्ञान में आप सुर और असुर सब ही में सर्वोत्तम माने जाते हैं। अधिक कहाँ तक कहूँ—पराक्रम, उत्साह और शौर्यवानों देवता और असुर हैं, उन सबसे आप दुर्जेय हैं। अनेक संग्रामों में आप इनको पराजित कर चुके हैं। लेकिन राजदूत का वध अश्रुत है—अनुचित है।

(ख) राजदूत के व्यक्तित्व की पवित्रता (Imialability of an Envoy)

तब विभीषण ने उस सिद्धान्त की व्याख्या की, जिस पर राजदूत के व्यक्तित्व की पवित्रता आधारित थी।

साधुर्वा यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः।
ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति ॥ ५।५२।२१

अर्थात् राजदूत चाहे साधू हो अथवा असाधु, यह वास्तविक प्रश्न नहीं है क्योंकि वह अन्य के द्वारा भेजा गया केवल दूत है और उस दूसरे के हित में भाषण करता है अतः राजदूत को कभी मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता।

विभीषण ने यह भी बताया कि राजदूत के शब्दों तथा कृत्यों का सम्पूर्ण दण्ड उसके स्वामी के लिए सुरक्षित होना चाहिए। मुझे तो इस राजदूत के मरवा डालने में कुछ भी अच्छाई नहीं दीख पड़ती। इसके अतिरिक्त एक और विचारणीय बात यह है कि इसके मारे जाने पर, मुझे दूसरा ऐसा दीख भी तो नहीं पड़ता, जो समुद्र पार कर फिर यहाँ आ सके। हे शत्रुपुरजयी! अतएव इसके वध के लिए यत्न न कर, बल्कि वध करने की इच्छा ही है, तो आप उन्हीं राजकुमारों पर चढ़ाई करने की तैयारियाँ कीजिए। हे महिदेव! यदि इस दूत को मार डाला गया तो फिर ऐसा दूत नहीं मिलेगा जो इतनी दूर और ऐसे अवरुद्ध मार्ग से जाकर, उन दोनों दुर्विनीत और तुम्हारे बैरी राजकुमारों को लड़ने के लिए उत्साहित करे। इस राजदूत की हत्या से सब लोग तुम्हारी सर्वत्र निन्दा करेंगे। ऐसा करने से तो इसमें न तो तुम्हारे लिए यश की और न कोई भलाई की बात ही दीख पड़ती है। प्रत्युत इससे तो संसार भर में तुम्हारी निन्दा ही होगी—

अस्मिन्हते वानरयूथमुख्ये सर्वापवादं प्रवदन्ति सर्वे।
न हि प्रपश्यामि गुणान्यशो व लोकापवादो भवति प्रसिद्धः ॥ ५।५१।२५

अन्ततोगत्वा रावण को यह विश्वास हो गया और उसने स्वीकार किया कि विभीषण ने सही ढंग से कानून की व्याख्या की है (५।५२।२६ इस प्रकार लंकानृपति जिसके सम्मुख बड़े-बड़े राजा काँप उठते थे, अन्तराष्ट्रीय विधि के स्थापित सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं कर सका और उसे दूत के व्यक्तित्व की पवित्रता की रक्षा करनी पड़ी।

रावण ने अपने भाई विभीषण से कहा—तुम्हारे तर्कों में बल है। मैं स्वीकार करता हूँ

कि दूत की हत्या की कानून में भर्त्सना की गई है लेकिन उसे कोई दूसरा दण्ड अवश्य मिलना चाहिए।

सम्यमुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता।
अवश्यं तु वधादन्यः क्रियतामस्य निग्रहः ।। ५।५३।२

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि रामायण काल में अन्तराष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त को इतना पवित्र माना जाता था कि लंका के सर्वशक्तिमान् नरेश को भी इसकी आज्ञा माननी पड़ी।

शताब्दियों का अन्तराल व्यतीत हो चुका और रावण के ऊपर राम की विजय का वृतान्त भारतीय इतिहास एव भारतीय परम्परा का एक अंग बन गया। अब रंगमञ्च हस्तिनापुर चला आता है, जहाँ कुछ जाति के राजा राज्य करते थे। कौरव और पांडवों के बीच युद्ध होने वाला था लेकिन श्री कृष्ण से शान्ति बनाये रखने के लिए एक अन्तिम प्रयास करने का अनुरोध किया गया—जो शनि युद्ध कौरवों तथा पांडवों में विगत १३ वर्षों से सुलगता आ रहा था, उसे उष्ण युद्ध (हाट वार) में परिवर्तित होने से रोकने का दायित्व श्री कृष्ण को सौंपा गया। उन्होंने राजा युधिष्ठिर का राजदूत बनकर राजा धृतराष्ट्र के दरबार में जाना स्वीकार कर लिया। ऐसा करने में वे कौरवों और पाण्डवों दोनों का हित-चिन्तन कर रहे थे। लेकिन शकुनि और कर्ण षडयन्त्र कर दुर्योधन ने कौरव की सभा में यह प्रस्ताव रखा कि कृष्ण को बन्दी बना लिया जाय जिससे पाण्डवों के सबसे शक्तिशाली समर्थक का बल उन्हें प्राप्त न हो सके।

दुर्योधन के इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया उल्लेखनीय है। उसके इस प्रस्ताव ने कौरव के प्रत्येक सदस्य को गहरा आघात पहुँचाया और सबसे पहले उसके पिता धृतराष्ट्र ने ही इस प्रस्ताव की निन्दा की —

"हे दुर्योधन तुम्हें राजा होकर इस प्रकार के शब्दों का आचरण नहीं करना चाहिए। तुम्हारा प्रस्ताव सनातन धर्म अर्थात् प्राचीन विधि के विरुद्ध है। श्री कृष्ण दूत बनकर हम लोगों के पास आये हैं। उन्होंने हम लोगों का कोई अपराध नहीं किया है। तुम्हें उन्हे बन्दी बनाने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है।"

सभा के सबसे वयोवृद्ध सदस्य भीष्म पितामह तो इतने दुःखी हुए कि दुर्योधन के प्रस्ताव की भर्त्सना करने के अनन्तर वे सभा से उठकर बाहर चले गये। उन्होंने कहा—

"इस व्यक्ति ने सभी अर्थात् विधियों की अवहेलना की है और वह अपराध और पाप करने पर उतारू हो गया है। मैं उसकी बातों को सुनने के लिए तैयार नहीं हूँ। ऐसा कथन करने के बाद उस वयोवृद्ध प्रख्यात योद्धा ने सभा-भवन त्याग दिया।" इससे यह ध्वनित होता है आधुनिक 'वाक आउट प्रथा' आधुनिक पद्धति नहीं बल्कि प्राचीन पद्धति है।

इस प्रकार रामायण काल में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्णायक कानून में यह एक मौलिक नहीं होना चाहिए और उसे कूटनीतिक दण्डानिरपेक्षता मिलनी चाहिए। यह सिद्धान्त इतना पवित्र बन गया था कि इसके उल्लंघन के किसी प्रस्ताव की तीव्र निन्दा होती थी। इन तथ्यों में अन्तर निहित सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। कोई नियम एक दिन में पवित्रता का दावा नहीं कर सकता। इसका एक जन्म होता है, तब यह विकसित होते-होते एक अभ्यास बन जाता है, तब यह एक रीति के रूप में बदल जाता है और अन्ततोगत्वा उसे सनातन धर्म अथवा प्राचीन विधि का दर्जा प्राप्त हो जाता है। इस सम्पूर्ण काल में इसी प्रकार का व्यवहार अबाधित रूप से किया जाता होगा। इसी प्रकार रामायण काल में यह पहले से ही कानून का रूप ग्रहण कर चुका था और प्राचीन आचार-संहिता के दर्जे तक पहुँच चुका था। यह सम्पूर्ण विकास ऐसे राज्यों के बीच जिनमें से सभी राजतन्त्र नहीं थे, लगातार सम्बन्धों के दबाव में ही सम्भव हो सकता था।

अतः रामायण का अध्ययन आधुनिक विधिवेता के लिए एक रुचि का विषय बन जाता है, क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्राय विधि के कतिपय मौलिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है जो प्राचीन भारत में रामायण में भी स्वीकृत तथा मान्य थे। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि अन्तराष्ट्रीय विधि का अविर्भाव यूरोप में नहीं बल्कि भारत में हुआ था।

अध्याय ६

उपसंहार—उपलब्ध तथ्य तथा उनका मूल्यांकन

उपसंहार-(उपलब्ध तथ्य तथा उनका मूल्यांकन)

वाल्मीकि रामायण का प्रणयन उस समय हुआ जब वैदिक मूल्यों का ह्रास हो चुका था और अध्यात्मिक बेचैनी का अनुभव हो रहा था। समस्त वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म विशिष्ट जनों की वस्तु बनकर रह गया था, नये बाद और मत अस्तित्व में आ गए थे, जो मोक्ष का रास्ता जरूर सुझा रहे थे, लेकिन वे जन-मानस में नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं कर पा रहे थे, इस लिए रामायण के जीते जागते पात्रों और विकल्प युक्त परिस्थितियों के जरिए जीवन के नैतिक मूल्यों की स्थापना की गयी।

रामायण के पात्रों के सामने दो तरह की नाजुक परिस्थितियाँ आती हैं—एक तो वे जिनमें तात्कालिक लाभ के लिए बृहत्तर मानवीय मूल्यों का तर्कसंगत रास्ता छोड़ा जा सकता है और दूसरी वे जहाँ पात्र के सामने दो तरह के बहुमान्य परम्परागत और प्रकटतः तर्कसम्मत मगर पर-स्पर विरोधी मूल्य प्रस्तुत होते हैं और परिस्थिति उन्हें दो में से एक का चुनाव करने के लिए बाध्य करती है। ऐसी परिस्थितियों में ही असली नैतिक शक्ति की परीक्षा होती है और महान् या सद्पात्र मूल्यों की कसौटी पर खरा उतरता है। रामायण के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि रानी कैकेयी, जो पहले बुरी नहीं थी, मंथरा की बातों मे आकर स्वार्थ के वशीभूत हो गई और राजा दशरथ ने जनहित और ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का परित्याग करके वचन का पालन (कुल की परम्परा का अंधानुकरण) करना स्वीकार कर लिया। दोनों ने चारित्रिक कमजोरी प्रस्तुत की और उसका फल भुगतना पड़ा, क्योंकि, जिन्दगी कमजोरों को क्षमा नहीं करती। इस तरह रामायण के पात्र विवेक और साहस की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं जिससे कि उच्चतर मूल्यों—सत्य और न्याय की खातिर स्वार्थ की प्रवृति का विरोध किया जा सके।

हमारी दृष्टि में जटायु का प्रसंग 'सक्रिय नैतिकता' का सर्वोत्तम उदाहरण है, क्योंकि वह जानता था कि लंकेश रावण से भिड़ने का क्या नतीजा होगा। इसी तरह विभीषण ने भी रावण-विरोध या राम का समर्थन सक्रिय होकर किया और—(उसे घर का भेदिया भले ही कहा जाता हो मगर) उसने जो कुछ किया वह 'बहुजन हिताय' की कसौटी पर खरा उतरता है। सारी परि-स्थितियाँ इस तरह आती हैं कि पात्र के सामने एक से अधिक रास्ते होते है और नैतिक संघर्ष की गुंजाइश रहती हैं। सचमुच महान पात्रों में वह रहस्यमय क्षमता होती है जों शुद्ध व्यक्तिगत हित को दबाकर किसी आदर्श या सिद्धान्त को प्राथमिता देती है। नैतिक संकट की घड़ी में जो पात्र सही चुनाव करके चमकते हैं उनके द्वारा रामायण इस सर्वोच्च नैतिक मूल्य की ओर इंगित करता कि जीवन में दुःख के प्रति उचित दृष्टि क्या हो ? यह संदेह काल से परे है।

रामायण राम और रावण के लम्बे तथा घनघोर युद्ध का वर्णन करता है। स्पष्ट है कि रावण का सैन्य बल इतना प्रबल और उसके भौतिक यंत्रों की शक्ति इतनी प्रलयङ्कर थी कि उस को जीतना सरल कार्य न था। राम वानर राजाओं, उनकी सेनाओं तथा उनकी कुशल युद्धकला के सहारे ही दीर्घकालीन युद्ध में रावण को परास्त कर विजय अर्जित कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध मानवीय नियति का प्रारम्भ से ही निर्धारक रहा है—मानवीय गरिमा का प्रतिष्ठापक भी और मानवीय कदर्थना का विस्फूर्जक भी।

रामायण में भारत की जो पुरातन ऐतिहासिक अनुश्रूति संग्रहीत है, वह भारत के प्राचीन

राज्यों की शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश डालती है । ग्रीस और इटली के प्राचीन इतिहास में जिन्हे नगर राज्य (सिटी-स्टेट्स) कहा जाता है उन्हीं को रामायण काल में पौर-जानपद कहा जाता था । प्राचीन समय में भारत बहुत से जनपदों में विभक्त था, जिनमें से कुछ में राजतंत्र शासनों की सत्ता थी और कुछ में गण शासन की । अनेक विद्वान 'पौर' से पुर के निवासियों का अर्थ लेते रहे हैं । पर श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दू पॉलिटी में इन शब्दों पर विस्तार के साथ विचार कर यह परिणाम निकाला है कि पौर और जनपद दो सभाओं की संज्ञा थी, जो राजा को पदच्युत कर सकती थी, उसके स्थान पर नया राजा नियुक्त कर सकती थी, मंत्रि-परिषद जो नीति निर्धारित करे उसकी सूचना जिनके अध्यक्ष को दिया जाना आवश्यक था, जब राजा को कोई नया टैक्स लगाना हो तो जिनके सम्मुख वह उसकी स्वीकृति व अनुपस्थिति के लिए सविनय उपस्थित होता था; प्रधानमंत्री के प्रति जिनका विश्वास होना आवश्यक समझा जाता था, सार्वजनिक घोषणाओं में जिनको प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता था जिनके आक्रोस से प्रान्तीय शासक अपदस्थ हो सकते थे। जो ऐसे कानून बना सकती थी जो कि राजा के विरुद्ध हो; और जो प्रतिकूल होने पर राजा के शासन कार्य को असम्भव बना सकती थी [1]। श्री जायसवाल ने जिस ढंग से पौर जनपद सभाओं का निरुपण किया है उससे सूचित होता है कि यह रामायण युगीन भारत की पार्लियामेन्ट थी, जो राज्यशासन के सम्बन्ध में प्रायः वही स्थिति रखती थी जो कि संसद प्रणाली वाले राज्यों में आजकल पार्लियामेन्ट को प्राप्त है ।

पाश्चात्य लेखक प्रायः भारतवर्ष को निरंकुश नरेशों की पालिका धरती के रूप में वर्णित करते हैं । हमारी प्राचीन सभ्यता की यह व्याख्या रामायण के अध्ययन से मिथ्या सिद्ध हो जाती है । प्रत्येक स्तर (स्टेज) पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने के पूर्व मंत्री, सचिव तथा मुख्य सेनाधिकारी विचार-विमर्श में भाग लिया करते थे । ऐसे विचार विनिमय में स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रकट करने की आजादी रहती थी और राजा के सलाहकारों द्वारा स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्पष्ट भाषण किए जाते थे । अन्ततोगत्वा निर्णय वही लिया जाता था जो लोकमत के अनुकूल होता था । इस सम्बन्ध में राम के राज्यभिषेक एवं सीता के वनवास के दो उदाहरण लिए जा सकते हैं जिनका विशेष राजनीतिक महत्व है । रामायण में उपलब्ध ये दोनों तथा अनेक प्रसंग यह व्यक्त करते हैं कि रामायण-काल में राजा निरंकुश नहीं होता था और जनता की इच्छा का पालन करता था ।

राजनीति दर्शन के आधुनिक विद्यार्थियों के लिए रामायण का अध्ययन मूल्यवान् सिद्ध हो सकता है क्योंकि उससे राजा के शासन करने के अधिकार और शासक तथा शासित के सम्बन्धों आदि पर प्रकाश पड़ता है । एक ही काल में शासन के स्वरूप तथा संस्थाएँ एक देश से दूसरे देश में बदला करती हैं । सम्प्रति- संसदीय लोकतन्त्र, अध्यक्षीय लोकतन्त्र तथा सोवियत पद्धति वाला लोकतन्त्र ये शासन की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं, लेकिन वह मौलिक सिद्धान्त जो सभी प्रकार की लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्थाओं के ऊपर है तथा जिस पर प्रत्येक लोकतत्रीय प्रणाली स्थापित होनी चाहिए वह यह है कि जनता की राय का अन्ततोगत्वा पालन होना चाहिए और हमारी शासन संस्थाओं को लोकमत के प्रति सम्वेदन शील रहना चाहिए ।

प्रत्येक शासन पद्धति के चाहे उसका बाह्य रूप कुछ भी हो, मौलिक गुण की यही सच्ची कसोटी है । प्राचीन भारत रामायण-काल में इस कसौटी सर कितना खरा उतरता था—रामायण इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर आलोक डालता है उत्तरकाण्ड में राम ने अपने एक गुप्तचर विभाग के

---

१ जायसवाल : 'हिन्दू पॉलिटी' भाग दो, पृ० १०८

अधिकारी 'भद्र' से पूछा कि "लोक उनके विषय में तथा राजा के रूप में, उनके आचरण के विषय में क्या सोचते हैं" ? क्योंकि, वे जनमत के अनुकूल अपने आचरण को मोड़ना चाहते थे। उन्होंने भद्र से साफ-साफ तथा सत्य और निर्भीक भाव से कथन करने के लिए प्रोत्साहित किया—

शुभाशुभानि वाक्यानि कान्याहुः पुरवासिनः।
श्रुत्वेदानीं शुभ कुर्या न कुर्यामशुभानि च ॥ उ०का०।४३।१०

—मुझे बताओ कि मेरे पुरवासी (नागरिक) किस काम को अच्छा समझते हैं और किस काम को अनुचित मानत हैं जिससे उनकी राय जानने के बाद उसी के अनुरूप अपने आचरण को मोड़ूँगा और उन कार्यों से बचने का प्रयत्न करुँगा, जिन्हें हमारी प्रजा अनुचित और अशुभ समझती है"।

इस पर 'भद्र' ने राम से कहा हे राजन ! पुरवासी मनुष्य चौराहों पर, बाजार में, सड़कों पर तथा वन और उपवन में लंका के राजा के द्वारा अपहरण कर लिए जाने के बाद सीता को पुनः वापस लेने के कृत्य की निन्दा करते हैं। यदि ऐसा कोई अवसर उपस्थित होता है तो हम पुरवासी भी उनके उदाहरण का अनुकरण करेगें, क्योंकि जैसा राजा करता है प्रजा भी उसी का अनुकरण करने लगती है (७।४३।१७-१६)।

तदन्तर राजा राम ने अपने परिषद की एक बैठक बुलाई जिसमें अपसे भाइयों को भी सम्मिलित किया और अपनी पत्नी के निर्वासन के निर्णय की घोषणा की। राम का यह कार्य प्रचुर विवाद का विषय बनता रहा है तथा आधुनिक चिन्तकों द्वारा इसका अनुमोदन नहीं किया गया है। यह वास्तव में बहुत कठोर एवं सीता के सिए नितान्त अनुचित और अन्यायपूर्ण निर्णय था।

लेकिन राजनीतिक दार्शनिक के लिए सीता के निर्वासन के संदर्भ का महत्व यह है कि रामायण काल में राजा तथा प्रजा के बीच रहने वाले सम्बन्धों पर इससे प्रकाश पड़ता है। यह सूचित करता है कि उस काल में राजा जनमत के प्रति कितना प्रतिक्रियाशील था और राजा की इच्छा के ऊपर जनता की इच्छा की वरीयता को कितना सम्मान देता था। सीता का निर्वासन इस सिद्धान्त का पुष्टीकरण है कि जनमत का आदर होना चाहिए। इसे राम ने स्वीकार किया और पर्वतीय युगों में यह भारतीय राजनीति का स्वीकृत सिद्धान्त बन गया।

यह सिद्धान्त महाभारत काल में और आगे विकसित हुआ। शान्ति पर्व में यह लिखा गया है कि—" अगर कोई राजा परम्परागत समझौते की अवहेलना करता है तो वह अपने राजा के अधिकार से वंचित हो जाता है। यदि कोई राजा इस प्रकार की शपथ लेने के बाव अपनी प्रजा की रक्षा करेगा, वह रक्षा प्रदान करने में असफल होता है तो उसका पागल कुत्ते की तरह बध कर देना चाहिए"।

मौर्य साम्राज्य के ऐतिहासिक काल में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वर्णन किया है— "प्रजा के सुख में राजा का सुख निहित रहता है। जनता की इच्छा ही सर्वोपरि है और राजा को उसके सामने अवश्य नतमस्तक हो जाना चाहिए"। कौटिल्य ने एक ऐसे सिद्धान्त को दुहराया जिसका निरूपीकरण रामायण मे पहले से ही हो चुका था। अतः प्रकारान्तर से रामायण इस तथ्य को प्रकट करता है कि पाश्चात्य लेखकों द्वारा प्रचारित यह विचार कि प्राचीन भारत में राजतन्त्र निरंकुश था, मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

युद्ध दो या अधिक राज्यों के बीच एक प्रकार की सशस्त्र प्रतियोगिता है। इसका उद्देश्य शक्ति के प्रयोग द्वारा शत्रु को परास्त करना होता है पर आदिकाल से ऐसा परम्परागत नियम चला आया है कि शक्ति का प्रयोग केवल कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार ही किया जाता है,

मनमानी रीति से नहीं। वास्तव में युद्ध एक अनिवार्य विकार है जिसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है क्योंकि विषम राग का उपचार तिक्त औषधि ही होती है, होम्योपैथिक औषधि नहीं। युद्ध का आरम्भ अन्याय ही करता है। फिर धर्म, नीति, तथा न्याय के मार्ग पर चलने वालों के लिए उसकी चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता। शान्ति प्रेमी को को भी युद्ध की ज्वाला में कूदना पड़ता है। वस्तुतः अस्तित्व और सम्मान का युद्ध पाप नहीं है, बल्कि अत्याचार का प्रतिशोध न लेना पाप है। इसीलिए युद्ध शाश्वत सत्य है।

जैसा कि पिछले अध्याय में उल्लेख किया गया है कि रामायण युगीन युद्ध दो प्रकार के थे —धर्म युद्ध और कूट युद्ध।

वास्तव में धर्म युद्ध कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार संचालित होता था। ये नियम मानवोचित दयादि गुणों से युक्त होते हैं। इसका उद्देश्य शत्रु-सेना का संहार करना ही नहीं होता, प्रत्युत उससे पराजय स्वीकार कराना और अधिक से अधिक उसे करद् बनाना मात्र होता है, क्योंकि धर्म-युद्ध का उद्देश्य तो धर्म का संस्थापन और अधर्म का नाश करना होता है। यदि किसी शत्रु से धर्म युद्ध द्वारा विजय पाना असम्भव दिखता था तो छल-कपट का आश्रय लिया जाता था। कूट-युद्ध का एक मात्र उद्देश्य छल बल से शत्रु को मारना ही होता है। इसमें पूर्वोक्त नियमों का पालन नहीं किया जाता।

मल्ल-युद्ध या कुश्तीबाजी उस समय को सर्वाधिक प्रचलित युद्ध प्रणाली थी। उसे बहु-युद्ध, द्वन्द्वयुद्ध, मुष्टि-युद्ध, गदा-युद्ध आदि नाम से सम्बोधित किया गया है। पर इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य था, लेकिन पैंतरेबाजी की कुशलता पर ही हार या जीत निर्भर करती थी।

गुरिल्ला युद्ध प्रणाली भी तत्कालीन समय की प्रमुख प्रचलित प्रणाली थी, क्योंकि, वानरों की लड़ाई अधिकांशतः इसी प्रणाली द्वारा सम्पन्न होती थी। छापामार लड़ाई या गुरिल्ला वारफेयर उसको कहते हैं जिसका प्रयोग सदैव क्रान्तिकारी युद्ध में होता है. क्योंकि आज कोई झगड़ा या विद्रोह अथवा क्रान्तिकारी आन्दोलन होता ही नहीं जिसमें छापामार कार्यवाही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका न अदा करती हो, रूस, चीन, वियतनाम और भारत का वर्तमान इतिहास इस बात का साक्षी है। गुरिल्ला का अर्थ है – अनियमित युद्ध, परन्तु इसका अर्थ उस असैनिक सैनिक से हो गया है जो इस अनियमित युद्ध में इच्छानुसार भाग ले।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार –"गुरिल्ला युद्ध वह छिट-पुट ढंग से लड़ा जाने वाला युद्ध है जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करते, हुए छोटे-छोटे समूहों अथवा गिरोहों द्वारा लड़ा जाता है।

शाब्दिक रूप से 'गुरिल्ला' नामकरण नेपोलियाई युद्धों में हुआ। जब स्पेन की नियमित सेना, नेपोलियन की शक्तिशाली सेना का सफल विरोध न कर सकी (१८०६-१८१४ ई०) तो उन्होंने गुप्त रूप से छिपकर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। ये छोटे-छोटे समूहों में अज्ञात दिशा से आकर अचानक शत्रु पर तीक्ष्ण प्रहार करने लगे। इन दस्तों का नाम 'गुरिल्ला' पड़ा जिसकी स्पेनी भाषा में अर्थ होता है 'छोटा युद्ध'। इसके सैनिकों को 'गुरिल्लेरो' कहा गया है।

पर 'गुरिल्ला-युद्ध' की कहानी का वास्तविक प्रारम्भ मानव की दमन के प्रति विद्रोह करने की जन्मजात अभिलाषा में निहित है और इसका उदय मानव के अर्द्ध-सभ्य पूर्वजों के उन संघर्षों में ही खोजा जा सकता है जब आदि मानव ने प्रकृति के विरोधी तत्वों एवं अन्य शत्रुओं का छिपकर सामना किया था। ऐतिहासिक रूप से इसका सर्वप्रथम उल्लेख लगभग ३६०० ई० पू० के चीनी इतिहास में मिल जाता है। जब हवांग जाति के सम्राट हवांग ने 'शीयाओ' के नेतृत्व में हुए मियों जाति के लम्बे संघर्ष का सफल सामना गुरिल्ला-प्रणाली से किया था। ऐसा ही

कुछ इतिहासकारों का मत है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये इतिहासकार माओं के इन वाक्यों में अटूट श्रद्धा एवं विश्वास रखते हैं कि "छापामार क्रिया और नियमित युद्ध में केवल श्रेणी और उसके प्रभाव का अन्तर ···· । छापामार युद्ध की प्रमुख विशेषता उसकी अक्रामक शक्ति है और इस क्रिया में नियमित युद्ध की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक रूप में पायी जाती है ।"[1]

इस बात से मैं सहमत नहीं कि छापामार युद्ध का प्रयोग चीनी राजाओं ने ही सर्व प्रथम किया, क्योंकि उस समय अनेकों महान विद्धानों ने जन्म लिया, परन्तु किसी ने लेखों अथवा ग्रन्थों में छापामार युद्धों का उल्लेख नहीं किया। यदि इसी बात को अपना कर मान लिया जाय तो भारत में भी ऐसे धुरन्धर सन्तों और कवियों की कमी न थी। रामायण के ओरिजनल पाठों के अध्ययन से उक्त बात मिथ्या सिद्ध हो जाती है। भारत जो हमेशा ही युद्ध की दुन्दुभि से गुंजरित होता रहा, इस नीति को अपनाता रहा है। रामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध में वानरों द्वारा गुरिल्ला युद्ध प्रणाली के अपनाये जाने के अनेकों प्रसंग मिलते हैं। यहाँ तक कि युद्धकाण्ड के पृष्ठ कारनामों से रंगे पड़े हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म युद्ध और कूट युद्ध के अतिरिक्त काण्ड के कुछ प्रसंगों से मुझे आर्थिक और मनोवैज्ञानिक युद्धों के भी लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

आधुनिक युद्धों की भांति तत्कालीन युग में भी दीर्घकालीन युद्ध होते थे। पाश्चात्य होमरे कृत 'इलियड' में वर्णित ट्राय युद्ध लगभग १० वर्षों तक चला था जिसकी तुलना हम वियतनाम अमेरिका युद्ध से कर सकते हैं। रामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध कुल ३२ दिन चला था। १३ वें साल की समाप्ति होते-होते सुपर्णखा का विरुपीकरण, खर-दूषण युद्ध एवं सीताहरण आदि घटनाएँ घटित हुई। सीता अपहरण सम्भवतः मार्गशीर्षान्त (अगहन) अथवा पौषारम्भ में हुआ था। रावण ने अशोक वाटिका में सीता को केवल एक वर्ष का समय देते हुए कहा था—"हे सीते! यदि १२ महीने के भीतर यदि तू मुझे स्वीकार न करोगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातः कालीन भोजन (कलेवा) के लिए तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे (अ का. । ५६।२४-२५) ।" दोनों भाई ग्रीष्मान्त में किष्किधा पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर तथा बालिवध और सुग्रीव का राज्याभिषेक कराकर श्रावण भाद्रपद भर प्रवर्षण गिरि पर रह कर प्रथम आश्विन में वानरों को चारों ओर सीतान्वेषणार्थ भेजा था। वह समय हनुमान अंगद आदि ने मार्ग की जानकारी न होने के कारण समुद्र तट तक पहुँचते ही समाप्त हो गया (३।५३।७-९)। द्वितीय आश्विन के प्रारम्भ में हनुमान लंका पहुँचे तब सीता ने संदेश रूप मे कहा—

"हे हनुमान ! राम से जाकर कहना कि यह वर्ष जब तक पूरा नहीं हो जाता, तभी तक मेरा जीवन शेष है। यह दसवां महीना चल रहा है। अब वर्ष पूरा होने में मात्र दो ही मास शेष हैं। निर्दयी रावण ने मेरे जीवन के लिए जो अवधि निश्चित की है, उसमें इतना ही समय बाकी रह गया है (५।३६।७-८) ।"

पुनः सुन्दर काण्ड में ही सीता ने कहा है—"तुम मेरे स्वामी सूरवीर श्री राम से बारंबार कहना—'दशरथनन्दन ! मेरे जीवन की अवधि के लिए जो मास नियत है, उनमें से जितना शेष है, उतने ही समय तक में जीवन धारण करूँगी। उन अवशिष्ट दो महीनों के बाद मैं जीवित नहीं रह सकती। यह मैं आपसे सत्य की शपथ खाकर कह रही हूँ" (५।३८।६४-६५)।

हनुमान से सूचना प्राप्त करने के बाद दूसरे आश्विन राम ने सैन्य-दल सहित लंका पर

---

1 ई० आर० ह्यूजेज : चाइनीज फिलासफी इन क्लैसिकल टाइम्स ।

चढाई की। देवी भागवत पुराण के अनुसार भी आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक देवी पूजा करके राम ने उसी दिन लंका के लिए प्रस्थान किया। 'हनुमन्नाटक' में भी ऐसा ही विवरण है—

अथ विजयादशम्यां आश्विने शुक्लपक्षे,
दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः (७,२)

समुद्र को तीन दिन तक मनाने के बाद नल-नील द्वारा पाँच दिन में १०० योजन (८०० मील अथवा ४०० कोस) लम्बा और दस योजन पुल तैयार हुई (६।२२।६८-७३)। समुद्र पार करने के बाद जिस तिथि को राम सेना सहित सुवेल पर्वत पर पहुँचे वह द्वितीय आश्विन की पूर्णिमा थी (६।३८।१६)। दूसरे दिन कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा को अंगद दूत बनकर रावण के पास गये (६।४१)। कार्तिक कृष्ण द्वितीय से युद्धारम्भ हुआ। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को मेघनाद रण क्षेत्र में मारा गया। उसी रात रावण के सुपार्श्व मंत्री ने लंकेश से कहा—

अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्ष चतुर्दशी।
कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय बलैर्वृतः।।" ६।९२।६६

"आज कृष्णपक्ष की चतुर्दशी है। अतः आज ही युद्ध की तैयारी करके कल अमावास्या के दिन सेना के साथ विजय के लिए प्रस्थान करें।"

कार्तिक अमावस्या से राम रावण युद्ध आरम्भ हुआ। १८ वें दिन मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को रावण मारा गया। रामाभिरामी तिलककार ने यु. का. सर्ग १०८ श्लोक, ३४ की टीका में लिखा है कि

अष्टादशदिने रामो दैरथे रावणं बधीत्।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मेघनाद १४ वें दिन रण-क्षेत्र में मारा गया। मेघनाद के मरने के एक दिन संग्राम बन्द रहा। दूसरे दिन रावण मैदान में उतरा और १८ दिन तक राम से लोहा लेता रहा। अन्ततोगत्वा १८ वें दिन राम के द्वारा उसका वध हुआ। अतः कुल ३२ दिन युद्ध चला था।

मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया को रावाणादि का संस्कार हुआ। चतुर्दशी को लंका में विभीषण का राज्यभिषेक और पंचमी को राम पुष्पक विमान से भरद्वाज आश्रम पहुँचे (६।१२४।१)। उसी दिन हनुमान ने भरत से जाकर कहा था कि कल प्रातः पुष्प नक्षत्र में राम आ जायेंगे (६।१२६।५४)।

महाभारत में एक नियम बताया गया है कि वनवास कालिक वर्ष तीन सौ साठ दिन का वर्ष गिना जाता है और प्रति पाँच वर्ष में साठ दिन का दो मास अधिक होता है इस गणना के अनुसार १५ वर्ष में पांच मास और कुछ दिन कम हो गये, अर्थात् १३ वर्ष छः महीना और कुछ दिन ही में वनवास का १४ वर्ष पूरा हो गया। चैत्र शुक्ल नवमी पुष्प नक्षत्र में बनवास हुआ। वह मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी पुष्प नक्षत्र को पूरा हो गया। आज भी चैत्र शुक्ल नौमी से एकादशी तक में पुष्प नक्षत्र पड़ता है और मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी से सप्तमी तक भी पुष्प नक्षत्र पड़ता है। यह गणनाभाव अयोध्या काशी की प्रणाली पर है। उत्तर काण्ड से भी यही तथ्य निश्चित होता है क्योंकि लंका के आये हुए राक्षसों और वानरों को अयोध्या रहते हुए एक मास से अधिक समय बीता तब शिशिर-ऋतु का दूसरा मास (पौष) समाप्त हुआ और तब उनकी विदाई हुई।[२]

यह ठीक है कि प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ला पंचमी से सप्तमी" तक, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी से

---

१ देखिये : महाभारत विराटपर्व अध्याय ५२, श्लोक ३।
२ उत्तरकाण्ड। ३९।२७-३०, ४०।३०-३७

सप्तमी तक, कार्तिक कृष्णा पंचमी से सप्तमी तक और मार्ग शीर्ष कृष्णा पंचमी से कृष्णा सप्तमी तक पुष्य नक्षत्र पड़ता है। परन्तु चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और कार्तिक के बाद कुछ अधिक मास में ही शिशिर ऋतु नहीं आता और उन महीनों की तिथियों को १४ वर्ष भी व्यतीत नहीं होता। इस तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को भरद्वाज आश्रम पर और षष्ठी को पुराय नक्षत्र में राम का अयोध्या पहुँचना सत्य साबित हो रहा है।

यौद्धिक सफलता प्रधानतः प्रशिक्षित एवं सुसंगठित सांगामिक सेना की कार्य कुशलता पर ही निर्भर होती है। सम्भवतः इसीलिए प्राचीन भारतीय सैन्य-शास्त्र प्रणेय इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने सदैव चतुरग बल (पैदल, अश्व, रथ और गज) के उत्तम प्रशिक्षण और उसके सफल संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया था। रामायणयुगीन भारतीय चतुरंग बल में पैदल, रथी, अश्व एवं गज सेना का अपना-अपना निजी संगठन था। आधुनिक सेना की ही भाँति तत्कालीन सेना में सैनिकों के साथ सेवक, चिकित्सक, प्राविधिक आदि भी अनिवार्य रूप से रखे जाते थे।

आजकल जिस प्रकार सांग्रामिक स्थल सेना में सेक्शन, प्लाटून, कम्पनी, बटालियन, ब्रिगेड, डिवीजन कोर और आर्मी नामक क्रमिक सगठित दल होते हैं, उसी प्रकार रामायण-युग में भी क्रमशः पति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चूम और अनीकिनी सैन्य दल थे।[1] सेना की सबसे छोटी इकाई का नाम 'पत्ति' था। एक पत्ति में एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पाँच सैनिक रहते थे। रथ मे रथ-चालक, सैनिक आदि रहते थे। हाथी पर भी नियत आदमी रहते थे। तीन 'पत्ति' का एक 'सेनामुख' बनता था और तीन 'सेनामुख' से एक 'गुल्म' और तीन 'गुल्म' से एक 'गण'। तीन 'गण' से एक 'वाहिनी', तीन वाहिनी से एक पृतना', तीन पृतना से एक 'चूम', तीन चूम से एक 'अनीकिनी' का सगठन होता था। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग मे जिस प्रकार तीन सेक्शन का एक प्लाटून और तीन प्लाटून की एक कम्पनी के अनुसार आर्मी तक सगठन परिलक्षित होता है, उसी भाँति रामायण द्वारा वर्णित इस संगठन में भी 'पत्ति' से अनीकिनी', तक त्रिगुणीत संगठन मिलता है। आजकल कई आर्मी मिलकर आर्मी ग्रुप) कहलाती है, रामायण-काल में वैसे ही दस 'अनीकिनी' मिलकर 'अक्षौहिणी' कहलाती थी। इस विभजन के अनुसार एक अक्षौहिणी सेना मे १,०९,३०५ पैदल सैनिक, २१८७० रथी, २१८७० गजारोही और ६५६१० घुड़सवार रहते थे। इन सब को मिलाकर पूरे सैनिकों की संख्या २,१७,६५५ हो जाती है। यह संख्या केवल सैनिकों की है अधिकारियों की संख्या इनके अतिरिक्त है। अधिकारियों की संख्या के लिए यह हिसाब है—एक 'पत्ति' का अध्यक्ष 'पत्तिक', दस 'पत्तियों', का सेनापति, १० सेनापतियों का 'बलाध्यक्ष' होता था। अक्षौहिणी सेना की सबसे बड़ी इकाई होती थी।[2]

वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम लंका में वानरी सेना के साथ गये थे, लेकिन जब भरत चित्रकूट में अपनी अक्षौणिक सेना के साथ राम से मिलने आये, तो उनके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार रथ, एक लाख घुड़सवार और असंख्य धनुर्धर थे (अयो. का. ।८३।३-५)। यह निश्चित है कि भरत अयोध्या से पुरी सेना के साथ नहीं आये होंगे। आधी तिहाई या चौथाई वहाँ भी होगी ही। इन सैनिकों के साथ प्रबन्धात्मक दल (नौकर-चाकर, बोझ ढोने वाले, भोजन बनाने वाले, सफाई करने वाले, आवास व्यवस्था करने वाले) भी थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि रामायण काल में सेना का आजकल की भाँति ही संगठन किया जाता था। रामायण कालीन

---

१ देखिये—अरण्यकाण्ड, सर्ग १२, यु. का. ।१५७।३-४

२ देखिये—बालकाण्ड ।२०।३

सैन्य-व्यवस्था महाभारत से बहुत हद तक मिलती जुलती है। अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन सैन्य व्यवस्था ही महाभारत काल तक चलती रही।

वर्तमान सैन्य-व्यवस्था में लगभग पन्द्रह सहायक अंग होते हैं—अश्वारोही, फील्ड आर्टिलरी, लाइट आर्टिलरी, मीडियम आर्टिलरी, हेवी आर्टिलरी, ऐण्टी एयर क्राफ्ट, इंजीनियर्स, सिग्नलर, मेडीकल कोर, आर्डिनेंस कोर, आर्मी पायोनियर कोर (मजदूर) आर्मी सर्विस कोर (सप्लाई और रसद)' आर्मी एड्युकेशन कोर वेटनरी कोर आदि। उसी रामायण युगीन भारत में सैन्य-व्यवस्था-में सेना के लगभग १५ सहायक अंग होते थे जिनका उल्लेख सैन्य संगठन एवं सेनाङ्ग' नामक पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

ऋषि विश्वामित्र ने राम को कुछ विशेष दिव्यास्त्र दिये थे। ये मंत्री द्वारा परिचालित होते थे। 'उत्तर राम चरित' नाटक में भवभूति ने दिखाया है कि विश्वामित्र ऋषि द्वारा दिये गए दिव्य-अस्त्र सीता के गर्भस्थ शिशुओं को राम ने प्रदान किए। जब चन्द्रकेतु और लव में अश्वमेघ के घोड़े के लिए युद्ध हुआ तो दोनों ओर से दिव्यास्त्र प्रयुक्त किए गए। लव को दिव्यास्त्र छोड़ते देखकर ही राम की सेना को ज्ञात हुआ कि यह राम का पुत्र है। रामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध में जिन दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया गया वे वास्तव में आधुनिक नाभिकीय अस्त्र (न्यूक्लियर) और नियंत्रित प्रक्षेपास्त्र ही हैं।

तत्कालीन युद्ध में प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र तो, मेरी दृष्टि में, आधुनिक परमाणु बम का ही अविकसित रूप है। शांकर वेदान्त के अनुसार 'सर्व खल्विद ब्रह्म' माना गया है, अर्थात इस सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म ही है। इसी ब्रह्मा को उपनिषद तथा गीता में अणु से भी छोटा और महत् से भी महान माना गया है (अणोरणीयान् महतो महीयान्')। आधुनिक विज्ञान सृष्टि-रचना के मूल में अणु के भी छोटे टुकड़े परमाणु से सृष्टि की रचना बताता है। अर्थात् इसके अनुसार सृष्टि का उपादान कारण परमाणु है। पुराणों में ब्रह्मास्त्र को अमोघ माना गया है उसी प्रकार आधुनिक युद्धास्त्रों में परमाणु बम भी सर्वाधिक भयंकर तथा अमोघ माना गया है। ऐसी अवस्था मे यह कल्पना असगत या निराधार नहीं होगी कि आधुनिक पारमाणिक बम प्राचीन काल के ब्रह्मास्त्र का ही नवीन संस्करण है।

इसी तरह से आग्नेयास्त्र, ब्रह्मदण्ड आदि का प्रयोग करके शत्रु सेना में आग उत्पन्न करके सम्पूर्ण सेना तथा अन्य चीजों का संहार किया जाता था। मेरी दृष्टि में यह आधुनिक 'नापाम बम' (आग उत्पन्न करने वाला बम) का ही अविकसित रूप है, क्योंकि शत्रु जनता के मनोबल को डिगाने के लिए आज नापाम बम का प्रयोग बिजली घरों, तेल भंडारो फसलों आदि पर किया जाता है ताकि आग को शीघ्रता से बुझाया जा सके।

इसी प्रकार आज के युग में मिसाइल (प्रक्षेपास्त्र) तत्कालीन दिव्यास्त्र का काम कर रहा है। यह मंत्रबल से नहीं 'एलेक्ट्रोनिक दिमाग' द्वारा संचालित होते हैं। इनके कारण लड़ाई का स्वरूप ही सर्वथा बदल गया है। किसी भी प्रकार का मौसम हो, दृश्यता और अदृश्यता इसके लक्ष्यवेध में बाधक नहीं है। ठीक यही हालत दिव्यास्त्रों की थी।

वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है कि जब राम वन में थे तो एक बार इन्द्र का पुत्र कौवे का रूप धारण कर आया और सीता के स्तनों के मध्य चोंच मार दिया। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग राम के चित्रकूट-विवाह के समय वर्णित न होकर सुन्दर काण्ड में सीता द्वारा हनुमान को दिये संदेश में उल्लिखित है (५।३८।१२-३९)। वाल्मीकि ने काक को इन्द्रपुत्र तो बताया है, किन्तु उसका नामोल्लेख नहीं किया। गोस्वामी जी ने इस काण्ड का आरम्भ काक-प्रसंग से किया है। उन्होंने मर्यादा के विचार के इन्द्रपुत्र जयन्त का सीता के चरण में चोंच मारना

कहा है। जयन्त की कुटिल निगाहें सीता पर थीं। जब उसके लगातार चोंच द्वारा प्रहार करने के कारण सीता परेशान हो गई तब क्रोधित राम ने धनुष पर बाण चढ़ाया और उस बाण को मंच से अभियन्त्रित किया। अभिमन्त्रित करते ही वह कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा। उसका लक्ष्य वही काक (जयन्त) था। बाण छूटते ही भयभीत कौवा उड़ चला और बाण उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। वैसे तुलसी ने "प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा" कहकर रहस्य को बहुत हद तक सुलझाने का प्रयास किया है, पर तर्कबुद्धि यह समझ नहीं पाती कि कैसे तीर लगातार लक्ष्य (कौवे) का पीछा कर रहा था। इस प्रसंग को कवि की कल्पना भी कहा जा सकता है। पर आज यह कल्पना वास्तविकता बन चुकी है, प्रक्षेपास्त्रों (मिसाइल) की सहायता से निश्चित लक्ष्य पर मार करने की बात तो अब पुरानी पड़ चुकी हैं, पर लक्ष्य का पीछा करने वाले प्रक्षेपास्त्र विज्ञान की नवीनतम उपलब्धि है। उपलब्धि के इस अध्याय की शुरूआत लगभग एक दशक पूर्व हुई थी। इस दशक में परम्परागत अस्त्रों को नये आयाम मिले हैं। इस दौरान ऐसे प्रक्षेपास्त्र यू. एस. हारपून) का निर्माण हो चुका है, जो किसी छोटे जहाज, पनडुब्बी से भी अधिक दूर खड़े जहाज पर मार कर सकता है।

सतह से हवा में मार करने वाले और हवा से सतह पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों में कल्पनातीत विकास हो चुका है। पहली श्रेणी के प्रक्षेपास्त्रों में सैम ७, हाक क्राटेल, रेपीर आदि नाम तो काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। अब तक इनमें अधिकांश अस्त्र रेडियो-नियंत्रण-संकेतों, रडार अथवा इन्फ्रारेड (अवरक्त) किरणों से सचालित हाते थे, पर अब प्रक्षेपास्त्रों को लक्ष्य तक पहुँचाने में टेलीवीजन तथा लेसर का उपयोग हो रहा है, क्योंकि वियतनाम और अरब-इजराइल युद्ध में यह बात स्पष्ट हो गई है कि ऐसे युद्ध में जहाँ जटिल शस्त्रों का प्रयोग होता है, परम्परागत शस्त्रों को काम में लाया जाना और माल दोनों दृष्टियों से हानिकारक है।

आधुनिक युद्धों ने ऐसे अस्त्रों को आवश्यक बना दिया है, जो सही निशाने पर तो मार करें ही साथ ही विमान भेदी सुरक्षा व्यवस्था से स्वयं को बचा भी सके। प्रारम्भ में इस प्रक्षेपास्त्र के द्वारा इस उद्देश्य को बहुत हद तक पूरा किया गया। इस प्रक्षेपास्त्र को रेडियो-कमान-संकेतों से लक्ष्य तक पहुँचाया जाता था। फ्रांसीसी ए० एस० ३० तथा अमेरीकी बुलपप प्रक्षेपास्त्र इसी तरह के थे। लेकिन, इन प्रक्षेपास्त्रों की पहुँच केवल १० से १२ किलोमीटर तक ही थी। अतः लक्ष्य के आकार में छोटा होने पर निशाना सही नहीं बैठता था। लेकिन इस क्षेत्र मे प्रयास जारी रहा। अन्ततः इस कार्य के लिए टी. वी. और लेखक की सहायता अपरिहार्य हो गई। टी. वी. द्वारा बम या प्रक्षेपास्त्र के निर्देशन में सामान्यतः तीन तरीके अपनाये जाते हैं। प्रथम तरीके में वि ान द्वारा हथियार को लक्ष्य की दिशा में छोड़ा जाता है। हथियार के अगले हिस्से में लगे टी. वी. कैमरे की सहायता से विमान में पर्दे पर लक्ष्य का चित्र दिखाई देता है। उसे देख कर आपरेटर रेडियो कमान सिग्नल द्वारा शस्त्र को सीधे लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकता है। इस विधि में लक्ष्य की ओर जाते बम या प्रक्षेपास्त्र की दिशा भी बदली जा सकती है।

अधिक जटिल प्रक्षेपास्त्र जैसे अमेरिकी कंडोर में आपरेटर टी. वी. और रेडियो कमान की सहायता से प्रक्षेपास्त्र को लक्ष्य की ओर निर्देशित करता है जब प्रक्षेपास्त्र का रुख सीधे लक्ष्य की ओर होता है तो टी. वी. कैमरे को वहीं स्थिर कर दिया जाता है। इस तरह एक बार स्थिर करने के बाद कैमरा लक्ष्य को अपने दृष्टि पटल के बीचोबीच रखता है और प्रक्षेपास्त्र को सीधा लक्ष्य तक ले जाता है। जर्मन भी ऐसा ही प्रक्षपास्त्र बना रहे हैं, जिसे उन्होंने 'जंबो' नाम दिया है। अमरीकी 'मावेरिक' तो इससे भी अधिक विकसित और जटिल प्रक्षेपास्त्र है। इसमें

टी वी. निर्देशन पूर्णतः स्वचलित होता है। प्रक्षेपास्त्र पर लगे टी. वी. कैमरे से विमान के चालक कक्ष में लगे पर्दे पर चित्र आते रहते हैं। चालक या नियंत्रक चित्र की सहायता से लक्ष्य निर्धारित करके टी वी. कैमरे को उस पर स्थिर कर सकता है। इसके बाद वह प्रक्षेपास्त्र को छोड़ता है। प्रक्षेपास्त्र छोड़ने के तत्काल बाद चालक अन्य लक्ष्य को निर्धारित कर दूसरे प्रक्षेपास्त्र को छोड़ने की तैयारी कर सकता है।

तत्कालीन राम रावण युद्ध में प्रयुक्त रोद्रास्त्र, ऐन्द्रास्त्र तथा आसुशस्त्र इत्यादि दिव्यास्त्र तो मेरी नजर में आधुनिक 'बहु स्वतन्त्र-टार्गेट पुर्नप्रवेश यान' (एम. आई आर. बी) का ही अविकसित रूप है ये रामायण युगीन दिव्यास्त्र प्रयुक्त होते ही। कुछ दूर जाने पर के बाद एक लक्ष्य के साथ अनेक लक्ष्यों पर अस्त्रों की बौछार कर शत्रु सेना का संहार करने लगते थे। ठीक यही स्थिति 'बहु स्वतन्त्र-टार्गेट पुनः प्रवेश यानों की है, जिनकी मार की दूरी ५००० कि. मीटर होती है। ये पक्षेपास्त्र अनेक परमाणु अस्त्रों को एक साथ लेकर चलने की क्षमता रखते हैं। एक पूर्व निश्चित लम्बा मार्ग तय करने के बाद मात्र प्रक्षेपास्त्र में से परमाणु अस्त्र अलग-अलग लक्ष्यों को नष्ट करने के लिए मुख्य प्रक्षेपास्त्र में से निकल छूटते हैं। २० वीं शताब्दी के ७ वें दशक में यह एक मिसाइल परिवार की नवीनतम उपलब्धि है। इस प्रक्षेपास्त्र में सोवियत रूस का एस. एस १८ नामक शक्तिशाली आई. सी. बी. एम का प्रयोग किया गया जिनकी क्षमता एक समय में आठ परमाणु अस्त्रों को लेकर चलने की है। अमेरीकन मान्युटमेन अन्तर्महाद्वीपीय प्राक्षेपास्त्र (आई. सी. बी. एम) आधे मार्ग से स्वतन्त्र लक्ष्यों की ओर बढ़ने वाले तीन परमाणु अस्त्रों का वहन करती है। ये प्रक्षेपास्त्र सतह से प्रक्षेपित होने के साथ ही समुद्र सतह से पनडुब्बी द्वारा भी प्रक्षेपित किये जाते हैं।

रामायण में वर्णित और तत्कालीन युद्ध में प्रयुक्त वरुणास्त्र, वायव्यास्त्र, वज्रास्त्र, पर्वतास्त्र आदि के द्वारा शत्रु सेना मे जल वृष्टि, आँधी, तूफान आदि पैदा कर भगदड़ मचा दिया जाता था और धुये का पर्दा (कोहरा) बनाकर अपनी गतिविधि को शत्रु की नजरों से छिपाकर, उसकी सेना का संहार किया जाता था जैसा कि मेघनाद ने युद्ध-क्षेत्र में इसे अपनाकर राम की सम्पूर्ण सेना को धराशायी कर दिया था। जिसे हम आज मौसम-युद्ध कर्म की संज्ञा दे सकते हैं। आज २०वीं शताब्दी की ७ वें दशक में ही सम्पूर्ण विश्व को एक अत्यन्त विध्वसकारी युद्ध कर्म के प्रवेश का सामना करना पड़ रहा है, जिसके परिणाम निश्चिय ही रासायनिक जीवाणु तथा परमाणु युद्ध कर्मों की अपेक्षा अधिक खतरनाक साबित होगा। यह है मौसम युद्ध कर्म। प्रोफसर वीश ने इस युद्ध कर्म मुख्य अस्त्र मौसमास्त्र के निम्नलिखित प्रयोग बताये हैं[1]—

(१) कोहरा तथा बादल बड़े क्षेत्र में लम्बी अवधि तक के लिये निर्माण करना ताकि दृष्टिगोचरता कम कर सैन्य गति विधि को छिपाया जा सके।

(२) बादल तथा कोहरे को बिल्कुल छाँट देना ताकि बदली और कोहरे के दिनों में भी लक्ष्य पर सही निशाना लेकर बम गिराया जा सका।

(३) तूफानों का प्रादुर्भाव कर शत्रु के समुद्र तटीय क्षेत्र में शत्रु जहाजों की गतिविधि को समाप्त कर देना।

(४) भीषण वर्षा को जन्म देकर सतह पर सैन्य गतिविधि को छिपाया जा सकता है तथा युद्ध क्षेत्र में पहुँची हुई सेना की पूर्ति-व्यवस्था को भंग किया जा सकता है।

---

१ देखिये—साइंस एण्ड टेक्नालॉजी न्यूज रिभीयू, मई १९७६।

(५) पहाड़ी क्षेत्रों में बर्फ गिरने की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है ताकि आवागमन समय से पहले अवरुद्ध किया जा सके।

(६) हवा की गति प्रदान कर शत्रु की कृषि को क्षति ग्रस्त किया जा सकता है ताकि वह मानसिक स्तर पर पराजित हो जाय।

प्रोफेसर वीश टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि इन हथियारों के विकास ने मनुष्य को तूफानों पर नियंत्रण की शक्ति प्रदान की है। वह इन तूफानों को नियंत्रित कर इच्छित दिशा की ओर मोड़ सकता है। वह वर्षा की भीषणता को बढ़ा सकता है तथा वायु की गति का तेज कर तूफान ला सकता है।

आधुनिक युग की भांति रामायण के पात्रों में युद्ध एवं श्रृंगार का सम्मिश्रण हमें देखने को मिलता है। तत्कालीन युग के योद्धा चित्र-विचित्र वेश-धारण करके लड़ाई में प्रसन्नता का अनुभव करते थे सोने और चाँदी के कामवाले वस्त्र पहनने का प्रचलन काफी था। ऐसे स्वर्णतंतु निर्मित वस्त्र 'महारजतवास' कहलाते थे (५।१०।७)। शरीर सज्जा में सुन्दर और श्रेष्ठ वस्त्रों के साथ-साथ आभूषणों को भी प्रधानता दी जाती थी। उस युग के नर नारी दोनों योद्धा सैनिक आभूषण प्रिय होते थे। वानरों और राक्षस सैनिकों में भी आभूषणों का प्रचुर रिवाज था। राम के चरणों में प्रणाम करते समय सुग्रीव के गले के आभूषण लटकने लगे थे (४।१२।६)। वानरी सेना का मुकाबला करते समय कुम्भकर्ण सभी प्रकार के बहुमूल्य आभूषणों से मंडित था (६।६५।२५-८)। अतिकाय भी विभिन्न प्रकार के आभूषणों एवं पुष्पों से सज्जित होकर सैन्य प्रस्थान किया था। वाल्मीकि ने उल्लेख किया है कि चन्द्रमा की चांदनी, भूषणों की आभा, जलते हुए ग्रहों के आग के प्रकाश से और उन दोनों राक्षसी और वानरी सेनाओं के सैनकों के भूषणों की दमक से आकाश में प्रकाश ही प्रकाश दीख पड़ता था (६।७५।४८.५१)। पर यह भावना आज के सैनिकों में देखने को नहीं मिलती। लेकिन, आजकल के सैनिकों की भाँति ही तत्कालीन योद्धा सुरा-पान के आदी थे। वास्तव में योद्धाओं के लिए शराब बलवर्धक पेय थी ६।६०।६१। प्रेम का अस्वादन रति-सुख का उपभोग योद्धाओं का मानों अपना अधिकार था। इस तरह से रामायण युगीन योद्धा प्रेम और युद्ध दोनों की ज्वाला में कूद पड़ने के लिए तैयार रहते थे क्योंकि अनेक सुन्दर एवं तरुण रमणियों के प्रणय का आस्वादन करना तत्कालीन योद्धाओं की नजर में सुखी जीवन का मापदण्ड था (५।२८।१४)।

इसी प्रकार ग्रीक महाकाव्य होमर कृत 'इलियड' में वर्णित ट्राय युद्ध के योद्धा भी प्रेम और युद्ध दोनों में कूद पड़ने को तत्पर रहते थे। युद्धलोलुप वीरों की हसरत भरी निगाहों में जब जीत के सपने मंडराया करते थे, विध्वंस मारकाट और नरमेघ के वातावरण में बेयनाह चीरण पुकारे व्याप्त हो जाने के बावजूद भी मौत की इन मनहूस छाया तले प्रणय की पृष्ठ भूमि में अन्तर के आवेगशील उद्वेलनों का रंगीन आंचल तना रहता था। इलियड की नायिका सुन्दरी हेलन का उदाहरण ऐसा ही है। ट्राय-युद्ध के व्यक्ति मुख्यतः सैनिक हैं और युद्ध ही उनका धन्धा है। मृत्यु की अनगिनत मनहूस परछाइयां उनका पीछा करती हैं, अन्तर्हीन युद्ध की विभीषिका उन्हें घेरे हुए है, किन्तु वीर योद्धा जरा भी हिचकते नहीं। शत्रु की पराजय अथवा उनका विनास ही उनका चरम लक्ष्य है। इससे छुटकारा कहां है। लड़ते-लड़ते ही उन्हें मर जाना है। युद्ध स्थल में पीठ दिखाना या पराजित होकर जीवित रहने की कल्पना भी असम्भव है। ट्राय या यूनान में यही वीरता की परिभाषा है। होमर युग में धीरोदात्त नायक मुग्धा नायिका के प्रति वीरता वादी प्रेम से प्रेरित युद्ध के माध्यम समूची प्रेम प्रक्रियाओं को वहन करते थे। इसी कारण युद्ध का चित्रण भी बड़ा ही अदभुत और रोमांचकारी है। योद्धागण नीचे लड़ रहे हैं और ऊपर ट्राय की उच्च

प्राचीरों से सर्वाधिक सुन्दरी हेलन झाँककर समूचे दृश्यों का पर्यालोकन कर ही है जिसके लिए कि इस भयंकर युद्ध का आयोजन किया गया है।

कहीं भी हमर ने हेलेन के रूप का विस्तृत विवरण नहीं दिया है, किन्तु यत्र-तत्र अपने वर्णनों से ऐसा आभास अवश्य कराया है जो किसी भी उत्कृष्ट चित्रकृति की तुलना में वह अद्वितीय रूपसी और मूर्तिमान आकर्षण की प्रतीक प्रतीत होती है। मदभरे नयन, रक्तिम कपोल, घुंघराले केश, यौवन का छलकता रस और मुस्कान की थिरकन के आरक्त ओष्ठद्वय जिससे दर्शक की आंखों में सुरूर सा छा जाए, शिरायें झनझना उठे [वैस ही उसका सौंदर्य चकाचोध पैदा कर देने वाला है यद्यपि उसके कारण ट्राय मे विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा और कितने ही व्यक्ति इस भयंकर युद्ध में मौत के घाट उतारे जा चुके हैं, किन्तु उसक सौन्दर्य से सभी ऐसे अभिभूत हैं कि ट्राय का राजा वृद्ध प्रयाम तक उसका सम्मान करता है और उसके कारण युद्ध को अनिवार्य दैवी दुर्घटना मान लेता है।

सच्चे योद्धाओं के कितने ही मार्मिक और हृदय स्पर्शी चित्र आंके गये हैं। इधर यूनानी योद्धा एकीलीज और उधर ट्रोजन वीर हेक्टर दोनों ही सच्चे मानों में बहादुर और शूरवीर हैं। हेक्टर की पत्नी ऐंड्रामैकी वीर पत्नी और वीर प्रसवा हैं। अपने पति की मंगल-कामना और विजय की अकांक्षा लिए वह भी प्राचीर से नीचे झाक रही है। क्षण प्रतिक्षण उसका हृदय धड़क रहा है। अन्तिम विदा का दृश्य बड़ा ही कारुणिक और हृदय-द्रावक है। शोकमग्ना पत्नी अपने बच्चे के साथ पति से सदैव के लिए बिछुड़ जाने के लिए उद्यत खड़ी है। हेक्टर उसे धैर्य बंधा रहा युद्ध स पलायन कायरता है, लड़ते-लड़ते मर जाना ही वीरों की शान है। अतः अब यह निश्चत है कि वह युद्ध से वापिस नहीं लौटेगा। अपनी विधवा शोकविह्वला पत्नी का चित्र उसकी आँखों क सामने तैर जाता है। आह ! कैसी दारुण यातना और छटपटाहट उसके मन में है। जब वह इस बात की कल्पना कर लेता है कि कैसी उसकी पत्नी विलपती, असहाय, विवश, दूसरे क आश्रित जीवन बिताएगी, उसका धैर्य डगमगा जाता है, पर कुछ भी हो कैसी भी अवश परिस्थिति को कुल परम्परा का निर्वाह तो करना ही है, उसे युद्ध में जाना ही पड़ेगा, शत्रुओं का मुकाबला करते-करते प्राण विसर्जन तो करने ही होंगे। वह कहता है—

"प्रिये ! ट्रोजन वीरों की छटपटाहट अपनी स्नेहमयी जननी का विलाप पिता एव भाइयों तथा अन्य कितने ही सगे सम्बन्धियों की मृत्यु की वेदना मुझे उतना नहीं सताती, जितनी तेरी उस वक्त की तड़पन की आशंका की जब कोई शत्रु तेरी-रोती कलपती आत्मा को कठोर नियन्त्रण एवं दासता की बेड़ियों में आबद्ध कर लेगा और तुझे रोते हुए देख कोई दयावश कहेगा—आह ! यह वीर हेक्टर की पत्नी है, अपने समय के सबसे अग्रणी योद्धा की विधवा पत्नी जिसकी आज यह दुर्दशा है। हेक्टर अपने अबोध बालक को जब छाती से लगाने के लिए हाथ फैलाता है तो बालक उसक विहंगम शिरस्त्राण से चिहूँक पड़ता है। हेक्टर शिरस्त्राण उतार कर जमीन पर रख देता है और बच्चे को गोद में लेकर देवताओं से प्रार्थना करता है कि उसका अबोध बालक अपने पिता से भी बढ़ चढ़कर वीर और प्रतापी हो। जब शत्रुओं का वध करके वह लौटे तो उसकी मां का हृदय आनन्द से गद्‌गद्‌ हो जाय।

इस प्रकार की हित कामना और आशीर्वाद के हाथ वह बच्चे को अपनी पत्नी की गोद में सौंपकर चल देता है और हँसते हुए विदा लेकर रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान करता है—फिर कभी वहाँ से वापस न आने के लिए। अन्ततः युद्ध के दाव पेचों में फँसकर जब एकीलीज के हाथों हेक्टर का वध कर दिया जाता है तो ऐंड्रामैकी को बहुत समय तक अपने पति की मृत्यु का पता नहीं चलता। उच्च भवन के भीतर कक्ष में बैठी वह जाली का रंगीन वस्त्र बुन रही है

जिसमें बीच-बीच में सुन्दर फूल बना रही है। साथ ही अपने पति के लौटने की प्रतीक्षा में उसके पदचाप की ओर भी उसका ध्यान केन्द्रित है। अपनी एक परिचारिका को वह आदेश देती है कि गर्म पानी तैयार रखा जाय ताकी उसका पति आते ही युद्ध की थकावट मिटा सके। पर उसी समय ज्यों ही अपनी सास का रुदन और कातर चीखें सुनाइ पड़ती है उसका दिल धड़क उठता है। हाथ से शटल छूट जाती है, समूचे अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं। दो दासियों की सहायता से वह गिरती-पड़ती, विक्षिप्त परकोटे से युद्ध क्षेत्र में दृष्टि दोड़ाती है जहाँ उसके पति का छिन्न-भिन्न शरीर शत्रु द्वारा घसीट ले जाया जा रहा है। भयकर चरित्र के साथ वह अचेत होकर गिर पड़ती है और दुर्भाग्य का दमन उसे अपने काले अंचल मे समेट लेता है। इससे तत्कालीन गृहास्थिक जीवन पति-पत्नी और पुत्र के सम्बन्धों पर विधिवत प्रकाश पड़ता है जिससे विगत सहस्रों वर्ष और आज के जीवन में शाश्वत अतर्द्वन्द्वों की सूक्ष्म प्रक्रियाओं में किंचित् भी अन्तर प्रतीत नहीं होता।

हेक्टर की कथा दुःखान्त है, पर उससे भी दुःखान्त एकीलीज के चहुँओर को परिस्थितियाँ क्योंकि वीरोचित विशिष्टताओं और समस्त गुणों का आदश समावेश उसके चरित्र में ही हुआ है। चट्टान से भी अधिक कठोर और बालक से भी अधिक कोमल उसका मन है। भोले बच्चों के समान उसका मन एक समय में एक ही भावना से अभिभूत रहता है जिसमें गहरी तीव्रता और कचोट है, या फिर बच्चों का मा सारल्य एवं निष्कपटता, कभी अन्याय के प्रति गहरा आक्रोश, कभी अपना मित्र पैट्रोक्लस के प्रति असह्य मनोवेदना और कभी प्रतिशोध की धधकती ज्वाला जो उसके समस्त विवेक को शून्य बना जाती है। युद्ध-स्थल मे जब हेक्टर देखता है कि एकीलीज द्वारा अब उसका वध निश्चित है तो मरने से पूर्व वह उससे प्रार्थना करता है कि शव को मेरे माता-पिता को सौंप देना, उसकी दुर्दशा न होने पावे, किन्तु अपने शत्रु की मृत्यु-पूर्व की इस तुच्छ सी अकांक्षा को भी एकीलीज बुरी तरह ठुकरा देता है। जो साधारणतया पाठक के मन मे रिक्तता पैदा करती है, पर यदि एकीलीज जैसे वीर के चरित्र की गहराई को, उसके उक्त आचरण के विभिन्न पहलुओं को सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट है कि ऐसे प्रसगों से उसके चरित्र में सजीवता आ गई है, गति आ गई है और यथार्थता का समावेश हुआ है।

सबसे दिल को झकझोरने वाला है वह दृश्य जब एकीलीज मृत हेक्टर के शव को अपने रथ के पहिये से बाँध कर अपने अमित्र मित्र पैट्रोक्लश की लाश के चारों ओर बड़ी निर्दयता से घसीटता है और एक कोने मे फेंक देता है तब हेक्टर का शोकविह्वल पिता शत्रु-शिविर में अपने पुत्र के शव की याचना करने एकीलीज के पास जाता है। रात का सुनसान वक्त है। अकेले बिना किसी संगी-साथी के वह अपने पुत्र के हत्यारे के पास बिना झिझक पहुँच जाता है। बड़ा ही स्वाभाविक, आयासहीन वातावरण बन पड़ा है। यद्यपि एकीलीज दृढ़प्रतिज्ञ और दुर्द्धष योद्धा है, किन्तु भीतर ही भीतर शिशु सा निष्कपट और छलहीन है। मित्र की मृत्यु का गहरा शोक उसके मन को अभी तक मसोस रहा है। दुःखी प्रायम की अश्रुपूर्ण करुण चीत्कारें उसकी अन्तर्वेदना को उभाड़ देती है और वह अपने पितावत् वृद्ध प्रायम को हाथ पकड़ कर बैठा लेता है। न जाने कब-कब की स्मृतियाँ पुराने घाव और टीसें उन्हें द्रवित कर देती है और दोनों करुण मिलाप और रूदन करने लगते हैं, जिससे अर्द्धरात्रि में वन प्रांतर का कण-कण और तृण-तृण उनके रुदन में गुंजरित हो उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन योद्धाओं की भाँति पश्चात्य योद्धाओं में युद्ध एवं शृंगार की भावना थी।

प्राचीन भारत में आर्यों और अनार्यों के निरन्तर सम्पर्क से अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्राज्यीय

सम्बन्धों के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। उत्तरी भारत का आर्य-साम्राज्य तथा श्री लंका का राक्षस साम्राज्य दोनों अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगे थे और इस प्रसंग में आर्यों और राक्षसों के बीच अनेक भयंकर युद्ध सम्पन्न हुए। जहाँ आर्यावर्त में राक्षसों ने लवणासुर, ताड़का और खर-दूषण को तैनात कर अपने प्रभाव क्षेत्र की वृद्धि की, वहाँ आर्यों ने भी वानर-जाति से मित्रता कर दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। इस प्रकार तत्कालीन राजनीति में सन्धि-विग्रह के अनेक अवसर उपस्थित हुए, जिनके अध्ययन से कूटनीतिक सम्बन्ध, सैनिक शिष्टाचार आदि की अनेक सूचनायें प्राप्त की जा सकती हैं। रामायण-युग में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध कूटनीतिज्ञ युक्ति संगत सिद्धान्तों पर आधारित थे। इस काल में राज्य का प्राथमिक कर्तव्य देश की बाह्य आक्रमण से सुरक्षा करना होता था। वाह्य आक्रमण से भय तथा उसके विरुद्ध सतंकता मूलक उपायों के अवलम्बन के कारण कूटनीति की कला एवं वैदेशिक सम्बन्धों का उदय हुआ। राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से रामायण में अन्तर-राज्य-सम्बन्धों के आधार भूत सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होता है। युद्ध की अवस्था में साम, दाम दण्ड और भेद आदि का खुलकर प्रयोग किया जाता था। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने युद्धों को यथा सम्भव मानवीय बनाने का प्रयास किया। युद्ध के साथ धर्म लगाकर इसे नैतिकता का साधन बताया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्म एवं विकास सम्भव हो सका।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि युग-युग का इतिहास संजोये परम्परागत ज्ञान, अनुभव और सामान्य तथ्यात्मक ऊहापोहों से प्रेरित अनुभूतियों की आवेगमयी आत्मलीनता से पोषित और हृदयगत उद्गरों एवं बौद्धि प्रक्रियाओं के ताने-बाने से विरचित उक्त महाकाव्य की मिसाल बिरले ही कहीं मिलेगी। रामायण में राम-कथा है जो भारतीयों के लिए एक व्यापक निष्ठा का श्रेष्ठतम समन्वित विकास केन्द्र बनकर देश और काल से परे अनेक और अनन्त का अनुभूति-कोश बना और व्यक्तिगत से विश्वगत बन बैठा। कारण इसमें अनुभूति और चिंतन पक्ष का इतना समृद्ध उन्मेष है जैसे समूचे जीवन की निनादमयी तरंगों का उद्घोष अपने में समेटे हुए है। राम का चरित्र मानव की मूलभूत भावनाओं का प्रतीक है, यातना और कष्टों की आँच में तपकर कंचन बन गया है, तभी तो युग-युगान्तर से विश्वव्यापी पैमाने पर मानव जीवन, मानव धर्म और मानव संस्कृति को अद्भुत प्रेरणा प्रदान कर रहा है।

परिशिष्ट

१. सांकेतिक शब्द सूची (सूक्ष्म रूप)

२. संदर्भ ग्रन्थ सूचनिका

परिशिष्ट—१

सांकेतिक शब्द सूची (सूक्ष्म-रूप)

वा० रा०	:	वाल्मीकि रामायण
१. बा० का०	:	बालकाण्ड
२. अयो० का०	:	अयोध्याकाण्ड
३. अ० का०	:	अरण्यकाण्ड
४. कि० का०	:	किष्किधाकाण्ड
५. सु० का०	:	सुन्दर काण्ड
६. यु० का०	:	युद्ध काण्ड
७. उ० का०	:	उत्तर काण्ड
८. कं० कं० रा०	:	कम्बरामायण
९. मा०	:	रामचरितमानस
१०. मनु०	:	मनुस्मृति
११. महा०	:	महाभारत
१२. रघु०	:	रघुवंश
१३. जा० पु०	:	जाग्रफी ऑफ दी पुराणाज
१४. ज० अ० ऑ० सो०	:	जनरल अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी
१५. ज० रा० ए० ओ०	:	जनरल रायल एशियाटिक सोसायटी

परिशिष्ट—२

संदर्भ ग्रन्थ सूचनिका

(क) संस्कृत

१. वाल्मीकि रामायण	:	(२ खण्ड), रामायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर
२. वाल्मीकि रामायण	:	(१४ खण्ड), चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा—प्रकाशक-रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५०
३. महाभारत	:	(३६ खण्ड) महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, १९५५-१९५८।
४. ऋग्वेद	:	(हिन्दी भाषा अनुवाद सहित) जयदेव विद्यालंकार।
५. यजुर्वेद	:	(हिन्दी भाषा अनुवाद सहित), जयदेव विद्यालंकार।
६. अथर्ववेद	:	(,, ,, ,,) ,, ,,
७. मत्स्यपुराण	:	अनुवादक-ए तालुकेदार ऑफ अवध-प्रकाशक, भुवनेश्वरी आश्रम बहादुरगंज, प्रयाग, १९१६-१७।
८ विष्णुपुराण	:	(हिन्दी भाषा अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
९ मार्कण्डेयपुराण	:	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
१०. ब्रह्मपुराण	:	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई १९०६।
११. पद्मपुराण	:	सम्पादक-आई० बी० हानर, लंदन, १९३८।
१२. गरुणपुराण	:	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई १९०६।
१३. अग्निपुराण	:	सम्पादक हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पुण्याख्यापतन, शालिवाहन, शकाब्द, १८२२।
१४. वायु पुराण	:	सम्पादक—राजेन्द्रलाल मिश्र, कलकत्ता, १८८०
१५. वराह पुराण	:	सम्पादक—प० ऋषिकेष शास्त्री, प्रकाशक-गिरीष-विद्या रत्न प्रेस कलकत्ता।
१६. स्कन्द पुराण	:	प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९०९।
१७ ब्रह्मवैवर्त पुराण	:	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।
१८. भागवत पुराण	:	(हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।

१९. तैत्तिरीय ब्रह्मण	:	सायणाचार्य भाष्य सहित।
२०. ऐतरेय ब्राह्मण	:	(हिन्दी भाषानुवाद) गंगाप्रसाद उपाध्याय।
२१. शतपथ ब्रह्मण	:	सायणाचार्य भाष्य सहित।
२२. कुमार सम्भवम्	:	(कालिदास-ग्रन्थावली) महाकवि कालिदास अखिल भारतीय विक्रम-परिषद काशी, प्रथम संस्करण संवत् २००१।
२३. रघुवंश	:	(कालिदास-ग्रन्थावली) ,, ,, ,, ,,
२४. मेघदूत	:	(कालिदास-ग्रन्थावली) महाकवि कालिदास, "
२५. कौटिलीयं	:	अनुवादक पं० रामतेज शास्त्री, काशी, १९६४।
२६. कौटिल्य का अर्थशास्त्र	:	(हिन्दी अनुवाद सहित), गंगा प्रसाद शास्त्री।
२७. कामन्दकनीति	:	(हिन्दी भाषानुवाद सहित) वंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
२८. शुक्रनीति	:	(हिन्दी भाषानुवाद सहित) गंगा प्रसाद शास्त्र
२९. जातक	:	(कावेल) कैम्ब्रिज, १९०५।
३०. पाणिनिकृत अष्टाध्यायी,	:	बनारस, १८१७।
३१. समराङ्कसूत्रधार	:	गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९१२
३२. आश्वलायन गृह्यसूत्र	:	गणपत शास्त्री, गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९२३
३३. श्री मद्भगवत गीता	:	(श्री रामानुज-भाष्य-सहित) गीताप्रेस गोरखपुर।
३४. काव्यमीमांसा	:	राजेश्वर, बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद, पटना, प्रथम सं० १९५४।
३५. मनुस्मृति	:	(हिन्दी भाषानुवाद सहित), हरग विन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफीस, वाराणसी, तृतीय संवत् २०२७।
३६. हर्षचरितम्, बाणभट्ट,	:	चौखम्बा-संस्कृत सीरीज आफीस, वाराणसी द्वितीय संस्करण, १९६४।
तिलक मंजरी	:	धनपाल, तुकाराम जीवाजी-निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०३।

(ख) हिन्दी

१. राम कथा	:	कामिल बुल्के।
२. संस्कृत सुकवि समीक्षा	:	बलदेव उपाध्याय।
३. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा	:	डॉ० चन्द्रशेखर पाण्डेय।
४. भारतीय संस्कृत और कला	:	वाचस्पति गैरोला।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास	:	सेठ कन्हैया लाल पोद्दार।
६. संस्कृतवाङ् मयाचा त्रोटक इतिहास		सी० बी० वैद्य।
७. रामायण-भाग १०, भूमिका	:	जी० गोरेसियो।
८. भारत का सांस्कृतिक इतिहास	:	हरिदत्त वेदालंकार।
९. संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा	:	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१०. रामायणकालीन समाज : शान्ति कुमार नानूराम व्यास ।

११. वैदिक साहित्य में रामकथा की खोज : चन्द्रभान

१२. प्राचीन भारत में जनपद राज्य : डॉ० सुदामा मिश्र ।

१३. रामायणकालीन संस्कृति : शान्ति कुमार नानू राम व्यास ।

१४. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था : डॉ० श्याम लाल पाण्डेय

१५. वय रक्षामः : आचार्य चतुरसेन ।

१६. प्राचीन भारत का भूगोल : डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी ।

१७. भारतीय सैन्य विज्ञान : मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ

१८. हिन्दू सभ्यता : डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ।

१९. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : रांगेय राघव

२०. प्राचीनभारत की सांग्रामिकता : पं० रामदीन पाण्डेय ।

२१. भारतीय सैन्य विज्ञान भाग १ : मेजर श्याम लाल ।

२२. प्राचीन युद्ध कला : दीक्षितार ।

२३. भारतीय सैन्य इतिहास : लल्लन जी सिंह

२४. हिन्दी ऋग्वेद : राम गोविन्द त्रिवेदी ।

२५. युद्ध का अध्ययन : लल्लन जी सिंह ।

२६. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति : अनन्त सदाशिव अलतेकर ।

२७. प्राचीन भारत की सामाजिक : डा० रामजो उपाध्याय

२८. साहित्य-दर्शन : शचीरानी गुर्टू ।

२९. रामचरित मानस : गोस्वामी तुलसीदास ।

३०. कम्बरामायण और रामचरितमानस : डॉ० रामेश्वर दयालु

३१. हिन्दू राज्य शास्त्र : अम्बिका प्रसाद बाजपेयी

३२. प्राचीन भारत, वाराणसी : राजबली पाण्डेय

३३. अन्तर्राष्ट्रीय कानून : हरिदत्त वेदालंकार ।

३४. अन्तर्राष्ट्रीय विधि : श्रीमती ऊषा सक्सेना

३५. स्थल युद्ध कला और उत्तरी अफ्रीका का संग्राम : कैप्टन बी० के० टण्डन एवं साहनी

३६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल : भरतसिंह उपाध्याय

३७. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल : अनुवादक रामकृष्ण द्विवेदी

३८. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन : डॉ० उदयनारायण राय

३९. भारतवर्ष का इतिहास : डॉ० ईश्वरीय प्रसाद

४०. पाणिनी कालीन भारतवर्ष ; डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

४१. प्राचीन भारत के कलात्मक : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४२. भारतीय सेना का इतिहास : प्रबोध कुमार मजूमदार
४३. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध : सत्यकेतु विद्यालंकार
४४. सामाजिक मनोविज्ञान रामबाबू गुप्त
४५. भारतीय सैन्य पद्धति : देवदत्त शास्त्री
४६. रामकथा के पात्र : डॉ० राजूरकर

(ग) अंग्रेजी

१. अरमामेन्ट एण्ड हिस्ट्री : जे० एफ० सी० फुलर
२. थाट्स एण्ड एडवेन्चर्स : डब्लू एस० चार्चिल
३. ए स्टडी ऑफ वार : क्विन्सी राइट
४. सोशल साइक्लोजी : जयदेव सिंह
५. इन्टर नेशनल लॉ : एल० ओपनहाइम
६ इन्टर नेशनल रिलेशन्स : पायर एण्ड परकिस
७. मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड : ई० ए० हॉबल
८. सोशल डिस आर्गेनाइजेशन : इलियट एवं मेरिल
९. हैण्ड बुक ऑफ सोशल साइक्लोजी : किम्बाल यंग
१०. ऑन वार : क्लाजाविट्ज
११. थाट्स ऑन वार : लिडिल हार्ट
१२. इन साइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका : हॉफमैन निकरसन
१३. पीस एण्ड वार : रेमन्ड एरन
१४. एंशियेन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : मेकमिलन
१५. ऐन एनथ्रोपोलाजीकल एनेलसिस ऑफ वार : मैलिनाडस्की
२६. वार इन एंशियेन्ट इण्डिया : प्रो० दीक्षितार
१७. इण्टर नेशनल लॉ (१८८३) : सर हेनरी मेन
१८ ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इन्टर नेशनल लॉ, चतुर्थ संस्करण : स्टार्क
१९. लॉ एण्ड सोसाइटी इन दि रिलेशन्स ऑफ स्टेट्स : पी० ई० काब्बेट
२०. इण्टर नेशनल लॉ, अष्टम संस्करण : हालैण्ड
२१ ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ दि लॉ ऑफ नेशन्स : आर्थर नसबौम
२२. एंशियेन्ट इंडिया ऐज रिकार्डिड बाई मेगस्थनीज फ्रेगमेण्ट : मेक्रिण्डल

२३. जाग्रफी ऑफ दि पुराणाज : प्रो० एस० एम० अली
२४. मैनुअल बुद्धिज्म जाग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म लॉ : स्पेन्स हार्डी
२५. इण्डिया एण्ड दि वर्ल्ड : डॉ० बुद्ध प्रकाश
२६. एशियन्ट ज्योग्रफी ऑफ इण्डिया (प्रथम परिशिष्ट) : कनिंघम
२७. इंडिया ऐज डिस्क्राब्ड इन अर्ली टैकसट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म : डॉ० लाहा
२८. स्टडीज इन द इण्डियन ऐंटिक्विटीज : डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी
२९ ओरिजिनल सस्कृत टेक्ट्टस भाग-२ : जे० म्युअर
३०. सरस्वती भवन स्टडीज भाग-५ : श्री मन्मथनाथ राय
३१. इंडियन कल्चरल भाग-५ : के० एस० रामस्वामी शास्त्री
३२. 'द रिडिल ऑफ द रामायण' : चिन्तामणि विनायक बैद्य
३३. सेक्स्चुअल लाइफ इन प्रशियंट इण्डिया : जे० जे० मेयर
३४ हिस्ट्री ऑफ बंगाल भाग-२ : रमेश चन्द्र मजूमदार
३५. ऋग्वैदिक इण्डिया : अविनाश चन्द्र दास
३६. साउथ इण्डिया इन द रामायण सप्तम ओरियण्टल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३) : वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार
३७ हिन्दू सोशल इंस्टीट्यूशन्स : पी० एच० वालावलकर
३८. दि थियरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन ऐशियण्ट इण्डिया : डॉ० वेनी प्रसाद
३९. डिफेन्स इन दि न्यूक्लियर ऐज : किंग हाल
४०. 'ए बिब्लिऑग्राफी ऑफ द रामायण' : एन० ए० गोरे
४१. 'द रामायण पॉलिटी' (मद्रास, १९४१) : पी० सी० धर्मा
४२. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर : प्रो० वेबर
४३. 'डस रामायण' : डॉ० एच० याकोबी
४४. जर्मन ओरियण्टल भाग-३ : ए० डब्ल्यू श्लेगन
४५. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग-२ (लन्दन, १८६९) : जी० टी० ह्वीलर

४६.	'आन दि रामायण' (बम्बई, १८७३) :	ए० वेबर
४७.	हिस्ट्री ऑफ इंडियन लेटरेचर भाग-१ :	एम० विंटरनित्स
४८.	एकॉनामिक कंडिशन्स इन ऐशियन्ट इंडिया :	जे० एन० समद्दर
४६.	पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया :	डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी
५०.	द रामायण एण्ड महाभारत: ए सोशियोलॉजिकल स्टडी :	नगेन्द्र नाथ घोष
५१.	'रामायण इन ग्रेटर इडिया :	डॉ० वी० राघवन
५२.	'दि बंगाल रामायणाज' :	दिनेश चन्द्र सेन
५३.	रामायण कॉपीड फ्रॉम होमर :	के० टी० तैलग
५४.	इण्डियन विजडम :	एम० मोनियर विलियम्स
५५.	संस्कृत लिटरेचर :	ए० ए० मैकडॉनल
५६.	'ए रामायण स्टोरी इन तिब्बत, इण्डियन स्टडीज :	एफ० डब्लू० थॉमस
५७.	'दि ओल्ड जवनीस रामायण' :	सी० हायमस
५८.	ए हिस्ट्री ऑफ शिपिंग एण्ड मेरीटाइम ऐक्टीविटी, (लंदन, १६१२) :	राधा कुमुद मुखर्जी
५६.	इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनी (लखनऊ, १६५३) :	वासुदेव शरण अग्रवाल
६०.	टाउन प्लेंमिंग इन ऐंशेण्ट डकन :	अय्यर
६१.	आर्ट ऑफ बार इन ऐंशेण्ट इण्डिया :	पी० सी० चक्रवर्ती
६२.	स्टडीज इन केरला हिस्ट्री :	प्रो० ई० पी० एन० कनजेन पीलाई
६३	ऐन्शेंट इण्डियन एजुकेशन :	डॉ० आर० के० मुकर्जी
६४.	पीजीशन ऑफ वीमेन्स इन हिन्दू सिविलजेशन (वाराणसी १६३८) :	अनन्त सदासिव अलतेकर
६५	रेसियल सिथेसिस ऑफ हिन्दू कल्चर (लन्दन, १६२८) :	एस० वी० विश्वनाथ
६६.	'ए नोट ऑन द एशेंट ज्योग्रफी ऑफ एशिया कंपाइल्ड फ्रॉम वाल्मीकि रामायण (कलकत्ता, १८६६) :	नवीन चन्द्र दास

६७. संस्कृत टेक्स्ट्स फ्रॉम बाली, गायकवाड ओरियण्टलसीरिज :

६८. इण्डियन इनफ्लुएन्सेज ऑन दि लिटरेचर ऑफ जावा एण्ड वाली, कलकत्ता १९३४ :

६९. टाउन प्लैनिंग इन एन्शेंट इण्डिया (कलकत्ता, १९२५) : बी० बी० दत्त

७०. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (चतुर्थ संस्करण) : वी० ए० स्मिथ

७१. 'होली प्लेसेज ऑफ इण्डिया : डॉ० लाहा

७२. 'इलियड' : होमर

७३. 'हिन्दू पॉलिटी' : जायसवाल

७४. गीता दि फिलास्फी ऑफ प्रेक्टीकल लाइफ भाग १ : बी० एन० वख्शी अवोध

७५. 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द दो भाग-१ : पी० वी० काणो

७६. ऐन इण्ट्रोडक्शन टू धनुर्वेद : मेजर आर० सी० कुलश्रेष्ठ

७७. दि अयोध्या कैनटू ऑफ दि रामायण एज टोल्ड बाई कम्बन : सी० राजगोपालाचारी

७८. 'एज्यूकेशनल आइडियाज एंड इन्स्टीट्यूसन इन एन्शेंट इण्डिया, : एस० सी० सरकार

(घ) तमिल

१. कम्बरामायण (सात खण्डों में) : (सं०) श्री गोपाल कृष्णमाचार्य, मद्रास

(ङ) पत्र-पत्रकायें

१. उत्तर भारती शोध जनरल भाग-२ अप्रेल, १९६०
२. त्रिपथगा, सूचना विभाग उत्तर-प्रदेश, लखनऊ, १९६४, ६५, ६३
३. धर्मयुग, सितम्बर १९७५, अगस्त-अप्रेल १९७६, मार्च १९७७ अप्रेल १९७७,
४. सप्ताहिक दिनमान-दिसम्बर, जनवरी १९७६
५. कादम्बिनी-अप्रेल १९७५, अक्टूबर १९७६
६. आज सायंसमाचार साप्ताहिक विशेषांक) मई १९७४
७. जनरल अमेरिकन सोसाइटी
८. वियेना ओरियेंटल जनरल भाग-१६ वान नेगेलाडुन
९. दि रामायण इन वर्मा, जनरल वर्मा, रिसर्च सोसाइटी जी- पी० कानोर
१०. जनरल ऑफ ग्रेटर इण्डिया सोसायटी भाग- ३
११. जनरल रॉयल एशियाटिक सोसायटी (१९७५) 'दि एज ऑफ दि रामायण'

१२. डच ओरियण्ट जनरल भाग ७३-६४

१३. जनरल ऑफ दि असम रिसर्च सोसायटी भाग-१५ (१९६३)

१४. दि राम जातक, जरनल श्याम सोसायटी, भाग-३६

१५. कल्याण (तीर्थाङ्क) गीताप्रेस गोरखपुर

१६. नेशनल हेराल्ड, सण्डे मैगजीन, २१ जनवरी १९७३, २८ जनवरी, ४ फरवरी, ११ फरवरी १९७३ ।

१७. साइंस एण्ड टेक्नालजी न्यूज रिभीयू, जुलाई, अगस्त, दिसम्बर, फरवरी १९७४ ।

(च) कोश-ग्रन्थ

१. ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एसीमेट एण्ड मेडिकल इण्डिया नन्द लाल डे, कलकत्ता १९२४

२. डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आरकीटेक्चर ।

रामायण कालीन युद्ध कला डा॰ सिंह

Rajendra

रामायण कालीन युद्ध कला

डा. लल्लनजी सिंह

अभिनव प्रकाशन, आगरा – 2